प्रकाशक
श्री रामचन्द्र गुप्त
व्यवस्थापक
रीगल बुक डिपो,
नई सड़क, देहली ।

मुद्रक:—
पी० बी० आई० प्रेस,
पहाड़गंज, नई दिल्ली ।

प्रथम प्रश्न-पत्र
की
नूतनतम शैली

विषय	अंक
क—(अनिवार्य) व्याख्या सप्रसंग	३०
छन्द-निर्वाचन	६
छन्द-परिभाषा सोदाहरण	६
रस	६
अलंकार	७
योग	५५

ख—(वैकल्पिक) इस भाग में कुल ६ प्रश्न पूछे जाते हैं जिनमें केवल तीन का उत्तर वांछनीय होता है। यह प्राश्निक के ऊपर निर्भर है कि अधिक से अधिक या कम से कम वैकल्पिक ५ प्रश्न पूछे। किसी भी दशा में प्राश्निक ३ से अधिक प्रश्न पूछता है और उसमें कुछ न कुछ विकल्प अवश्य होता है। प्रत्येक प्रश्न १५ अंक का नियत होता है। प्रश्न पाठ्य पुस्तकों के ऊपर आलोचनात्मक शैली का होता है ...... ४५ अंक

कुल योग १००

पाठ्य-ग्रन्थ

१—ब्रजमाधुरी सार (सूरदास, नंददास, हितहरिवंश, नागरीदास, भगवत रसिक, ललितकिशोरी आनन्दघन, देव और हरिश्चन्द्र)

२—कवितावली ...... उत्तरकाण्ड छोड़कर।

३—रामचरितमानस ...... अयोध्या काण्ड।

४—पंचवटी ...... पूर्ण।

सागरसूरिभिः ॥

५—आधुनिक काव्य संग्रह ...... पूर्ण। (केवल सं० २००७ व २००८ के लिए)

६—नूतन काव्य संग्रह पूर्ण। (सं० २००६ के लिए)

७. रस पिंगल और अलंकार अनिवार्य रूपसे २५ नम्बर के आते हैं।

ऊपर लिखित सारिणी से ज्ञात होता है कि रस, पिंगल और अलंकार अनिवार्य हैं। इनमें प्राश्निक विकल्प भी नहीं देगा। अतः छात्रों को चाहिए कि इस अंश को भली प्रकार अभ्यास करें; वास्तविकता तो यह है कि इसके अंक भी ठोस होते हैं। उत्तर शुद्ध होने पर परीक्षक इसके अंकों को पूर्ण देता है।

दूसरी ध्यान देने योग्य वस्तु यह है कि व्याख्या में प्राश्निक पूर्ण विकल्प देता है अर्थात् ६० अंकों का प्रश्न करके केवल ३० अंकों का उत्तर करने के लिए पूछता है।

तीसरी स्मरणीय बात यह है कि आलोचनात्मक प्रश्नों में भी लगभग पूर्ण विकल्प होता है। आलोचनात्मक प्रश्न कुल ४५ अंक के होते हैं। इनके ज्ञान के लिए प्रस्तुत पुस्तक की प्रश्नोत्तरी का सम्यग् अध्ययन उत्तम रहेगा। प्राश्निक इन्हीं प्रश्नों को उलट फेरकर पूछेगा। यदि इस पुस्तक की पूर्ण प्रश्नोत्तरी का सम्यग् अध्ययन कर लिया जाय। तो प्राश्निक के प्रश्नों का उत्तर सरलता से दिया जा सकता है।

अस्तु, छात्रों को चाहिए कि उपरोक्त तीनों तथ्यों को दृष्टिकोण में रखते हुए अध्ययन करें।

— परीक्षोपयोगी दृष्टिकोण —

टिप्पणी :– निम्नांकित पुस्तकों का निम्न विवरण सर्वदा मस्तिष्क में रखा जाय। यह परीक्षा में अति सहायक होगा।

१—पंचवटी— (अत्यावश्यक) सबसे छोटी तथा सरल पुस्तक। इस पुस्तक को जहाँ तक हो सके, गहराई तक अध्ययन किया जाय। इस पुस्तक से लगभग ४० अंक का प्रश्न प्रायः आया करता है। यदि यह पूर्ण तैयार हो जाय तो परीक्षार्थी ४० अंकों को सहज ही प्राप्त कर सकता है

२—ब्रज-माधुरी-सार-(आवश्यक) | इस पुस्तक से कम से कम ३५ अंक तथा अधिक से अधिक ६० अंकों का प्रश्न आ सकता है इसे अवश्य अभ्यास किया जाय।

३—कवितावली—(आवश्यक) | इस पुस्तक से कुल ३० अंक का प्रश्न आता है। परीक्षार्थी को चाहिए कि इसका अध्ययन गम्भीरता पूर्वक करे।

४—आधुनिक काव्य—संग्रह (आवश्यक) | इससे कम से कम १५ तथा अधिक से अधिक ३० अंको का प्रश्न आता है। इसका आलोचना भाग पूर्ण तैयार किया जायगा।

परीक्षार्थी यदि उपरोक्त चार पुस्तकों को ही सविधि अध्ययन करे तो अच्छे अंक प्राप्त कर सकता है। वह चाहे तो रामचरित-मानस को छोड़ भी सकता है। परन्तु मैं छोड़ने की सम्पत्ति नहीं दे सकता। परीक्षा में प्रायः ऐसा होता है कि सरल और कण्ठस्थ प्रश्नोत्तर अधिक लम्बा होता है और कुछ कठिन प्रश्न जो कण्ठस्थ नही रहता, संक्षिप्त उत्तर के योग्य रहता है। उस परिस्थिति में छात्र को बड़ी कठिनाई हो जाती है। दूसरी बात यह कि पूर्ण तैयारी करने पर छात्र अपनी इच्छानुसार उत्तर लिख सकता है।

अतः छात्रों को मेरी-उचित सम्पत्ति यही है कि वे पांचों पुस्तकों का अध्ययन ठीक ठीक करें; परिस्थिति विशेष में 'रामचरित-मानस' छोड़ भी दिया जा सकता है।

उत्तम अध्ययन के लिए प्रस्तुत पुस्तक संजीवनी का कार्य करेगी।

सावधान !!!

व्याख्या करते समय प्रायः परीक्षार्थी-वर्ग केवल अवतरणार्थ लिख कर चला आता है। फलतः पूर्ण अंकों के प्राप्त करने से वंचित रह जाता है। अवतरणार्थ और व्याख्या में अत्यधिक अन्तर है। अवतरणार्थ केवल अवतरण का अपने शब्दों में अनुवाद मात्र है परन्तु व्याख्या एक विस्तृत वस्तु है। व्याख्या का अर्थ है कि अवतरण में आए हुए

सागरसूरिभिः ॥

शब्द एवं भावों को खोल कर इस प्रकार रख दें, जिस प्रकार एक धुनिया रुई को धुन कर रेशे—रेशे को पृथक कर देता है।

सप्रसंग व्याख्या करते समय इसे प्रमुख पांच भागों में बांट देना चाहिए:—

अ—प्रसंग ब—साधारण अर्थ, स—सारांश अथवा भावार्थ द—काव्य सौंदर्य य—आलोचनात्मक दो वाक्य।

प्रसंग.—केवल कविता एवं कवि का नाम लिख देना ही प्रसंग देना नहीं कहलाता। इसमें तीन बातों का उल्लेख आवश्यक है:—
१—कविनाम २—कविता का नाम, जहां से अवतरण लिया गया है। ३—अवतरण में आई हुई कथा-वस्तु का इससे पूर्व की कथा-वस्तु से सम्पर्क।

साधारण अर्थ:—छोटे छोटे वाक्यों द्वारा अवतरण में आए हुए भावों को उदाहरण या उपमा इत्यादि से खोलकर रख देना ही साधारण अर्थ करना है। यह आवश्यक नहीं कि अवतरण के प्रत्येक चरण के समानान्तर ही अर्थ भी हो परन्तु यदि ऐसा हो सके तो उत्तमता का परिचायक है।

काव्य-सौंदर्य:—अवतरण के आए हुए अलंकारों शब्द-चित्रों, श्लेशों तथा मर्म-भेदी पदों का दिग्दर्शन कराना ही काव्य सौंदर्य अथवा काव्य-सौष्ठव कहलाता है। अवतरण के सभी अलंकारों का वर्णन अपेक्षित नहीं, अपितु परीक्षाओं में प्रधान और गौण अलंकारों का संक्षिप्त परिचय ही वांछनीय है।

आलोचनात्मक दो वाक्य:—व्याख्या के अन्तमें अपनी ओर से दो वाक्य लिखकर उस अवतरण की आलोचना कर देना, अधिक अंक प्राप्ति का साधन है ध्यान देने की बात यह है कि उपरोक्त पांचों वस्तुओं का क्रम इस प्रकार रखा जाय कि इनमें कोई वस्तु छूटी हुई सी प्रतीत न हो।

प्रस्तुत प्रदर्शक में की गई व्याख्या को एक आदर्श शैली है। इससे लाभ उठाया जाय।

ब्रजमाधुरी सार

आलोचना भाग

प्रश्न १ :—"सूरदास अपने परिमित क्षेत्र में सब से आगे हैं। जीवन के जिस क्षेत्र में उन्होंने अपनी वीणा बजाई है; अन्य कोई भी कवि उस क्षेत्र में उनकी समानता नहीं कर सकता" इसकी सयुक्तिक विवेचना कीजिए।

अथवा

"सूरदास शृङ्गार वर्णन एवं वात्सल्य चित्रण में अद्वितीय हैं" इस कथन की पुष्टि सोदाहरण कीजिए।

उत्तर—सूरदास का काव्य-क्षेत्र शृङ्गार तथा वात्सल्य-वर्णन तक ही सीमित है। इसके आगे कवि ने अपना पग नहीं उठाया परन्तु इस परिमित क्षेत्र में ही कवि ने सवा लाख पदों की रचना की है। उसने अपनी पैनी पर्यवेक्षण शक्ति द्वारा मानव-जीवन के इन दोनों अंगों की सम्यग व्याख्या की है। इस क्षेत्र के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अङ्ग को उसने अपनी लेखनी की नोक पर उठाकर अमर बनाया है।

वात्सल्य-चित्रण में कवि ने सूरसागर के दस स्कंध रंग डाले हैं; जिनका पूर्ण उदाहरण देना सम्भव नहीं। दशम स्कंध तक कुल २३६७ पद हैं; परन्तु अप्राप्य पदों की संख्या इसमें सम्मिलित नहीं हैं। मेरे विचार से लगभग इसमें दस सहस्र पद होंगे; जिनकी पूर्ण खोज अभी तक नहीं हो पाई। पुनरपि च जितना भी प्राप्य है; वह भी यह प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है कि कवि बाल-वर्णन में विश्व के सभी कवियों को अकेले परास्त कर सकता है। कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

(अ) कबहुँक पलक हरि मूँद लेत हैं; कबहुँ अधर फरकावे।
सोवत जानि मौन ह्वै रहि रहि करि करि सैन बतावें॥

सागरसूरिभिः ॥

(ब) हरि किलकत यशुदा की कनियाँ।
निरखि निरखि मुख हँसती श्याम को मो निधनी के धनियाँ ॥

यह तो केवल कृष्ण का पालना और गोदी में विहार का वर्णन है। अब उनकी "नान्ही नान्ही दँतुलिया" को देखिये :—

"माता दुखित जानि हरि विहँसे नान्ही दँतुरिया दिखाइ"

अब कृष्ण का हाथ में मक्खन लिये घुटनों से दौड़ना देखिये :—

"शोभित कर नवनीत लिये।
घुटरुनि चलत रेनु तनु मंडित मुखदधि लेप किए ॥"

यशोदा कृष्ण को चलना सिखाती है :—

सिखवति चलन यशोदा मैया।
अरवराइ कर पानि गहावति, डगमगाई धरनी धरे पैयाँ ॥

कृष्ण बोलने लगे हैं; उनकी कुछ बातें सुनिये :—

मैया मोहिं बड़ो करि देरी।
दूध-दही घृत-माखन मेवा जो मांगों सौ दैरी ॥

अथवा

मैया कबहि बढ़ेगी मेरी चोटी।
किती बार मोंहि दूध पियत भई, है अजहूं यह छोटी ॥

इस प्रकार न जाने बाल-लीला के कितने ही पद हैं। कोई भी बाल-क्रीड़ा का अंग छूटने नहीं पाया है। महत्ता तो इस बात की है कि प्रत्येक पद का विषय नया है।

ऐसा सुभग सुविस्तृत वर्णन विश्व के किसी कवि ने नहीं किया।

अब शृङ्गार-वर्णन लीजिए। कवि ने अपने शृङ्गार के दोनों पक्ष—संयोग तथा वियोग—को बड़ी ही सरसता से भरा है। संयोग पक्ष में राधा तथा कृष्ण का गोपियों सहित रासलीला, दान-लीला, मान-लीला आदि अंश आता है। इस रस का परिपाक कवि ने विधिवत् किया है :—

(अ) पूछत श्याम कौन तू गोरी।
काकी बेटी, नाम तोर का है, नहिं देखी कबहूं ब्रज खोरी ॥

(ब) सखी री ! सुन्दरता को रंग।
छिन-छिन माँह परत छवि औरे कमल नयन के अंग।
(स) अंगनि की सुधि भूलि गई।
स्याम अधर मृदु सुनत मुरलिका चकित नारि भई॥
(द) मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
(भ) सखी री मुरली लीजे चोरि।

इत्यादि अनेक पद संयोग शृङ्गार के भरे पड़े हैं। सूरदास इस शोभा को देख कर स्वयं चकित हैं; उनका स्वर पंगु हो गया है :—

सूरदास कछु कहत न आवे गिरा भई गति पंगु।

अब वियोग-शृङ्गार की एक झाँकी लगाइये। कवि वियोग-शृङ्गार के वर्णन में संयोग-शृङ्गार से अधिक सफल हुआ है। कारण यह कि वह स्वयं भी कृष्ण का विरही है। गोपियों के विरह में उसके स्वयं की वाणी फूट पड़ी है। राधा के उच्छ्वासों में उसने स्वयं उच्छ्वास लिये हैं। इस विरही दशा में पपीहा का "पी पी" शब्द कितना मधुर लगता है।

बहुत दिन जीवो पपीहा प्यारो।
वासर रैनि नाव लै बोलत भयो विरह ज्वर भारो॥

नेत्रों से विरह की नदी बह रही है। भला इसकी समानता विचारे बादल कैसे कर सकते हैं :—

सखी, इन नैनन तें घन हारे।

क्योंकि ये (नेत्र) तो बिना वर्षा ऋतु के भी बरस रहे हैं :—

बिनही ऋतु बरसत निसि वासर, सदा मलिन दोउ तारे॥

अब तक आशा थी; कृष्ण कभी आयेंगे परन्तु अब तो वे मथुरा से द्वारिका चले गए। अहा ! भला गोपियाँ यह सुनकर किस प्रकार जीवित रह सकती थीं :—

नैना भये अनाथ हमारे।
मदनगोपाल वहाँ ते सजनी, सुनियतु दूरि सिधारे॥

जब तक प्रिय का समाचार नहीं मिलता; उसकी उतनी स्मृति तीव्र नहीं होती; जितनी उसकी चिट्ठी पाकर।

सागरसूरिभिः ॥
११

कोउ व्रज नाहिंन बाँचत पाती ।
कत लिखि लिखि पठवत नंदनंदन, कठिन विरह की काँती ॥
नयन सजल, कागद अतिकोमल, कर अंगुरी अति ताती ॥
परसत जरै विलोकत भींजति, दुहू भांति दुख छाती ॥

अहा! व्रज में पत्र को पढ़ने योग्य कोई नहीं है; क्योंकि सभी विरह से जल रहे हैं। यदि हाथ से पकड़ें तो पत्र जल जाय। नेत्रों से देखें तो आँसुओं की धारा से पत्र गल जाय! क्या किया जाय। कोई उपाय नहीं चलता।

इस प्रकार कवि ने विरह के प्रत्येक अंग पर प्रकाश डाला है। अंत में स्वयं भी प्रेम के वियोग में उफक पड़ा है :--

प्रीती करि काहू सुख न लह्यो ।
प्रीति पतंग करी दीपक सों, आपे प्रान दह्यो ॥

× × ×

हम जो प्रीति करी माधव सों, चलत कछू कह्यो ॥

आह! कितनी वेदना है। व्यथा साकार हो उठी है; कवि तड़प पड़ा है। यह है; सच्ची और गहरी अनुभूति। सच्चा प्रेम और वियोग।

सारांश यह कि कवि का क्षेत्र—वात्सल्य एवं शृङ्गार—पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। भला ऐसा सजीव चित्रण, सच्ची अनुभूति एवं गहरी वेदना कहाँ मिलेगी।

अस्तु कवि अपने परिमित क्षेत्र में सबसे आगे है; उसने अपने क्षेत्र का कोना कोना छान डाला है। उसके इस क्षेत्र में कोई भी अन्य कवि समानता नहीं कर सकता।

प्रश्न २:—"तत्व तत्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी।
बची खुची कबिरा कही, और कही सब जूठी॥"
इस कथन की पुष्टि कीजिए। (सं० २००३)

उत्तर :—निस्सन्देह यह कथन भावों का मंथन है, आलोचना का सार है। यह उक्ति इस आधार पर निर्मित है कि सूर से कोई तत्व की

वस्तु नहीं बचने पाई तथा तुलसी ने सभी अनूठी बातों को कह डाला। इन दोनों से किसी अंश में जो वस्तु शेष रह गई थी; उसे संत कबीर ने कह दिया। इस प्रकार अब कुछ शेष तो रहा नहीं, निदान उनके पीछे होने वाले कवियों को इन तीनों कवियों का जूठन ही मिला।

इस उक्ति को दृष्टिकोण में रखकर जब हम सूर के काव्य पर दृष्टि-पात करते हैं; तो ज्ञात होता है कि कवि सूर ने सभी रसों का रसराज शृङ्गार अपनाया था; कुछ मधुमयता वात्सल्य रस में रही, सो उसे भी ग्रहण किया। वास्तव में ये ही दो रस मानव-हृदय को अत्यधिक स्पर्श करने वाले हैं; तत्व हैं। इन दोनों रसों में कवि ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से कोई स्थान ही ऐसा नहीं छोड़ा जो अन्य कवि पाते। इसीलिए आचार्य शुक्ल कहते हैं—"जिस परिमित पुण्य भूमि में उनकी (सूरदास) वाणी ने संचरण किया, उसका कोई कोना अछूता न छोड़ा। शृङ्गार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची, वहाँ तक और किसी कवि की नहीं। इन दोनों क्षेत्रों में तो इस महाकवि ने मानो औरों के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं। —हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १६६

शृङ्गार और वात्सल्य के एक एक उदाहरण देखिये :—

(अ) मधुवन तुम कत रहत हरे।
विरह-वियोग श्याम सुन्दर में ठाढे क्यों न जरे॥
—वियोग शृङ्गार

(ब) धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी॥
—संयोग शृंगार

(स) मया कबहिं बढैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भई, है अजहूं यह छोटी॥
(वत्सल रस)

भला ऐसी रस-राशि अन्य कवियों में कहाँ मिलेगी।

दूसरी ओर जब तुलसी काव्य पर हमारी दृष्टि पड़ती है, तो ज्ञात होता है मानो अगाध रस के सागर में ओत-प्रोत हैं। उनका क्षेत्र इतना

सागरसूरिभिः ॥

विस्तृत है तथा उसका निर्वाह इतनी कुशलता से किया गया है जो अन्य कवियों के लिए अप्रत्याशित है। उन्होंने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से अपने सम्पूर्ण क्षेत्र की पराकाष्ठा कर दी है। आचार्य शुक्ल का मत है :—

"हिन्दी काव्य की सब प्रकार की रचनाशैली के ऊपर गोस्वामी जी ने अपना ऊँचा स्थान प्रतिष्ठित किया है"—इतिहास, पृष्ठ १३८

सब से बड़ी महत्ता तो इस बात की है कि गोस्वामी जी की अपरिमित शक्ति ने मानव-जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म गुत्थी को अपनी लेखनी द्वारा बड़े ही सुन्दर ढंग से सुलझाया है। उन्होंने हमारे दैनिक जीवन तथा आध्यात्मिक धरातल की कोई वस्तु अछूती नहीं छोड़ी।

उनका 'रामचरित मानस' सर्वांगपूर्ण है। हिन्दी साहित्य में इसकी समानता कोई दूसरा ग्रंथ नहीं कर सकता। इसमें सभी रसों का समावेश है। शब्द-चित्रण, मनोवैज्ञानिक सत्य, भक्ति की अविरल धारा तथा सभी सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय काव्य की कसौटी पर किया गया है। भाव तथा कला दोनों पक्ष समान रूप से काव्य-सौष्ठव बढ़ाने में सहायक हुए हैं। यथा :—

ध्वनि-चित्रण :—

घन घमंड नभ गर्जत घोरा। प्रियाहीन डरपत मन मोरा ॥

वियोग-शृंगार रस :—

हे खग, मृग, हे मधुकर श्रेनी। कहुँ देखी सीता मृगनैनी ॥

करुण रस :—

सुनु सर्वज्ञ कृपा सुख सिन्धो। दीन दयाकर आरत-बन्धो ॥
मरती बार नाथ मोहिं बाली। गयेउ तुम्हारे पगतर घाली ॥
अशरण शरण विरह सम्भारी। मोंहि जनि तजहु भक्त भयहारी ॥

शान्त रस :—

उमा राम गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं विरति।
पावहिं मोह विमूढ़, जे हरि-विमुख न धर्म रति ॥

भाव चित्रण तथा सांग रूपकालंकार :—

दोउ कर कूल कठिन हठ धारा। भँवर कूवरी बचन प्रचारा॥
ढाहत भूप रूप तरु मूला। चली विपति वारिधि अनुकूला॥

इसी प्रकार रामचरितमानस का, सम्पूर्ण अंग काव्य सौष्ठव से परिपूर्ण है। यहाँ सूरदास भी तुलसी की समानता नहीं कर सके हैं परन्तु जिस वस्तु का चित्रण सूरदास कर चुके हैं, उसमें तुलसी उनसे पीछे ही हैं।

तुलसी की 'विनय-पत्रिका' उनकी सर्वोत्तम रचना है; उसमें भाषा, भाव एवं काव्य-सौष्ठव की जैसी त्रिवेणी बही है, वैसी विश्व-साहित्य में दुर्लभ है :—

विनती यहै मोर यदुराई।
सुख संतति नहिं विभव सम्पदा चहौं न मान बड़ाई॥

अथवा

ऐसो को उदार जग माहीं।
विनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं॥

सारांश यह कि तुलसी एक विस्तृत क्षेत्र के महाकवि हैं। उन्होंने अपनी प्रतिभा द्वारा मानव-अंग की समस्त भावनाओं को समान रूप से सुन्दर व्यक्त किया है। कोई अंग अछूता नहीं छोड़ा। दूसरी ओर सूर ने जीवन के एक परिमित क्षेत्र को लिया है परन्तु उस परिमित क्षेत्र में किसी को भी—तुलसी को भी प्रतिद्वन्द्विता के योग्य नहीं रहने दिया।

परन्तु इन दोनों में एक छोटी सी वस्तु का अभाव है; वह है अपने स्पष्ट और शक्तिशाली भाषा में सत्य वस्तु दिखलाकर निर्गुण का विवेचन अथवा रहस्यवादी प्रवृति। इसी छूटी हुई वस्तु का सम्यग् निरूपण हम कबीर के काव्य में पाते हैं। कबीर ने रहस्यवाद का कोई अंग ऐसा नहीं छोड़ा, जिसे अन्य कवि मौलिक रूप में ग्रहण करते।

प्रभु को सभी रूप में—माता, पिता, भाई, बंधु, स्त्री, पति, सखा, बहनो आदि देखकर अभिव्यक्ति की। यथा :—

(अ) हम बहनोई राम मोर मारा।
हमहिं बाप हरि पुत्र हमारा॥
(स) रसिक-पिया जी मोरि रंगि दे चुनरिया।

तात्पर्य यह कि रहस्यवाद के प्रत्येक अंग को आपने भली विधि लेकर आत्म-तत्व का विवेचन किया :—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानो।
फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना, यह तथ कथौ गयानी॥

एवं प्रभु का सच्चा दर्शन कराया :—

'मोकूँ कहाँ ढूँढे बन्दे मैं तो तेरे पास में।'

सारांश यह कि कबीर ने सूर और तुलसी द्वारा छूटे हुए एक विशिष्ट अंग की पूर्ति की। तीनों ने हमारी समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक भावनाओं को स्पर्श किया। पीछे होने वाले कवियों के लिए कोई अंग अछूता नहीं छेड़ा। निदान अन्य कवियों को सूर, तुलसी और कबीर का जूठन स्वीकार करना पड़ा।

अस्तु "तत्व तत्व ········ और कही सब झूठी।" अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है।

प्रश्न ३ :—सूर और नन्ददास की तुलना दोनों के भ्रमर-गीत के आधार पर कीजिए।

उत्तर :—सूर और नन्ददास—दोनों—ने भ्रमरगीत, अपने अपने दृष्टिकोण से, मौलिक उपस्थित करने का प्रयास किया है; पुनरपि च दोनों ही श्रीमद्भागवत से प्रभावित होने के कारण बहुत कुछ साम्य रखते हैं। पात्रों में दोनों ने कोई विशेष अन्तर नहीं किया है परन्तु भावों में दोनों ही एक दूसरे से बहुत दूर हैं। कथानक की दृष्टि से तो अतीत और वर्तमान का सा अन्तर प्रतीत होता है। सूरदास, श्रीमद्-भागवत की भाँति उद्धव को नन्द-यशोदा से मिलाते हैं परन्तु नन्ददास, नन्द तथा यशोदा का वर्णन तक नहीं करते। नन्ददास के भ्रमर-गीत में उनकी दार्शनिक प्रवृत्ति सजग होकर कार्य करती दिखाई देती है। उनकी

गोपियाँ दर्शन-शास्त्र में पारंगत हैं। इस प्रकार नन्ददास का उद्देश्य दर्शन-सिद्धान्त द्वारा ही निर्गुण का खण्डन और सगुण का प्रतिपादन है। सूर की गोपियाँ भोली है। वे अपने आर्जव एवं सरल स्वभाव से उद्धव को प्रेम रस में सराबोर कर देती हैं। उनके भोलेपन की उर्वरा भूमि में प्रेम का अंकुर अपने स्वाभाविक रूप से हरित हो गया है। वे उद्धव की बुद्धि, ज्ञान और निर्गुण धारा पर आश्चर्य करती हैं :—

जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते ?
बीज बिना तरु जामे, मोंहि तुम कहो कहाँ ते ?

अथवा

निर्गुण कौन देश को वासी ?

इसके अतिरिक्त नन्द के भ्रमर-गीत में भ्रमर 'गोपी-उद्धव-संवाद' के बीच में उड़ता हुआ आजाता है परन्तु सूरदास के भ्रमरगीत में भ्रमर उद्धव के आगमन से पूर्व ही उपस्थित रहता है।

काव्य-सौष्ठव की दृष्टिकोण से दोनों का अपना अपना विशिष्ट स्थान है; परन्तु सूरदास का भ्रमर-गीत हृदय-पक्ष को अधिक लिये हुए है। फलतः पाठक रसास्वादन बराबर करता रहता है। परन्तु नन्ददास का भ्रमर-गीत मस्तिष्क को अधिक छूता है; जिससे पाठक को कुछ समय तक रसास्वादन में विभोर हो उठने के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। पुनरपि च नन्ददास के भ्रमर-गीत का अन्तिम अंश काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से बड़ा ही महत्व रखता है :—

करुनामई रसिकता है तुम्हारी यह सब झूठी।
जब ही ज्यों नहि लखौ तबही लौं बाँधी मूठी॥
मैं जान्यो व्रज जाय के निर्दय तुम्हरो रूप।
जो तुमको अवलम्बहीं, वाको मेलो कूप॥
कौन यह धर्म है॥

परन्तु सूरदास की गोपियों का हृदय-पक्ष ही अधिक निखरा हुआ है। वे उद्धव से निर्गुण और सगुण पर वाद-विवाद नहीं करतीं। वे उद्धव की बातों को मान लेती हैं परन्तु साथ ही कह बैठती हैं :—

सागरसूरिभिः ॥
११

उर में माखन-चोर गड़े ।
सूरदास वे कैसे निकसें, तिरछे ह्वै जु अड़े ॥

अहा ! कितनी सजीव अभिव्यक्ति है । मोहन तिरछे (टेढ़े) होकर हृदय में अड़ गये हैं, भला उन्हें गोपियाँ किस प्रकार निकाल सकती हैं ! इसलिये वे आग्रह करती हैं :—

काहे को रोकत मारग सूधो ।
सुनहु मधुप निर्गुन कंटक ते राज-पथ क्यों सूधो ॥

इसके अतिरिक्त सूर की गोपियाँ व्यंग्य करने वाली हैं । यथा :—

जो पै भले होत कहुँ कारे ।
तो कत बदल सुता लै जात ॥

सारांश यह कि नंददास और सूरदास का भ्रमर-गीत में अपने अपने दृष्टिकोण से विशिष्ट स्थान है । दूसरे क्षेत्र में महाकवि सूरदास और नन्ददास में आकाश पाताल का अन्तर हो जाता है । सूरदास वात्सल्य और शृङ्गार के महान कवि हैं; उनकी पर्यवेक्षण शक्ति ने इस क्षेत्र में उन्हें इतना अधिक ऊपर उठा दिया है कि नन्ददास क्या, समस्त विश्व में ऐसा कोई कवि नहीं, जो उस क्षेत्र में उनसे टक्कर ले सके ।

अस्तु, सूरदास विश्व के महान कवियों में एक हैं । नन्ददास भी अष्टछाप में सूर के बाद अद्वितीय हैं ।

प्रश्नः—"सूरदास अष्टछाप में यदि सूर्य हैं तो नन्ददास निश्चय ही चन्द्रमा है" इस कथन की सयुक्तिक पुष्टि कीजिए ।

उत्तरः—अष्टछाप में सूरदास, नन्ददास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, गोविन्दस्वामी, छीत स्वामी और चतुर्भुजदास कुल आठ कवियों की गणना होती है, जिनको गोसाईं विट्ठलदास का अष्टछाप के एक नाम से संज्ञा दे देना सबकी समानता का सूचक है । परन्तु यह समानता केवल विट्ठलदास जी के आगे भक्ति-क्षेत्र में थी; वे अपनी ओर से समान दृष्टि से देखते थे । साहित्यिक क्षेत्र में स्वयं

विट्ठलदास जी भी नन्ददास जी की रचनाओं एवं मधुर संगीत पर मुग्ध थे। ध्रुवदास जी का नन्ददास के विषय में यह मत है :—

नंददास जो कुछ कह्यो राग रंग में पागि।
अच्छर सरल सनेह मम सुनत होत हिय जागि॥

इनकी रचनाओं में अभी तक कुल १५ ग्रंथों का नाम लिया जाता है। परन्तु अभी तक केवल रासपंचाध्यायी, भ्रमरगीत, अनेकार्थमंजरी और नाममाला ये चार पुस्तकें ही प्रकाशित हुई हैं। इनके आधार पर ही हमें इनका स्थान अष्टछाप के कवियों में निर्धारित करना है।

इनकी रचना "रासपंचाध्यायो" में कला साकार हो उठी है; यही कारण है कि इसे हिन्दी में "गीतगोविन्द" कहा जाता है। इसके अतिरिक्त इनकी दो प्रमुख विशेताएँ हैं, १—भाषा की मधुरता २—शब्दों की सजावट। शब्द सजावट में आपके समान हिन्दी में केवल दो-एक ही अन्य कवि हैं। "नन्ददास जड़िया और कवि गढ़िया" की उक्ति आज तक प्रचलित है जो आपकी मौलिकता का परिचायक है।

भाषा-कोष के दृष्टिकोण से हिन्दी-कवियों में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। "अनेकार्थमाला" इसका प्रतीक है, जिसमें एक-एक शब्द के अनेक अर्थ दिये गए हैं।

गुणों के दृष्टिकोण से कवि में दो गुण माधुर्य तथा प्रसाद की प्रधानता है। माधुर्य तो इतना निखरा हुआ है कि उसकी सरसता में मग्न होते देर नही लगती। श्री प्रभुदयाल मीतल के शब्दों में "प्रत्येक पद मानो अंगूर का एक गुच्छा है, पक्तियों में न तो संयुक्ताक्षर हैं और न लम्बे-चौड़े समास ही"।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नन्ददास साहित्यिक क्षेत्र के भाषा-कोष, शब्द-सजावट, भाषा-माधुर्य एवं संगीतमयता में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

वास्तव में अष्टछाप के कवियों में नन्ददास ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने पद रचना के साथ-साथ विभिन्न शैलियों में भी कविता की है। सूरदास

की भी अधिकांश रचना पदों में है, भिन्न शैलियों में कम है; किन्तु नन्ददास की रचना पदों में कम तथा भिन्न शैलियों में अधिक है। रोला' छंद लिखने में तो उन्होंने इतना चमत्कार दिखाया है कि इस प्रकार की रचना उनकी अपनी वस्तु हो गई है। यदि हम नन्ददास की इन विशेषताओं को दृष्टिकोण में रख कर अष्टछाप के अन्य कवियों पर दृष्टिपात करें तो सूरदास के अतिरिक्त कोई भी अन्य कवि समानता के तराजू पर रखने के योग्य दिखाई नहीं देता। निस्सन्देह अन्य कवियों ने भी अपनी वीणा की मधुर झंकार से कृष्ण-काव्य का गौरव बढ़ाया है परन्तु जब हम काव्य-मयता की दृष्टि से आलोचना करने बैठें तो रियायत करना अन्याय ही होगा।

तात्पर्य यह कि नन्ददास की रचनाओं के आधार पर सूरदास को छोड़ कर अष्टछाप का कोई कवि किसी भी दृष्टिकोण से नन्ददास की बराबरी में नहीं लाया जा सकता।

अब हमें सूरदास और नन्ददास की तुलना करनी है तथा यह देखना है कि दोनों में किसका स्थान कितना ऊँचा है।

सूरदास आँखों से अन्धे थे और नन्ददास दोनों आँखों से युक्त। पुरनपि च सूरदास और नन्ददास में महान अन्तर है। दोनों आँखों से अन्धे सूर ने सवा लाख पद रचें तथा वात्सल्य और शृङ्गार रस का एक कोना भी अछूता नहीं छोड़ा। उसके व्यथित हृदय ने वाणी को स्वरूप दिया तथा हृद्-तंत्री के तारों को चेतना मिली। उसने अपने भावों को आँसू से गला कर प्रवाहित किया तथा समय पाकर आशा की कलियों को विकसित किया। उसने गोपियों के संयोग शृङ्गार में अपने मन-मयूर को नचा डाला तथा उनके वियोग में अपने वियोग की व्यथा देकर और भी अधिक मार्मिकता प्रदान की। यथा :—

(अ) सखी इन नैनन में घन हारे।
बिन ही रितु बरसत निसिवासर, सदा मलिन दोउ तारे॥

(ब) मधुवन तुम कत रहत हरे।
सूर श्याम के विरह लागि ठाढ़े क्यों न जरे॥

विरह-ज्वाला में जलते हुए व्रज का कोई भी व्यक्ति पत्र पढ़ने तक के योग्य नहीं रहा।

कोउ व्रज बाँचत नाहिन पाती।

× × × ×

परसत जरे विलोकत भीजत, दुहूं भांति दुःख छाती।

कवि ने बाल-चित्रण में तो अपनी लेखनी को धन्य कर लिया है। "मैया कबहिं बढेगी चोटी" में अपनी पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय दिया है। सारांश यह कि सूरदास अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं। उसके क्षेत्र में नन्ददास क्या, विश्व का कोई कवि टक्कर नही ले सकता।

हाँ! जहाँ तक सूर और नन्ददास की भ्रमरगीत का प्रश्न है; दोनों की तुलना की जा सकती है। इसमें नदन्दास अवश्य बराबरी के तराजू पर खड़े हैं; उनकी एक कविता लीजिए :—

ता पाछे इक बार ही, रोई सकल व्रजनारि।
हा करुनामय नाथ हो, कृष्ण कृष्ण मुरारि॥
फाटि हियरो चल्यो॥

निश्चय ही कवि इसमें सफल है।

वह इस क्षेत्र मे सूर की बराबरी कर सकता है; परन्तु अन्य क्षेत्र में नहीं। इस प्रकार अष्टछाप में वह सूर के बाद सभी कवियों से श्रेष्ठ है सूरदास के विषय में आचार्य शुक्ल का यह कथन विचारणीय है :—

"अचार्यों की लगाई हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेम-लीला का कीर्तन करने उठीं; जिनमें सबसे सुरीली, ऊँची और मधुर झनकार अँधे कवि सूर की थी।"

इसके अतिरिक्त "सूर सूर तुलसी शशि" वाली कहावत भी सूर को सूर्य मान चुकी है। हिन्दी-साहित्य के मर्मज्ञ सूर की काव्य-रसिकता के क़ायल हैं परन्तु उपरोक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो चुका है कि अष्टछाप में नन्ददास का स्थान सूर के बाद निश्चय रूप से होना चाहिए।

सागरसूरिभिः॥

अस्तु; सूरदास अष्टछाप के कवियों में यदि सूर्य हैं तो नन्ददास निश्चय ही चन्द्रमा हैं।

प्रश्न ५ :—"शृङ्गार से विमुख हुआ मानव भक्ति में ही आश्रय पाता है" हिन्दी-साहित्य के प्रधान कवियों का उल्लेख करते हुए इस कथन की पुष्टि कीजिए।

उत्तर:—वास्तव में शृंगार का पथ एक अतृप्तिमय वासना का पथ है जो मरु मरीचिका की भाँति मानव को अपनी ओर खींचता है। भोला मानव जीवन भर तृप्ति की आशा में दौड़ लगाता है; परन्तु वहाँ दूसरा है क्या? वहाँ तो रेत के अतिरिक्त कुछ है नहीं। विवशतः उसे श्रान्त और क्लान्त होकर शून्य की ओर देखना पड़ता है। यदि हम अपने हिन्दी के प्रधान कवियों पर एक विहंगम दृष्टि डालें तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

हिन्दी के सबसे महान् कवि तुलसीदास जी शृङ्गार के पुजारी थे। उन्हें गरजते हुए बादल, मूसलाधार वर्षा, तीव्र पवन तथा घटाटोप अर्ध-रात्रि भी शृंगार-पूजा से न रोक सकीं और वासना के बाणों से विद्ध तुलसी अपनी स्त्री के पीहर पहुँचा। परन्तु जब उसे,

"अस्थि चरम मय देह मम तामें ऐसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ होत न तव भवभीतिं॥"

का स्वर सुनाई पड़ा; उसकी-देवी-ने जब उसकी वासना के नैवेद्य स्वीकार नहीं किए तो तुलसी द्रुत-गति से भाग चला और प्रभु की शरण में शांति-लाभ किया।

यही दशा भक्तप्रवर सूर की है। वह जीवन का लगभग अर्ध-भाग सौन्दर्य और शृङ्गार की देवी पर बलिदान करके भी शांति नहीं पा सका। अन्ततः घबड़ाकर पुकार उठा:—

"हौं अनाथ बैठ्यो द्रुम डरिया पारिधि साधे बान"

महाकवि बिहारी भी जब नायिका को झूले में झुलाते-झुलाते थक गए तो चीख उठे:—

(अ) "हौं समझ्यो निरधार यह जग कांचो कांच सो"

(ब) हरि भीजत तुमसों करें विनती बार हजार।
जेहि तिहि भांति डरो रहौं, परो रहौं दरबार॥

"रसिक-प्रिया" के रसिक केशव की भी यही दशा हुई। परन्तु उन्हें इसका ज्ञान बहुत पीछे हुआ; जब बाल सफेदी पा चुके थे—

केशव केसन अस करी जस अरिहू न कराय।
चन्द्र-बदनि मृगलोचनी बाबा कहि-कहि जाय॥

रस के खानि, रसखान ने भी अपनी आशिक-मिजाजी की अतृप्त-वासना का अन्त,

"मानुष हौं तो वही रसखानि, बसौं नित गोकुल गाँव के ग्वारन,
जो पशु हौं तो कहा बसु मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।"

में किया और प्रभु के पाने के लिए पशु, पक्षी आदि निकृष्ट योनि पाने तक के लिये चीत्कार कर उठा। यही ध्वनि नन्ददास की जीवनी में भी है; खत्रानी सुन्दरी के पीछे चक्कर काटते-काटते जब नन्ददास थक गए तो उन्हें कृष्ण-भक्ति में ही शांति मिली।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शृङ्गार के श्रान्त पथ का पथिक भक्ति की शीतल छाया में ही तृप्ति पाता है।

प्रश्न ६ :—हितहरिवंश जी की रचनाओं का उल्लेख करते हुए, व्रजभाषा में उनका स्थान निश्चित कीजिए।

उत्तरः—गोस्वामी हितहरिवंश जी ने, यद्यपि केवल दो रचनाएँ "राधा-सुधानिधि" तथा "हित-चौरासी" ही की हैं तथापि इनमें से केवल "हित-चौरासी" ही आपको देव और बिहारी की श्रेणी में बिठाने के लिए पर्याप्त है। आचार्य शुक्ल लिखते हैं:—

"व्रजभाषा को रचना आपकी यद्यपि बहुत विस्तृत नहीं है, पर है बड़ी सरस और हृदय-ग्राहिणी।" × ×

तथा

"अपनी रचना की मधुरता के कारण हितहरिवंश जी श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार कहे जाते हैं।"

भला जो कवि कृष्ण की वंशी जैसी मधुरता काव्य में उत्पन्न कर सकता है, उसका स्थान क्या किसी से कम है ?

दूसरी ओर आपने ब्रजभाषा के प्रसार में अच्छा योग दिया है। आप ही के शिष्य हरीराम व्यास ओरछेश श्री मधुकरशाह के राजगुरु थे।

आपने अपनी प्रतिभा से "राधावल्लभ" सम्प्रदाय चलाया, और जनता में ब्रजभाषा के माधुर्य का स्रोत बहा दिया।

आपकी महानता के विषय में श्री हरीराम व्यास के चुभते पद, वृन्दावनदास कृत "हित जी की सहस्रनामावली" तथा चतुर्भुजदास कृत "हितजू को मंगल" आदि स्मरणीय हैं।

जब हम आपके पदों को पढ़ते हैं, तो मैथिल-कोकिल विद्यापति का स्मरण होने लगता है।

सारांश यह कि आपकी थोड़ी रचना भी हीरा की खान है। रस और कोमल पदावली के दृष्टिकोण से आपका स्थान बिहारी और देव के बराबर ही होना चाहिए; यद्यपि मिश्रबंधुओं ने आपको सेनापति की श्रेणी में रखा है। यह उनकी भूल है।

उनकी रचना का एक उदाहरण लीजिए :—

प्रीति न काहू की कानि विचारे।
मारग अपमारग विथकित मन, को अनुसरत निवारै॥
ज्यों पावस सलिता-जल आगति सनमुख सिंधु सिधारे।
ज्यों नादहिं मन किये कुरंगहिं प्रकट पारधी मारै॥

कितनी कोमलता और मधुमयता टपक रही है।

वास्तव में गोसाईं जी (हितहरिवंश जी) श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार हैं। काव्यत्व के दृष्टिकोण से आपका स्थान बिहारी और देव की श्रेणी में होना चाहिए।

प्रश्न ७ :—नागरीदास और भगवतरसिक का आलोचनात्मक परिचय दीजिए।

उत्तर :— **नागरीदास**

नामः—आपके नाम से पांच भक्त कवियों का बोध होता है। उनमें से एक नागरीदास श्री वल्लभाचार्य के शिष्य आगरे के निवासी हैं, जिनकी कथा चौरासी वैष्णवों की कथा में आई है। दूसरे बिहारीदास के शिष्य थे जो हरिदास की शिष्य-परम्परा में हुए थे। तृतीय हितहरिवंश के सम्प्रदाय में, चतुर्थ चैतन्य महाप्रभु के सम्प्रदाय में हुए थे, जिनके विषय में ध्रुवदास तथा भारतेंदु जी ने विवरण दिया है। परन्तु प्रस्तुत नागरीदास, उपरोक्त चारों से भिन्न महाराजा साँवतसिंह जी हैं; जो वल्लभकुल के शिष्य थे।

जन्मतिथि :—आप के जन्म सम्वत् के विषय में शिवसिंह सरोजकार तथा डा० ग्रियर्सन दोनों ही भूल के पथ पर हैं, जो १६४७—४८ मानते हैं। पं० मोहनदास पाण्डेय ने इस विषय में अपना मत निस्सन्देह प्रामाणिक दिया है। आपका जन्म पौष कृष्ण १२, सं० १७५६ निश्चित है।

जीवन की प्रमुख घटनाएँ :—आपने अपनी १३ वर्ष की अवस्था में अकेले ही बूंदी के हाड़ा जैतसिंह को परास्त किया। आपका विवाह भावनगर की राज्यकन्या से हुआ। पिता के स्वर्गवास के पश्चात् कृष्णगढ़ के राजा पद पर, बादशाह अहमदशाह ने नियुक्त किया परन्तु अपने भाई बहादुरसिंह को पहले ही से वहाँ राजगद्दी पर बैठे देख बड़े आश्चर्य में पड़ गए अन्ततः मराठों से सहायता लेकर गद्दी पर अधिकार किया परन्तु इस लड़ाई में आपका मन इतना खिन्न हुआ कि राज्य छोड़ कर वृन्दावन की शरण ली और नागरीदास नाम से कविताएँ करके व्रज-वल्लभ को अर्पित करने लगे।

भक्ति :—आप व्रज-बिहारी कृष्ण पर इतने अनुरक्त थे कि क्षण भर भी वृन्दावन से दूर रहना खल उठता था। एक दिन आप वृन्दावन के उस पार चले गए पर रात्रि हो जाने के कारण नाव नहीं मिली।

उस समय आप अपने वृन्दावन-विहारी के दर्शनार्थ यमुना में कूद पड़े और तैरकर आए। उनके लिए सब कुछ त्याग देना सह्य था परन्तु वृन्दावन त्यागना प्राण से भी कठिन था :—

सर्वस के सिर धूरि दै, सर्वस कै ब्रज-धूरि।

रचनाएँ और कविता-काल :—आपका रचना काल १७८० से सं० १८१९ तक माना जाता है। इस बीच आपने कुल ७३ ग्रन्थ रचे जिसका संग्रह "नागर-समुच्चय" के नाम से हुआ है। इसमें आपकी उपपत्नी "वनीठणी जी" की भी रचनाएँ सम्मिलित हैं।

विशेषताएँ :—आपकी प्रायः समस्त रचनाएँ राधाकृष्ण की भक्ति-रस से भरपूर हैं। उत्सवों, विशेषकर होली, का आपने बड़ा ही सजीव चित्रण किया है। आपकी भाषा फ़ारसी-मिश्रित ब्रजभाषा है। प्रेम की झलक प्रायः समस्त रचनाओं में विद्यमान है। आप पर ब्रजभाषा को अभिमान है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "इन्होंने कहीं कहीं बड़े सुन्दर भावों की व्यंजना की है। काल-गति के अनुसार फ़ारसी काव्य का आशिकी और सूफ़ियाना रंग-ढंग भी कहीं कहीं दिखाया है। पदों की भाषा सरस और चलती हुई है परन्तु कवित्तों में भाषा का चलतापन नहीं है।"

श्री भगवतरसिक

परिचय :—आपका जन्म अनुमानतः सम्वत् १७९५ है। आप स्वामी ललितमोहन जी के कृपा-पात्र थे, जो टट्टी-संस्थान के मुख्याचार्यों में स्वामी ललितकिशोर जी के शिष्य थे।

आपने गद्दी का अधिकार नहीं लिया। दिन-रात प्रभु के भजन में लगे रहे।

विशेषताएँ :—आपकी रचना 'अनन्य-निश्चयात्मक' नामक ग्रन्थ हैं। इसमें वैराग्य और शृङ्गार दोनों का सजीव वर्णन है। आपको कुंडलिया अपूर्व है। कविता में प्रत्यक्षानुभूति, अनन्यता, त्याग तथा पक्षपात-हीनता साकार हो उठी हैं।

' "भगवतरसिक रसिक' ये बातें, रसिक विना कोउ समुझै ना"
आप ही की उक्ति है। आपने प्रेमतत्व का निरूपण बड़े सुन्दर ढंग से किया है। यथा :—

संग करे भगवतरसिक, कर करुवा गुदरी गरे।
वृन्दावन विहरत फिरे, जुगल रूप नैनन भरे॥

प्रश्न ८ :—ललितकिशोरी के जीवन का परिचय देते हुए उनकी भाषा, भाव, भक्ति तथा कवित्व पर एक संक्षिप्त लेख लिखिये।

उत्तर :—जीवन-परिचय —ललितकिशोरी का वास्तविक नाम कुन्दनलाल था। आपके पिता साह गोविन्दलाल लखनऊ में नवाव के जौहरी थे, परन्तु आप अपने भाई कुन्दनलाल उपनाम ललितमाधुरी सहित, घर छोड़कर वृन्दावन प्रभुभजन के लिए चले आए क्योंकि घर पर दिनो-दिन बढ़ता हुआ गृह-कलह असहनीय था। सं० १९३० में, आप शरीर सहित श्री वृन्दावनराज में लीन हो गए।

भाषा :—आपकी भाषा बड़ी कोमल है परन्तु वह शुद्ध ब्रजभाषा नहीं। उसमें कहीं कहीं पर खड़ीबोली, मारवाड़ी भाषा तथा उर्दू का पुट है। आपकी खड़ीबोली की रेखता रासधारियों में अत्यधिक प्रचलित है।

भाव :—आपके भावों में एक अपूर्व वेदना की झलक है। घर के कलहपूर्ण वातावरण से भागा हुआ कवि अपने प्रभु के लिए विकल हो उठा है। आशा सजीव हो उठी है तथा व्यथा को वाणी मिली है। यथा :—

कोई दिलवर की डगर बता दे, रे।
लोचन कंज, कुटिल भृकुटि कच, कानन कथा सुना दे रे॥
ललितकिशोरी मेरी वाकी, चित की सांट मिला दे रे।
जाके रंग रंग्यो सब तन मन, ताकी झलक दिखा दे रे॥

यहाँ कवि का हृदय फूट पड़ा है।

भक्ति :— कविने अपने को स्त्री रूप में मान कर भगवान कृष्ण को पतिरूप में देखा है। कवि घर से दूर है, कोई सहायक नहीं; यही

सागरसूरिभिः ॥

सत्यता प्रभु के चरणों में उफक-उफक रोती दृष्टिगोचर होती है। कवि प्रभुरूपी पति से कहता है :—

दंपति इतनी विनय हमारी।
मंद मंद चलिये इन वीथिन, विगसित मल्ली जुही निवारी॥
निकट राव के रूप उपासक, नव निकुंज द्रुम-चारी।
याहो छिन छवि वसिये वाके, हिये कमल वलिहारी॥

परन्तु दर्शन न पाने पर व्यथित हो उठता है :—

रे निरमोही, छवि दरसाय जा।
कान चातकी, स्याम विरह घन मुरली मधुर बजायजा॥

इसके अतिरिक्त कवि प्रभाती आदि गीतों में प्रभु की प्रार्थना की है। इनकी रचनाओं में इनके जीवन का प्रतिविम्ब भो निखर आया है :—

छोड़ दिया सब माल खजाना होरा मोती लुटाया है।
फेंक फांक कर शाल दुशाले जग से चित्त उठाया है॥

सारांश यह है कि कवि की भक्ति-भावना व्यथा से अनुप्राणित होकर वेदना के स्वर में हृदय को चीरती हुई गगनगामी हो चली है।

कवित्व-शक्ति :—निस्सन्देह काव्य-क्षेत्र में प्रतिभा का स्थान ऊँचा है; तथापि भावनाओं के विकल स्वर में जो लड़खड़ाती वेदना गिर पड़ती है, उसके मार्मिक एवं हृदयवेधो तारों के झंकृति स्वरोंसे प्रतिभा का हृदय भी दहल उठता है। यही वात हम ललितकिशोरी की कविताओं में पाते हैं। मिश्रवंधुओं ने इस कवि को 'दास' की श्रेणी में रखकर अपनी शुष्क हृदयता का परिचय दिया है। वास्तव में इनकी रचनाओं 'बृहत् रस-कलिका' तथा 'लघु-रस-कलिका' को अप्राप्यावस्था में ही उन्होंने ऐसा किया है तथापि फुटकर प्राप्य रचनाओं में आधार पर भी, ललित किशोरी के काव्य की परख हो ही जाती है।

आपका काव्य सरस, मधुर एवं करुणापूर्ण है। थोड़ी रचनाएँ भी, आपको व्रजभाषा के उत्तम कलाकारों में स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त हैं :—

"मुरकि [illegible] तवनि चित चोरे।

ठुमकि चलनि, देरा दै बोलनि, पुलकनि मंद किशोरै ”

भला यह स्थल किस कवि की रचना से कम महत्व रखता है। “मुरकि मुरकि चितवनि” में तो कल्पना भी साकार हो उठी है।

इसके अतिरिक्त आप संस्कृत के विद्वान् थे; व्रजभापा के गद्य एवं पद्य दोनों पर अधिकार था।

इन वस्तुओं पर दृष्टिपात करते हुए हम ललितकिशोरी की वेदना-मयता को ‘आनन्दघन’ की आनन्दमयता के साथ बिठाकर सत्कार करना चाहते हैं।

प्रश्न ६ :—“वियोग की अन्तर्दशाओं तथा प्रेम की अनेकानेक प्रवृत्तियों, रूप के विचित्र चित्रों, भाषा की शक्तियों और विरोध की चमत्कारिक उक्तियों का जैसा प्रदर्शन घनानन्द ने किया है, वैसा विरले कवि कर पाते हैं ” इस कथन पर अपना युक्ति-युक्त कथन दीजिए।

उत्तर :—व्यथित व्यक्ति की कराह जितनी मार्मिक हो सकती है; उतनी किसी नाटक के पात्र अथवा अनुकरणकर्त्ता की नहीं। वही दशा घनानन्द की है। घनानन्द स्वयं वियोगी है; उनका विरह सत्य है। उन्होंने जिस सुजान के प्रेम के लिए अपना सब कुछ बलिदान कर दिया, बादशाह के मीर-मुन्शी पद तक को तिलांजली दे दी; वह उसका साथ भी न दे सकी। कवि का हृदय टूक-टूक हो गया। वह विरक्त हो गया परन्तु उसकी अनुरक्ति नहीं गई। उसने वृन्दावन, व्रज में निवास किया परन्तु हाय सुजान ! हाय सुजान !! के शब्द नहीं छोड़े। उसे प्रभु भी सुजानमय दीखने लगे। अतः वह अपनी प्रेम की अनेकानेक प्रवृत्तियों का आरोप कृष्ण रूपी सुजान में किया। वह वियोगी था, व्यथित था; विरही था; अतः विरह-गान अपने विकल कंठ से गाया। इसीलिए वह “प्रेम का स्वच्छन्द” गायक कहा गया।

कविता भाव-प्रधान होकर अपने आप बह उठी है। भक्ति गौण रहकर शृंगार और प्रेम प्रधान हो गया। कवि प्रेम की गूढ़ अन्तर्दशा के वर्णन में कमाल दिखाया और लाक्षणिक मूर्तिमत्ता एवं प्रयोग-वैचित्र्य तो मानो साकार ही हो उठा। एक उदाहरण देखिये :—

सागरसूरिभिः ॥
११

(अ) कारी कूर कोकिल कहाँ को वैर काढ़त री,
कूकि कूकि अबहीं करेजो किन कोरि लै ॥
पैड़ परे पापी ये कलाकी निति द्यौंस ज्यों ही,
चातक रे पातक ह्वै तू हू कान फोरि लै ॥
आनन्द के घन प्रान-जीवन सुजान बिना,
जानि के अकेली सब घेरो दल जोरि लै ॥
जो लौं करै आवन विनोद बरसावन वे,
तौलों के डरारे वजमारे घन घोरि लै ॥

प्रेम की एक सरस उक्ति का उदाहरण देखिये :—

(ब) घन आनन्द प्यारे सुजान सुनो, इत एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हो लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं ॥

अहा! "तम कौन सी पाटी पढ़े हो" तथा "मन लेकर छटाँक भर भी नहीं देते" आदि उक्ति-वैचित्र्य कितने मर्मस्पर्शी हैं। भाषा परिमार्जित है तथा उक्ति चमत्कारिक हो उठी है। ऐसी रसिकता की अभिव्यक्ति सभी कवियों में मिलनी सम्भव नहीं।

कवि के वियोग की अन्तर्दशा जैसी (अ) में है; वैसी प्रायः हिन्दी साहित्य में कम है। ऐसी सीधी एवं मार्मिक वियोग की अभिव्यक्ति तो मीरा की ही वाणी में प्राप्य है :—

पपइया रे पिव की वाणी न बोल।
सुणि पावेली विरहणी रे, थारो राड़ेली पाँख मरोड़ ॥
चोंच कटाऊँ पपयारे, ऊपरि कालर लूण।
पिव मेरा मैं पीव की रे, तू पिव कहे स कूण ॥

तात्पर्य यह कि कवि का भौतिक वियोग आध्यात्मिक होकर अधिक निखर उठा है। उसकी प्रेम और वियोग की अभिव्यक्ति में वेदना और व्यथा साकार हो उठी है।

कवि तो यहाँ तक कहता है कि संयोग में भी वियोग साथ नहीं छोड़ता :—

"यह कैसो संयोग न बूझि परे जु वियोग न क्यों हू बिछोहत है।"

जब हम कवि की शैली पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि की झड़ी लगाने वालों की अपेक्षा इसकी व्यञ्जना-पद्धति बड़ी ही मार्मिक है। इस कवि ने अपनी भावनाओं को ऐसे पथ से ले जाने का साहस किया है, जिन पर पुराने कवि तो गए ही नहीं; नये कबि भी जाने का साहस कम करते हैं :—

मों से अनपहचान को पहचाने हरि मौन।
कृपा-कान मधि नैन ज्यों त्यो पुकार मधि-मौन॥

भला ऐसी उच्चकोटि की कल्पना कौन सा कवि कर सका है ? कोई नही।

इसकी "पुकार मौन में" है तो उधर "नेत्रों में कृपा के कान" लगे हुए हैं। एक विरोध की सजीव चमत्कारिक उक्ति देखिये :—

"देखिये दसा असाध, अँखिया निपेटनि की,
भसमी विथा पै नित लंघन करति है।"

आँखें स्वभावत: भुक्खड़ हैं; उस पर भी भस्मक रोग लग गया है अत: सब खाना पीना भस्म हो जाता है; दु:ख की बात है कि इतना होते हुए भी इन्हें लंघन (उपवास) करना पड़ता है।

अब कवि की एक पदांश-ध्वनि पर विचार कीजिए :—

"मेरो मनोरथ हू वहिये अरु है मो मनोरथ पूरनकारी।"

अहा ! कवि ने यहाँ अपने मनोरथ को अर्जुन के रथ की भाँति वहन करने के लिए कह कर 'हू' की सजीव व्यंजना की है। ऐसी ही अनेक उक्तियों से कवि की समस्त रचना भरी पड़ी है। वास्तव में कवि अपनी परिमार्जित भाषा के दृष्टिकोण से अद्वितीय है। हिन्दी-साहित्य में उसकी समानता भाषा के दृष्टिकोण से कोई नहीं कर सकता। इसका स्थान हिन्दी-साहित्य में बिहारी की श्रेणी ही में होना चाहिए। इसने वियोग एवं प्रेम की अनेकानेक प्रवृत्तियों, भाषा-शक्तियों तथा विरोध

सागरसूरिभिः ॥

की चमत्कारिक उक्तियों का जैसा प्रदर्शन किया है, वैसा विरले ही कवि कर पाते हैं।

प्रश्न १० :—कविवर देवदत्त के भाव, भाषा, आचार्यत्व, अलंकार-योजना तथा शैली एवं व्यक्तित्व पर एक सारगर्भित टिप्पणी लिखिये :—

उत्तर :—कविवर देवदत्त एक वाक्सिद्ध व्यक्ति थे। उनका अध्ययन गंभीर और गवेषणापूर्ण था। अतः हमें उनकी रचनाओं में शब्दाडम्बर बहुत कम मिलता है। उन्होंने अपनी

भाव तथा भाषा

रचनाओं में भाषा पर उतना बल नहीं दिया, जितना भाव पर। भाव शवलता उनकी रचना का एक विशेष गुण है। श्रुतिकटु शब्द प्रायः नही के बराबर हैं। ग्रामीण शब्दों का प्रयोग कवि ने नहीं किया है। उसकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। बड़ी हो श्रुतिमधुर है। उसमें मिश्रित वर्ण एवं रेफ संयुक्त अक्षर कम हैं। प्रान्तीय भाषाओं में बुन्देलखण्डी व राजस्थानी शब्दों का व्यवहार भी कवि ने अन्य कवियों से कम किया है। पुनरपि च कवि ने अनुप्रास के फेर में पड़ कर भाषा का चलतापन एवं रसाद्रता को नष्ट कर दिया है। भाषा टकसाली, मुहावरेदार तथा आलंकारिक है।

देव भारती के सच्चे कवि थे। उनकी रचनाओं में प्रेम का संदेश है। उनका प्रेम दूषित नहीं; अपितु दाम्पत्य जीवन का विशुद्ध प्रेम है, जिसमें स्वार्थ का नाम तक नहीं रहता। सुख और दुःख में समान रूप से प्रेम की धारा बहती रहती है :—

सुख दुख में है एक सम, तन मन बचननि प्रीति।
सहज बढ़ै हित चित नयो, जहाँ सुप्रेम प्रतीति ॥

उनके शब्दों में विषय-भोग प्रेम नहीं; वह तो विष है :—

विषयी जन व्याकुल विषम देखें विष न पियूष।
सीठी मुख मीठी जिन्हें, जूठी ओठ मयूष ॥

कवि ने कामी-प्रवृत्ति का हृदय से विरोध किया है :—

भूले हू न भोग, बड़ी विपति वियोग विथा;
जोग हू ते कठिन संयोग पर-नारि को।

देव मानव-प्रकृति के पारखी थे। मन और नेत्र की विविध गतियों पर उनका अध्ययन गम्भीर था, जिसका वर्णन कवि ने बड़ी सफलता-पूर्वक किया है।

आचार्यत्व की दृष्टि से कवि केशवदास से कुछ ही कम हैं। इसने अपने संस्कृत साहित्य के गम्भीर अध्ययन के पश्चात् शब्दशक्ति, रस तथा अलंकार पर विवेचन किया है परन्तु उसने संस्कृत का अनुवाद ही अपने काव्य का विषय नहीं बनाया। उसने स्वतन्त्र विचार से सब की रचना की है। "शब्द-रसायन', 'भाव-विलास', 'भवानी-विलास' आदि आपके आचार्यत्व के प्रतीक हैं।

देव का आचार्यत्व

कवि शब्द-निर्माण में सिद्धहस्त होने के साथ २ अलंकारों की सुन्दर योजना में भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसकी रचनाओं में प्रायः अनुप्रास, उपमा, स्वभावोक्ति का प्राधान्य है। सम्भवतः कवि को ये अलंकार अधिक प्रिय रहे हैं।

अलंकार-योजना

देव ने अपने काल-विशिष्ट (रीतिकाल) की शैली अपनायी है। दोहा, सवैया एवं घनाक्षरियों तथा कवित्तों में प्रायः समस्त रचना की है। जैसा कुछ इस कवि की छन्द-योजना में विविध प्रकार के काव्यांगों का निरूपण हुआ है, वैसा अन्य कवियों में अप्राप्य है। माधुर्य, प्रसाद, सुकुमारता एवं अर्थव्यक्ति इनकी रचना के विशेष गुण हैं।

शैली

सभी छन्द गुण, लक्षण, व्यंजना, ध्वनि तथा अलंकारों से सुस-ज्जित हैं।

संस्कृत साहित्य का गम्भीर अध्ययन, स्त्री प्रकृति का विशेष रूप से मनन, इतिहास का सम्यग् ज्ञान, आयुर्वेद एवं ज्योतिष की अच्छी

सागरसूरिभिः ॥

जानकारी आदि देव के व्यक्तित्व की विशेषताएँ हैं।

व्यक्तित्व आप हितहरिवंश सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। पौराणिक कथाओं में आस्था रखते थे। भारत की पूर्ण यात्रा करने के कारण आपका अनुभव बढ़ा-चढ़ा था। आपकी प्रतिभा ईश्वर-प्रदत्त थी; आपने नारी-प्रकृति के कोने कोने में झाँकी लगाई थी।

इसके अतिरिक्त वेदान्त, दर्शन तथा संगीत से आपको विशेष प्रेम था।

रीतिकालीन अन्य यवियों की भाँति आप विषय-भोग के शिक्षक नहीं थे। आपने प्रेम की जो व्याख्या की है उसमें विषय को विष से समानता की गई है। प्रेम के विभाजन में आपने ५ प्रकार का प्रेम बतलाया है—सानुराग, सौहार्द, भक्ति, वात्सल्य और कार्पराय। वास्तव में आप प्रेम के कवि हैं।

मानव-प्रकृति में मन और नेत्रों का जैसा कुछ अध्ययन आप का है; अन्य कोई कवि उसके निकट तक नही पहुँचा है। नेत्र का एक उदाहरण देखिये :—

सखियों है मेरी मोहिं अँखिया न सींचतीं, तौ
याही रतिया मैं जाती छतिया छटूक ह्वै।

कवि विरह-वर्णन में भी किसी से पीछे नहीं। उसका वियोग-वर्णन दैन्य स्वरों से पूर्ण सन्ताप की ज्वाला लिये हुए है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि भाव, भाषा, आचार्यत्व एवं अलंकार-योजना तथा शैली की विशिष्टता में अपने युग के बहुत से कवियों के आगे बढ़ गया है। उसकी स्वतन्त्र विचार-शक्ति तथा ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा ने उसके पाण्डित्य को निखार कर रख दिया है।

प्रश्न ११ :—भाव भाषा, एवं कवित्व की दृष्टि से देव की तुलना विहारी से कीजिए।

उत्तर :—देव और विहारी दोनों रीतिकाल के कवि है परन्तु देव विहारी से लगभग दो शताब्दी पीछे हुए हैं। अतः उनका मार्ग प्रशस्त

भाव

था। उनके सामने विहारी, केशव, मतिराम तथा भूषण प्रभृति उच्चकोटि के कवियों की रचनायें हो चुकी थीं। एतदर्थ उन्होंने इस अवसर से लाभ उठाया, परन्तु विहारी के सामने काव्य का इतना उच्चादर्श नहीं था। उन्हें स्वयं को अपनी कविता-भूमि की जोत करनी पड़ी। अतः उनमें मौलिकता है; भाषा और भावों को मिलाने की क्षमता दिखाई देती है। देव में भी मौलिकता है; उनकी भाषा, व्यक्त करने में सशक्त है। परन्तु भावों को ग्रहण करने के लिए देव को उपयुक्त अवसर था; उन्होंने पूरा पूरा लाभ उठाया; इसका अर्थ यह नहीं कि उन्होंने दूसरों के भावों की चोरी की। चोरी तो तब कही जाती; जब वे ज्यों के त्यों भाव और शब्द रख देते। उन्होंने जो कुछ भी भाव लिये, अपने शब्दों में पचाकर अपना बना डाले। देव विहारी से मानव-प्रकृति के चित्रण में आगे हैं। देव का ज्ञान विस्तृत था; उन्होंने भारत का भ्रमण करके प्रत्यक्ष अनुभव किया था; परन्तु विहारी का भाव-क्षेत्र संकुचित है। उन्होंने बुन्देलखंड से मथुरा तक ही का क्षेत्र देखा था। इससे सिद्ध है कि देव का ज्ञान अनुभव-जन्य तथा विहारी का शास्त्रीय था। पुनरपि च बिहारी सांसारिक ज्ञान में देव से आगे हैं। उनका प्रकृति-चित्रण भी देव से कहीं अच्छा है।

विहारी का प्रेम परकीया को लेकर अधिक चला है। देव स्वकीया के पक्षपाती हैं। अतः उनका प्रेम-वर्णन दाम्पत्य तक ही सीमित है, जहाँ कहीं थोड़ा सा परकीया का चित्रण हुआ है, वह रीतिकालीन परम्परा के अनुसार हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि देव का प्रेम स्वस्थ, विशुद्ध और उज्वल है परन्तु बिहारी का प्रेम विषय से कलुषित, इन्द्रिय-जन्य तथा तुच्छ है।

विहारी और देव दोनों शृङ्गारी कवि हैं। विभिन्नता केवल यह है कि देव का संयोग पक्ष प्रबल है और विहारी का वियोग पक्ष।

सौंदर्य की दृष्टि से दोनों ने नखशिख-वर्णन किया है; परन्तु बिहारी का सौंदर्य-वर्णन बड़ा ही स्वभाविक है; उनकी कविता-कामिनी अलंकारों

से सुसज्जित नहीं है परन्तु देव की कविता-कामिनी अलंकारों से सजी हुई है। यथा :—

तन भूषन, अंजन दृग, पगन महावर रंग।
नहि शोभा को साज यह, कहिबे ही को अंग॥
—बिहारी

माखन सो मन, दूध सो योवन, है दधि से अधिकै उर ईठी।
जा छवि आगे छपाकर छाछ, समेत सुधा वसुधा सब सीठी॥
नैन न नेह चुवे, कवि देव, बुझावत बैन वियोग अंगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहै, कहौ, क्यों न लगे मनमोहनै मीठी॥

इससे स्पष्ट है कि बिहारी की कविता में केवल बाह्य सौंदर्य है परन्तु देव की कविता आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के सौंदर्य से सजी हुई है।

भाषा के दृष्टिकोण से बिहारी की सतसई बुन्देलखण्डी, राजस्थानी आदि प्रान्तीय भाषाओं से मिश्रित व्रजभाषा है परन्तु देव की भाषा में ऐसे प्रान्तीय शब्दों का समावेश बिहारी की अपेक्षा कम है तथा शब्दों का तोड़-मरोड़ भी नहीं है; परन्तु बिहारी ने अपनी भाषा में अधिक तोड़-मरोड़ किया है जिसे गुण और अवगुण दोनों कहा जा सकता है। गुण इस दशा में कि शब्दों का निर्माण और अवगुण इस अर्थ में कि शब्दों को व्यर्थ तोड़ा है।

भाषा

कुछ भी हो, देव की भाषा बिहारी से अधिक परिष्कृत है और शुद्ध है।

बिहारी और देव दोनों ही प्रतिभाशाली कवि थे। परन्तु देव बिहारी की अपेक्षा अधिक बहुदर्शी तथा अनुभवी थे। भारत का पूर्ण भ्रमण करने के कारण देव का ज्ञान, अनुभव प्रत्यक्ष एवं विस्तृत था परन्तु बिहारी का अनुभव शास्त्रीय तथा संकुचित क्षेत्र का है। यही कारण है कि देव की कविता के विषय भी बिहारी की कविता के विषय से अधिक हैं। पुनरपि च जिस वस्तु का निरूपण रसिकवर बिहारी ने किया है; वैसी व्यंजना देव नहीं कर सके हैं।

कवित्व शक्ति

रचना की दृष्टि से यदि हम दोनों महाकवियों पर दृष्टि डालें तो ज्ञात होता है कि महाकवि विहारी ने केवल एक सतसई ७१६ दोहों की लिखी; परन्तु देव ने ७२ ग्रन्थ लिखे। इस दृष्टि से तो बिहारी का देव के आगे कोई स्थान ही नहीं। पुनरपि च देव के ७२ ग्रन्थ, कवित्व के दृष्टिकोण से बिहारी की छोटी-सी सतसई से आगे नहीं बढ़ पाये हैं।

रचना

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीति-काल की वाटिका में देव और बिहारी दोनों फूलों ने अपनी अपनी निराली सुगन्धि भरी है। साहित्य-प्रेमी लोग अपनी अपनी इच्छानुसार कोई देव को अधिक महत्व देता है तो कोई बिहारी को। तथ्य यह है कि जिसे जो भाता है, वही उसका प्रशंसक बन जाता है। लाला भगवानदीन तथा पद्मसिंह शर्मा बिहारी को स्वर्ग की तीसरी मंज़िल पर चढ़ा देते हैं तो मिश्रबन्धु देव के सामने हिन्दी के समस्त कवियों को नीचा कर देते हैं।

सत्यता यह है कि देव आचार्यत्व के दृष्टिकोण से बिहारी से बहुत आगे हैं परन्तु कवित्व शक्ति में दोनों समान हैं। भाषा की स्निग्धता और विशुद्धता देव में बिहारी की अपेक्षा अधिक अच्छी है।

प्रश्न१२:—देव और केशव की तुलनात्मक आलोचना कीजिए।

उत्तर—देव और केशव की तुलना एक बराबरी और समानता के धरातल की है। यही तुलना, तुलना कही जानी चाहिए। देव और बिहारी की तुलना कोई अच्छी तुलना नहीं। वहाँ केवल भावसाम्य हैं। अन्य वस्तुओं में देव और बिहारी का विभिन्न पथ है परन्तु देव और केशव तुलना के रंगमंच पर लाये जाने योग्य हैं।

ये दोनों ही महाकवि हैं; आचार्य है तथा दोनों ने साहित्य का निर्माण किया है। अन्तर यह है कि देव केशव के पीछे हुए, जब कि केशव अपनी कविता की ख्याति पा चुके थे।

केशव जिस समय कविता-क्षेत्र में उतरे उस समय तुलसी, सूर और कबीर की रचनाएँ हिन्दी का सर्वस्व बन चुकी थी; परन्तु इन लोगों

सागरसूरिभिः ॥

ने काव्य-कला का कोई ग्रंथ नहीं रचा था। केशव ने इसका दान देकर हिन्दी साहित्य में यह वहुत वड़ा कार्य किया और रसिकप्रिया तथा कवि-प्रिया के ग्रंथ रचे।

देव केशव की अपेक्षा प्रशस्त मार्ग में थे। केशव ने उनका मार्ग पहले ही ठीक कर दिया था। उनके रचनाकाल में तुलसी और सूर भक्ति-मार्ग के सब कुछ माने जाते थे तथा केशव और मतिराम आचार्यत्व की दृष्टि से सम्मानित हो चुके थे। परन्तु कमी इस बात की थी कि उन्होंने संस्कृत साहित्य की काव्य-कला को ज्यों का त्यों उतार कर रख दिया था। देव ने ऐसी चोरी अथवा अनुवाद नहीं किया। वे स्वतंत्र विचारक थे। उन्होंने संस्कृत साहित्य का सम्यग् अध्ययन किया परन्तु हिन्दी साहित्य में; जितना उत्तम समझते थे; उतना ही आवश्यक काव्य-कला का दान दिये। इस प्रकार उन्होंने भाव तो कुछ अवश्य संस्कृत साहित्य से लिया परन्तु अपनी भाषा और व्यंजन-शैली द्वारा उन भावों के स्वतंत्र अधिकारी हुए।

इससे ज्ञात होता है कि देव में मौलिकता है; काव्यत्व गुण केशव की अपेक्षा कहीं अच्छा है परन्तु आचार्यत्व में केशव के वरावर नहीं।

केशव अलंकारवादी थे। अलंकारों को जान-वूझ कर कविता में लाना उनकी विशेषता है। इस प्रकार उनका कला-पक्ष; भाव-पक्ष से दूर हो गया है; परन्तु देव में ऐसी वात नहीं। देव रसवादी हैं। वे अलंकारों की योजना रस-परिपाक के दृष्टिकोण से करते हैं। अतः देव की रचनाएँ केशव की रचजाओं से अधिक सरस तथा मधुर हैं।

भाषा के दृष्टिकोण से देव केशव से वहुत ऊँची श्रेणी में हैं। केशव की व्रजभाषा संस्कृत, बुन्देलखण्डी भाषाओं से मिश्रित हैं। अतः व्रजभाषा उनके काव्य में केवल ढांचा है। दूसरी ओर देव की भाषा परिमार्जित विशुद्ध व्रजभाषा है। सरसता और मधुरता की विशेषता देव में केशव से अधिक है।

पुनरपि च देव ने प्रबन्ध काव्य नहीं रचे है; केशव ने महाकाव्य की रचना की हैं। देव की रचना केवल मुक्तकों में है।

ज्ञान के दृष्टिकोण से दोनों का ज्ञान और विचार क्षेत्र विस्तृत है। केशव की विज्ञान गीता और देव का वैराग्य शतक इसका प्रमाण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देव और केशव में कवित्व की दृष्टि से बहुत कुछ अन्तर है। जैसी भाषा की प्राञ्जलता, सरसता एवं मधुमयता देव के काव्य में है वैसी मधुरता केशव में नहीं। केशव जितने उच्चकोटि के आचार्य हैं; देव उस कोटि के नहीं।

सारांश यह कि देव का क्षेत्र विस्तृत है। वे अपने यौवन में रसिक तथा वृद्धावस्था में वेदान्ती हैं। वे काव्यत्व के दृष्टिकोण के केशव से आगे हैं परन्तु आचार्यत्व में पीछे।

प्रश्न १३ :—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के काव्य की विशेषताएं लिखिये।

उत्तर:—*भारतेन्दु बाबू अपने युग के सबसे अधिक सजग कलाकार थे।* उनके काव्य की निम्नांकित विशेषताएँ है :—

१—काव्य का अधिकांश देशभक्ति और राजभक्ति से समन्वित होकर चला है। 'भारत-दुर्दशा' तथा 'नीलदेवी' उनकी देश-भक्ति का उदाहरण है। उनके दृष्टिकोण से हिंदू और मुस्लिम का एक सूत्र में बंधकर चलना श्रेयस्कर है :—

जवन संसरग जात दोसगन इनसों छूटें।
सबे सुपथ पथ चलें; नितही सुख सम्पति लूटें॥

२—भारतेन्दु की अधिकांश रचना ब्रजभाषा में है। उर्दू और खड़ीबोली की कविता नाममात्र को है।

३—भारतेन्दु शब्द-वैचित्र्य की ओर अधिक झुके हुए थे। उन्हें *उर्दू के यौवन से भी प्यार था।* 'वर्षा-विनोद' और 'फूलों का गुच्छा' में उर्दू के बहुत से 'गज़ल' मिलते हैं। यथा :—

लब पर जाँ है, अब तो प्यारे मिलते जाओ।

४—भारतेन्दु-साहित्य में गद्य और पद्य दोनों का विशिष्ट स्थान है।

सागरसूरिभिः ॥
११

उन्होंने दोनों को अपना कर अपने अपने विचार-प्रचार के लिये नाटकों सृष्टि की।

५—उनका साहित्य प्रेम के स्वातन्त्र्य और सम-भाव से पूर्ण है। यथा :—

हे सारस ! तुम नीके बिछुरन वेदन जानो।
तो क्यों पीतम सों नहि मेरी दसर बखानो॥

६—उनके काव्य पर यद्यपि रीतिकाल और भक्ति काल का प्रभाव पड़ा है तथापि उन्होंने देश-भक्ति और समाज-सेवा का नया मार्ग खोला है। उनके दृष्टिकोण से समाज में मन्दिर और मस्जिद एक हैं। था :—

मैखाना, मस्जिद, मंदिर एक ही समझें।
दुश्मन को दोस्त को एक ही नजर से देखें॥

साथ ही उन्होंने समाज में गोरे काले (अंग्रेज़ और भारतीय) के भेद-भाव को दूर करना चाहा :—

कुछ भले-बुरे में फर्क न जी में रखें।
काले गोरे का एक रंग वस सूझे॥

७—भारतेन्दु का काव्य संगीत को मधुरता से पूर्ण है। यथा :—

अहो हरि वेहू दिन कब ऐहैं।
जा दिन मैं तजि और संग सब हम ब्रज-वास बसैहैं॥

—:०:—

ब्रजमाधुरी सार

व्याख्या भाग

१

सखी इन नैनन ते घन हारे।
बिन ही रितु बरसत निसिवासर, सदा मलिन दोउ तारे ॥
ऊरध स्वांस-समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे ॥
दिसिन्ह सदन करि वचन खग, दुःख पावस के मारे ॥
सुमिरि सुमिरि गरजत जल छाड़त, अँसु सलिल के धारे ॥
बूड़त ब्रजहिं सूर को राखै, बिनु गिरिवरधर प्यारे ॥

प्रसङ्ग :—प्रस्तुत अवतरण संत-प्रवर सूरदास के पदों में से उद्धृत किया गया है। इसमें कवि ने गोपियों का विरह-वर्णन किया है। गोपिकाएँ आपस में विरह-कथा सुना रही हैं।

व्याख्या :—हे सखी! हमारे इन नेत्रों से तो बादलों ने भी हार मान लिया। बादल केवल अपनी ऋतु में ही बरसते हैं परन्तु ये नेत्र तो बिना ऋतु ही के दिन-रात बरस रहे हैं अर्थात् आँसुओं की धारा निरन्तर बह रही है। वर्षा के समय आकाश के तारे केवल थोड़े से समय के लिए मंद रहते हैं परन्तु हमारे नेत्रों के तारे (पुतलियाँ) तो सर्वदा ही मलिन रहते हैं। वर्षा के समय तीव्र गति से बहता हुआ पवन जिस प्रकार अनेकों वृक्षों को उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार हमारी उच्छ्‌वास (आह) रूपी पवन, सुख रूपी अनेकों वृक्षों को गिराता जा रहा है अर्थात् श्रीकृष्ण के वियोग की आह ने हमारे सभी सुखों को नष्ट कर दिया है। वर्षा में जिस प्रकार पक्षी-गण, वृक्षों के टूट जाने पर इधर-उधर सभी दिशाओं में रोते-कलपते भागने लगते हैं; उसी प्रकार हमारे विरह-वचन रूपी पक्षी, दुःख-रूपी वर्षा ऋतु से सताये जाने पर

सागरसूरिभिः ॥

सभी दिशाओं में व्याप्त हो रहे हैं अर्थात् हमारी व्यथा का 'आह' शब्द सर्वत्र गूँज रहा है।

जिस समय इन्द्र ने अपने दल-बादलों सहित व्रज पर कोप करके वर्षा की थी; उस समय श्रीकृष्ण जी ने ही गोवर्धन-धारण करके व्रज की रक्षा की थी। आज भी उसी प्रकार हमारे नेत्र रूपी बादल कृष्ण का स्मरण कर करके गर्जना करते हुए आँसू रूपी पानी की धारा अविरल गति से बरसा रहे हैं। भला इस दशा में, बिना श्रीकृष्णजी के इस व्रज-गोपियों की रक्षा कौन करे ?

काव्य-सौष्ठव—माधुर्य और प्रसादत्व, इस अवतरण में मूर्तिमान हो उठा है। वियोग-शृंगार को रूपक द्वारा व्यक्त करने में कवि को उत्तम सफलता मिली है। पुतलियों को तारों से और उच्छ्वास को तीव्र पवन से दी गई उपमा, सूर के सूरत्व का दर्शन कराती है। दोनों नेत्रों के अन्धे सूर ने नेत्रों को बादल, आँसुओं को वर्षा और कृष्ण को गिरिवरधर शब्द से सम्बोधित करके वियोग के आधार को सत्यता प्रदान की है।

अलंकार :— "नैनन तें घन हारे" में प्रतीपालंकार तथा शेष समस्त पंक्तियों में सांगरूपक, अन्त्यानुप्रास तथा छेकानुप्रास अलंकार।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—प्रस्तुत अवतरण सूर के वियोग-वर्णन में अपना विशेष स्थान रखता है। वियोग शृंगार के गगन-लोक का यह जगमगाता हुआ नक्षत्र है।

२. कोउ व्रज बाँचत नाहिंन पाती।
कत लिखि लिखि पठवत नंदनंदन, कठिन विरह की काँती ॥
नयन सजल कागर अति कोमल, कर अंगुरी अति ताती।
परसत जरे, विलोकति भीजति, दुहूं भाँति दुःख छाती ॥
क्यों समुझै ये अंक सूर सुनु, कठिन मदन सर-घाती।
देखे जियहिं स्याम सुन्दर के, रहहिं चरन दिनराती ॥

प्रसंगः—प्रस्तुत अवतरण सूरदास के पदों में से उद्धृत किया गया

है। इसमें कवि व्रज-वनिताओं का वियोग-वर्णन किया है। उद्धव जी ने जब श्रीकृष्ण का पत्र राधा को दिया; उस समय गोपियों की क्या दशा थी; यही इस अवतरण का विषय है।

व्याख्या :—राधा कहती हैं—कृष्ण जी के इस पत्र को पढ़ने के लिए व्रज के सभी व्यक्ति असमर्थ हो रहे हैं। न मालूम नंदनंदन कृष्ण ने इसमें क्या क्या लिखकर भेजे है; यह तो वियोग की निर्दय छुरी है। भला पत्र पढ़ा भी कैसे जाय? यहाँ तो सभी के नेत्रों से आँसुओं की धारा वह रही है और पत्र अत्यन्त कोमल है; यदि पत्र की ओर नेत्र उठाकर देखे तो यह भीग जायगा। दूसरी ओर वियोग के कारण अंगुलियाँ जल रही हैं; पत्र स्पर्श करते ही जल जायगा। इस प्रकार दोनों ही तरह से दुःख है। भला इन कोमल अक्षरों को, कामदेव के निर्दय बाणों से आहत हम व्रजगोपियाँ किस प्रकार समझे? हम तो उस मदनगोपाल को देखकर ही जीवित रह सकती हैं। हमें उनके चरणों में पड़े रहना ही मधुर लगता है।

सारांश यह कि गोपियों को पत्र की आवश्यकता नहीं; उन्हें तो श्री-कृष्ण की आवश्यकता है।

काव्य-सौष्ठव :—माधुर्य और प्रसादत्व ही शृंगार-रस का है। कवि ने प्रस्तुत वियोग-शृंगारपूर्ण पद में माधुर्य और प्रसादत्व भरने का भरसक प्रयास किया है। भावों की मधुरता, शब्दों से मिलकर अमृतमय होगई है। कल्पना में कवि ने अतिशयोक्ति से काम लिया है।

अलंकार :—अतिशयोक्ति, अन्त्यानुप्रास, छेकानुप्रास।

३. जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
तादिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहैं॥
घर के कहैं, वेगि ही काढ़ो, भूत भये कोउ खैहैं।
जा प्रीतम सों प्रीति घनेरी, सोऊ देखि डरैहैं॥

सागरसूरिभिः ॥

कहँ वह ताल कहाँ वह शोभा, देखत धूरि उड़ैहैं।
भाई बंधु अरु कुटुम्ब कबीला, सुमिरि सुमिरि पछितैहैं॥
बिनु गोपाल कोऊ नहिं अपनो, जसु अपजसु रहिजैहैं।
जो सूरज दुर्लभ देवन को, सतसंगति में पैहैं॥

प्रसंग :—प्रस्तुत पद सूरदास के पदों में से लिया गया है। इसमें कवि ने मानव-जीवन का यथार्थ चित्रण किया है; उसका संकेत इस संघर्षमय जीवन से हटकर भक्ति-सुधामय जीवन की ओर है।

व्याख्या :—सूरदास कवि कहते हैं—अरे मन! जिस दिन तुम्हारे इस भौतिक शरीर रूपी वृक्ष से प्राण रूपी पक्षी उड़ जायगा (अर्थात् जिस दिन तुम्हारे इस शरीर से प्रभु का अंश प्राण निकल जायगा) उस दिन तुम्हारे इस शरीर रूपी वृक्ष के सभी पत्ते झड़ जावेंगे अर्थात् तुम्हारा सारा सौंदर्य जाता रहेगा। उस समय तुम्हारे स्वजन ही कहने लगेंगे कि इसे घर से शीघ्र निकालो अन्यथा भूत बनकर किसी और को खायगा। जिस प्रीतम से तुम्हारी इतनी प्रगाढ़ मैत्री है, प्रेम है, वही तुम्हें देखकर घृणा करेगा। जिस प्रकार जब तक किसी ताल में जल रहता है, तभी तक शोभा रहती है। पानी सूख जाने पर धूल ही धूल उड़ती दिखाई देती है उसी प्रकार तुम्हारे शरीर से प्राण चले जाने के पश्चात् सारा सौंदर्य धूल में मिल जायगा। तुम्हारे भाई, बंधु, स्त्री, पुत्रादि सभी स्वजन, तुम्हें स्मरण कर करके पछतावेंगे। इस विश्व में बिना श्रीकृष्ण के अपना स्वजन दूसरा कोई नहीं है। यहाँ तो केवल यश और अपयश ही रह जायगा।

अरे मन! जो सुख देवताओं तक के लिए दुर्लभ है; वह सुख भक्ति और सत्संग में प्राप्य है। अतः सत्संग करो और इस सांसारिक झमेलों को छोड़ो।

काव्य-सौष्ठव :—शान्त रस की पीयूषधारा, दोनों आँखों के अन्धे सूर ने, इस अवतरण में बहाई है। भाषा का प्रसादत्व भावों की करुणा से मिलकर अधिक मर्मस्पर्शी हो गया है। कवि भावों की अमिय

धारा में कला के प्रति आग्रह को भूल गया ह। यही कारण है कि उसका कंठ इस अवतरण में फूट पड़ा है।

४. यहि विधि सुमिरि गोविन्द ऊधव प्रति गोपी।
भृंग संज्ञा करि कहति सकल कुल लज्जा लोभी॥
ता पाछे इक बार ही, रोईं सकल ब्रजनारि।
हा करुणामय नाथ हो, केशव कृष्ण मुरारि॥
फाटि हियरो चल्यो॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण, नंददास के भँवर-गीत से लिया गया है। जब गोपियों ने उद्धव को तर्क द्वारा निरुत्तर कर दिया तो वे सभी एक एक करके कृष्ण और उद्धव दोनों ही को कपटी बताने लगीं; अन्त में उनकी करुणा इतनी बढ़ी कि सभी रो पड़ीं; इसी कथा से इस अवतरण का सम्पर्क है।

व्याख्या :—उद्धव को भाँति भाँति के उलाहने देती हुईं; समस्त ब्रजनारियाँ उन्हें भ्रमर नाम से सम्बोधित करके कृष्ण का स्मरण करती थीं। ऐसा करते हुए उन्होंने अपने कुल की मर्यादा को तोड़ दिया। तत्पश्चात् सभी ब्रजबनिताएँ एक स्वर में रो पड़ीं और कहने लगीं; "हे कृष्ण! हे केशव! हे मुरारी! हे दयामय! तुम्हीं हमारे स्वामी हो" उनकी इस आर्त-ध्वनि में मानों उनका हृदय फटा जा रहा था।

सारांश यह कि गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में अपनी मर्यादा, लोकलाज को छोड़कर उद्धव को भ्रमर नाम से सम्बोधित करके रो पड़ीं।

काव्य-सौष्ठव : — "फाटि हियरो चल्यो" पद ही इस अवतरण का सौष्ठव व्यक्त करने में समर्थ है। कितना उपयुक्त सारगर्भित एवं वेदना मय शब्द है! आह! धन्य है नंददास! कल्पना ने साक्षात् रूप ग्रहण कर लिया है। "इक बार ही रोई सकल ब्रज नारि" में करुणा से परिपक्व वियोग-शृंगार निखर उठा है। माधुर्य एवं प्रसाद गुण है। "हा! करुणा-मय नाथ हो" उच्छ्वांस का चित्र उपस्थित हो जाता है।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—प्रस्तुत अवतरण में कवि का भाव-

सागरसूरिभिः ॥

पक्ष निखर आया है; कला के प्रति आग्रह नहीं। साथ ही कवि यहाँ पर अपनी दार्शनिक प्रवृत्ति भी भूल गया है। इस प्रकार इस पद का भंवर गीत में एक विशिष्ट स्थान है।

५. सुनत सखा के बैन नैन भरि आए दोऊ।
बिवस प्रेम आवेस रहा नाहीं सुधि कोऊ॥
रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै रहे साँवल गात।
कल्प सरोरुह सावरों, व्रजबनिता भईं गात॥
उलहिं अंग अंग ते॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण नन्ददास कृत भँवरगीत से उद्धृत किया गया है। जब उद्धव व्रज से गोपियों की दशा देखकर कृष्ण के पास गये और उनकी प्रेम-विह्वलता का वर्णन किया; उस समय कृष्ण की भावुक प्रवृत्ति ने जिस प्रकार का रूप धारण किया; वही इस अवतरण का विषय है।

व्याख्या :—अपने मित्र उद्धव के मुख से गोपियों की प्रेम-दशा सुनकर श्री कृष्ण जी की दोनों आँखें भर आईं। प्रेम के वेग में विवश कृष्ण अपनी सुध-बुध भूल गए। रोमांच हो आया। उनके साँवले शरीर के रोम-रोम में, प्रेमावेश के कारण, गोपियाँ हो गईं मानो कल्प-वृक्ष में सभी स्थान पर पत्ते लग गए हों। सारांश यह कि श्रीकृष्ण जी गोपियों के प्रेम मे मग्न हो गए।

काव्य-सौष्ठव :—प्रस्तुत अवतरण में प्रसंगानुकूल माधुर्यगुण है। संयुक्ताक्षर नहीं आए हैं। नाहीं सुधि कोऊ" लोकोक्ति का प्रयोग बड़े ही उपयुक्त ढंग से हुआ है। कृष्ण के साँवले शरीर की उपमा पल्लव सहित कल्प-वृक्ष से देकर पत्तों में व्रज-वनिताओं की कल्पना बड़ी मधुर हुई है।

६. प्रीति न काहु की कानि विचारै।
मारग अपमारग विथकित मन को अनुसरत निवारे॥
ज्यों पावस सलिता जल उमगत सनमुख सिंधु सिधारे।
ज्यों नादहिं मन दिये कुरंगनि प्रगत पारधी मारे॥

जै श्री हित हरिवंसहि लग सारंग ज्यों सलभ सरीरहिं जारे।
नाइक निपुन नवल मोहन विनु कौन अपनयो हारै॥

प्रसंग :—प्रस्तुत पद गोसाईं श्री हितहरिवंशकृत "श्रीहित-चौरासी" से लिया गया है। इसमें प्रेम-दशा का वर्णन किया गया है।

व्याख्या :—प्रेम किसी की मर्यादा का विचार नहीं करता। भला मार्ग और कुमार्ग में चलते हुए श्रांत-पथिक मन को रोक ही कौन सकता है ? जैसे वर्षा ऋतु में नदी का जल तरंगित होता हुआ समुद्र के प्रेम-वश उसके सम्मुख जाकर अपने पन का लय कर देता है अथवा जिस प्रकार मधुर ध्वनि से विमोहित हुआ हरिण प्रेम-वश ही बहेलिये द्वारा मारा जाकर अपनापन खो देता है परन्तु प्रेम की रक्षा करता है। अथवा जिस प्रकार पतंगा दीपक के पास पहुँच कर अपने शरीर का नाश करके अपना-पन खो देता है उसी प्रकार बिना श्रीकृष्ण जी के अपनेपन का त्याग कौन करने जाए !

सारांश यह कि विना भगवान श्रीकृष्ण के मैं अपने स्वत्व को क्यों खोऊँ अर्थात् उनके अतिरिक्त मेरा किसी अन्य से प्रेम नहीं है अतः केवल उन्हीं के प्रेम को पाकर मैं अपना स्वत्व खो सकता हूँ।

काव्य-सौष्ठव :—कवि ने प्रेम का वास्तविक चित्रण किया है। प्रेम का यही विश्लेषण है। प्रेम के लिए अपना सब कुछ दिया जा सकता है। यह प्रेम-वर्णन है; इसमें विषयानुसार माधुर्य तथा प्रसाद गुण हैं; संयुक्ताक्षर नहीं आने पाये हैं।

अलंकार :—वाक्यार्थोपमा, वृत्त्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—कवि अपने भावानुकूल व्यक्त करने में समर्थ हुआ है। उपमादि के द्वारा अपने अभीष्ट का वर्णन बड़ी उचित रीति से किया है।

७. हरिजू अजुगत जुगत करेंगे।
परवत ऊपर वहल काँच की, नीके लै निकरेंगे॥
गहिरे जल पाषान नाव विच, आछी भाँति तरेंगे॥

सागरसूरिभिः ॥

मैन तुरंग चढ़े पावक बिच, नाहीं पघरि परेंगे ॥
याहू ते असमंजस हो किन, प्रभु करि दृढ़ पकरेंगे ॥
नागर सब आधीन कृपा के, हम इन डर न डरेंगे ॥

प्रसंग :—प्रस्तुत पद नागरीदास कृत "वैराग्य-सागर" से लिया गया है। कवि इस अवतरण में तुलसीकृत "कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो" की भाँति अपने भावी की भव्य आशा का चित्रण किया है। उसे प्रभु के सामर्थ्य में विश्वास है।

व्याख्या :—श्रीकृष्ण जी अवश्य ही कुछ असंभव युक्ति करके हमारी रक्षा करेंगे। पर्वत के ऊपर भी हमारी काँच की गाड़ी आनन्द-पूर्वक चल सकेगी। गहरे जल में पत्थर की नाव डालकर हम अच्छी प्रकार पार होंगे। मोम के घोड़े पर चढ़कर अग्नि का रास्ता पार कर सकेंगे; पिघलेंगे नहीं। यदि इसमें भी कुछ संशय हुआ, तो और भी दृढ़ता-पूर्वक प्रभु को पकड़ेंगे।

नागरीदास कहते हैं कि प्रभु की कृपा पाकर हम किसी प्रकार के भय से भयभीत नहीं होंगे। सारांश यह कि प्रभु में असम्भव को सम्भव कर देने की शक्ति है। उनकी कृपा से हम दुर्निवार्य का भी निवारण कर सकते हैं।

काव्य-सौष्ठव :—प्रस्तुत अवतरण कवि के हृदय का दर्पण है। यहाँ उसके हृदय को वाणी मिली है। वह प्रभु-कृपा से पत्थर पर भी काँच की गाड़ी चलाना चाहता है; असम्भव को सम्भव करना चाहता है। इस प्रकार भावाभिव्यक्ति बड़े सुन्दर ढङ्ग से हुई है। प्रसाद गुण की विशेषता है।

८. कुण्डल झलक कपोल पर, राजति नाना भाँति।
कब इन नैननि देखिहौं, वदन चन्द्र की काँति ॥
चरन छिदत काटेन ते, स्रवत रुधिर सुधि नाहिं।
पूछत हौं फिरि हौं भटू, खग-मृग, तरु वन माहिं ॥

प्रसंग :—प्रस्तुत दोहे नागरीदास कृत 'मनोरथ-मंजरी' से लिये

गए हैं। इसमें कवि अपने आराध्य कृष्ण के दर्शनों के लिए व्यथित हो उठा है।

व्याख्या :—श्रीकृष्ण जी के सुन्दर गालों पर कुण्डल की झलक, जो अनेकों प्रकार से पड़ती है ; अहा ! मैं भला उस चन्द्रवत् मुख को कब तक देखपाऊँगा ।

अहा ! वह दिन कब आयगा; जब बन में चलते हुए मेरे पावों में काँटे चुभते रहेंगे; रुधिर बहता रहेगा परन्तु मुझे इनकी कुछ भी सुधि न होगी और मैं गोपियों, पक्षियों, मृगों और वृक्षों से "तुमने कृष्ण को देखा है" ऐसा पूछता फिरूँगा ।

सारांश यह कि वह दिन कब आयगा; जब मैं प्रभु के प्रेम में अपनी सुधि-बुधि भूल जाऊंगा ।

काव्य-सौष्ठव :—पहले दोहे में कवि की भावुक-प्रवृत्ति साकार हो उठी है । शब्दों में माधुर्य, प्रसाद एवं उत्कट अभिलाषा भरी हुई है । छेकानुप्रास तथा अन्त्यानुप्रास अलंकार सौंदर्य बढ़ाने में सफल हुए हैं।

द्वितीय दोहे में मानों कवि ने अपना हृदय ही खोलकर रख दिया है "पूछत फिरि हौं भटू खग, मृग" में तुलसीदास की विश्व-प्रसिद्ध चौपाई "हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी" स्मरण हो आती है । निस्सन्देह कवि ने अभिलाषा का बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है ।

९. तुव मुख नैन कमल अलि मेरे ।

पलक न लगत पलक बिनु देखे, अरबरात अति फिरत न फेरे ॥
पान करत मकरंद रूप रस, भूलि नहीं फिर इत-उत हेरे ।
भगवतरसिक भये मतवारे, घूमत रहत छके मद तेरे ॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण श्री भगवतरसिक के पदों में से लिया है। इसमें कवि ने प्रभु के प्रति अपना प्रेम-भाव प्रकट किया है ।

व्याख्या :—हे श्रीकृष्ण जी ! आपके मुखरूपी कमल का पराग पान करने के लिए मेरे नेत्र भ्रमररूप हैं। आपको देखे बिना एक-क्षण भी पलक नहीं लगता अर्थात् चैन नहीं आता । आपकी ओर से दूसरी ओर

सागरसूरिभिः ॥

फेरने पर ये फिरते नहीं अपितु फड़फड़ाने लगते हैं। आपके सौंदर्य-रस के मकरंद का पान करते हैं, भूल करके भी कभी इधर-उधर नहीं जाते।

भगवतरसिक जी कहते हैं कि हे प्रभु! ये मेरे नेत्र आपके सौंदर्य-रस को पीकर मस्त हुए घूमते रहते हैं। सारांश यह कि प्रभु के सौंदर्य को छोड़कर मेरा मन अन्य किसी के सौंदर्य की ओर नहीं जाता।

काव्य-सौष्ठव :— 'पलक न लगत पलक बिनु देखे" वाक्यांश की ध्वनि ही अर्थ का ज्ञान करा देती है "अरबरात" शब्द की मनोहरता एवं उपयुक्तता खंजन पक्षी की फड़फड़ाती दशा की स्मृति दिलाती है। 'छके' शब्द से तुष्टि की ध्वनि निकल कर कवि के हृदय का परिचय देती है। उपमा तथा सांगरूपकालंकारों ने सौंदर्य की सृष्टि की है। माधुर्य तथा प्रसाद गुण हैं।

अलंकार :—सांगरूपक, उपमा, अन्त्यानुप्रास, छेकानुप्रास।

१०. तुव मुख चन्द चकोर ये नैना।

अति आरत अनुरागी, लम्पट भूलि गई गति, पलहुँ लगै ना॥

अरबरात मिलिवे कों निसिदिन, मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिले ना।

'भगवतरसिक' रसिक की बातें, रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना॥

प्रसंग :—प्रस्तुत पद श्री भगवतरसिक के पदों में से उद्धृत किया गया है। इसमें कवि प्रभु से अपना चन्द्र और चकोर का सम्बन्ध व्यक्त करके अपनी हार्दिक भक्ति का परिचय दिया है।

व्याख्या :—हे प्रभु! आपके मुखरूपी चन्द्रमा के दर्शनार्थ मेरे ये नेत्र चकोररूप हैं। ये आपके अतीव आर्त्त प्रेमी हैं; दर्शन के लोभी हैं; अपने को भूल गये हैं; पल-भर भी पलक को बन्द नहीं करते। आपसे मिलने के लिये नित्य फड़फड़ाते हैं। सर्वदा रहते तो सामने ही हैं, परन्तु प्रेम की पूर्ति न होने के कारण सदा यही शंका बनी रहती है कि अभी मिले हैं या नहीं।

'भगवतरसिक' कहते हैं कि यह रसिक की (अर्थात् मेरी) अभिव्यक्ति है; इसे रसिक (श्रीकृष्ण) ही समझ सकते हैं। कोई अन्य नहीं समझ सकता।

काव्य-सौष्ठव :—प्रस्तुत अवतरण माधुर्य और प्रसाद गुण से ओत-प्रोत है। कहीं संयुक्ताक्षर नहीं आने पाये हैं। चन्द्र और चकोर का रूपक लेकर कवि ने "अरबरात" "आरत" आदि ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिससे हमें उसकी आर्तता एवं बेचैनी का अनुभव होता है। 'रसिक' शब्द तीन बार प्रयोग करके सौंदर्य को बढ़ाया गया है।

अलंकार :—उपमा, उत्प्रेक्षा, यमक तथा अन्त्यानुप्रास व वृत्त्यनुप्रास।

११. जमुना पुलिन कुंज गह्वर की, कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊ।
पद पंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै मधुरै मधुरै गुंज सुनाऊँ॥
कूकर ह्वै बन-बीथिन डोलौं, बचे सीथ रसिकन के खाऊँ।
ललितकिशोरी आस यही मम ब्रज रज तजि छिन अनत न जाऊँ॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण श्री ललितकिशोरी के पदों में से उद्धृत किया गया है। कवि ने इसमें श्रीकृष्ण की लीलाभूमि ब्रज-क्षेत्र के प्रति अपने भाव व्यक्त किये हैं।

व्याख्या :—हे प्रभु, मेरी यही अभिलाषा है कि मुझे ब्रजभूमि छोड़कर कहीं अन्यत्र न जाना पड़े। मुझे यमुना के तट पर कुंज और गिरि-गह्वरों में कोयल बनकर वृक्षों पर कूजना अच्छा लगेगा। प्रभु के चरण-कमलों का प्रेमी मधुकर बनकर मीठे मीठे शब्दों में गुनगुनाना आनन्दप्रद मानूंगा। कुत्ता होकर वनों और ब्रज की गलियों में घूम-घूम कर कृष्ण-भक्तों का जूठन खाना मेरे लिए स्वर्ग सा आनन्ददायक होगा। परन्तु हे प्रभु मुझे ब्रज के अतिरिक्त अन्य कहीं जन्म न मिले, मैं सर्वदा ब्रज की ही धूलि में पड़ा रहूँ; बस यही कामना है। सारांश यह कि चाहे कोई भी योनि मिले; मैं ब्रज ही में जन्म लूँ।

काव्य-सौष्ठव :—माधुर्य तथा प्रसाद गुण है। कवि की कला, भाव से मिलकर एक हो गई है। कला के प्रति आग्रह नहीं है। शब्दों में वृत्त्यानुप्रास आ जाने से सौंदर्य अधिक बढ़ गया है। "कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ" का तो पद ही कोयल की ध्वनि लिये हुए है।

अलंकार :—अन्त्यानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास।

१२. वा चकई को भयो चित चीतो, चितौ ति चहूं दिसि चाय सो नाची।
है गई छीन छपाकर की छवि, जामिनि जोन्ह मनो जम जांची॥
बोलत बैरी विहंगम 'देव' सु, वैरिन के घर सम्पत्ति सौंची।
लोहू पियो जु वियोगिनी को, सो कियो मुखलाल पिसाचिनि प्राची॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण कविवर देवकृत सवैया है। इसमें कवि ने नायिका के चरित्र का मनोवैज्ञानिक सत्य अंकित किया है।

व्याख्या :—उस चकई रूपी नायिका का मन चाहा हुआ अर्थात् उसकी अभिलाषा पूरी हुई। वह चारों ओर आनन्दमग्न होकर नाच नाच कर देखने लगी अर्थात् चंचलतापूर्वक चारों ओर चितवने लगी। उसके इस सौन्दर्य को देखकर चन्द्रमा की छवि मंद पड़ गई मानो रात्रि की चांदनी ही नष्ट हो गई हो।

देव कवि कहते हैं कि प्रातः होते समय पक्षी के शब्द को सुनकर वह नायिका वड़ी दुःखित हुई और कहने लगी, "यह वैरी विहंगम (पक्षी) बोल रहा है; यह वैरिन सौत के घर आनन्द होने का लक्षण है। पिशाचिनी पूर्व की दिशा किसी वियोगिनी (विरहिनी) का रक्त पीकर अपना मुख लाल किये हुए दिखाई देने लगी अर्थात् उषा-काल हो गया।"

काव्य-सौष्ठव :—"चकई को भयो चित चीतो" "चितौति चहूं दिस चाय सो नाची" "वैरी विहंगम" आदि के ध्वनि मात्र से ही अर्थ का बोध हो जाता है। अहा! "लोहू पियो...... पिसाचिनि प्राची" रक्तमय का कितना सुन्दर वर्णन है। शब्दालंकार भावों के साथ मिल-कर सोने में सुगन्ध का कार्य कर रहे हैं। शृंगार-रस के ऐसे सुन्दर उदाहरण हिन्दी में बहुत कम हैं। माधुर्य गुण प्रधान है।

अलंकार :—वृत्त्यानुप्रास, अन्त्यानुप्रास, प्रतीप व उत्प्रेक्षालंकार।

१३. सुनि कै धुनि चातक मोरन की, चहुँ ओरन कोकिल कूकनि सों।
अनुराग भरे हरि बागन में, सखि रागनि राग अचूकनि सों॥

कवि देव घटा उनई उनई, वन-भूमि भई दल दूकनि सों।
रंग राती हरी हहराती लता, झुकि जाती समीर के झूकनि सों॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण कविवर देवकृत सवैया है। इसमें कवि ने वास्तविक प्रकृति एवं मानव-प्रकृति का सुन्दरतम वर्णन किया है।

व्याख्या :—चारों दिशाओं में कोयलों के मधुर 'कूकू' गान के साथ चातक एवं मोरों की मनोहर ध्वनि से पूर्ण बाग में श्रीकृष्ण जी अपनी वंशी पर अचूक राग अलाप रहे हैं। देव कवि कहते हैं कि चारों ओर घटाओं (बादल) के घिर आने के कारण वन-भूमि ऐसी मालम होती हैं मानो पत्तल-दोनी है। हरी हरी प्रेमोन्मत्त लताएँ हहरा रही हैं और हवा की झोंकों से झुको जा रही हैं।

सारांश यह कि श्रीकृष्ण की वंशी ध्वनि एवं प्रकृति में मोर आदि के मधुर शब्द, कोयलों का कूकना तथा बादलों का घिर आना आदि सभी वस्तुएँ मिलकर समा बाँध रही हैं; एक विचित्र छवि छायी हुई है।

काव्य-सौष्ठव :—वन को 'अनुरागमय' तथा लता को 'रंगराती' आदि मानवी भाव देकर कवि ने प्रकृति को सजीव बना दिया है। "रंग-राती हरी हहराती लता" के वाक्यांश में ध्वनि ही अर्थमय हो गई है। "कोकिल-कूकनि" तो हमारे मस्तिष्क के सामने 'कोयल का कूकना' चित्र ही उपस्थित कर देता है। माधुर्यगुण की इतनी अधिकता अन्य स्थान पर दुष्प्राप्य है।

अलंकार :—उपमा, श्रुत्यानुप्रास, अन्त्यानुप्रास तथा छेकानुप्रास।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—प्रस्तुत अवतरण अलंकारों के बोझ से बोझिल नहीं; अपितु हृदय की गहराई युक्त है। कवि ने इसमें प्रकृति को सजीव पाया है और उसमें मानवीय-प्रकृति का आरोप किया है। सच तो यह है कि ऐसा सुन्दर वास्तविक प्रकृति-चित्रण तथा मानव-प्रकृति का उदाहरण रीतिकाव्य में नहीं है; यदि है तो उसमें ऐसी स्वतंत्र भावना नहीं।

१४. वरुनी, वघंवर में गूदरी पलक दोऊ,
कोए राते वसन भगोहें भेष रखियाँ।
बूड़ी जल ही में दिन-जामिनि हूं जागौं भौंहे,
धूम सिर छायो विरहानल विलखियों॥
अंसुआ फटिक माल, लाल-डोरी सेल्ही पेन्ही,
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ।
दीजिए दरस देव कीजिए संजोगिनि ए,
जोगिनि ह्वै वैठी हैं वियोगिनि की अँखियाँ॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण कवीश्वर देव की रचना से लिया गया है। इसमें देव ने वियोगिनी के नेत्रों का रूपक योगिनी से बाँधा है।

व्याख्या :—वियोगिनी के नेत्र योगिनी की भाँति हैं; क्योंकि उसकी वरौनी वाघम्बर जैसी, दोनों पलक गूदड़ी जैसे हैं तथा उसके लाल लाल कोए भगवा वस्त्र की भाँति हैं। जैसे योगिनी जाग जाग कर साधना करती है; उसी प्रकार उसके नेत्र भी दिनरात जल में जाग जाग करके साधना करते हैं। उसकी भौंहें धूएँ से युक्त सिर-लेपन के समान हैं; वे विरह की अग्नि में जल रही हैं। गिरते हुए आँसू स्फटिक मणि के माला की भाँति हैं; लाल लाल डोरे (आँखों के) योगिनी की सेल्ही की भाँति हैं। वे भी योगिनियों की भाँति अपनी सभी सखी-सहेलियों से पृथक् एकांतवास करती हैं। हे कृष्ण ! आप उस वियोगिनी को दर्शन देकर उसकी योगिनी वनी वैठी आँखों को संयोगिनी वनाइए अर्थात् उन्हें तृप्त कीजिए।

काव्य-सौष्ठव :—वियोग शृङ्गार का वर्णन करते हुए कवि ने उसके आवश्यक अंगों पर ध्यान दिया है। माधुर्य एवं प्रसाद गुण है। योगिनी का रूपक वड़े उत्तम ढंग से निखर आया है।

अलंकार :—सांग रूपक अलंकार, उपमा, वृत्त्यानुप्रास तथा अन्त्यानुप्रास।

१५. अहो हरि, बस अब बहुत भई ।

अपनी दिसि विलोकि करुनानिधि कीजै नाहिं नई ॥
जो हमरे दोषन को देखौ तौ न निबाह हमारो ॥
करि के सुरत अजामिल गज की हमरे करम विसारो ॥
अब नहिं सही जात कोउ विधि धीर सकत नहि धारो ॥
हरीचंद को वेगि धाइ के भुज भरि लेहुँ उवारी ॥

प्रसङ्ग :—प्रस्तुत अवतरण कविवर हरिश्चन्द्र की रचना से उद्धृत किया गया है । इसमें कवि ने प्रभु से बड़े ही आर्त शब्दों में विनय की है ।

व्याख्या :—हे कृष्ण ! बस करो, अब बहुत हो चुका । हे प्रभु ! तुम अपने नाम की ओर देखकर मेरे प्रति अब नया नियम मत चलाओ अर्थात् शरणागत को भक्तिदान देना तुम्हारा गुण है; उससे मुझे क्यों वंचित करते हो । यदि तुम हमारे दोषों पर विचार करोगे तो प्रभु मेरा निर्वाह कठिन है । आप ही ने तो गजराज, अजामिल आदि पापियों को तारा था; अतः उन्हीं का स्मरण करके हमारे दुष्कर्मों को भुला दो । अब किसी प्रकार सहा नहीं जाता; धैर्य भी धारण नहीं किया जा सकता । हे प्रभु ! अब शीघ्रता करो और दौड़ कर अपनी अजान भुजाओं में भर कर मुझे उबार लो; मुझे पापों से बचाओ ।

सारांश यह कि हे प्रभु ! अब मैं इस विश्व-प्रपंच से घबरा कर अधीर हो चला हूं; तुम मुझे अपनी शरण दो ।

काव्य-सौष्ठव :—"अहो हरि ! बस अव बहुत भई" कितनी मार्मिक, स्पष्ट उक्ति है; मानो कवि प्रभु के सामने ही खड़ा है । वास्तव में उसकी भावनाओं को वाणी मिली है । कवि का अनुरोध भी मर्म-स्पर्शी है । "भुज-भरि लेहुँ उबारी" में उसकी अभिलाषा सजीव होउठी है ।

१६. भरोसो री मन ही लखि भारी ।

हमहूं को विश्वास होत है, मोहन पतित-उधारी ॥
जो ऐसो सुभाव नहिं होतो, क्यों अहीर-कुल भायो ॥

मागनुराम ॥
११

तजि के कौस्तुभ सो मनि गर क्यों, गुंजाहार धरायो ॥
क्रीट-मुकुट सिर छाड़ि पखौआ, मोहन को क्यों धारयो ॥
फेंट करनी टेटिन पै, मेव को क्यों स्वाद विसारयो ॥
ऐसी उल्टी रीझि देखि के, उपजति है जिय आस ॥
जग निन्दित हरि चन्दहु को, अपनावहिंगे करि दास ॥

प्रसङ्ग :—प्रस्तुत अवतरण कविवर हरिश्चन्द्र के काव्य से उद्धृत किया गया है। इसमें ईश्वर के प्रति कवि ने विनय की है।

व्याख्या :—प्रसन्न होने के सहज स्वभाव का ही हमें भरोसा है। यही देखकर हमें भी विश्वास होता है कि श्रीकृष्ण जी पतित-पावन हैं। यदि ऐसा सहज स्वभाव न होता, तो वे भला अहीरों के कुटुम्ब में जन्म क्यों लेते ? कौस्तुभ मणि जैसी उत्तमोत्तम मणि के हार को त्याग कर गुँजों की माला क्यों पहनते ? किरीट, मुकुट जैसी उत्तम वस्तु में मोरों के पंख की जड़ाई करके क्यों पहनते ? मेवादि मधुर फलों को त्यागकर करील के कड़ुवे फल (टेंटी) को क्यों पसन्द करते ? इस प्रकार उनको उल्टी रीति से प्रसन्न होते देखकर मुझे भी हृदय में आशा उत्पन्न हो रही है कि प्रभु मुझ हरिश्चन्द्र को भी, जिसकी संसार निन्दा करता है, अवश्य ही दास समझ कर अपनावेंगे

सारांश यह कि प्रभु सहज ही प्रसन्न होने वाले हैं; वे अवश्य ही अपनी प्रकृत्यानुसार मुझसे प्रसन्न होकर मुझे अपना सेवक बनायेंगे।

काव्य-सौष्ठव :—"पतित-उधारी" शब्द से कवि ने अपने दो कार्य निकाले हैं। पहला यह कि प्रभु पतित-पावन हैं; दूसरा यह कि चूंकि वे पतित-पावन है अतः मेरी भी पतितता को भूल जायेंगे। गुँजा हार, मोरपखा, तथा टेंटी इत्यादि को प्रयोग करके कवि ने भाव यह सिद्ध किया है कि प्रभु के प्रसन्न होने की रीति ही कुछ दूसरी है। वे जिस प्रकार उपरोक्त जैसी तुच्छ वस्तुओं को ग्रहण करते हैं उसी प्रकार मुझ पतित का भी उद्धार करेंगे।

आलोचनात्मक-टिप्पणी :—प्रस्तुत अवतरण "तुलसीदास"

की रचना "हे हरि हम पतित पावन सुने" के भाव से मिलता जुलता है। कवि ने अपनी दैन्य-प्रवृत्ति दिखाकर प्रभु का दास होना चाहा है; सम्बन्ध खोजने तथा कल्पना में उपमा की उपयुक्तता लाने में कवि सफल हुआ है।

१७. भई सखि ये अंखियाँ बिगरैल।
बिगरि परीं, मानत नहिं देखे बिना साँवरो छैल ॥
भई मतवारि, धरति पग डगमग, नहिं सूझति कुल गैल ॥
तजि के लाज साज गुरुजन की; हरि की भईं रखैल ॥
निज चवाव सुनि औरहिं हरखति करति न कछू मन मैल ॥
हरीचन्द सब संग छाँड़ि के करहिं रूप की सैल ॥

प्रसङ्ग :—प्रस्तुत अवतरण कविवर हरिश्चन्द्र के काव्य से उद्धृत किया गया है। इसमें कवि प्रभु-मदमाती आँखों का वर्णन किया है।

व्याख्या :—हे सखि! मेरी ये आँखें बड़ी बिगड़ गई हैं। साँवरे प्रियतम श्रीकृष्ण को देखे बिना ये मानती ही नहीं। ये मतवाली हो गई हैं; अपने देखने के रास्ते में पैरों को लड़खड़ाते हुए रख रही हैं; इन्हें अपनी कुल-मर्यादा का सीधा रास्ता नहीं सूझता। ये साजन (सज्जन) तथा गुरुजनों की लज्जा त्याग कर श्रीकृष्ण जी की क्रीत दासी हो गई हैं। अपनी निन्दा सुन सुन कर तो ये और भी प्रसन्न होती हैं; कुछ भी उदास नहीं होतीं। हरिश्चन्द्र कवि कहते हैं कि सभी का साथ छोड़ ये आँखें उस प्रभु के सौंदर्य के साथ सैर करती हैं अर्थात् सर्वदा उन्हीं की ओर देखती रहती हैं।

सारांश यह कि प्रभु के प्रेम में आँखें सदैव उन्हीं की ओर देख रही

१८. लाल के रंग रंगी तू प्यारी।
याही तें तन धारत मिसकैं; सदा कुसुम्भी सारी ॥
लाल अधर कर पद सब तेरे, लाल तिलक सिर धारी ॥
नैनहुँ में डोरन कै मिस, झलकत लाल बिहारी ॥

सागरसूरिभिः ॥

तन में रही नहीं सुधि तन की, नख सिख तू गिरधारी ॥
हरीचंद जग विदित भई यह, प्रेम प्रतीति तिहारो ॥

प्रसङ्ग :—प्रस्तुत अवतरण कविवर हरिश्चन्द्र की रचना से उद्धृत किया गया है। इसमें कवि ने राधा का चित्रण किया है।

व्याख्या :—हे प्यारी राधा ! तुम लाल बिहारी श्रीकृष्ण के प्रेम में पगी हुई हो। इसी कारण तुम शरीर पर लाल रंग की ही साड़ी पहनती हो। तुम्हारे ओंठ, हाथ, पैर आदि सभी लाल हैं। सिर पर भी लाल बिन्दी लगाये हुई हो। तुम्हारे नेत्रों में भी लाल डोरों के मिस लाल विहारी श्रीकृष्ण झलक रहे हैं। तुम्हारे शरीर में भी अपनी कुछ भी सुधि नहीं है। तू सिर से पैर तक गिरधारी कृष्ण ही बनी हुई है। हरिश्चन्द्र कवि कहते हैं कि तुम्हारी यह प्रेम-प्रवृत्ति समस्त विश्व को ज्ञात है।

सारांश यह कि तू श्रीकृष्ण के प्रेम में अपनी सुधि-बुधि भूल गई है।

काव्य-सौष्ठव :—"रंग रंगी" लोकोक्ति का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग हुआ है। श्रीकृष्ण के रंग में रंगी हुई हो अर्थात् प्रेम में पगी हुई हो अथवा उनके लाल रंग में रंगी हुई हो। समस्त आभूषणादि लाल हैं। माधुर्य तथा प्रसाद गुण से कविता में रसिकता आ गई है।

अलंकार :—अपह्नुति अलंकार का प्राधान्य है। अन्त्यानु तथा छेकानुप्रासादि शब्दालंकार गौण हैं।

आलोचनात्मक-टिप्पणी :—कवि ने प्रेम की आदर्शावस्था का वर्णन किया है। प्रेम में, प्रियतम को सुन्दर लगने वाली वस्तु को ही, प्रियतमा अच्छा समझती है; इस मानवीय प्रकृति का विश्लेषण कवि ने इस अवतरण में किया है। राधा का कृष्ण से अनन्य-प्रेम है; अतः वे उसी रंग का वस्त्रादि सब कुछ पहनती हैं; जिस रंग को लाल बिहारी श्रीकृष्ण पसन्द करते हैं।

कवितावली

आलोचना भाग

प्रश्न १ :—कवितावली का संक्षिप्त परिचय दीजिए ?

उत्तर :—कवितावली रामचरितमानस की भाँति ही रामकथा-ग्रन्थ है। कथावस्तु के दृष्टि-कोण से भी दोनों में कुछ विशेष अन्तर नहीं। बात केवल इतनी है कि रामचरित-मानस एक विशद् रामगाथा है, उसमें विस्तार है; परन्तु कवितावली केवल चुने हुए अंशों का विवरण मात्र है। यह ग्रंथ भी बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, आरण्य-कांड, किष्किंधाकांड, सुन्दरकांड, लंकाकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड में विभक्त है।

बालकाण्ड में कुल २२ छन्द हैं। कथारम्भ इस प्रकार होती है कि दशरथ जी राम को गोद लिये बाहर निकलते हैं। कवि राम का सौंदर्य-चित्रण क्रीड़ा का पुट देकर किया है :—

सरयू वर तीरहिं तीर फिरैं रघुवीर, सखा अरु वीर सबै।
धनुही कर तीर निपंग कसे कटि, पीत दुकूल नवीन फबै॥

तत्पश्चात् स्वयंवर, राम की दूल्हा रूप में शोभा तथा परशुराम संवाद आदि का संक्षिप्त विवरण है। कथा का विकास केवल संकेतों में हुआ है।

अयोध्याकांड में कैकेयी मंथरा प्रसंग जैसा मार्मिक स्थल है ही नहीं। इसका प्रारम्भ ही राम का वनवास प्रसंग लिये हुए है। वनवास जाते हुए राम, सीता तथा लक्ष्मण का चित्र एवं मार्ग की ग्रामीण नारियों की जिज्ञासा-प्रवृत्ति का परिचय कवि ने उत्तम रीति से दिया है और झट अयोध्याकाण्ड समाप्त हो जाता है। इसमें कुल २८ छन्द हैं।

आरण्यकाण्ड और किष्किन्धाकाण्ड में केवल नाम मात्र के लिए एक

सागरसूरिभिः ॥

एक छंद क्रमशः सवैया और कवित्त के हैं। आरण्यकाण्ड का छंद पंचवटी की पर्णकुटी तथा किष्किंधाकाण्ड का छंद हनुमान का समुद्र-लंघन वर्णन करता है।

सुन्दरकाण्ड पिछले अन्य काण्डों से विस्तृत है। इसमें ३२ छंद हैं। यद्यपि इसमें भी कथा संक्षिप्त है तथापि रस-निरूपण भली प्रकार हुआ है। कथा ओजपूर्ण है। इसमें अशोक-वाटिका का उजाड़ा जाना तथा लंका-दहन आदि प्रमुख घटनाएँ हैं। वास्तव में यह पूर्ण काण्ड हनुमान की कीर्ति-पताका है।

लंकाकाण्ड में ५८ छंद हैं। इसके कथा-विकास में आश्चर्य-मयी विषमता है। इसके पूर्वार्द्ध में सीता-त्रिजटा-संवाद, अंगद-प्रसंग, मंदोदरी का रावण को समझाना, राम-रावण-युद्ध, लक्ष्मण का शक्ति द्वारा मूर्छित होना एवं हनुमान का संजीवनी लाना आदि कथायें वर्णित हैं। अन्य प्रमुख कथा, जो राम-रावण-युद्ध तथा रावण की मृत्यु के विषय में है, अति संक्षिप्त है। रावण-वध केवल एक सवैया में कराकर दूसरे छंद में देवताओं द्वारा पुष्प बरसाना दिखाते हुए काण्ड को समाप्त कर दिया गया है।

उत्तरकाण्ड तो कथा का विषय ही नहीं बन सका है। उसके कुल १८३ छंदों में कवि का ध्यान केवल अपनी दीनता तथा रामस्तुति की ओर है। उसमें वर्णित बाहुरोग, महामारी, शंकरस्तुति का विषय आदि मानस की कथा से कोई सम्पर्क नहीं रखता।

प्रश्न २:—कवितावली और रामचरितमानस में क्या अन्तर है? तुलसी-काव्य में कवितावली की क्या विशेषता है? स्पष्ट व्यक्त कीजिए।

उत्तर :—

कवितावली और रामचरितमानस में अन्तर

कवितावली	रामचरितमानस
१. यह एक संग्रह काव्य है; कोई प्रबन्ध-काव्य नहीं। मुक्तक	१. यह एक प्रबन्ध-काव्य है। सारी कथा धारा प्रवाहिक है।

रचनाएँ क्रम से रखकर पुस्तकाकार बनाई गई हैं।	
२. इसमें चरित्र-चित्रण एवं वस्तु-निर्वाह नहीं हुआ है।	२. इसमें चरित्र-चित्रण तथा वस्तु निर्वाह बड़े ही सुन्दर ढंग से हुआ है।
३. कवितावली के सातों काण्ड अति संक्षिप्त हैं; पूरी कथाओं का समावेश नहीं हो पाया है।	३. इसके सभी काण्ड पुष्ट एवं विस्तृत हैं।
४. इसका उत्तरकाण्ड कथा का स्थल नही बन सका है। मुक्तक विनय आदि के पद हैं।	४. इसका उत्तरकाण्ड विनय-पूर्ण होते हुए भी कथा का स्थल है।
५ इसका सुन्दरकाण्ड केवल हनुमान की वीरता का प्रतीक है।	५. इसके सुन्दरकाण्ड का केन्द्र वियोगिनी सीता की अशोक-वाटिका है।
६. इसमें सीता के मनोविज्ञान का परिचय नहीं मिल पाता।	६. इसके सुन्दरकाण्ड में सीता के मनोविज्ञान का सजीव चित्रण है।
७. यह ग्रंथ अपने प्रभु तथा गुरु हनुमान के शौर्य एवं शक्ति के प्रति भावात्मक विश्लेषण है।	७. यह सभी प्रकार से एक पूर्ण ग्रंथ है।

तुलसी-काव्य में कवितावली की विशेषता :—

यद्यपि कवितावली समय-समय पर की गई रचनाओं का संग्रह है; तथापि इसका तुलसी-काव्य में "लंका-दहन" के प्रसंग को लेकर एक विशिष्ट स्थान है।

जैसा कुछ सुन्दर एवं सजीव-चित्रण कवितावली के 'लंका-दहन' में हुआ है, वैसा महत्वपूर्ण चित्रण तुलसी के किसी भी अन्य ग्रंथ में नहीं। इसमें इसकी सृष्टि एवं शब्द-चित्रों का निरूपण विधिवत् हुआ है। शेष प्रश्न ३ तथा ८ के उत्तर में देखिये।

प्रश्न ३ :—कवितावली में कौन-सा रस प्रधान है; इसके महत्वपूर्ण स्थल के दृष्टिकोण से विचार कीजिए।

उत्तर :—कवितावली का महत्वपूर्ण स्थल "लंकादहन एवं हनुमान का लौट आना" है; क्योंकि कवितावली का विषय ही रामशौर्य की प्रतिष्ठा एवं हनुमान का पराक्रम प्रदर्शन है और यह विषय इसी स्थल पर पूर्णरूप से विकसित हो पाया है।

इस स्थल में वीररस का प्राधान्य नहीं; अपितु भयानक का प्राधान्य है। वीर और रौद्र गौण हैं। ये भयानक के सहायक मात्र हैं। रौद्ररस तो हनुमान के अपमान की प्रतिक्रिया में आया है। वीर रस का स्थायी-भाव उत्साह उतना पुष्ट नहीं जितना रौद्ररस का क्रोध; तथा यह क्रोध आगे बढ़कर भयानक रस के स्थायी भाव 'भय' की सृष्टि किया है। हनुमान का विकराल रूप तथा लंका में लगी हुई प्रचण्ड अग्नि 'भय' का ही संचार करती है।

सारांश यह कि जितनी उचित रीति से इस प्रसंग में भयानक की सृष्टि हुई है, उतनी उचित रीति से तुलसी-काव्य के किसी भी अन्य स्थल पर नहीं। अतः यह स्थल भयानक रस की दृष्टि से तुलसी-काव्य में अद्वितीय है।

प्रश्न ४ :—कवितावली किस प्रकार का काव्य-ग्रंथ है; सप्रमाण उत्तर दीजिए। (सं० २००५)

उत्तर :— कवितावली एक स्फुट-काव्य-ग्रन्थ है। किसी काव्य को स्फुट प्रमाणित करने के लिये निम्नांकित विशेषताओं की आवश्यकता होती है :—

१. रचनाओं का फुटकर होना। २. चरित्र-चित्रण तथा वस्तुनिर्वाह का अभाव। ३. शैली की बहुरूपता। ४. धाराप्रवाहिकता का अभाव। ५. घटनाओं में असम्बद्धता।

यदि हम उपरोक्त विशेषताओं को दृष्टि में रखकर कवितावली पर दृष्टिपात करते हैं तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि :—

१—इसकी रचनाएँ फुटकर हैं। उनका रचनाकाल कोई विशेष नहीं; प्रत्युत इसका सम्बन्ध गोस्वामी जी के एक विस्तृत जीवन-अंश से है। जिसे हम सं० १६२६ से १६८० तक मान सकते हैं। इस अवधि में गोस्वामी जी की माध्यमिक रचना 'मानस' तथा प्रौढ़ माध्यमिक रचना 'गीतावली' एवं उनके वृद्धावस्था की रचना 'विनय-पत्रिका' है। ध्यान-पूर्वक देखने से पता चलता है कि कवितावली में उनकी इन तीनों अवस्थाओं की रचनाओं का साम्य है जैसे :—

(अ) मैं तव दसन तोरिवे लायक। आयसु मोहि न दीन्ह रघुनायक ।।
अस रिस होति दसऊँ मुख तोरउँ। लंका गहि समुद्र महँ बोरउँ ।।
(मानस, लंकाकांड)

कोसल-राज के काज हौं आज त्रिकूट उपारि लै वारिधि बोरौं।
महाभुज दंड द्वै अंड कटाह चपेट की चोट चटाक दे फोरौं ।।
आयसु भंग तें जौ न डरौं, सब मींजि सभासद सोनित खोरौं।
बालि को बालक जौ तुलसी दसहू मुख के रन में रद तोरौं ।।
(कवितावली, लंका०)

(ब) सोइ प्रभु कर परसत टूट्यो जनु हुतो पुरारी पढ़ायो।
(गीतावली)

तुलसी सो राम के सरोज पानि परसत ही,
टूट्यो मानो वारे से पुरारि ही पढ़ायो है ।। (कवितावली)

(स) बावरौ रावरो नाह भवानी।
दानि बढ़ो दिन देत दये बिन वेद बड़ाई भानी ।।
निज घर की घर बात विलोकहु हो तुम परम सयानी।
शिव की दई सम्पदा देखत श्री सारदा सिहानी ।।
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नहीं निसानी।
तिन रंकन को नाक सँवारत हौं आयो नकवानी ।।
(विनय-पत्रिका)

माँगो फिरे करै माँगतो देखि न खाँगो कछू जनि माँगिए थोरो।
राँकनि नाकप रीझि करै तुलसी जग जो जुरै याचक जोरो ।।

मागरमूराभः ।।

नाक सँवारत आयो हौं नाकहिं नाहिं पिनाकहिं नेकु निहारो।
ब्रह्म कहै गिरिजा सिखवो पति रावरो दानि है वावरो भोरो॥
(कवितावली, उत्तरकांड)

इस प्रकार हम देखते हैं कि इसमें कवि का व्यापक जीवन लगा है। कवि ने अपने जीवन में अपनी प्रमुख रचनाओं के साथ जो फुटकर रचनाएँ कीं, उसका संग्रह ही कवितावली प्रमाणित होता है।

२—जब हम चरित्र-चित्रण एवं वस्तु-निर्वाह की दृष्टि से कवितावली को देखते हैं तो इनका अभाव पाते हैं; इसका कारण एवं आधार रचना का फुटकर होना है। किसी भी फुटकर रचनाओं के संग्रह में चरित्र-चित्रण का विकसित होना सम्भव नहीं। अतः कवितावली एक चरित्र-चित्रण तथा वस्तु-निर्वाह से रहित काव्य है।

३—इसमें शैली की बहुरूपता भी विद्यमान है। यदि हम ध्यान पूर्वक वालकाण्ड और उत्तरकाण्ड का एक साथ अध्ययन करें; तो ज्ञात होता है कि कवि वालकाण्ड में शब्दों के प्रति आग्रह कर रहा है परन्तु उत्तर काण्ड में शब्दों का आग्रह नहीं तथापि शब्दों का मेल अपने आप बैठता चला गया है।

यथा :—

"छोनी में के छोनीपति छाजे जिन्हें छत्रछाया
छोनी छोनी छाये छिति छाये निमिराज के।"
(वालकाण्ड)

"नाम अजामिल से खल तारन तारन वारन वार वधू को,
नाम हरे प्रहलाद विषाद, पिता भय साँसति सागर सू को।"
(उत्तरकांड)

सारांश यह कि शैली में एकरूपता नहीं; प्रत्युत महान अन्तर है।

४—धाराप्रवाहिकता की दृष्टि से तो कवितावली लिखी ही नहीं गई है, वालकांड में परशुराम-संवाद कराकर, कवि झट राम को वनवास के लिए 'वटाऊ' बना देता है। यही दशा सर्वत्र है; अरण्यकांड और किष्किन्धाकांड में केवल एक एक छन्द है। अतः यहाँ धाराप्रवाहिकता को ढूँढना बुद्धि से विरोध करना है।

५—घटनाओं की असम्बद्धता का बाहुल्य भी कवितावली में पाया जाता है। हम देखते हैं कि अभी न तो राम ने रावण पर चढ़ाई की और न रावण को मारा ही। बीच ही में सुन्दरकांड की समाप्ति के अवसर पर लंका का दान विभीषण को करा दिया गया है। यथा :—

"तुलसी त्रिलोक की समृद्धि सौज सम्पदा,
सकेलि चाकि राखी रास जाँगर जहान भो।
तीसरे उपाय वनवास सिंधु पास सो,
समरन महाराज जू को एक दिन दान भो॥"

सारांश यह कि प्रस्फुट काल के लिए जितनी विशेषताओं का विधान किया गया है; प्रायः सभी कवितावली में प्राप्य हैं। अतः यह निर्विवाद एक प्रस्फुट काव्य-ग्रंथ है।

प्रश्न ५ :—"कवितावली की रचना गोस्वामी तुलसीदास जी ने ग्रंथ के रूप में नहीं की, इसका संग्रह बाद में हुआ है।" इस कथन पर युक्ति-युक्त विचार कीजिए। (सं० २००६)

उत्तर :—यदि कवितावली को गोस्वामी जी द्वारा ग्रंथ रूप में रचित मान लिया जाय तो सबसे प्रथम हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि गोस्वामी जी इसकी रचना सं० १६२६ से १६८० तक अर्थात् ५४ वर्ष पर्यन्त निरन्तर करते रहे; क्योंकि शैली, भाव, भाषा, छंद एवं कल्पना तथा वाक्य-विन्यास की दृष्टि से कवितावली में उनकी अन्य समस्त मध्य एवं उत्तरकालीन (१६२६–८०) रचनाओं का साम्य तथा प्रतिबिम्ब मिलता है। परन्तु कवितावली कोई ऐसा बड़ा काव्य-ग्रंथ नहीं जिसे रचने में कवि ५४ वर्ष जैसा एक लम्बा समय लगाता। हम देखते हैं कि कवि ने केवल २ वर्ष में (१६३१–१६३३) रामचरित मानस जैसे महान् ग्रंथ का निर्माण किया है; उस दृष्टि से ५४ वर्ष तक एक छोटा-सा ग्रंथ निर्माण करते रहना असंगत प्रतीत होता है। यदि इसे मान भी लिया जाय; तो भी यह एक स्फुट काव्य-ग्रंथ प्रमाणित होता है (देखिये प्रश्नोत्तर नं० ४)।

अब प्रश्न यह है कि इसका संग्रह गोस्वामी जी के ही जीवन-काल में हुआ या बाद में ? यह प्रश्न बहुत कुछ अंधकारमय है; क्योंकि इसके संग्रहकर्ता का ठीक ठीक पता हमें न तो अन्तःसाक्ष्य से चलता है और न बाह्य-साक्ष्य से। आधुनिक प्राप्त सामग्रियों के आधार पर हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि अवश्य ही इस (कवितावली) का संग्रह गोस्वामी जी की मृत्यु के पश्चात् हुआ होगा; क्योंकि इसके निम्नलिखित आधार हैं :—

१—इसके उत्तरकाण्ड के छन्दों के संग्रह में कोई विशेष क्रम नहीं मिलता। यदि इसका संग्रह गोस्वामी जी द्वारा अथवा इनके जीवन-काल में हुआ होता तो इनका क्रम ठीक-ठीक मिलता क्योंकि गोस्वामी जी द्वारा ऐसी क्रम-विरुद्ध रचना का संग्रह विश्वास से परे है। वे स्वयं ऐसा विरोधात्मक क्रम नहीं रख सकते थे।

२—इसमें ऐसी भी रचनाए हैं; जो निरी उनके महाप्रयाण के समय की हैं, यथा :—

> कुंकुम रंग सुअंग जितो मुखचंद सों चन्दसो होड़ परी है।
> बोलत बोल समृद्धि चुवै अवलोकत सोच विषाद हरी है॥
> गौरी कि गंग विहंगीनिवेष कि मंजुल मूरति मोदभरी है।
> पेखु सप्रेम पयान समै सब सोच विमोचन छेमकरी है॥

इनको वे स्वयं पुस्तक रूप में नहीं कर सकते थे; मृत्यु के समय ग्रंथ का निर्माण करना सत्य से बहुत दूर जा पड़ता है।

अतः यह प्रमाणित हुआ कि कवितावली की रचना स्फुट है; ग्रंथ रूप में नहीं तथा इसका संग्रह उनके मृत्यु के पश्चात् ही हुआ है परन्तु संग्रह किसने किया ? इस प्रश्न का उत्तर अभी आज तक कोई नहीं दे सका और भविष्य के लिए भी असम्भव ही सा प्रतीत होता है।

प्रश्न ६ :—भाषा, भाव, शैली और रस की दृष्टि से "कविता-वली" पर एक संक्षिप्त नोट लिखिये। (सं० २००३)

उत्तर :—कवि-कुल-मंयक गोस्वामी तुलसीदास ने अनेक ग्रंथों का निर्माण किया। कवितावली, यद्यपि उन्होंने स्वयं संग्रहीत नहीं की

तथापि यह उनकी ही रचना है और इसका उनके काव्य में एक विशिष्ट स्थान है। भाषा, भाव, शैली एवं रस की दृष्टि से इसकी विशेषता निम्न प्रकार प्रकट की जा सकती है :—

भाषा :—कवितावली की भाषा ब्रज-भाषा है; परन्तु ग्रामीण नहीं। यह शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा है; जिसमें अवधी तथा बुन्देलखण्डी शब्दों का संमिश्रण है। इसका कारण यह है कि कवि का जन्म अवध में हुआ था तथा अधिक समय भी वहीं बिताया और कोई भी सच्चा कवि अपनी मातृ-भाषा के प्रति कठोर नही हो सकता। भापा मुहावरेदार तथा चलती हुई है। इसमें शब्दों के तोड़ मरोड़ के प्रति दुराग्रह नही। कवि ने अन्य कवियों की भाँति—जैसे सूर ने—नये-नये शब्दों को गढ़ा है। फलस्वरूप इनकी भाषा में दुरूहता के प्रति आग्रह नही मिलता।

ओज, प्रसाद तथा माधुर्य तीनों गुणों का सुन्दर समावेश कविता-वली में मिलता है। बालकांड के राम-शैशव में माधुर्य तथा सुन्दर; एवं लंकाकांड में ओज की छटा देखते ही बनती है। प्रसादत्व का तो लगभग पूरी कवितावली पर अधिकार है।

तुलसीदास की भाषा कला की दृष्टि से भी निखरी हुई है। इसमें अत्यधिक अलंकारों द्वारा कविता-कामिनी को भारमय नही बनाया गया; अपितु थोड़े से अलंकार साधनों से कविता-कामिनी के अंग और भी चटकीले बनाये गये हैं।

भाव :—भावाभिव्यक्ति एक सच्चे कवि का अनिवार्य अंग है। कवि ने अपने हृदय में जिस प्रकार जिस वस्तु का दर्शन किया है; ठीक उसी प्रकार हमारे सामने भी रख सका है। यही कारण है; कवितावली का रस-परिपाक काव्य-ग्रन्थों से उत्तम है। इसके बालकांड में वत्सल, अयोध्याकांड के अन्त में पवित्र हास्य रस, सुन्दरकांड में भयानक, वीर तथा रौद्र एवं लंकाकांड में वीभत्स-रस मानो साकार हो उठा है। उत्तर-कांड में शांत-रस की धारा प्रवाहित हो उठी है।

शैली :—कवितावली की शैली में बहुरूपता है; ऐक्य नहीं। इसका कारण यह कि यह ग्रंथ स्फुट काव्य है; इसमें गोस्वामी जी के समस्त जीवन की अनेकानेक शैलियों का एकत्र संम्मिश्रण है। छन्दों में प्रायः कवित्त, सवैया, घनाक्षरी, छप्पय और झूलना प्रयोग हुआ है।

रस :—कवितावली में सर्वत्र ही रस ढूंढना बुद्धि से विरोध करना होगा। भला अरण्यकांड और किष्किन्धाकांड में रस-परिपाक किस प्रकार होगा, जबकि उसमें एक से अधिक छन्द ही नहीं। इनमें तो केवल भाव उत्पन्न होते हैं, रस-परिपाक हो ही नहीं पाता।

पुनरपि च कवितावली का स्थान रस-दृष्टि से तुलसी-काव्य में विशिष्ट है। कवितावली में जैसा कुछ 'भयानक' का परिपाक 'लंका-दहन' प्रसंग में हुआ है, वैसा अन्यत्र कहीं भी नहीं—मानस में भी नहीं। कविता-वली के लंका-दहन में पहले रौद्र-रस हनुमान के अपमान की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ है; वीररस का स्थायीभाव उत्साह उतना पुष्ट नहीं हो पाया है जितना कि रौद्र-रस का क्रोध। पुनः आगे चलकर यही रौद्र-रस 'भयानक' को प्रधान बना दिया है और स्वयं गौण हो चला है। इस प्रकार भयानक रस का ऐसा सुन्दर परिपाक तुलसी-काव्य में अद्वितीय है।

कवितावली के बालकांड में वत्सल-रस, लंका में वीभत्स तथा उत्तर-कांड में शान्त-रस की अविरल धारा बह रही है।

अतः रस की दृष्टि से कवितावली का स्थान विशिष्ट है।

प्रश्न ७ :—कवितावली के आधार पर उस समय की सामाजिक तथा राजनैतिक दशा पर प्रकाश डालिए। (सं० २००४) अन्य पुस्तक से भी सहायता ली जा सकती है।

उत्तर :—कवितावली का लगभग पूर्ण उत्तरकांड सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों का सुन्दर विश्लेषण है। कवि अपने समय की राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों से घबड़ाया हुआ प्रतीत होता है।

सामाजिक व्यवस्था :—कवितावली में चित्रित सामाजिक व्यवस्था कालुष्य-पूर्ण है। जनता सन्देह के जीवन को पार करती दृष्टि-गोचर होती है; दम्भी, पाखण्डी, छली लोगों का समाज पर प्रभुत्व था। ये लोग हमारे सामाजिक जीवन को "अलख निरंजन" का नाम लेकर संशय की गहरी नदी में डुबो दिये गये थे। इसी पर कवि ने कहा था, "तुलसी अलखहिं का लखै, राम नाम भजु नीच।" ये लोग जाति-पाँति के बंधन को ढीला करना चाहते थे; इस प्रकार हमारी वर्णाश्रम-व्यवस्था बिगड़ने लगी थी। यथा :—

वर्न विभाग न आश्रम धर्म, दुनो-दुःख-दोष-दरिद्र दली है।

उस समय भेष बनाने वाले ढोंगियों का समाज पर प्रभुत्व सा हो गया था। वे अपने वाग्जाल और साज-बाज से जनता को लूट रहे थे; यथा :—

"भेष सु बनाइ, सुचि वचन कहैं चुवाइ,
जाइ तौ न जरनि धरनि धन धाम की।"

ऐसे वर्णनों की कवितावली में कमी नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि समाज में अविश्वास, द्वेष, छल, कपट छाया हुआ था। सभी स्वार्थी हो गए थे। स्वार्थपरता के कारण दूसरों के प्रति संवेदना और सहानुभूति समाप्त हो चली थी। प्रेम का अभाव था।

राजनैतिक दृश्य :—सामाजिक दशा से भी अधिक राजनैतिक दशा गिरी हुई थी। जनता में भूख, अकाल और दरिद्रता छाई हुई थी। भरपेट रोटी का मिलना दूभर था। यथा :—

"कृसगात ललात जो रोटिन को,
घरवात घरे खुरपा खरिया।"

अथवा

"पेट को पढ़त, गुन गढ़त, चढ़त गिरि,
अटत गहन-गन अहन अखेट की।"

लोग भूख के मारे अपने बेटी तथा बेटे को चांदी के टुकड़ों पर बेच देते थे :—

"ऊँचे करम धरम, अधरम करि,
पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी ।"

कठिन परिश्रम करने के पश्चात् भी कृषक को भूखों रहना पड़ता था। दरिद्रता के मारे भिखारियों को भीख तक नही मिल पाती थी :—

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख वलि
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी ।"

सभी लोग जीविका-विहीन हो गये थे; सभी इसी चिन्ता में पड़े थे कि अब कहाँ जायँ ? और क्या करें ? :—

जीविका-विहीन लोग सीद्यमान शोचवश,
कहैं एक एकन सों "कहाँ जाई का करीं ।

इस प्रकार बढ़ती हुई दरिद्रता तथा दरिद्रता से उत्पन्न पापाचारों को देखकर सभी हाय ! हाय ! त्राहि ! त्राहि ! मचा रहे थे—

भला इस दशा में राष्ट्रीयता को कौन पूछता था ? सम्भवतः इसी को देखकर कवि ने 'मानस' में "कोउ नृप होय हमें का हानी, चेरि छाँड़ि नहिं होउब रानी" कहा है ।

परन्तु कवि अपना कर्त्तव्य नहीं भूल सका । उसने जनता को अपने भारतीय गौरव के गीत सुनाए :—

भलि भारत भूमि भले कुल जन्म समाज सरीर भलो लहिकै ।
करपा तजिकै परुषा बरषा हिम मारुत घाम सदा सहि कै ॥

सारांश यह कि तुलसीदास का युग सामाजिक एवं राजनैतिक दोनों दृष्टिकोणों से बड़ा ही दुःखमय, अविश्वासमय एवं द्वेषादि से पूर्ण था।

प्रश्न ८ :—कवितावली के साहित्यिक सौंदर्य का संक्षिप्त परिचय दीजिए ।

अथवा

कवितावली का स्थान तुलसी-काव्य में विशिष्ट क्यों है ? सप्रमाण उत्तर दीजिए ।

उत्तर :—कवितावली का आरम्भ ही माधुर्य-रस से सरावोर होकर समक्ष आया है :—

अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौं सोच विमोचन को ठगि सी रही जे न ठगे धिक से॥

कवि ने सर्वप्रथम अपने आराध्य-देव का दर्शन एक अयोध्या की नारी के रूप में होकर किया है। आराध्य-दर्शन में पहले उसकी दृष्टि बड़े बड़े कमलवत् नेत्रों पर पड़ी है।

"तुलसी मनरंजन रंजित अंजन नयन सुखंजन जातक से" कितनी स्वाभाविक उक्ति है। कितना मधुर संगीत है! यह देखते ही बनता है।

नेत्रों की छवि पर विमोहित कवि अब आराध्य के चरणों की ओर बढ़ता है:—"पग नूपुर औ पहुँची कर कंजनि मंजु वनी मनिमाल हिए"

एक आराध्य की किलकारी का दर्शन कीजिए :—

"दमकैं दतियाँ दुति दामिनि ज्यों किलकैं कल बाल विनोद करें।"

यह तो आराध्य का बाल-चित्रण हुआ, अब आराध्या का दर्शन करें। सीता जी रामचन्द्र के गले में जयमाल डालने जा रही हैं :—

लीन्हें जयमाल कर कंज सोहैं जानकी के,
पहिराओ राघो जू को सखियाँ सिखावतीं"

जिस सीता ने कभी राजमहलों से बाहर पग नहीं रखा था, वह सुकुमारी भला किस प्रकार बन-पथ पर चल सकती थी :—

पुर ते निकसीं रघुवीर-बंधू धरि धीर दिये मग में पग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की पुट-सूखि गए अधराधर वै॥
फिरि बूझति हैं चलिनो अब केतिक पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चली जल च्वै॥

इतना हृदय-द्रावक चित्र हिन्दी-साहित्य भर में कम मिलेगा। जब हम राम को सीता के पैरों का काँटा निकालते दर्शन करते हैं, तो हृदय उफक पड़ता है :—

"तुलसी रघुवीर प्रिया श्रम जानि के बैठि विलम्ब लौं कंटक काढ़े"
चरणोदक पर केवट की ममता भरी दृष्टि कितनी आर्जव है :—

"पातभरी सहरी सकल सुत वारे वारे × × × × ।
× × × × विना पग धोये नाथ नाव न चढ़ाइहौं ॥

तुलसीदास संत हैं, उन्हें बच्चों की भाँति यदि रोना आता है तो हँसना भी बालकों की भाँति जानते हैं। देखिये कितनी पवित्र हँसी है—

विन्ध्य के वासी उदासी तपो व्रत धारी महा विनु नारि दुखारे।
गौतमतीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भै मुनि वृन्द सुखारे ॥
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पग धारे ॥

रावण की सभा में अंगद प्रणपूर्वक पैर रोप दिये हैं। उनका दबाव इतना अधिक है कि कमठ की जान केवल समुद्र-मंथन से पीठ पर पड़े हुए घट्ठे से बच रही है। कितनी अनूठी उक्ति है :—

कमठ कठिन पीठि घठा परो मन्दर को,
आयो सोइ काम पै करे जो कसकतु है।

फिर भी कलेजा कसक रहा है।

कवि जितना विनोदशील एवं करुणामय है; जितना भावुक तथा सरस है, उतना ही भयानक और वीभत्सवादी भी। एक वीभत्स चित्रण देखिये :—

ओझरी की झोरी काँधे, आँतनि की सेल्ही बाँधे,
× × × ×
सोनित सो सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोर घोरि घोरि के ॥

सारांश यह कि कवि ने अपनी प्रतिभा एवं कल्पना की गहराई से भावों की कूची चलाकर 'कवितावली' के पृष्ठ-सौंदर्य में सुनहरा रंग भर दिया है। इसके प्रायः सभी प्रसंग स्वतः कंठ से फूटे कोकिल के संगीत के समान हैं। इसमें बनावट अथवा कला का आग्रह नहीं; कला स्वयं ही शकुन रूप में विराजमान है।

यही कारण है कि 'कवितावली' तुलसी-काव्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

कवितावली

व्याख्या भाग

(बालकाण्ड)

(सं० २००५)

१. डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्वै समुद्र सर।
व्याल बधिर तेहि काल विकल दिगपाल चराचर ॥
दिग्गयंद लरखरत परत दसकंठ मुक्ख भर।
सुर विमानु हिम भानु संघटित परस्पर ॥
चौंके विरंचि संकर सहित, कोल कमल अहि कलमल्यो।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि, जबहिं राम शिव धनु दल्यो ॥

प्रसङ्ग :—प्रस्तुत अवतरण गोस्वामी तुलसीदास की कवितावली के बाल-काण्ड से लिया गया है। इसमें रामचन्द्र जी द्वारा धनुष तोड़े जाने पर उसके कठिन भयानक शब्दों का वर्णन किया गया है।

व्याख्या :—जब श्री रामचन्द्र जी ने शिव-धनुष तोड़ा उस समय पृथ्वी उसके प्रलयकारी शब्दों से डगमगा उठी एवं समस्त पर्वत, समुद्र तथा तालाब आदि काँप उठे। शेषनाग बहरे हो गए, दशों दिग्पाल एवं समस्त जड़-चेतन व्याकुल हो उठे। दिशाओं के रक्षक हाथी लड़खड़ा गए तथा रावण मुँह के बल गिर पड़ा। देवताओं के विमान, सूर्य तथा चन्द्र परस्पर टकराने लगे। ब्रह्मा एवं शिव चौंक पड़े, पाताल में वाराह कच्छप और शेषनाग डगमगाने लगे। इस प्रकार वह प्रचण्ड ध्वनि समस्त भूमंडल को वेध गई।

सारांश यह कि धनुष टूटते समय प्रलय-काल की भाँति कठिन शब्द किया। इससे श्री रामचन्द्र जी की वीरता प्रकट होती है कि श्री रामचन्द्र ऐसे बड़े विद्युत सदृश धनुष को तोड़ दिया।

काव्य-सौष्ठव तथा अलंकार :—शब्द-चित्र से पूरा छंद भरा पड़ा है। शेषनाग आदि को बहिरा बनाकर कवि ने इसे सरस बना

दिया है, इससें परुषावृत्ति वृत्त्यनुप्रास अलंकार का प्राधान्य है। अर्थालंकार में निर्णीयमाना अक्रमातिशयोक्ति है।

छन्द :—छप्पय, रोला और उल्लाला से बना है।

२. दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दरि मंदिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुंदर, वेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं॥
राम को रूप निहारति जानकी, कंकन नग की परछाहीं।
याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही, पल टारत नाहीं॥

प्रसङ्ग :—प्रस्तुत अवतरण गोस्वामी तुलसीदास कृत कवितावली के बालकांड से उद्धृत किया गया है। इसमें श्री रामचन्द्र के विवाह का वर्णन है।

व्याख्या :—श्री रामचन्द्र जी दुलहा रूप में हैं तथा श्री सीता जी भव्य मन्दिर में दुलहिन बनकर बैठी हुई हैं। नारियाँ मिल कर विवाह-गान गा रही हैं। प्रौढ़ ब्राह्मण वेद का पाठ कर रहे हैं। श्री सीता जी अपने कंकण के नग में श्री रामचन्द्र जी का प्रतिबिम्ब देख रही हैं; तथा देखने में इतनी मग्न हो रही हैं कि उन्हें अपनी सुधि-बुधि तक नहीं। श्री रामचन्द्र जी को देखते रहने की अभिलाषा में अपने हाथ को इधर-उधर घुमाती तक नहीं हैं क्योंकि ऐसा करने से उनके हाथ का कंकण दूसरी ओर हो जायगा और भगवान रामचन्द्र के सौंदर्य को प्रच्छन्नरूप से देखते रहने का आनन्द जाता रहेगा। सारांश यह कि श्री सीता जी रामचन्द्र की रूप-माधुरी में मग्न हो गई हैं।

छन्द :—मत्तगयंद सवैया, ७ भगण और अन्त में दो गुरु (SS) होते हैं।

अलंकार तथा काव्य-सौष्ठव :—"माहीं, पढ़ाहीं" आदि में अन्त्यानुप्रास; "गावति गीत, जुवा जुरि" आदि में छेकानुप्रास; "कंकण के नग की परछाहीं" में राम की मधुर-मूर्ति सीता देख रहीं हैं, कितनी तल्लीन हैं? यह आज भी वर-वधू में नवीन हैं। प्रसाद गुण है।

३. गर्भ के अर्भक काटन को पटुधार कुठार कराल है जाको।
हौं बूझत राजसभा "धनु को दल्यो?" हौं दलिहौं बल ताको॥

लघु आनन उत्तर देत बड़ो, लरिहै, मरिहै, करिहै कछु साको।
गोरो गरूर गुमान भरो कहो कौसिक छोटो सो ढोटो है काको॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण गोस्वामी तुलसीदास कृत कवितावली के बालकांड से उद्धृत किया गया है। धनुष-भंग के पश्चात् परशुराम जी का कोप, इस अवतरण का विषय है।

व्याख्या :—परशुराम जी कहते हैं :—जिसकी कुठार गर्भ के शिशुओं को काटने में चतुर है—तीक्ष्ण है—अर्थात् जिसकी कुठार निर्दयता-पूर्ण है; मैं वही परशुराम हूँ और इस राज-सभा से पूछना चाहता हूँ कि किसने धनुष को तोड़ा है। मैं आज उसका बल तोड़ दूँगा। हे कौशिक (विश्वामित्र)! यह छोटे मुँह से बड़ी बात क्यों करता है? अन्ततः यह गोरा बालक मुझसे लड़कर और मरकर कुछ शक्ति प्रदर्शन करेगा क्या? यह तो घमंड से भरा हुआ है। यह लड़का किसका है?

सारांश यह कि मैं क्रोधी हूँ, मेरी कुठार निर्दय है, यह लक्ष्मण बढ़-बढ़ कर मरने के लिये क्यों बकवाद करता है?

(अयोध्याकाण्ड)

४. पुरतें निकसीं रघुवीर वधू, धरि धीर दये मग में गड द्वै।
झलकी भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै॥
फिरि बूझति हैं "चलनो अब केतिक, पर्ण कुटी करिहो कित ह्वै?"
तियकी लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अतिचारु चलीं जल च्वै॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण गोस्वामी तुलसीदास की कवितावली "अयोध्याकाण्ड" से उद्धृत किया गया है। यह उस समय का वर्णन है जब श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण तथा जानकी सहित वन को जा रहे हैं। रास्ते में धूप के कारण सीता के ओठ सूख गये हैं।

व्याख्या :—श्री सीता जी नगर से बाहर निकलीं; उनके अंग कोमल थे तथापि धीरज धारण करके दो पग रास्ते में चलीं। इतने में ही पसीने के जल-कण उनके मस्तक पर चमक उठे तथा उनके वे मधुर ओठ भी सूख चले। तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्र से पूछने लगीं, "अभी कितनी

मागम्मूरिभि ॥

दूर और चलना है तथा अपनी कुटिया कहाँ बनाओगे ?" श्री रामचन्द्र जी प्रिया की आतुरता को देखकर रो पड़े; उनके सुन्दर नेत्रों से आँसू ढुलक पड़े।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—कवि ने प्रस्तुत अवतरण में सीता जी की कोमलता का वर्णन अतिशयता से किया है परन्तु नारी-सुलभ स्वभाव का वर्णन बड़ी मार्मिक रीति से किया है।

छंद :—इसमें किरीट सवैया है। आठ भगण प्रत्येक चरण में होते हैं।

५. वनिता-बनी श्यामल गोरे के बीच, बिलोकहु री सखि! मोहिं-सी ह्वै।
मग जोग न कोमल क्यों चलि हैं ? सकुचात मही पद-पंकज छ्वै॥
तुलसी सुनि ग्रामवधू बिथकी, पुलकी तन औ चले लोचन च्वै।
सब भाँति मनोहर मोहन रूप, अनूप हैं भूप के बालक द्वै॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण तुलसी की कवितावली "अयोध्याकाण्ड" से उद्धृत किया गया है। कवि इसमें वन को जाते हुए रामादि का चित्रण कर रहा है। राम लक्ष्मण और सीता रास्ते से जा रहे हैं, गाँव की स्त्रियाँ आपस में इन्हें देख देखकर भाँति २ के विचार कर रही हैं :—

व्याख्या :—ग्राम की एक नारी दूसरी से कहती है :—हे सखि! मेरी तरह होकर गोरे और साँवरे पथिकों के बीच सुशोभित एक नारी को देखो। वे तीनों कोमल हैं; रास्ता चलने योग्य उनके पैर नहीं; भला उनसे किस प्रकार चला जाय। पृथ्वी उनके चरण-कमलों को स्पर्श करके संकोच में पड़ जाती है (पृथ्वी को अपनी कठोरता पर लज्जा आती है) ऐसे वचन सुनकर ग्रामीण नारियाँ स्तब्ध रह गईं; उनका शरीर रोमांचित हो गया तथा नेत्रों से आँसू बह निकले। वे आपस में कहने लगीं, "ये राजा के दोनों बालक उपमा-रहित हैं इनका सौंदर्य सभी भाँति मनोहर एवं आकर्षक है।

सारांश यह कि सीता, राम तथा लक्ष्मण बड़े ही कोमल हैं, उनकी कोमलता और पथ की कठोरता पर ग्रामीण वधुएँ तरस खा रही हैं।

६. बिन्ध के वासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतमतीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भै मुनिवृन्द सुखारे॥
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण गोस्वामी तुलसीदास कृत कवितावली अयोध्याकाण्ड से लिया गया है। इसमें श्री रामचन्द्र का विन्ध्याचलके वनों में पहुँचना तथा इनके पहुँचने से मुनियों की सुखद भावना का चित्रण है।

व्याख्या :—विन्ध्याचल के जंगलों में तपस्या करने वाले त्यागी महात्मा लोग अपनी स्त्रियों के अभाव में बड़े ही दुःखित थे। जब उन लोगों ने अहिल्या को पत्थर से नारी बन जाने की कथा सुनी तो बड़े प्रसन्न हुए। वे कहने लगे :—

हे प्रभु! अब क्या पूछना! अब तो सभी पत्थर शिलाएँ तुम्हारी चरण-धूलि का स्पर्श करके सुन्दर नारी बन जावेगी। आपने बहुत अच्छा किया जो हम लोगों पर कृपा करके जंगल को पधारे।

सारांश यह कि रामचन्द्र जी की चरण-धूलि से प्रभावित होकर जब सभी पत्थर-शिलाएँ नारियों के रूप में परिवर्तित हो जायँगी, फिर हम लोगों को भी रमणियों के मधुराधर पान का आनन्द मिलेगा। हमारा तापस जीवन मधुमय हो उठेगा।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—प्रस्तुत अवतरण में कवि ने अपनी मधुर-कल्पना द्वारा हास्य-रस की बड़ी ही सुन्दर योजना बनाई है। कोई भी कवि इसे सुनकर एक बार हँसे बिना नहीं रह सकता। विशेषता तो यह है कि इतना मधुर विषय होते हुए भी अश्लील नहीं हुआ है। यह कवि की सफलता है।

किष्किन्धाकाण्ड

७. जब अङ्गदादिन की मति गति मन्द भई,
पवन के पूत को न कूदिबे को पलुगो।
साहसी ह्वै सैल पर सहसा सकेलि आइ,
चितवत चहूँ ओर, औरन को कलुगो॥

तुलसी रसातल को निकसी सलिल आयो,
कोल कलमल्यो, अहि कमठ को वलुगो।
चारिहु चरन के चपेट चाँपे चिपिटिगो,
उचके उचकि चारि अंगुल अचलुगो॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण गोस्वामी तुलसीदास की कवितावली "किष्किन्धाकाण्ड" से लिया गया है। इसमें पवनसुत हनुमान का समुद्र-लंघन का वर्णन है।

व्याख्या :—जब अंगद इत्यादि वानर-मंडली की बुद्धि किंकर्त्तव्य-विमूढ़ सी हो गई; उस समय केसरीनंदन हनुमान जी को समुद्र लाँघने के लिए कूदने में क्षण भर भी नहीं लगा। वे साहस करके पर्वत पर अचानक खेल ही में आ गए। पर्वत के ऊपर से जब उन्होंने चारों ओर देखा तो अन्य सभी बेचैन हो गए। पाताल से (उनके भार के कारण) जल निकल आया। वाराह देव कलमला (व्याकुल हो) गए। शेषनाग और कच्छप की शक्ति—जो पृथ्वी का भार रोकते हैं—जाती रही। उनके चारों पैरों के चपेट से पर्वत चपटा हो गया। पर्वत से उचकते समय पर्वत चार अंगुल तक (चिपटे रहने के कारण) उछल गया।

सारांश कि पवनसुत महावीर बड़े ही शक्तिशाली थे; उनका भार पवन, पृथ्वी, वाराह, कच्छप आदि नहीं सह सकते थे।

काव्य-सौन्दर्य तथा अलंकार :—वृत्त्यनुप्रास, अन्यानुप्रास तथा अतिशयोक्ति अलंकार हैं। "चपेटि चापि चिपिटिगो" में शब्द-चित्र होकर काव्य-सौन्दर्य बढ़ाया है।

छन्द :—घनाक्षरी या मनहरण कवित्त, ३१ अक्षर, अंश गुरु, १६, १५ अक्षरों पर यति होती है।

सुन्दरकाण्ड

८. वालधी विसाल विकराल, ज्वाल जाल मानौं,
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।

कैधौं व्योम वीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
वीररस वीर तरवारि सी उघारी है ॥
तुलसी सुरेस-चाप कैधौं दामिनी कलाप,
कैधौं चली मेरु तें कृसानु-सरि भारी है।
देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं,
"कानन उजार्‌यो अब नगर प्रजारी है ॥"

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण तुलसीदास कृत कवितावली "सुन्दर-काण्ड" से लिया गया है। इसमें लंका-दाह का वर्णन है।

व्याख्या :—हनुमान जी की विशाल पूंछ, विकराल अग्नि की ज्वाला की भाँति दिखाई दे रही है; मानो लंका को निगल जाने के लिए काल ने अपनी जीभ को फैलाया है। अथवा आकाश-गंगा (Milky way) अनेकों पुच्छल तारों से भरी हुई है अथवा वीर-रस ने स्वयं मूर्तिमान होकर अपनी तलवार को म्यान से खींच लिया है। तुलसीदास कवि कहते हैं कि यह या तो इंद्रधनुष है अथवा विद्युत-राशि है अथवा सुमेरु पर्वत से अग्नि की नदी बह चली है जिसे देख देख कर सभी राक्षस राक्षसी व्याकुल हो हो कर कहते हैं :—

पहले तो इसने अशोक-वाटिका उजाड़ी, अब नगर को भस्मसात् करेगा।

सारांश यह कि हनुमान जी की बढ़ी हुई लम्बी पूंछ में अग्नि प्रज्वलित हो उठी जिसे देखकर राक्षस राक्षसी भयभीत हो गए।

अलंकार तथा काव्य-सौष्ठव :—वृत्त्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास वस्तूत्प्रेक्षा आदि अलंकार गौण हैं तथा संदेहालंकार ने प्रधान होकर सौंदर्य की वृद्धि की है। प्रसादत्व प्रत्येक पद से प्रकट होता है।

छन्द :—घनाक्षरी।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—प्रस्तुत अवतरण में कवि ने अपनी कल्पना का अतिशय पुट दिया है। वस्तु-कथा का पौरुष कल्पना-कामिनी के सौंदर्य में लिया गया है।

९. वीथिका बजार प्रति, अटनि अगार प्रति,
पँवरि अगार प्रति बानर बिलोकिये ।
अध ऊर्द्ध बानर, बिदिसि दिसि बानर है,
मानहु रह्यो है भरि बानर तिलोकिए ॥
मूँदे आँखि हीय में, उघारे आँखि आगे ठाढ़ो,
धाइ जाइ जहाँ तहाँ और कोऊ को किए ?
लेहु अब लेहु, तब कोउ न सिखाओ मानो,
सोइ सतराम जाइ जाहि जाहि रोकिये ॥

प्रसङ्ग :—प्रस्तुत अवतरण गोस्वामी तुलसीदासकृत कवितावली "सुन्दरकांड" से लिया गया है। कवि हनुमान द्वारा लंका-दहन का वर्णन इस छन्द में किया गया है।

व्याख्या :—लंका के नागरिक कह रहे हैं :—

गलियों, बाजारों, अटारियों, घरों, दरवाजों तथा ऊँची-ऊँची दीवारों में भी बन्दर (हनुमान जी) ही दिखाई दे रहे हैं। नीचे, ऊपर, सभी दिशाओं में बन्दर ही बन्दर दिखाई दे रहा है मानो तीनों लोकों में वही छा रहा है। आँख मूँद लेने पर हृदय में तथा खोल लेने पर आगे खड़ा हुआ दिखाई देता है। जहाँ कहीं भी दौड़ कर जाते हैं, कोई दूसरा दिखाई ही नहीं देता। लो ! अब तो लो ! उस समय तो हमारी बात कोई नहीं मान रहा था, जिस जिस को सम्मति देते थे कि ऐसा न करो। वही अकड़ दिखाता था। अब करतूत का फल पाओ।

सारांश यह कि लंका-निवासी घबड़ा गए हैं और अपने नायकों की करतूत पर पछता रहे हैं।

अलंकार :—अन्त्यानुप्रास, छेकानुप्रास तथा वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार हैं।

छंद :—घनाक्षरी।

आलोचनात्मक परिचय :—कवि ने मानव-स्वभाव का बड़ा ही सूक्ष्म अंग इस अवतरण में वर्णन किया है। कोई कार्य बिगड़ जाने पर किसी देश के नागरिक किस प्रकार अपने नेताओं पर बिगड़ जाते

हैं; यह बड़ी सुन्दरता से बताया गया है। यदि हनुमान जी को बाँध देने पर कोई उत्पात नहीं होता, तो सभी अच्छा ही कहते परन्तु जब उत्पात होगया तो सब बुरा ही है।

१०. भूमि भूमिपाल व्यालपलक पताल, नाकपाल,
लोकपाल जेते सुभट समाज हैं।
कहैं मालवान "जातुधानपति रावरे को,
मनहु अकाज आने ऐसो कौन आज है॥
राम मोह-पावक, समीर सीय स्वास, कीस
ईस-वामता विलोकु, बानर को व्याज है।
जारत प्रचारि फेरि फेरि सो निसंक लंक,
जहाँ बांको वीर तोसों सूर सिरताज है"॥

प्रसंग :—यह अवतरण गोस्वामी तुलसीदास कृत कवितावली से लिया गया है। इस अवतरण में माल्यवान रावण को समझा रहा है :—

व्याख्या :—हे रावण! इस पृथ्वी पर जितने भी राजा हैं वे, अथवा नागराज वासुकी, इन्द्र तथा दशों दिग्पाल एवं जितने भी योद्धा-गण हैं; इनमें ऐसा कौन है जो निशिचरराज अर्थात् तुम्हारा अहित सोच सकता है? अरे! यह अग्नि तो राम का क्रोध है; जिसमें सीता के उच्छ्वास पवन का कार्य कर रहे हैं; यह बन्दर ईश्वर की कुदृष्टि का प्रतीक है जो नाममात्र के लिए बन्दर का बहाना है और नगर को निर्भय होकर चारों ओर कूद-कूदकर जला रहा है जहाँ पर तुम्हारे जैसे वीर बाँकुड़े उपस्थित हैं।

काव्य-सौष्ठव :—सांग अभेद रूपकालंकार, आर्थी (कैतव) अपह्नुति (वानर को व्याज) अलंकार है तथा शब्दालंकार में अन्त्यानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास है।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—अर्थ से शाब्दिक चमत्कार प्रथम दो पंक्तियों में अधिक है परन्तु नीचे की चार पंक्तियों के अर्थ-गौरव में वे भी सोने में सुहागा हो गई हैं।

११. रावन सो राज रोज बाढ़त विराट उर, (सं० २००५)
दिन दिन विकल सकल सुख राँक सों।
नाना उपचार करि हारे सुर सिद्ध मुनि,
होत न विसोक ओत पावे न मकान सो॥
राम की राज्य ते रसायनी समीर सूनु,
उतरि पयोधि पार सोधि सरवाक सो।
जातुधान पुट, पुटपाक लंक, जातरूप,
रतन जतन जारि कियो है मृगांक सो॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण गोस्वामी तुलसीदास की कवितावली "सुन्दरकांड" से लिया गया है। इसमें कवि ने लंकादहन का वर्णन बड़ी ही विचित्र शैली से किया है।

व्याख्या :—कवि कहता है कि जिस प्रकार मृगांक नामक रस की औषधि से राजयक्ष्मा तक का रोग नष्ट हो जाता है; उसी प्रकार विराट्-पुरुष के हृदय में रावणरूपी क्षय-रोग भयंकर हो जाने पर मृगांक की आवश्यकता थी; परन्तु इसके अभाव में वह व्याकुल था। देवता, मुनि, सिद्ध सभी लोग दवा दे देकर हार गए परन्तु नीरोग नहीं कर सके और तनिक भी लाभ नहीं हुआ। अतः श्री रामचन्द्र की आज्ञा से रसायनवेत्ता हनुमान जी ने समुद्र पार करके सकोरे को ठीक किया तथा उसमें राक्षस-रूपी बूटियों का रस निकाल कर उसमें सोने की लंका को पुट देकर विभिन्न प्रकार के रत्नों का भस्म मिलाया और उससे मृगांक तैयार किया।

सारांश यह कि लंका के निशिचर, स्वर्ण तथा रत्नजटित महलों का नाश हनुमान जी ने बड़े उपाय से किया।

आलोचनात्मक परिचय :—प्रस्तुत अवतरण में कवि की वैद्यक सम्बन्धी योग्यता प्रकट होती है। इसमें कथावस्तु उतनी सुन्दर नहीं है, जितनी मृगांक की रासायनिक खोज। वर्ण्य-विषय गौण हो गया है।

अलंकार तथा काव्य-सौष्ठव :—परम्परित रूपकालंकार प्रधान है, उपमा गौण। छेकानुप्रास तथा अन्त्यानुप्रास भी सौंदर्योत्पादन में

सहायक हुआ है। मृगांक के काव्य-सौष्ठव ने अवतरण को ढक सा लिया है।

१२. साहसी समीर सूनु नीरनिधि लंघि, लखि,
लंक सिद्ध पीठ निसि जागो है मसान सो।
तुलसी विलोकि महा साहस प्रसन्न भई,
देवी सिद्द सारषी दियो है वरदान सो॥
वाटिका उजारि, अच्छ-धारि मारि,जारि गढ़,
भानुकुल भानु को प्रतापभानु भानु सो।
करत विसोक लोक कोकनद, कोक कपि,
कहै जामवंत आयो आयो हनुमान सो॥

प्रसङ्ग :—प्रस्तुत कवितांश संतप्रवर तुलसीदास की कवितावली से लिया गया है। इसमें कवि ने हनुमान द्वारा लंका-दहन का विवरण उपस्थित किया है जिसे जामवंत जी कह रहे हैं :—

व्याख्या :—साहसी पवनसुत हनुमान ने समुद्र को लांघकर, लंका को सिद्धि-भूमि समझ कर रात्रि जागरण किया, जैसे सिद्धि-प्राप्ति करने वाले लोग श्मशान में रात्रि को जागरण करते हैं। तुलसीदास कवि कहते हैं कि ऐसे महान साहस को देखकर देवी (सीता) अत्यन्त प्रसन्न हुईं और वरदान दिया। फलतः हनुमान जी अशोक वाटिका को उजाड़ कर, अक्षयकुमार को वध करके लंका के गढ़ को जला दिया। जामवन्त जी कहते हैं कि वही सूर्य-कुल के सूर्य श्री रामचंद्र जी के प्रताप रूपी सूर्य हनुमान, विश्व रूपी कमलों एवं वानरों रूपी चकवों को प्रसन्न करते हुए आ रहे हैं।

अलंकार तथा काव्य-सौष्ठव :—परम्परित अभेद रूपकालंकार का प्राधान्य है। उपमा अलंकार गौण है। कवि ने लंका को श्मशान बनाकर कविता को और भी सरस बना दिया है।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—प्रस्तुत कविता में कवि ने कष्ट-कल्पना से कार्य लिया है। उपमान कुछ ऐसे अनूठे हैं जो इन उपमेयों के पहले कम प्रयोग हुए हैं। पुरनपि च निर्वाह उत्तम है।

सागरसुरभि ॥

लंकाकांड

१३. रोप्यो पाँव पैजकै विचारि रघुवीर बल
लागे भट समिटि न नेकु टसकतु है
तज्यो धरि धीर धरनि धरनिधर धसत
धराधर धोर भार सहिन सकतु है
महाबली बालि को दबत दलकतु भूमि,
तुलसी उछरी सिंधु मेरू मसकतु है।
कमठ कठिन पीठ घटा परो मन्दर को,
आयो सोई काम, पै करेजो कसकतु है ॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण महाकवि तुलसीदास की कवितावली से लिया गया है। इसमें कवि ने रावण की सभा में अंगद द्वारा प्रण-पूर्वक रोपे गए पाँव की दृढ़ता का वर्णन किया है।

व्याख्या :—श्री अंगद जी ने भगवान राम के प्रताप का स्मरण करके रावण की सभा में अपना पग प्रण-पूर्वक रोप दिया। लंका के सभी योद्धाओं ने मिलकर पग हटाना चाहा परन्तु पैर तिल भर भी टस से मस नहीं हुआ। पृथ्वी का धैर्य जाता रहा। त्रिकूट पर्वत धसने लग गया। शेषनाग जी इस कठिन भार को न सह सके। महाबलशाली बाली के सुपुत्र के द्वारा दबाने के कारण पृथ्वी दब गई। समुद्र का जल ऊपर आ गया। सुमेरु पहाड़ टूटने लगा। कच्छप की कठिन पीठ पर मंदराचल की रगड़ के कारण जो गड्ढा पड़ गया था; वह उस समय काम आया परन्तु अंगद के चरण इतने भारी थे कि उसके कलेजे में दर्द होने लगा। सारांश यह कि अंगद के पाँव अचल रहे, कोई उठा न सका।

काव्य-सौन्दर्य तथा अलंकार :—अन्त्यानुप्रास तथा छेकानुप्रास अलंकार है। कवि ने अतिशयोक्ति से उत्पन्न भाव सिद्ध किया है। "पीठ घट्टा परो" में कितनी मार्मिक उक्ति है, यह देखते ही बनता है।

१४. पवन को पूत देखो दूत वीर बाँकुरो जो,
बङ्क गढ़ लंक सो ढका ढकेलि ढाहिगो।

आलि बलसालि को, सो काल्हि दाप दलि, कोपि
रोप्यो पाँउ, चपरि चमू को चाउ चाहिगो ।।
सोई रघुनाथ कपि साथ पाथनाथ बाँधि,
आए नाथ भागे तें खिरिरि खेह खाहिगो ।
तुलसी गरव तजि, मिलिबे को साज सजि,
देहि सीय नतो, पिय ! पाइमाल जाहिगो" ।।

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण महात्मा तुलसीदास की कवितावली "लंकाकाण्ड" से लिया गया है । इसमें मन्दोदरी अपने पति रावण को भगवान रामचन्द्र से मिलने को अर्थात् संधि के लिए मंत्रणा दे रही है ।

व्याख्या :—हे प्रियतम ! तुमने उस पवनसुत हनुमान को भी देख लिया; जो श्रीरामचन्द्र जी का दूत था और ऐसे सुन्दर लंका के गढ़ को ढकेल कर धराशायी कर दिया । उन्हीं का दूत बलशाली बाली का पुत्र अङ्गद भी कल आया था जो तुम्हारे सभी योद्धाओं का घमण्ड चूर्ण कर गया, उसके प्रण-पूर्वक रखे गए पग को तुम्हारी समस्त सेना न उठा सकी और साहस किया । वे ही रामचन्द्र जी बन्दरों सहित समुद्र पर पुल बाँध कर यहाँ आ गए हैं । अब भागने से धूल ही खानी होगी अर्थात् भागना व्यर्थ होगा । अतः हे स्वामी ! घमंड छोड़ो और संधि की तैयारी करो । सीता को दे दो अन्यथा कुशल नहीं, नष्ट होओगे । सारांश यह कि रामचन्द्र से युद्ध करने में कुशल नहीं; हर संभव प्रकार से संधि की योजना बनानी चाहिए ।

१५. कह्यो मत मातुल विभीषणहु बार बार,
आँचर पसारि पिय पाइँ लै लै हौं परी ।
विदित बिदेहपुर नाथ ! भृगुनाथ गति,
समय सयानी कीन्हीं जैसी आइगौ परी ।।
वायस, विराध, खर, दूषण, कबंध बालि,
बैर रघुवीर के न पूरी काहु की परी ।
कंत बीस लोचन, बिलोकिए कुमंत फल,
ख्याल लंका लाई कपि रांड की सी झोपरी ।।

सागरसूराभः ।।

प्रसंग :—कवि तुलसी कृत कवितावली से यह अंश उद्धृत किया गया है। कवि ने इसमें राम का पराक्रम वर्णन करते हुए मंदोदरी के मुख से रावण को संधि करने के लिए कहलवाया है।

व्याख्या :—हे स्वामी! मामा मारीच और भाई विभीषण भी बराबर यही कहते रहे और मैं भी अंचल फैलाकर तथा पाँव पड़कर यही कहती थी। सभी जानते हैं कि परशुराम जी की कैसी गति मिथिलापुरी में हुई परन्तु उन्होंने भी समय देखकर कार्य किया और जैसे तैसे भी राम से मित्रता की। जयंत, विराध, खरदूषण, कबंध और वालि भी रामचन्द्र जी से वैर करके सुख लाभ नहीं कर सके। हे प्रियतम! अपनी इन बीस आँखों से अपनी कुमंत्रणा का फल देखो कि हनुमान ने बातों ही बातों में विधवा की झोंपड़ी जैसा इस लंका को जला दिया।

सारांश यह कि तुमने किसी के समझाने पर ध्यान नहीं दिया। फल यह हुआ कि लंका जल गई।

अलंकार :—छेकानुप्रास, अन्त्यानुप्रास तथा उपमा अलंकार।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—कवि ने प्रस्तुत पद में मंदोदरी द्वारा मंत्रणा दिला कर नारी का महत्व बढ़ा दिया है, साथ ही इसमें यह भी ज्ञात होता है कि नारियाँ कितनी डरपोक होती हैं।

१६. मत्त भट-मुकुट- दसकंध साहस सइल,
सृंग विद्दरनि जनु वज्र टांकी।
दसन धरि धरनि चिक्करत दिग्गज कमठ;
सेष संकुचित, संकित पिनाकी॥
चलित महि मेरु, उच्छलित सायर सकल,
विकल विधि वधिर दिसि विदिस झांकी।
रजनीचर-घरनि घर गर्भ अर्भक स्रवत,
सुनत हनुमान की 'हाँक' बाँकी॥

प्रसंग :—प्रस्तुत पद तुलसीदास-कृत कवितावली से लिया गया है। इसमें कवि ने हनुमान के शौर्य और पराक्रम का अतिशयोक्ति के साथ वर्णन किया है।

व्याख्या :—महान् योद्धाओं के मुकुट तथा साहस में शैल समान रावण सभी पर्वत-शिखर को चूर्ण चूर्ण करने के लिए हनुमान भी वज्र की टाँकी के समान हुए। उनके हुँकार को सुनकर दिशाओं के हाथी पृथ्वी को दबाकर चिंघाड़ने लगे। कच्छप तथा शेषनाग संकोच में पड़ गए। भगवान् शंकर सशंकित होगए। पृथ्वी और पर्वत, जो अचल थे, जगमगा गए। समस्त समुद्रों का जल उछलने लगा। व्याकुल तथा बहरे होकर ब्रह्मा भी इधर उधर झाँकने लगे। राक्षसों के घरों में राक्षसियों का गर्भपात होने लगा।

सारांश यह है कि हनुमान की वीरतापूर्ण भयंकर हुँकार से सभी (चराचर) काँप उठे।

अलंकार :—रूपकालंकार, उत्प्रेक्षालंकार, अतिशयोक्ति, अन्त्यानुप्रास, छेकानुप्रास। इसमें शब्द-चित्रण पाया जाता है।

छंद :— झूलना छंद।

१७. ओझरी की झोरी काँधे, आँतनि की सेल्ही बाँधे, (सं २००३ व सं० २००६)
मूंड के कमंडलु, खपर किये कोरि कै।
जोगनि झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी सी,
तीर तीर बैठी सो समर सरि खोरि कै॥
सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोर घोरि घोरि कै।
तुलसी बैताल भूत साथ लिये भूतनाथ
हेरि हेरि हँसत हैं हाथ हाथ जोरि कै॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण गोस्वामी तुलसीदास-कृत कवितावली "लंकाकाण्ड" से लिया गया है। कवि ने इस अवतरण में युद्ध-भूमि का वीभत्स चित्रण किया है।

व्याख्या :— कवि ने रण-भूमि को नदी से उपमा देकर मानव-शरीर के लोथों को योगिनियों के व्यवहार का सामान बताया है। कवि कहता है:—कंधों पर आँतों वाले पेट भाग की थैली लटकाये हुए तथा आँतों

की पगड़ी बाँधकर, सिरों का कमंडल हाथ में लिए हुए तथा उन्ही सिरों को छीलकर खप्पर बनाए हुए योगिनियों एवं झुट्टगों के झुंड के के झुंड तपस्विनी वेष मे युद्ध-नदी में स्नान करके किनारे किनारे पर बैठे हुए हैं। जैसे सत्तू पानी से सान कर खाया जाता है, वैसे ही वे मांस पेशियों को लहू से सान-सानकर खा रहे हैं। कोई कोई प्रेत उसे घोल-घोल कर पी रहा है। तुलसीदास जी कहते है कि भूतों के स्वामी भगवान् शंकर अपने साथ वैताल, भूत आदि गणों को लिए हुए, एक दूसरे का हाथ पकड़कर, एक दूसरे को देखते हुए हँस रहे हैं।

सारांश यह कि राम-रावण युद्ध ने एक वीभत्स रूप धारण कर लिया है। रुधिर की धारा प्रवाहित हो चली है।

अलंकार :—वृत्त्यनुप्रास एवं अन्त्यानुप्रास अलंकार। उपमालंकार की प्रधानता तथा पूर्ण अवतरण एक तद्रूप परम्परित रूपक है। योगिनियों को तापस से तद्रूप किया गया है।

छन्द :—घनाक्षरी।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—कवि अपने वीभत्स चित्रण में सफल है। साथ ही इसके द्वारा कवि यह भी बतलाता है कि सत्तू कितने प्रकार से खाया जाता है—१—सानकर। २—घोलकर तथा इन्ही दोनों का आरोप योगिनियों के मांसादि खाने तथा लहू पीने में कर दिया है। शब्द-चित्रण इतना ठीक हुआ है कि अनायास ही हम कवि-कल्पना तक पहुँच जाते हैं।

अयोध्याकांड

आलोचना भाग

प्रश्न १ :—अयोध्याकाण्ड की कथा-वस्तु संक्षेप में लिखिये।

उत्तर :—अयोध्याकाण्ड, तुलसीदास कृत रामचरितमानस का एक विशेष अंग है। रामचरितमानस सात काण्डों में विभक्त है—१–बालकाण्ड, २–अयोध्याकाण्ड, ३–आरण्यकाण्ड, ४–किष्किन्धाकाण्ड, ५–सुन्दरकाण्ड, ६–लंकाकाण्ड ७–उत्तरकाण्ड। अयोध्याकाण्ड इसी रामचरितमानस का दूसरा काण्ड है। इसकी कथा-वस्तु निम्न प्रकार है :—

प्रथम तीन श्लोकों में शिव तथा राम की स्तुति, एक दोहे में गुरु-वन्दना तत्पश्चात् अयोध्या-वर्णन करके कवि अपनी मूल-कथा पर आता है। राजा दशरथ अपने पुरोहित श्री वशिष्ठ से राम के राज्याभिषेक की इच्छा प्रकट करते हैं। श्री वशिष्ठ जी की सम्मत्यनुसार नगर में अभिषेक की तैयारी होने लगती है। यह देख देवता लोग अप्रसन्न होते हैं और वीणापाणि सरस्वती से विघ्न डालने के लिए प्रार्थना करते हैं। सरस्वती देवी मंथरा की जिह्वा पर बैठ कर रानी कैकेयी की मति फेर कर उनको कोप भवन में भेजती है। राजा दशरथ मनाने जाते हैं। रानी कैकेयी अपने दो वरदान, जिन्हें दशरथ जी देने के लिए पहले प्रण कर चुके थे, माँगती है। दशरथ वचन दे देते हैं; अतः रामचन्द्र जी को १४ वर्ष वनवास तथा भरत को राजगद्दी का निर्णय हो जाता है परन्तु राजा इस वचन को देते ही शोक-मग्न तथा मूर्छित से हो जाते हैं। प्रातःकाल सुमन्त दशरथ के पास पहुँचते हैं; रामचन्द्र जी को बुलाया जाता है। राम और कैकेयी का वार्तालाप होता है। रामचन्द्र जी अपने को शोक-मग्न दशा में देख कर, माता कौशल्या से आज्ञा ले कर वन के लिये तापस-वेष के वस्त्रादि पहनते हैं। यह सुन कर सीता अपने

पतिव्रत-धर्म के नियामानुसार राम के सभी तर्कों को विफल कर देती हैं। अन्ततः राम सीता को चलने की आज्ञा दे देते हैं।

जब सीता वन-गमन की तैयारी करने लगती है तब तक अगाध भ्रातृ-प्रेमी लक्ष्मण राम के पास आता है और हठ पूर्वक चलने की आज्ञा ले लेता है। तत्पश्चात् लक्ष्मण जी माता सुमित्रा के पास जाते हैं। सुमित्रा सहर्ष लक्ष्मण को राम के साथ जाने की आज्ञा दे देती हैं।

इस प्रकार माता कौशल्या धैर्य-धारण करके तीनों को वन जाते समय आशीर्वाद देती है और शोक में विलाप करने लगती है। सुमन्त माताओं की आज्ञा के पश्चात् दशरथ से भी आज्ञा माँगने जाते हैं। दशरथ सुमन्त से सीता को लौटा लाने की इच्छा प्रकट करते हैं। अन्त में राम, सीता और लक्ष्मण को लेकर सुमन्त वन-गमन कर देते हैं; राम के साथ-साथ पुरवासी भी वन को जाते हैं। रास्ते में चल कर सभी रात्रि को विश्राम करते हैं; अतः श्री रामचन्द्र, सीता तथा लक्ष्मण को लेकर चल पड़ते हैं तथा पुरवासियों को सोता छोड़ देते हैं। पुरवासी उठने पर पश्चात्ताप करते हुए घर को लौट आते हैं। रामचन्द्र जी प्रिया तथा अनुज सहित गंगा तट पर पहुँचते हैं। वहाँ निषादराज से भेंट होती है। उसका आतिथ्य स्वीकार करके श्री रामचन्द्र जी प्रातःकाल गंगा पार होते हैं। वहाँ से सुमन्त शोक-मग्न अयोध्या लौट आते हैं। रामचन्द्र जी प्रयाग पहुँच कर भारद्वाज मुनि के आश्रम पर उनका आतिथ्य स्वीकार करते हैं।

मुनि जी के चार ब्रह्मचारी रामचन्द्र जी के साथ पथ बताने के लिए जमुना तट तक आते हैं। यहाँ एक तपस्वी से भेंट होती है, वह राम के साथ हो जाता है। रामचन्द्र जी निषाद को बिदा कर देते हैं। वन-मार्ग से चलते हुए रामचन्द्र जी वाल्मीकि जी के आश्रम तक आते हैं। आश्रम पर सत्संग के पश्चात् रामचन्द्र जी बाल्मीकि जी से अपने निवास स्थान के लिए पूछते हैं। बाल्मीकि जी इस प्रश्न पर गद्गद् होकर भक्ति विषयक बात छेड़ देते हैं। अन्त में भगवान राम को चित्रकूट पर निवास करने के लिए प्रार्थना करते हैं।

भगवान राम चित्रकूट में पर्णकुटी बना कर अनुज तथा प्रिया सहित निवास करने लगते हैं। वनवासी भगवान का आतिथ्य करते हैं। इस प्रकार राम के कुटुम्ब की वनवासियों से घनिष्ठता हो जाती है। रामचन्द्र जी वन में भी राज्य-सुख भोगने लगते हैं।

इधर अयोध्या में सुमन्त लौट कर आते हैं और दशरथ जी से सीता का सन्देश सुनाते हैं। दशरथ जी विलाप करते हुए गो-लोकवासी होते हैं। दशरथ के मरते ही अयोध्या में कोहराम मच जाता है, राजपरिवार तथा समस्त प्रजा शोक-मग्न हो जाती है। वशिष्ठ जी सब को समझाते हैं। भरत और शत्रुघ्न को ननिहाल से बुलाया जाता है। कैकेयी भरत को प्रसन्न हो कर उनके राजतिलक का शुभ संवाद सुनाती हैं। भरत इस पर बहुत दुःखित होते हैं तथा मंथरा व माता को बुरा भला कहते हुए कौशल्या से अपनी निर्दोषता प्रकट करते हैं। तत्पश्चात् दशरथ जी की अन्त्येष्टि क्रिया होती है और एक सभा करके राज्य के सभी प्रतिष्ठित व्यक्ति भरत को राजगद्दी ले लेने के लिये प्रार्थना करते हैं परन्तु भरत इस प्रस्ताव को ठुकरा कर दूसरे ही दिन राजगुरु तथा माताओं एवं पुरजनों को लेकर रामचन्द्र जी को लौटाने के लिए प्रस्थान कर देते हैं। रास्ते में तमसा गोमती, साई आदि नदियों को पार करते हुए भरत जी शृङ्गवेरपुर पहुँचते हैं। जब निषाद भरत को इतने व्यक्तियों को साथ लिए आता देखता है तो उसे शंका हो जाती है कि भरत जी राम से युद्ध करने जा रहे हैं परन्तु वास्तविकता का पता पाकर प्रेम के मारे गद्गद् हो जाता है भरत निषाद को लिए भारद्वाज जी के आश्रम तक पहुँचते हैं। तत्पश्चात् भरत जी अपने सभी पुरवासियों एवं माताओं तथा गुरुजनों सहित चित्रकूट को चल देते हैं। उड़ती हुई धूल और सेना के समान इतने अधिक व्यक्तियों को साथ लिए भरत को आता देख कर लक्ष्मण क्रोधित हो उठते हैं परन्तु राम उन्हें समझा कर शान्त कर देते हैं। दोनों भाई भरत और राम गले मिलते हैं; आनन्द और करुणा का सिन्धु उमड़ पड़ता है। भरत जी राम से लौट चलने का आग्रह करते हैं। राम अनेक प्रकार से भरत को समझाते हैं। कैकेयी रो पड़ती है

सागरसूरामः ॥

तथा ग्लानि से गला भर आता है। परन्तु राम सभी को समझा-बुझा कर अयोध्या लौटा देते हैं। भरत जी पादुका (खड़ाऊँ) लेकर राजधानी लौट आते हैं और उसे गद्दी पर रख कर स्वयं राम के विरह में शोकाकुल हो तपस्या में लग जाते हैं और नन्दीग्राम में पर्णकुटीर बना कर रहने लगते हैं। सभी उनकी सराहना करते हैं। अन्ततः—

भरत चरित करि नेम तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय-राम-पद-प्रेम अवसि होइ भव-रस-विरति॥

कहते कवि अयोध्याकाण्ड को करुणा में डुबाकर समाप्त कर देता है।

प्रश्न २ :—अयोध्याकाण्ड का 'मानस' में क्या स्थान है ? युक्ति-युक्त उत्तर दीजिए।

उत्तर :—अयोध्याकाण्ड का स्थान 'मानस' में संजीवनी के समान है। इसके बिना मानस निष्प्राण है; निर्जीव है, मूल्य-रहित है। यदि हम रामायण के सातों काण्डों में से अयोध्या को पृथक् कर दें, तो मानस का रूप एक कंकाल सा हो जाता है।

वास्तव में रामचरित मानस एक भूमि-क्षेत्र के समान है; जिसके बालकाण्ड में कवि उसे बीज डालने योग्य बनाता है, जोतता है तथा खेत के बड़े-बड़े रोड़ों को फोड़ फोड़ कर समतल बनाता है, जोतता है। अयोध्याकाण्ड में कवि बीज वपन करता है, जो उसके लिए एक महत्व-पूर्ण दिवस है। आरण्यकाण्ड में बीज का पौदा बढ़ता है और किष्किन्धाकाण्ड में मित्रता रूपी जल से सींच कर हरा भरा कर देता है। सुन्दरकाण्ड में अपनी खेती का सौन्दर्य एवं यौवन देखकर फूल उठता है। लंकाकाण्ड में अपनी खेती को सूर्य की धूप में पकाकर खलिहान में ले आता है। अन्त में प्रसन्नतापूर्वक खलिहान से अनन्त प्रेम रूपी अनाज-राशि घर लाकर रख देता है।

दूसरे शब्दों में यदि हम रामचरित मानस की वस्तु पर एक विहंगम दृष्टि डालें तो ज्ञात होता है कि अयोध्याकाण्ड ही समस्त कथावस्तु का मूल है और उसमें भी मूल वस्तु कैकेयी का वरदान मांगना है, यदि

कैकेयी वरदान न मांगती तो इतने बड़े महत्वपूर्ण मानस की रचना वहीं रामाभिषेक में ही समाप्त हो जाती।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से तो अयोध्याकाण्ड एक कसौटी जैसा महत्व रखता है। यही वह स्थल है, जहाँ हम राम, भरत, लक्ष्मण तथा समस्त राजपरिवार के चरित्र का निर्णय कर सकते हैं। अयोध्याकाण्ड ही वह स्थल है, जिसने राम को राम और भरत को भरत बना दिया है। राम की महत्ता मानवरूप में, अयोध्याकाण्ड को छोड़कर अन्यत्र भली प्रकार प्रस्फुरित नहीं हुई है। सभी अपनी स्त्री की रक्षार्थ शत्रु से लड़ते हैं, अपनी प्रिया के विरह में रोते हैं; यदि राम ने भी ऐसा किया तो कौन-सी विशेषता हुई? विशेषता तो अयोध्याकाण्ड में है, जहाँ राम के सामने दो प्रश्न हैं १—राज-भोग २—कण्टकाकीर्ण वन-पथ; तापस-वेष और अधिक उदार जीवन। यहीं पर राम के रामत्व की परख होती है। दूसरी ओर भ्रातृ-प्रेम का निर्णय भी यही काण्ड करता है; स्त्री की परख यहाँ होती है; सौतेली माँ—सुमित्रा और कैकेयी के स्वभाव का अन्तर यहाँ ज्ञात होता है, भरत की भव्य भावनाओं का कटु-परीक्षण यहाँ होता है। सारांश यह कि एक साधारण दासी से लेकर समस्त पुर-जन एवं राजा, गुरु इत्यादि सबके प्रेम का संतुलन इस काण्ड के तराजू पर हुआ है। अन्य किसी काण्ड में ऐसी महानता नहीं।

अतः चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इसका मानस में सर्वोच्च स्थान है।

कवि की कुशलता मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों में ही ज्ञात होती है; इसी में उसकी सूक्ष्मतम पर्यवेक्षण शक्ति का आभास मिलता है। इस दृष्टि से तो अयोध्याकाण्ड, रामायण ही क्या, समस्त हिन्दी-साहित्य में अग्रगण्य है। यों तो यह पूर्ण काण्ड ही मनोविज्ञान का विषय है परन्तु सूक्ष्मतम मनोविज्ञान मंथरा और कैकेयी के वार्तालाप में प्रच्छन्न है। जब मंथरा कैकेयी के सामने उच्छ्वास लेती हुई बिना कुछ कहे हुए खड़ी हो जाती है और बार बार पूछने पर भी उत्तर नहीं देती, उस समय का मनोवैज्ञानिक तत्व समझने योग्य है। पुनः वह दशरथ की

सागरसूरिभः ॥

कपट-चतुराई कह कर कैकेयी को उल्टी पट्टी पढ़ाती है परन्तु कैकेयी एक आदर्श नारी थी; उन्होंने क्रोधित होकर झट कहा :—

पुनि अस कवहुँ कहसि घर फोरी, तव धरि जीभ कढ़ावऊँ तोरी ॥

कितना चारित्रिक सत्य है। माता कैकेयी राम के प्रेम में विभोर हो उठती है संथरा इस पर दव जाती है और "कोउ नृप होइ, हमें का हानी" कह कर मुँह फेर लेती है पुनः समय पाकर कान भरना प्रारम्भ कर देती है। यहाँ का विषय अति गम्भीर है। किस प्रकार एक आदर्श महिला, वार-वार कान भरने से विषवती हो सकती है; यह वस्तु हमें यहाँ देखने को मिलती है। कैकेयी के मन में धीरे-धीरे वुरे विचार आने लगते हैं। अतः कह देती है :—

सुन मंथरा वात फुरि तोरी। दाहिनि आँख फरकत नित मोरी ॥

वस यहाँ तो मनोविज्ञान की पर्यवेक्षण शक्ति शत-प्रतिशत ठीक उतर आई है। ऐसा अन्यत्र समस्त हिन्दी-साहित्य में नहीं।

सारांश यह कि अयोध्याकाण्ड रामायण का हृदय भाग है; इसके पद जीवन की व्याख्या करते हैं।

अस्तु मानस में अयोध्याकाण्ड हमारे दैनिक जीवन के दृष्टिकोण से अद्वितीय स्थान रखता है। कोई अन्य काण्ड इस विषय में इसकी समता नहीं कर सकता।

प्रश्न ३ :—अयोध्याकांड के आधार पर निम्नांकित चरित्र-चित्रण कीजिए : —

१—भरत २—कैकेयी ३—राम ४—दशरथ ५—सीता ६—लक्ष्मण ७—सुमित्रा।

उत्तर :—भरत :—राम-चरित मानस में यदि किसी का उच्चतम चरित्र है तो वह भरत का है। भरत के चरित्र के आगे राम का चरित्र भी निर्बल है। राम आगे चलकर बालि-वध इत्यादि में कपट आदि का कालुष्य लगाकर अपने चरित्र को निर्मल नहीं रख सके हैं परन्तु भरत का चरित्र मानस के प्रत्येक कांड में क्रमशः उज्ज्वल होता गया है।

लक्ष्मण क्रोधी है, शत्रुघ्न की कोई विशेषता नही। इस प्रकार भरत के प्रभाती चरित्र किरणों के आगे अन्य समस्त पात्रों का चरित्र मंद है।

अयोध्याकांड के आधर पर भरत के चरित्र की निम्नांकित विशेषताएँ हैं :—

१—भरत भ्रातृ-प्रेमी हैं, भाई के प्रेम से अपना सर्वस्व त्याग कर देते हैं।

२—भरत न्याय पक्षपाती हैं; समय पाकर अन्याय से लाभ उठाना उनके चरित्र की बात नहीं। वे राज्य पर राम का न्याय-संगत अधिकार समझ कर अपनी मिली हुई राज-गद्दी छोड़ देते हैं।

३—भरत एक महान् त्यागी हैं। राम और लक्ष्मण जंगल में भी मंगल करते थे; वनवासी उनका आतिथ्य करते थे परन्तु भरत ने राजधानी के निकट रहते हुए भी सच्ची तपस्या की। अतः महत्ता भरत की है, न कि राम और लक्ष्मण की। वन में रहकर सभी वनवासी का जीवन बिता सकते हैं परन्तु अधिकार-सत्ता रहते हुए भी विरक्त हो जाना विशेषता रखता है।

४—औचित्य और मर्यादा तथा आदर्श के आगे राज-भोग तुच्छ समझते हैं। वे कभी भी माता की आज्ञा के आड़ में छिप कर शिकार करना नहीं चाहते।

५—भरत के ऊपर मातृ-आज्ञोल्लंघन-दोष लगाया जा सकता है परन्तु अड़चन यह है माता जब पुनः भरत की बात मान कर राम को लौटाने जाती है तो आज्ञोल्लंघन का प्रश्न ही नहीं उठता। यह प्रश्न तो तब उठता, जब कैकयी भरत के आज्ञोल्लंघन पर असन्तुष्ट हो जातीं।

६—भरत, वीर, धर्म-वीर, शीलवान एवं ऐसे निर्दोष व्यक्ति हैं, जो अपनी निर्दोपता ही के कारण १४ वर्ष के कठिन त्याग—कोल्हू में पीसे जाते हैं।

७—तुलसीदास स्वयं भी भरत के चरित्र को सर्वोच्च मानते हैं। यथा :—

सागरसूरामः ।।

लखन राम सिय कानन वसहीं।
भरत भवन वसि तप तनु कसहीं ॥
चोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू।
सवविधि भरत सराहन जोगू ॥

कैकेयी :—(अ) एक आदर्श भारतीय नारी है; जो सब प्रकार अपने पति को अपनी सेवाओं से प्रसन्न रखती है।

(ब) वह घर-फूट-विज्ञान भली प्रकार जानती है; जब मंथरा घर-फोड़ने की बात चलाती है तो कैकयी प्रकट कर कहती है।

"पुनि अस कहसि कबहुँ घर-फोरी। तव धरि जीभ कढावऊँ तोरी ॥"

अर्थात् यदि तुमने पुनः ऐसी घर-फूट की बातें कहीं तो तुम्हारी जीभ खिचवा लूँगी।

अहा ! ऐसी चरित्र-बल वाली भारतीय नारी का नित्य-स्मरण करना चाहिए।

(स) कैकेयी के दृष्टिकोण से भरत और राम दोनों एक-से हैं परन्तु मानव स्वभाव में एक दुर्बलता होती है जिसे स्वीकार करना ही पड़ेगा। कितना भी चरित्र-बलवाला क्यों न हो; यदि उसके कान भरे जायँ तो वह बिगड़ सकता है। यही दशा हम कैकेयी में पाते हैं। हम देख चुके है कि यह एक आदर्श रानी है जो राम-तिलक न्याय-संगत समझकर प्रसन्न है। फूट डालने वाली मंथरा की जीभ निकलवाने तक को तैयार है तथापि निरन्तर कान भरने से विधि-वश उसकी भी मति भ्रष्ट हो गई और पाषाण-हृदय होकर राम को बनवास कराया तथा पति-वियोग में दुखित नहीं हुई।

(द) साँप का काटा व्यक्ति जीवित हो सकता है परन्तु कान भरने के विष से जीवित नहीं हो सकता। इसका सत्य-चित्रण हम कैकेयी में पाते हैं।

(भ) कैकेयी, उर्वरा मस्तिष्क की है। जब भरत उसे समझाते हुए धिक्कारते है तो उसकी आँख खुल जाती है और पंचवटी तक राम को बुलाने के लिए आती है।

(क) पंचवटी में कैकेयी का चरित्र झलक उठा है, जब वह ग्लानि और आँसुओं से डबडबाई आँखों द्वारा भर्रा उठती है और राम को घर चलने के लिए अनुनय करती है।

राम :—तुलसी के उपास्य देव हैं। उनकी निम्नांकित विशेषताएँ हैं :—

१—माता-पिता की आज्ञा मानने वाले हैं। पिता की आज्ञा मानकर वन के दुःसह दुःख को स्वीकार करते हैं।

२—शांत स्वभाव के हैं, कभी क्रोधित नहीं होते। जब लक्ष्मण भरत कोससैन्य आते देख क्रोधित होते हैं तो राम उन्हें समझाकर शांत कर देते हैं।

३—राम का चरित्र भौतिक नहीं; अपितु बहुत कुछ आध्यात्मिक धरातल पर उठा हुआ है। उन्हे सभी ऋषि मुनि भगवान और अन्तर्यामी कहकर सम्बोधित करते हैं।

४—राम करुणाशील हैं; अपने पिता की दुःखित अवस्था देखकर पिंघल जाते हैं।

५—न्याय की वेदी पर सुखों को तिलांजलि दे देना, राम के चरित्र की विशेषता है।

६—राम के लिए हर्ष, शोक, दुःख-सुख सभी समान हैं। वे न तो अभिषेक सुन कर प्रसन्न हुए और न बनवास सुन कर दुःखित। सम रस से।

इसके अतिरिक्त राम के चरित्र मे प्रायः सभी आदर्श चरित्रों का समावेश है। राम एक आदर्श पति हैं; बनवास को जाते समय भी सीता को साथ ले जाना नहीं चाहते क्योंकि वन में अत्यधिक कष्ट, प्राण तक का भय रहता है; परन्तु पत्नी के साहस को देखकर प्रसन्न मन से साथ ले जाते हैं।

दशरथ :—एक महान प्रतिज्ञा-पालक राजा के रूप में अवतरित हुए हैं। जहाँ तक अयोध्या-काण्ड से सम्बन्ध है, दशरथ अपने प्राणों की

सागरसूरामः ।।

वलि देकर भी अपना वचन पूरा करते हैं। यही उनके चरित्र की मुख्यता है। इसके अतिरिक्त :—

१—धर्म-परायण व्यक्ति हैं। गुरु से आज्ञा लेकर विधिवत् राम के राज्याभिषेक की तैयारी करते हैं।

२—नीतिज्ञ व्यक्ति हैं। केवल अपने मन से ही राम को राज्याधिकारी नहीं वनाते अपितु समस्त जनता की भावना को लेकर राम को राज्य देकर जन्म धन्य करना चाहते हैं ; यथा :—

सवके उर अभिलाप अस, कहहिं मनाइ महेस।
आपु अछत युवराज परद, रामहिं देउ नरेश॥

३—राम को हृदय से प्यार करते हैं, उनके वन चले जाने पर उनकी (दशरथ की) मृत्यु इसका प्रमाण है :—

जियन राम-विधु-वदन निहारा। राम विरह करि मरनु संवारा॥

४—दशरथ को अपने चरित्र पर विश्वास था; वे कभी भी यह नहीं सोच सके कि रामाभिषेक में कितनी प्रकार की कठिनाइयाँ आ सकती हैं; अथवा कोई उन्हें लाँछित कर सकता है।

५—कैकेयी के प्रति विशेषानुरागी थे ; वे जानते थे कि जो कुछ मैं करता हूँ; कैकेयी भी उससे प्रसन्न है। इसी प्रसन्नता में कैकेयी से रामाभिषेक की वात तक नहीं कह सके।

सीता :—आदर्श पतिव्रता स्त्री हैं। राम को वनवास होते समय, सव से प्रथम अपने पति राम के पास पहुँच कर साथ चलने की आज्ञा मागती हैं। राम उन्हें वन के कष्टों को सुनाकर घर पर रखना चाहते हैं परन्तु सीता में दूरदर्शिता है; वे जानती हैं कि पति से पृथक् रहकर पति-व्रत धर्म का पालन कठिन है। अतः अपने इस अटल सिद्धान्त से राम के सभी विवादों का उत्तर दे देती हैं। "मैं सुकुमारि नाथ वन जोगू" वाली उक्ति तो राम को निरुत्तर ही कर देती है। सीता का पति में अगाध प्रेम है। केवट को उतराई (खेवा) देने के लिये सोच-विवश राम को सीता अपनी अंगूठी निकाल कर देती हैं। यथा :—

केवट उतरि दंडवत् कीन्हा। प्रभुहिं सकुच एहि कुछ नहिं दीन्हा ॥
पिय हिय की सिय जाननहारी। मनिमुंदरी मन मुदित उतारि ॥

सीता में कितनी भावुकता है! कितना प्रेम है!! इसे गंगा की स्तुति में देखिये :—

सिय सुरसरिहिं कहेउ कर जोरी। मातु मनोरथ पुरवउ मोरी ॥
पति देवर संग कुशल बहोरी। आउ करों जेहि पूजा तोरी ॥

लक्ष्मण :—राम के परम भक्त हैं। राम-वनवास सुनते ही शोक-मग्न हो जाते हैं। कभी भुजा फड़क उठती है कि सभी का वध करके राम का अभिषेक पूरा करावे परन्तु स्थिति को विचार चुप रह जाते हैं और दौड़ते हुए प्रभु के पास पहुँच कर चरणों में गिर पड़ते हैं। मुँह से कुछ कहते नही बनता। रामचन्द्र जी वन न चलने लिए के समझाते हैं; परन्तु लक्ष्मण बार बार यही कहते हैं :—

जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ॥
मोरे सबइ एक तुम स्वामी। दीनबंधु उर अन्तरजामी ॥

अन्ततः राम के साथ वन जाते हैं। राम जितने ही शान्त हैं उतने ही लक्ष्मण क्रोधी। राम सुमंत से बार बार उनके लिए क्षमा मांगते हैं कि लक्ष्मण के कठोर वचनों पर ध्यान न दिया जाय। भरत जिस समय राम से मिलने आते हैं, लक्ष्मण यह समझकर क्रुद्ध हो जाते हैं कि भरत राम पर सेना सहित चढ़ाई करने आ रहे हैं।

सुमित्रा :—वास्तव में सुमित्रा का चरित्र सराहनीय है। ऐसी माताएँ इस विश्व में बहुत कम है, जो सौतेले पुत्र के सुखार्थ अपने लाड़ले का सुख बलिदान कर। सुमित्रा भारत की वह दीप्तिमती जननी है जो अपने पुत्र को निम्न प्रकार उपदेश देती है :—

तातु तुम्हारि मातु वैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही।

× × × × ×

राम प्रान पिय जीवन जीके। स्वारथ रहित सखा सब हीके ॥
अस जिय जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू ॥

ऐसा कहते हुए अपने को धन्य मानती है :—

पुत्रवती युवती जग सोई। रघुपति भगति जासु सुत होई ।।

प्रश्न ४ :—अयोध्याकाण्ड के आधार पर तुलसीदास के आध्यात्मिक विचारों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर :—कवि तुलसीदास की आध्यात्मिक विचार-धारा का आभास हमें अयोध्याकाण्ड के प्रारम्भ में ही हो जाता है। कवि के रघुवर (रामचन्द्र) जी को चारों फलों का दाता कहा है। समष्टि में इसका अर्थ यह है कि जो विश्व का पति एवं निराकार ब्रह्म है; वही राम-रूप में सगुण है। परन्तु इसके भी पूर्व वह भगवान शंकर को वन्दना करता है जिससे ज्ञात होता है कि तुलसी राम की भक्ति पाने के लिए शंकर जी की कृपा चाहता है क्योंकि उसे विश्वास है कि भगवान शंकर उस ब्रह्म (राम) के परम भक्त हैं। दूसरे शब्दों में हम इसे तुलसी की चाटुकारिता भी कह सकते हैं जो अपनी सिफारिश के लिए शंकर के पास जाते हैं। कुछ भी हो; तुलसी हृदय से एक दीन भक्त है "वरनऊँ रघुवर विमल यश, जो दायक फल चारि" से इस काण्ड का प्रारम्भ करते हैं।

राम क्या हैं ? यह बात तुलसीदास भरद्वाज तथा बाल्मीकी ऋषि से कहलाए हैं।

मुनि मन विहँसि राम सन कहहीं, सुगम सकल मग तुम कहँ अहई ।।

(भरद्वाज)

राम सरूप तुम्हार वचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार। नेति नेति नित निगम कह ।।

(बाल्मीकि)

अर्थात् हे राम ! तुम्हारा स्वरूप वचन और बुद्धि से परे है। तुम अविगत हो। तुम्हें ही वेद "नेति नेति" कह कर पुकारते हैं।

इसी में हमें राम विषयक उत्तर मिल जाते हैं। और देखिये :—

जग पेखन तुम देखनहारे। विधि-हर-शंभु नचावन हारे ।।
चिदानन्दमय देह तुम्हारी। विगत विचार जान अधिकारी ।।

नर तनु धरेउ संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥

तुलसी के राम "संत-सुर-काज के लिए नर तनु" धरते हैं।

तुलसी की भक्ति-भावना :—तुलसी सगुणवादी हैं, अतः भक्त हैं, योगी नहीं। उन्हें ज्ञान-मार्ग सुलभ नहीं दिखाई देता। उनके दृष्टि-कोण से प्रभु का निवास भक्ति के प्रत्येक अंग में है; यथा :—

१. जिन्ह के स्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
अर्थात् कथा-श्रवण प्रभु-भक्ति की प्रथम सीढ़ी है।

२. लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस-जलधर अभिलाषे॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप विन्दु जल होहिं सुखारी॥
अर्थात् जो प्रभु-दर्शन की प्रबल आकांक्षा रखता है; उसे प्रभु दर्शन देते हैं। अतः प्रभु-दर्शनाकांक्षा भक्ति का एक अंग है।

३. जस तुम्हार मानस विमल हँसनि जीहा जासु।
मुकुताहल गुन गन चुनइ, राम बसहु मन तासु॥
अर्थात् यश-कीर्तन में प्रभु बसते हैं।

४. तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषण धरहीं।
अर्थात् भक्ति।

५. सीस नवहिं सुर-गुरु-द्विज देखी।
अर्थात् बड़ों की सेवा।

६. काम कोह मद मान न मोहा।
अर्थात् माया से निर्लिप्त रहना।

७. दुख सुख सरिस प्रसंसा कारी।
अर्थात् समत्व बुद्धि होना।

८. तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसर नाहीं।
अर्थात् प्रभुमय संसार को देखना।

९. जे हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर विपति विशेखी॥
अर्थात् लोक-संग्रह भाव।

१०. जननी सम जानहिं पर नारी।

सागरसूरामः ॥

११. गुण तुम्हार समुझई निज दोषा।

अर्थात् स्वदोषानुभूति।

१२. सब तजि तुम्हाह रहहिं लौ लाई।

अर्थात् विरक्त भाव।

१३. सरगु नरकु अपवरगु समाना। जहँ तहँ देखि धरे धनुवाना॥

अर्थात् प्रभु में तन्मयता।

१४. जाहि न चाहियँ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहस सनेहु।

अर्थात् शुद्ध तथा स्वार्थ-रहित प्रेम।

इस प्रकार कवि वाल्मीकि के मुँह से चौदह स्थानों पर प्रभु के निवास के लिये कहलवाया है अर्थात् ये ही चौदह भक्ति के अंग हैं; इनसे प्रभु प्रसन्न होते हैं।

तुलसी की माया :—सीता आदि शक्ति हैं तथा माया और मूल प्रकृति हैं जिससे जगत की स्थिति, उद्भव और संसार होता है। यथा :—

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह, जगदीश माया जानकी।

सांसारिक वस्तुएँ मिथ्या हैं; माया-जनित हैं। यथा :—

सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाक पति होई।
जागे हानि न लाभ कछु, अस प्रपंच जिय जोई॥

प्रश्न ५ :—अयोध्याकाण्ड में कौन सा रस प्रधान है? रस की दृष्टि से आलोचना करते हुए अन्य गौण रसों का भी दिग्दर्शन कराइये।

उत्तर:—अयोध्याकाण्ड में करुण-रस की प्रधानता है। इसका शोक स्थायी भाव प्राय: सर्वत्र है। दशरथ की मृत्यु आलम्बन होकर और भी निखर उठी है। अनुभावों में सिसकियाँ भरना और रोना इत्यादि पूर्ण-रूप से वर्तमान है। संचारीभावों में ग्लानि, चिन्ता, स्मृति आदि सर्वदा रस को परिपक्व बनाती रहती हैं। वर्णनों में दशरथ की दशा, राम का दशरथ तथा माता कौशल्या के पास जाना एवं सुमन्त का नराश्यपूर्ण समाचार सुनाना आदि करुण-रस के मर्मभेदी प्रवाहों से भरा पड़ा

है। कौशल्या और भरत-मिलाप में तुलसी का हृदय फूट-फूट कर रो पड़ा है।

वीर, वीभत्स तथा शान्त रस के भी स्थल इस कांड में आए हैं। निषाद तथा लक्ष्मण का भरत को ससैन्य आक्रमणकारी रूप में सोचना वीर रस की सृष्टि करना है। मंथरा द्वारा सुझाये गए रामराज्य के भयंकर परिणाम से कांपती हुई द्रौपदी का चित्र भय-रस का सम्पादन करता है। भरत का कैकेयी को डाँटना "वर माँगत मुँह भई नहि पीरा, गिरी न जीह मुँह परेउ न कीरा" वीभत्स की सृष्टि करता है। इस प्रकार इस काण्ड में करुण रस प्रधान तथा वीर, वीभत्स, शान्त तथा भयानक आदि रस गौण हैं।

प्रश्न ६ :— काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से अयोध्याकाण्ड की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए अथवा अयोध्याकाण्ड का कलात्मक परिचय दीजिए।

उत्तर :— अयोध्याकाण्ड में मनोविज्ञान, स्वभाव,-भाव घटना तथा कार्य-व्यापार का जैसा चित्रण हुआ है; हिन्दी-साहित्य में ऐसे स्थल इने गिने ही हैं। इन चित्रणों के साथ कल्पना एवं अलंकार का बड़ा ही सुष्ठु प्रयोग हुआ है। इस प्रकार कवि की पर्यवेक्षण-शक्ति की हमे पता चलता है।

उदाहरणार्थ :—

१. कार्य-व्यापार-चित्रण :—

सरुष समीप दीखि कैकेयी। मानहुँ मोचु धरी गति लेई॥

× × × × ×

उठि कर जोरि रजायसु मांगा। मनहु वीर रस सोवत जागा॥

२. भाव चित्रण :—

रोउ कर कूल कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी वचन प्रचारा॥
ढाहत भूप रूप तरु मूला। चली विपति वारिधि अनुकला॥

सागरसूरामः ॥

३. घटना चित्रण :—

नगर सकल बनु गहवर भारी। खग-मृग विकल सकल नर नारी॥
विधि कैकेयी निराततिनि कीन्हीं। जेहि दव दुसह दसहुँ दिस दीन्हीं॥
सहि न सके रघुवर विरहागी। चले लोग सब व्याकुल भागी॥

४. स्वभाव-चित्रण :—

सहज सरल रघुवर वचन, कुमति कुटिल कर जान।
चलइ जौंक जल वक्र गति, जधपि सलिल समान॥

उपरोक्त चित्रणों में कमशः वस्तूत्प्रेक्षा, सांग-रूपक, रूपक तथा उदाहरण अलंकार आए हैं; जो काव्य-सौंदर्य बढ़ाने में अत्यधिक सहायक हुए हैं। सीता की "हौं सुकुमारि नाथ बन जोगू" बड़ी ही विचित्र एवं मार्मिक उक्ति हो गई है।

कवि की अपनी वर्णन-शक्ति निराली है। वह जो कुछ कहता है, एक प्रकार का चित्र सा उपस्थित होता जाता है। ऐसे स्थलों की कमी अयोध्याकाण्ड में नही। राम और सीता को वन की भयंकरता-वर्णन का स्थल देखिये :—

५. चित्र-चित्रण :—

कानन कठिन भयंकर भारी। घोर घाम हिम वारि बयारी॥

इनकी ध्वनि से ही चित्र उपस्थित हो जाता है।

६. निरीक्षण-शक्ति :—कवि की निरीक्षण-शक्ति भी इस काण्ड में सजीव सी हो उठी है—

लखन दीख मय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा॥
नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साजउ नाना॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि अयोध्याकाण्ड सुन्दर सुष्ठु अलंकारों, चित्र-चित्रणों तथा शब्दचित्रों से भरा पड़ा है! कवि की पर्यवेक्षण-शक्ति ने कला के साथ मिलकर अपनी उत्तमता का परिचय दिया है।

प्रश्न ७ :—तुलसी की कवितावली के अयोध्या-कांड एवं मानस के अयोध्या-कांड की तुलनात्मक आलोचना कीजिए।

उत्तर :—यद्यपि दोनों ग्रन्थ कवितावली तथा रामचरित मानस तुलसी ही के द्वारा रचे गए हैं तथापि इन दोनों में बड़ा अन्तर है। कवितावली का अयोध्या-कांड केवल २८ छन्दों ही में समाप्त हो गया है। उसमें कैकेयी-मंथरा-संवाद तथा राम के वनवास आदि का कारण कुछ भी नहीं है। राम अयोध्याकांड में हमें पहले ही "बटाऊ की नाईं" वन-पथ पर चलते मिल जाते हैं। जिससे हमारी जिज्ञासा-प्रवृत्ति पर ठेस पहुँचती है। दूसरी ओर 'मानस' के अयोध्या-कांड में बड़े ही गठन के साथ धीरे-धीरे कथा वस्तु आगे वढ़ती है। हम उसके पात्रों के साथ तादात्म्य का अनुभव करने लगते हैं। उनके रोने में हम रो पड़ते हैं और वार्तालाप में वात-चीत। काव्य की यह सरल एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति कवितावली में नहीं। कवितावली एक स्फुट काव्य है; उसमें धारा-प्रवाह नही है। पुनरपि च कवितावली के एक एक पद डंके की चोट करते हैं; उनमें अधिक शक्ति है। स्फुट छन्द होते हुए भी विखरे हुए हीरे की भाँति हैं परन्तु यह बात 'मानस' के अयोध्या-कांड में नहीं। हमें अयोध्या कांड सें पेट भरने को रोटी ही मिलती है, चमकपूर्ण मोती का दर्शन तो कवितावली ही में होता है। परन्तु दोनों की अपने-अपने स्थान पर विशिष्टता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति मोती गले में पहन कर जीवित नहीं रह सकता; उसे रोटी की आवश्यकता पड़ती ही है; उसी प्रकार केवल कवितावली बहुमूल्य हार को पहन लेने मात्र से ही हमें संतोष नहीं होता। संतोष तो 'मानस' के अयोध्या-कांड में ही होता है। निम्नांकित एक भाव को व्यक्त करने वाले दो पदों में इसका अन्तर स्पष्ट हो जायगा :—

(अ) छुवत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउ मुनि घरनी ह्वै जाई। वाट परइ मोरि नाव उड़ाई॥
एहि प्रति पालौं सव परिवारु। नहिं जानौं कछु अउर कबारू॥

('मानस' अयोध्या काण्ड)

(ब) पात भरी सहरी, सकल सुत वारे वारे,
केवट की जाति कछू वेद न पढ़ाइहौं।

सब परिवार मेरो माहि लानि, राजा जू हौं,
दीन वित्तहीन कैसे दूसरी गढ़ाइहौं ॥
गौतम की घरनी ज्यों तरनी तरैगी मेरी,
प्रभु सों विषाद ह्वै कै वाद न वढ़ाइहौं ।
तुलसी के ईश राम ! रावरे सों साँची कहौं,
विना पग धोये, नाथ-नाव न चढ़ाइहौं ॥
('कवितावली' अयोध्या काण्ड)

प्रश्न ८ :--तुलसीदास के दार्शनिक विचारों पर प्रकाश डालिए ?

उत्तर :—गोस्वामी जी किस मत के प्रतिपादक हैं ? इस विषय पर विद्वानों का मतैक्य नहीं । डा० वलदेवप्रसाद मिश्र तथा पं० श्रीधर पंत उन्हें शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादक कहते हैं; डा० रामकुमार वर्मा तथा आचार्य शुक्ल विशिष्टाद्वैतवादी स्वीकार करते हैं ।

वास्तव में गोस्वामी जी का व्यक्तित्व एक महान व्यक्तित्व है । उन्हें किसी एक मत के वन्धन में डाल देना हमारी भूल है । वे समन्वयवादी हैं । हृदय से भक्त हैं तथा सरलता उनमें कूट-कूट कर भरी हुई है । उनकी दासत्व भावना प्रभु के लिए रो पड़ी है ।

पुनरपि च, उनसे कौन-सा मार्ग निकट पड़ता है; यह हमें देखना चाहिए । उन्हें किसी मत के निकट प्रमाणित करने के लिए हमें माप-दण्ड रखना पड़ेगा तथा उससे सम्वन्धित अन्य मतों से अन्तर दिखाना भी आवश्यक है । इस दृष्टिकोण से जव हम रामानुज के विशिष्टाद्वैत को लेते हैं तो ज्ञात होता है कि इसमें व्रह्म, जीव और जगत की एकता है । जीव चित् है तथा जगत् अचित (जड़) परन्तु ये दोनों व्रह्म के साथ लगे हुए हैं । तीनों का एकाकार है परन्तु विशेषता यह है कि स्थूल रूप में जीव और जगत दोनों ही सत्य हैं । व्रह्म सजातीय और विजातीय दोनों से परे है ।

इस दृष्टिकोण से तुलसीदास जी का मत अधिक निकट जान पड़ता है । कवि भी सम्पूर्ण विश्व को व्रह्म का रूप मानता है :—

सीय राम मय सब जग जानी । करूँ प्रणाम जोरि जुगपानी ॥

तथा

ईश्वर अंश जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुख राशी ॥
सो मायावस भयऊ गोसाईं, बँधेउ कीर मरकट की नाईं ॥

रामानुजाचार्य का सारा सिद्धान्त ही मिल जाता है। परन्तु कवि जब विश्व को मिथ्या कहने लगता है; तो सारा रामानुजाचार्य का सिद्धान्त ही उड़ जाता है। इसके अतिरिक्त विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का लक्ष्य सगुण द्वारा ज्ञान-प्राप्ति है परन्तु तुलसीदास भक्ति को ही चाहते हैं। यथा:—

अर्थ न धर्म न काम हित, गति न चहौं निर्वान।
जन्म-जन्म सियराम पद, यह वरदान न आन॥

अथवा

अस विचारि हरि भगत सयाने।
मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥

यह समस्या और भी उलझ जाती है जब कवि ज्ञान और भक्ति दोनों को एक कर देता है :—

ज्ञानहि भक्तिहिं नहि कछु भेदा, उभय हरहि भव संभव खेदा ॥

जब हम शुद्धाद्वैतवाद के सिद्धान्त से तुलसी-मत पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि अद्वैतवाद का मत "ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:" अर्थात् ब्रह्म सत्य है, संसार मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं। ब्रह्म निर्गुण है उसमें सजातीय, विजातीय तथा स्वगत किसी प्रकार का भेद नहीं है। जगत् माया का आवरण मात्र है। जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं, केवल अज्ञान के कारण भेद दृष्टिगोचर होता है। तुलसीदास जी यहाँ पर माया के सम्बन्ध में शुद्धाद्वैतवाद के अधिक निकट हैं। यथा:—

जगनथ वाटिका रही है फलि फूलि रे,
धूआँ के से धौर पर देखि मत भूलि रे।

अथवा

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेउ भाई॥

सागरसूराभः ॥

परन्तु कवि का सीयराम मय सब जग जाती कह देना इस अद्वैत-वाद से अधिक दूर पड़ जाता है।

सारांश यह कि -कवि न तो पूर्णतया शुद्धाद्वैतवादी है और विशिष्टा-द्वैतवादी। यों अपने सुभीते के लिए दोनों में किसी भी वाद का समर्थक मान सकते हैं। न्यूनाधिक्य पर दृष्टिपात करने से पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा डा० वर्मा का कथन अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। डा० बलदेवप्रसाद मिश्र का कवि को शुद्धाद्वैतवादी कहना कुछ दूर हो जाता है; परन्तु डा० वर्मा का विशिष्टाद्वैतवादी कहना कुछ निकट है। वास्तव में कवि इन वादों मत-मतान्तर से दूर ही रहना चाहता है, उसकी अनन्य भक्ति तथा स्वाभा-विक प्रभु-प्रेम ने उसे इन वादों से कुछ ऊपर उठा दिया है।

अयोध्याकांड

व्याख्या भाग

दोउ वर कूल कठिन हठ धारा। भवँर कूवरी वचन प्रचारा ॥
ढाहत भूप रूप तरु मूला। चली बिपति बारिधि अनुकूला ॥
लखी नरेस बात सब साँची। तिय मिस मीचु सीस पर नाची ॥
गहि पद विनय कीन्ह बैठारी। जनि दिनकर कुल होसि कुठारी ॥

प्रसङ्ग :—प्रस्तुत अवतरण (चौपाइयाँ) भक्तप्रवर तुलसी के अयोध्याकांड से लिया गया है। जब राजा दशरथ कैकेयी द्वारा मांगे वरदानों पर असमर्थता दिखाने लगे तो रानी कैकेयी उठकर खड़ी गई और उनके पास से दूसरे स्थान पर जाने का उपक्रम करने लगीं। उस समय का वर्णन कवि ने इस अवतरण में किया है।

व्याख्या :—रानी कैकेयी का हठ दोनों किनारों तक भरी हुई नदी की धारा के समान है। उस हठ रूपी धारा में कूवरी (मंथरा) के वचन भवँर के समान हैं। राजा दशरथ किनारे के वृक्ष के समान हैं। उस राजा दशरथ रूपी वृक्ष को ढाहती (तोड़ती) हुई कैकेयी की हठ रूपी-धारा विपत्ति रूपी समुद्र की ओर बहने लगी। राजा दशरथ इस बात की सत्यता को समझ गये कि अब इस स्त्री (कैकेयी) रूप में मृत्यु हमारे सिर मँडरा रही है। अतः उसका पैर पकड़ कर विनय-पूर्वक पुनः बिठाया और कहने लगे :—हे प्रिये! इस सूर्य-वंश को नाश करने वाली कुल्हाड़ी मत बन।

सारांश यह कि इस प्रकार हठ करके इस सूर्यवंश का नाश मत करो।

काव्य-सौष्ठव :—कवि ने अपनी कल्पना को इस अवतरण में धन्य कर लिया है; एक शोक-चिन्तित तथा विवश मनुष्य के साथ हठ करके

उसका प्राण लेना ही है, कवि ने इसे नदी के किनारे (अड़ार) का वृत्त मानकर सजीवता उत्पन्न कर दी है, भवँर और कूवरी की एक रूपता में कवि ने मानो प्राण ही डाल दिया है।

अलंकार :—सांग रूपकालंकार का प्राधान्य है। "तिय-मिसु मोचु" में कैतवापह्नुति अलंकार है।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—यह अवतरण मनोविज्ञान तथा स्वभाव का सुन्दर चित्रण है। किस प्रकार एक व्यक्ति अपनी प्रिया के हठ पर अपना बलिदान कर देता है; इस बात की व्याख्या इस अवतरण में की गई है।

२. पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहउँ।
मोहि राम राउरि आन दशरथ सपथ सांचो कहउँ॥
बरु तीर मारहु लखन पै, जब लगि न पाय पखारिहउँ।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहउँ॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण तुलसीदास-कृत अयोध्याकाण्ड से लिया गया है। इसमें कवि राम के प्रति केवट द्वारा पाँव धुलाने के लिए कहला रहा है।

अवतरणार्थ :—हे नाथ! मैं आपके चरण-कमलों को धोकर नाव पर चढ़ाना चाहता हूँ। मैं उतराई (खेवा, भाड़ा) नहीं चाहता। हे प्रभु मुझे आपकी आन है तथा आपके पिता (राजा दशरथ) की शपथ है जो बिना चरण धोये नाव पर चढ़ाऊँ। लछमण भले ही मुझे बाणों से बेंध सकते हैं परन्तु मैं जब तक आपके चरण न धो लूँगा, तब तक पार नहीं उतारूँगा।

सारांश यह कि कवि केवट के प्रेम का दर्शन कराना चाहता है। केवट राम के प्रेम में इतना मग्न हो गया है कि उसकी वाणी अटपटी सी हो गई है। वह चरण धो लेने के ऐसे स्वर्ण अवसर को हाथ से खोना नहीं चाहता।

काव्य-सौष्ठव :—यहाँ भाव-चित्रण है; कवि की वाणी एक स्थल

पर होकर एक साथ चोट कर रही है। केवट ने अपनी सारी शक्ति इकट्ठी करके अपना मनोभाव व्यक्त किया है।

३. परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू॥
हरन कठिन कलि कलुष कलेसू। महा मोह निसि दलन दिनेसू॥
पाप पुँज कुँजर मृग राजू। समन सकल संताप समाजू॥
जन रंजन भंजन भव भारू। राम सनेह सुधा-कर सारू॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण गो० तुलसीदासकृत अयोध्याकाण्ड से लिया गया है। इसमें कवि ने भरत का चरित्र-चित्रण किया है। यह उस समय की बात है जब भरत जी नन्दीग्राम में पर्णकुटी बनाकर तपस्या में रत हो गये थे।

व्याख्या :—भरत का आचरण अति पवित्र, मधुर तथा रस-मय आनन्द देने वाला है; कल्याण करने वाला है। इस कलियुग के कठिन कालुष्य तथा दुःखों को दूर करने वाला है। मोह के महा अँधकार को नष्ट करके भक्ति की किरण देने वाला है। पाप-समूह सभी हाथियों के लिए सिंह के समान नाशक है। सामाजिक सभी दुःखों से मुक्ति दिलाने वाला है। भक्तों को प्रसन्न करने वाला तथा सांसारिक कष्टों का नाश करने वाला है। राम-भक्ति रूपी चांदनी का सार है। अर्थात् भरत का आचरण, महान्, आदर्श तथा पापों से मुक्ति दिलाने वाला है।

काव्य-सौष्ठव :—इसमें प्रसाद तथा माधुर्य गुण है। कवि ने भरत-चरित्र को अपने हृदय के स्थल से कहा है। अत: उसे विभिन्न रूप में देखा है।

अलंकार :—उल्लेखालंकार का प्राधान्य; अन्त्यानुप्रास तथा छेका-नुप्रास गौण हैं।

छंद :—चौपाई।

पंचवटी

परीक्षोपयोगी सम्मति :—इस पुस्तक को अनिवार्य रूप से सम्यग् अध्ययन किया जाय। यह पुस्तक छोटी, सरल एवं सभी अन्य पुस्तकों से अधिक अंक प्रदान करने वाली है।

इस पुस्तक से कुल तीन प्रश्न आवेंगे। प्रथम प्रश्न व्याख्या का तथा अन्य दो प्रश्न आलोचनात्मक होंगे। परीक्षार्थी यथासम्भव इस पुस्तक के दोनों भागों—व्याख्या एवं आलोचना—का अध्ययन गम्भीरता पूर्वक करें। प्रश्नों एवं उत्तरों को कण्ठस्थ करने की आवश्यकता नहीं, अपितु उन्हें समझने का प्रयास करना चाहिए। प्राश्निक आलोचनात्मक प्रश्नों को कहीं बाहर से नहीं पूछ सकता; वह इस प्रदर्शक में दिए हुए प्रश्नोत्तरों ही में से पूछेगा। केवल उसमें पूछने की विधि एवं शब्द दूसरे होंगे। इससे छात्रों को चाहिए कि प्रश्नोत्तरों में मौलिकता को पकड़े एवं परीक्षा में बैठने पर आए हुए प्रश्नों को कम से कम तीन बार पढ़ें और सोचें कि इसका प्रदर्शक में दिये गए प्रश्नोत्तरों से कैसा सम्पर्क है। पुनः लिखना प्रारम्भ करदे।

पूर्ण पंचवटी मे केवल एक ही छन्द है। छन्दों का वैषम्य उसमें नहीं। हाँ! अलंकारों को कण्ठस्थ करने की आवश्यकता अवश्य है।

आलोचनात्मक निम्न प्रकार के प्रश्न इस पुस्तक से आ सकते हैं :—

१. पंचवटी के प्रकृति-चित्रण पर एक समालोचनात्मक टिप्पणी लिखिये तथा उदाहरण भी दीजिए। (Very Important)

२. "पंचवटी का देवर-भाभी-संलाप, मर्यादोल्लंघन के धरातल पर आगया है।" इस कथन पर सोदाहरण निर्णय दीजिए। (Imp.)

३. "पंचवटी का लक्ष्मण ही साकेत की उर्मिला का पतित्व कर सकता है साकेत का लक्ष्मण नहीं" इससे आप कहाँ तक सहमत हैं?

अथवा

लक्ष्मण का चरित्र-चित्रण कीजिए।

४. पंचवटी का नाम कहाँ तक सार्थक है। कवि इसके निर्माण में कहाँ तक सफल हुआ है?

५. पंचवटी के आधार पर सिद्ध कीजिए कि गुप्त जी ग्रामीण सभ्यता के उपासक हैं।

६. पंचवटी में मनोवैज्ञानिक तत्त्व क्या हैं?

७. लक्ष्मण और शूर्पणखा का वार्तालाप संक्षेप में लिखकर दोनों के मनो-भावों का अन्तर बताइए?

८. निम्नांकित का चरित्र-चित्रण कीजिए :—

१—सीता २—शूर्पणखा ३—लक्ष्मण।

पंचवटी

आलोचना भाग

प्रश्न १ :—पंचवटी के प्रकृति-चित्रण पर एक सोदाहरण आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये तथा बताइए कि लक्ष्मण भी कवि की भांति प्रकृति के उपासक हैं। (सं० २००६)

उत्तर :—गुप्त-साहित्य में यह काव्य प्रकृति-चित्रण के लिए सदा अमर रहेगा। कवि को जहाँ लक्ष्मण के सुन्दर तथा आदर्श चरित्र-चित्रण में अद्वितीय सफलता मिली है, वहाँ प्रकृति-चित्रण का मधुमय रूप देकर उसने अपनी लेखनी को धन्य कर लिया है। इस प्रकार इस काव्य का प्रकृति-चित्रण गुप्त-साहित्य का एक अनमोल हीरा है। थोड़ा होते हुए भी तृप्ति की क्षमता रखता है। कवि ने अपनी कविता-कामिनी से पंचवटी का द्वार क्या खोला है, मानों प्रकृति की पिटारी ही खोल दी है :—

चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल-थल में।
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बर तल में॥
पुलक प्रकट करती है धरती, हरित तृणों की नोकों से।
मानो झीम रहे हैं तरु भी, मन्द पवन के झोकों से॥

इन पंक्तियों में कवि हमारे मानवीय रोमांच के भावों को प्रकृति में देखता है। जिस प्रकार रोमांच होने पर हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं; उसी प्रकार प्रकृति के तृणों के नोक भी खड़े हो गए हैं, मानों वे प्रकृति के रोंगटे हैं।

कवि प्रकृति के वातावरण में सर्वत्र आनन्द का अनुभव करता है। उसकी दृष्टि में पवन क्या चलता है, मानों तृप्ति-मय सोमरस बाँटता फिरता है :—

है स्वच्छ सुमंद गन्धवह, निरानन्द है कौन दिशा?

कवि की लेखनी ने प्रकृति का सूक्ष्मतम स्थल भी पकड़ा है। रात्रि, प्रातः एवं संध्या सुन्दरी का चित्रण एक ही कविता में कवि ने कितनी गहरी अनुभूति के साथ किया है, यह देखते ही बनता है :—

है बखेर देती वसुन्धरा मोती सब के सोने पर।
रवि बटोर लेता है उनको सदा सवेरा होने पर॥
और विरागदायिनी अपनी संध्या को दे जाता है।
शून्य-श्याम तनु जिससे उसका नया रूप झलकाता है॥

कवि ने प्रकृति को अपनी गहरी अनुभूति के सहारे देखा है। वह कितनी सरला है। उसमें कितनी आत्मीयता भरी पड़ी है। सत्य तो यह है कि वह सर्वदा हमारे सुखों की भूखी रहती है, तभी तो वह हमारे सुखों में प्रसन्न तथा दुःखों में दुःखित एवं रोने लगती है:—

सरल तुहिन कणों से हँसती हर्षित होती है।
अति आत्मीया प्रकृति हमारे साथ उन्हीं से रोती है॥

प्रकृति हमारी माँ है। बच्चों के प्रतिकूल कार्य पर जिस प्रकार जननी उसकी बुराई दूर करने के निमित्त कभी कभी चपत भी लगा देती है, ठीक उसी भाँति हम समस्त प्राणियों पर प्रकृति का पुत्रवत ध्यान है। साथ ही वह नियम पालन कराने के लिए यम से भी कठोर हो जाती है:—

अनजानी भूलों पर भी वह अदय दंड तो देती है।
पर बूढ़ों को बच्चों सा सदय भाव से सेती है॥

गुप्त जी ने प्रकृति के खुले अंचल को एक सुन्दर रंगमंच के रूप में देखा है। सरिता के किनारे पर 'कल-छल' एवं उसकी धाराओं में कल-कल क्या किसी यान्त्रिक ताल या तान से कम है? जिसे सुनकर पत्ते तक नाच उठते हैं, चन्द्रमा और तारे ललचाए नेत्रों से देखने लगते हैं:—

गोदावरी का तट वह ताल दे रहा है अब भी।
चंचल जल कल-कल कर मानो तान ले रहा है अब भी॥
नाच रहे हैं अब भी पत्ते मन से सुमन महकते हैं।
चन्द्र और नक्षत्र ललक कर लालच भरे लहकते हैं॥

भला इन तानों को सुनकर गायक और नृत्य करने वाले कैसे चुप

रह सकेंगे। देखिये ! यहाँ गायक (विहंगगण) तथा नर्तक (केकी अर्थात् मोर) की कैसी होड़ लगी हुई है :—

वैताल विहंग भावी के सम्प्रति ध्यान लग्न से हैं।
नये गान की रचना में वे कविकुल-तुल्य मग्न से हैं॥
वीच बीच में नर्त्तक केकी मानो यह कह देता है।
मैं तो प्रस्तुत हूँ देखें कल कौन वड़ाई लेता है॥

यही नहीं, कवि ने जहाँ प्रकृति को उपमान रूप में देखा है, वहाँ तो मानों सोने में सुगन्ध भर दिया है :—

कटि के नीचे चिकुर जाल में उलझ रहा था बाँया हाथ।
खेल रहा हो ज्यों लहरों से लोल कमल भौरों के साथ॥

यहाँ लोल लहरों का भौरों से खेलना कितनी मधुर कल्पना है। एक ऊषा का चित्रण देखिये :—

इसी समय पौ फटी पूर्व में, पलटा प्रकृति-पटी का रंग।
किरण कण्टकों से श्यामाम्बर फटा, दिवा के दमके अंग॥
कुछ कुछ अरुण, सुनहरी कुछ कुछ, प्राची की अवभूषा थी।
पंचवटी की कुटी खोलकर खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी॥

ऐसे सुन्दर प्रभाती-चित्रों का चित्रण हिन्दी-साहित्य में बहुत कम हैं। कहना न होगा कि पंचवटी वास्तव में प्रकृति को पिटारी है, जिसके खुलते ही हृदय कह उठता है "सच है"।

जहाँ तक पंचवटी के नायक लक्ष्मण का प्रकृति से सम्बंध है, अत्यन्त गहरा है। गुप्त जी के लक्ष्मण वाल्मीकि के लक्ष्मण से भी प्रकृति-दर्शन में आगे बढ़ गए हैं। "चन्द्र और नक्षत्र ललच भरे लहकते हैं।" यह उनकी प्रकृति-प्रियता का अच्छा उदाहरण है। लक्ष्मण प्रकृति को संजीव मानते हैं तथा उसकी उपयोगिता को स्वीकार करते हैं।

प्रश्न १ :—पंचवटी में देवर-भाभी का संलाप आपके दृष्टि-कोण के किस कोटि का है ? युक्ति युक्त उत्तर दीजिए। (सं० २००६)

उत्तर :—पंचवटी के देवर-भाभी संलाप को लेकर साहित्य-जगत में विभिन्न धारणाये चल रही हैं। आलोचकों का इस विषय पर

मतैक्य नहीं। कुछ सुधी-आलोचक इस संलाप को मर्यादा एवं औचित्य की सीमा से दूर की वस्तु समझते हैं। कुछ तो सीता में मस्ती और चुहुल-कदमी तक का अनुभव सप्रमाण करा देते हैं। उनके दृष्टिकोण से, पंचवटी की सीता आजकल की कलियुगी भाभी से कुछ भी कम नही। अस्तु इस विषय पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है :—वास्तव में सीता मानेश्वरी है जैसा कि कवि "मर्त्यलोक मालिन्य मेटने स्वामी संग जो आई है। तीन लोक की लक्ष्मी ने यह कुटी आज अपनाई है॥" वाले पद मे स्वीकार करता है। सीता लक्ष्मण को अतिशय प्यार करती हैं, पुत्रवत समझती है परन्तु देवर का समाज में क्या और कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है ? यह भी पूर्ण रूप से जानती हैं। वे जानती हैं कि इसी देवर का भाई इसी जंगल में पत्नी सहित मंगल करता है और देवर ! अरे ! यह तो केवल भाभी और भैया के सुख-साधनों को जुटाने मे अपना सब कुछ भूल गया है। पत्नी तक को साथ नहीं लाया। अपने यौवन और प्रेम का बलिदान भाभी और भैया की सेवा-वेदी पर चढ़ा रहा है। वे चाहती हैं कि लक्ष्मण कम-से-कम एक विवाह ही करलें। तभी तो उस रमणी के आने पर राम को बुलाती हैं और स्वयं समझाती भी हैं। परन्त देवर की कर्तव्य-शिला पर कोई प्रभाव न देख कर दुखित होती हैं। उसका इस प्रकार यौवन के दिन काटना सीता को असह्य सा हो गया है "रहो रहो पुरुषार्थ यही है, पत्नी तक न साथ लाए" कहकर भर्रा उठती है, नेत्र छलछला जाते हैं। अहा ! कैसा मार्मिक चित्रण है। कितना शुद्ध प्रेम है। इसमे वासना की गंध ढूँढना अपनी हृदय-हीनता का परिचय देना है। हाँ ! यह अवश्य है कि देवर-भाभी का चित्रण भौतिक धरातल पर हुआ है। आदर्श-वादिता का आग्रह नहीं अपितु यथार्थता का स्पष्ट वर्णन है। सीता आकाश की वस्तु न रहकर हमारे सामने की वस्तु हैं; फिर भी जहाँ तक देवर और भाभी का सम्बन्ध है, जो सीमा है, वह बनी हुई है। भाभी रूप में सीता ने कहीं भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया है। सीता के जो भी वाक्य हैं, वे स्थल और काल के विचार से मर्यादित हैं। सीता के

शब्दों में जो आलोचक अधिक से अधिक मर्यादोल्लंघन का प्रमाण देते हैं, वे निम्नलिखित हैं :—

(अ) "देवर तुम कैसे निर्दय हो, घर आए जन का अपमान।"
(ब) "देने आई है तुमको निज सर्वस्व बिना संकोच।
देने में कार्पण्य तुम्हें हो तो लेने में है क्या सोच॥"
(स) "हों सब सफल तुम्हारे काम"
(द) "कब से चलता है यह बोलो नूतनशुक रम्भा सम्वाद।"
(भ) "अजी खिन्न तुम न हो हमारे ये देवर हैं ऐसे ही॥"

प्रकरण पर दृष्टिपात करने से यह पता चलता है कि ये सारी बातें सीता ने प्रेम की तन्मयता में कही है। वह कौन सी मर्यादापूर्ण भाभी होगी जो अपने देवर की विवाह-वार्त्ता सुन कर गद्गद न हो। यदि कवि यहाँ पर सीता की शुष्कता का परिचय देता, तो सीता की मर्यादा गिरती; पर इस स्थान पर सीता के मुख से यह शब्द कहलवा कर कवि ने सन्तोष लाभ किया है। लक्ष्मण ने जिस भाभी की सेवा में अपना सब कुछ होम दिया है, वही भाभी यदि अपने मुख से उसकी विवाह-वार्त्ता चला देती हैं और उसके सुख की कामना करती है तो यह मर्यादा का उल्लंघन हो गया? कदापि नहीं। सीता देख रही हैं कि लक्ष्मण का रमणी से वार्तालाप चल रहा है और वह जानती भी है, कि लक्ष्मण शीलवान हैं, बिना हमारी सम्मति के विवाह-प्रस्ताव स्वीकार भी नहीं कर सकते, उस दशा में ऐसे शब्दों का प्रयोग करना सीता की सहृदयता का परिचायक है। इसके अतिरिक्त सीता को जीवन भर में यही एक अवसर मिला है जिस समय वह अपने हृदय के भाव अपने देवर के प्रति खोलकर रख सकती थी। "इस विषय में क्या कहूं, कहाँ का विराग लाये हैं ये" सीता के मुँह से कितना अच्छा लगता है। यही देवर और भाभी का सच्चा स्वरूप है। भाभी इन शब्दों द्वारा देवर का मन भर देती है।

वास्तविकता तो यह है कि यदि सीता अपने इन मधुर शब्दों में लक्ष्मण के योगी तुल्य कर्त्तव्यों का बखान न करती तो उनकी हृदय-कठोरता का ही परिचय मिलता। भाभी के मुख से अपना बखान सुनकर

देवर (लक्ष्मण) गदगद होजाते हैं। भाभी के इन शब्दों से दो कार्य सिद्ध होते हैं, पहला यह कि देवर (लक्ष्मण) को संतोष हो जाता है कि भैया और भाभी मेरी सेवाओं से संतुष्ट हों। दूसरी ओर वह बाला बार बार योगी शब्द सुनकर और भी आकर्षित होती जाती है। मर्यादोल्लंघन की बात मानने में सबसे बडी अड़चन यह है कि कवि सीता का परिचय देते समय ही उन्हें मर्यादामय देखा है। यदि हम इस वार्तालाप पर उन्हें मर्यादाहीन मान लेते हैं तो काव्य ही "पैरोडी" बन जाता है। ऐसा करना कवि के साथ अन्याय होगा।

इस प्रकार मै तो देवर-भाभी के चित्रण को मर्यादा-मय, आर्जव एवं शुद्ध मानता हूँ। इतनी बात अवश्य है कि यह भौतिकता के धरातल पर है। हाँ! जिनकी आँखों और कानों में एक विशेष रोग होगया है तथा जिनका हृदय प्रत्येक शब्द मे वासना ही ढूंढ़ना चाहता है, वे भला इन शब्दों में क्यों चूके।

वास्तव में प्रेम की गली बड़ी तंग है, थोड़ी सी भी भीड़ होने पर पसीने की दुर्गन्धि आने लगती है। यही बात कवि के "देवर-भाभी" में भी है। जिन्होंने इसके मर्म-स्थल का स्पर्श नही किया है; वे इसमें दुर्गन्धि ढूँढते हैं।

प्रश्न ३ :—सीता, लक्ष्मण और शूर्पणखा का चरित्र-चित्रण कीजिए। (सं० २००५, लक्ष्मण)

उत्तर :—

सीता :—पंचवटी की सीता आकाश की शक्ति या दैविक ज्योति नहीं; अपितु प्रेम से लबालब एक भारतीय नारी है। उनके निकट पशु, पक्षी, स्वजन अथवा शत्रु भी प्रेम के पात्र हैं। एक भारतीय आदर्श नारी अपने पति के सुख को अपना सुख मानती है, इसका सच्चा एवं निर्णयात्मक रूप हम सीता में पाते है। जब शूर्पणखा राम से विवाह-प्रस्ताव करती है, सीता के मन पर चोट अवश्य पहुँचती है परन्तु पति-सुख का ध्यान करके झट अपनी सम्मति दे बैठती है :—

मुसकाईं मिथिलेशनन्दिनी प्रथम देवरानी फिर सौत।

सागरसूरामः ॥

अंगीकृत है मुझे किन्तु तुम मांगो कहीं न मेरी मौत ॥

सीता मातेश्वरी हैं। कवि इन्हें तीन लोकों की लक्ष्मी स्वीकार करता है :—

मर्त्यलोक-मालिन्य मेटने स्वामी सँग जो आई है।
तीनलोक की लक्ष्मी ने यह कुटी आज अपनाई है ॥

वास्तव में कलंक धोने के निमित्त ही स्वामी सहित घोर वन में जाकर सीता जी उटज (पर्णकुटी) वनाई थी। वे इस यान्त्रिक-युग की देवियों की भाँति अपनी महानता का प्रदर्शन नहीं करतीं। वे महान् भले ही हैं, पुनरपि च अपने घर में अपने देवर का स्थान सुरक्षित रखती हैं। वे प्रेम से शासन करती हैं और प्रेममय 'भाभी' कहलवा लेती हैं। अपनी महानता का शासन देवर पर नहीं चलातीं। सीता का हृदय मोम की भाँति है, देवर की कर्त्तव्य-परायणता पर द्रवीभत हो जाती हैं और लक्ष्मण तथा एक तरुणी (शूर्पणखा) के वार्तालाप को सुनकर प्रसन्न होती हैं एवं उसे स्थायी रूप देने का भरसक प्रयास करती हैं।

"देवर तुम कैसे निर्दय हो, घर आए जन का अपमान" कहकर लक्ष्मण के हृदय में तरुणी के प्रति प्रेम-भाव अंकुरित करना चाहती हैं। "देने में संकोच तुम्हें हो तो लेने में है क्या सोच" कहकर तरुणी की ओर लक्ष्मण का मन आकर्षित करना चाहती हैं। "चलता है कब से यह नूतन शुक रंभा-संवाद" वाले वाक्य से दोनों को पति-पत्नी रूपमें देखने की उत्कंठा भरी हुई है। यह हृदय की प्रेम-सरिता के उमड़ाव का कितना मन-मोहक चित्र है। वास्तव में सीता प्रेम की मूर्ति है।

"भाभी भोजन देती उनको पंचवटी छाया गहरी" तथा
"वे पशु-पक्षी भाभी से हैं हिले यहाँ स्वयमतिसानन्द"

इत्यादि छंदों में सीता का प्रकृति एवं पशु-पक्षियों के प्रति प्रेम का रूप मिलता है।

सीता में नारी-सुलभ आतुरता एवं अस्थिरता है। शूर्पणखा की नाक कटते ही वे उदास हो जाती हैं :—

"हुई उदास विदेह-नन्दिनी आतुर एवं अस्थिर भी"। सीता में सबसे बड़ा गुण उनके जीवन की सरलता है। वे उस जीवन में अपनी एक पुष्प-वाटिका बनाती हैं। स्वयं फूलों में पानी देती हैं।

उनका संतोष हमें हमारी प्राचीन संस्कृति की स्मृति दिलाता है :—

नहीं चाहिए हमें विभव बल अब न किसी को डाह रहे।
बस अपनी जीवन-धारा का यों ही निभृत प्रवाह बहे ॥

सारांश यह कि सीता, नारी रूप में एक आदर्श, पतिव्रता, संतोषी एवं प्रेम से छलकती हुई सरिता हैं।

लक्ष्मण :—राम के केवल दो शब्दों "क्या कर्त्तव्य यही है भाई" में ही यदि हम अपना हृदय विशाल करके देखें तो लक्ष्मण का चरित्र दर्पण में मुख जैसा स्पष्ट हो जाता है। उनके त्याग, तपस्या, बलिदान एवं भ्रातृ तथा भाभी-प्रेम का सेवा-युक्त चित्रण देखते ही बनता है। उनके चरित्र-चित्रण की गाथा एक अच्छी पुस्तक का कलेवर धारण कर सकती है। कुछ प्रमुख चरित्र-विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :—

१. राम के अनन्य भक्त, यथा :—

जो हो जहाँ आर्य रहते हैं, वही राज्य वे करते हैं।
उनके शासन में वन चारी सब स्वच्छन्द विहरते हैं॥"

अथवा

"असहनशील बना देता है नाथ तुम्हारा यह कहना"

२. सेवाभाव, यथा :—"किन्तु प्राप्ति होगी इस जन को इससे बढ़कर किस-धन की"

३. महान् त्यागी; यथा :—"पर देवर तुम त्यागी बनकर क्यों घर से मुख मोड़ चले।"

४. त्यागी होते हुए भी अपनी प्रशंसा सुनना नहीं चाहते हैं, यथा :—

"आर्ये मुझको बरबस न बना दो मुझको त्यागी"

५. प्रकृति के उपासक हैं, प्रकृति में आत्मीयता का भाव पाते हैं, यथा :—

"अतिआत्मीया प्रकृति हमारे साथ उन्हीं से रोती है"

६. राष्ट्रीय दृष्टिकोण से, लक्ष्मण प्रत्येक व्यक्ति में आत्म निर्भरता देखना चाहते हैं, यथा :—"पर अपना हित आप नहीं कर सकता है, यह नरलोक"

७. भरत के प्रति प्रगाढ़ स्नेह-भावना है, यथा :—

"पर सौ सौ सम्राटों से भी हैं सचमुच वे बड़भागा

८. प्राचीनता के पुजारी हैं, यथा :—

"किन्तु मुझे तो सीधे सच्चे पूर्व भाव ही भाते हैं"

९. मानवीय सहज गुणों से रहित पतित व्यक्ति को पशु से भी निकृष्ट समझते हैं, यथा :—

"किन्तु पतित को पशु कहना भी कभी नहीं सह सकता हूँ"

१०. चरित्र के दृढ़ हैं। केवल रूप और लावण्य पर मोहित नहीं होते। अकेले निर्जन भूमि में सुन्दरी की वरमाला एवं स्वतः प्राप्त भोग को छोड़ देना लक्ष्मण के चरित्र की सबसे बड़ी महानता है यथा :—

"हा नारी! किस भ्रम में है तू, प्रेम नहीं यह तो है, मोह"

११. एक पत्नीव्रत धर्म के उपासक हैं। यथा :—

"पाप शान्त हो, पाप शान्त हो, मैं विवाहित हूँ बाले"

१२. सुन्दर, धीर, वीर, निर्भीक एवं गाम्भीर्य की मूर्ति हैं, यथा :—

"उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर धीर वीर निर्भीक मना"

× × ×

भोगी कुसुमायुद्ध योगी-सा बना दृष्टिगत होता है।

१३. भाग्य से पुरुषार्थ में अधिक विश्वास रखते हैं, यथा :—

"मैं पुरुषार्थ पक्षपाती हूँ, इसको सभी जानते हैं"

१४. सरल स्वभाव है, भाभी के कहते ही झट घड़ा उठाकर उसके पीछे पीछे जल लाने चले जाते हैं :—

"घड़े उठाकर खड़े होगए तत्क्षण लक्ष्मण गद्गद् से"

१५. लक्ष्मण के चरित्र-चित्रण में स्वयं कवि ने अपने चरित्र का चित्रण किया है। जिस प्रकार वह स्वयं सरल, पुरुषार्थी, मर्यादा को मानने वाला, राष्ट्रीय एवं ग्राम्य जीवन का पुजारी है; उसी भाँति उसने लक्ष्मण को भी देखा है।

शूर्पणखा

शूर्पणखा रावण की बहिन है। उसका चरित्र आधुनिक युग के विलासमय जीवन एवं पाश्चात्य प्रेम से किया जा सकता है। उसके चरित्र की निम्नांकित विशेषताएँ हैं:-

१. मायाविनी नारी है, स्वेच्छापूर्वक सर्वत्र विचरने की शक्ति रखती है। यथा :--

"जहाँ चाहती हूँ करती हूँ मैं स्वच्छन्द विहार सदा"

२. वह माया से ज्योतिपुंज एवं रत्नाभरण युक्त होगई है; यथा :—

"चकाचौंध सी लगी देखकर प्रखर ज्योति की वह बाला"

३. इसका अन्तःकरण बड़ा ही दूषित है, उसमें काम-वासना की दुर्गन्धि आ रही है, यथा :—

"थी अत्यन्त अतृप्त वासना दीर्घ दृगों से झलक रही"

४. उसका मायावी स्वरूप बड़ा ही आकर्षक एवं मधुर है। यथा :—

"कटि के नीचे चिकुर जाल में उलझ रहा था बायाँ हाथ"

५. वह वासना ही को प्रेम समझती है और सौन्दर्य ही को प्रेम का माप-दण्ड मानती है। पहले तो वह लक्ष्मण की सौम्य मूर्ति पर रीझती है, फिर जब उनसे भी सुन्दर राम को देखती है तो उन पर लट्टू हो जाती है। अतः उसमें प्रेम नहीं, भोग-लिप्सा है।

६. इसमें आर्य नारीत्व नहीं, दस्यु नारीत्व है। राक्षसी है, अपनी शक्ति के गर्व में किसी को कुछ नहीं समझती। यथा :—

"तो आज्ञा दो, उसे जलाये कालानल सा मेरा क्रोध"

७. उसे अपने सौन्दर्य का गर्व अत्यधिक है। अपने को सीता से भी अधिक सुन्दरी समझती है। यथा :—

मुझे ग्रहण कर भूल जाओगे, इस भामा के ये भ्रूभंग"

८. इसमें वाक्य-पटुता है। वार्तालाप बड़ी ही मार्मिक रीति से करती है। प्रयास तो इतना करती है, कि लक्ष्मण को अपनी वाक्पटुता से छका देती है। यथा :—"चले प्रभात वात फिर भी क्या खिले न कोमल कली" कहकर सारा दोष लक्ष्मण के सिर मढ़ देती है।

९. वह प्रेम को अपनी शक्ति के अधिकार की वस्तु समझती है। यथा :—

"झक मार कर करनी होगी तुमको फिर मुझपर अनुरक्ति"

वास्तव में वह एक छली, कपटी, मायाविनी एवं धोखा-पूर्ण नारी है जो अपने संभोग में बाधा पड़ने पर अपने ही प्रेमी को भयभीत करने के लिए विराट राक्षसी रूप धारण करती है।

प्रश्न ४ :—पंचवटी की सार्थकता पर विचार करते हुए बतलाइए कि कवि इस पुस्तक के निर्माण में कहाँ तक सफल हुआ है।

उत्तर :—'पंचवटी' का नामकरण कथा-वस्तु के आधार पर नहीं अपितु स्थान की विशेषता पर रखा गया है। इसके नाम पड़ने का कारण यह है कि कवि ने इसमें केवल उन्हीं बातों का वर्णन किया है, जो पंचवटी में हुई। इसका सम्बन्ध अन्य स्थान की घटनाओं से नहीं। नायक स्वयं कहता है कि यह एक स्थान एवं यहाँ की सरलता हमें जीवन भर स्मरण रहेंगी। इसी आशा में कवि ने भी इसका नाम पंचवटी रखा है कि उसके भी साहित्यिक जीवन में इस काव्य की प्रकृति छटा स्मरणीय रहे।

इस प्रकार दोनों ही प्रकार से 'पंचवटी' नाम सार्थक ह। कवि का उद्देश्य इसके निर्माण में निस्सन्देह अपने उपास्य राम के परम भक्त लक्ष्मण की मनोहर झांकी लगा लेना ही है पुनरपि च इसके भीतर ही भीतर अपने विपक्षियों (छायावादी कवियों) को अपने प्रकृति-चित्रण द्वारा उनकी आँख खोल देने की प्रवृत्ति भी काम करती दिखाई देती है। पंचवटी में जैसा कुछ प्रकृति-चित्रण हुआ है, वैसा मनोहर प्रकृति-चित्रण गुप्त जी के अन्य पूर्ववर्ती काव्यों में कहीं भी नहीं है। इसकी रचना सन् १९२५ में हुई थी, जब छायावादी कवि मैदान में आ गए थे तथा "तू तू-मैं मैं" प्रारम्भ हो गई थी।

उपर्युक्त दोनों उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर जब हम पंचवटी पर दृष्टिपात करते हैं तो कवि की एक साथ सफलता पर धन्यवाद के शब्द निकल जाते हैं। हाँ! इतना अवश्य है कि कवि ने अपने उपास्य एवं उपास्या सीता को चरित्र-चित्रण में कुछ मौलिकता देकर इहलौकिक बना दिया है। सीता और राम आकाश की वस्तु अथवा किसी अन्य लोक की वस्तु न होकर इस भूतल के आदर्श जीव हो गए है। कुछ लोग सीता के मधुमय देवर सम्बन्धी वार्तालाप को लेकर कवि की असफलता पर विचार करते है परन्तु यह पूर्ण भूल है। देवर-भाभी संलाप पड़े भी उत्तम पैमाने पर है। सारांश यह कि कवि अपनी रचना में सफल है।

प्रश्न ५ :—पंचवटी क्या है? इसके नायक तथा वस्तुकथा पर विचार कीजिए।

उत्तर :—पंचवटी एक खण्ड-काव्य है। इसका नायक लक्ष्मण है। इसमें शान्त, शृंगार, भयानक एवं वीभत्स रस तथा रौद्र रस की रेखायें मिलती हैं परन्तु उत्तम रीति से किसी भी रस का परिपाक नहीं हो पाया है। काव्य का आरंभ और अन्त दोनों ही शांत रस में हुआ है। अलंकारों में उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक तथा प्रतीप का प्राधान्य है।

कथावस्तु लक्ष्मण द्वारा प्रारम्भ होती है। चांदनी रात्रि में पर्ण कुटीर के आगे शिला-खण्ड पर बैठे हुए धनुर्धर रूप में लक्ष्मण के दर्शन होते हैं। लक्ष्मण मन ही मन प्रकृति की छटा, अपने स्वजनों की चिन्ता तथा भार्या उर्मिला पर विचार कर रहे हैं। इसी बीच शूर्पणखा ज्योतिपुंज रूप में प्रकट होकर विवाह प्रस्ताव रखती है। लक्ष्मण एक पत्नीव्रत होने के कारण स्वीकार नहीं करते। इसी बीच सीता उठकर आती है, प्रभात हो जाता है। सीता अपने मधुर वचनों से भरसक विवाह प्रस्ताव स्वीकार करने के पक्ष में है, परन्तु शूर्पणखा लक्ष्मण को छोड़कर राम से विवाह करने को आग्रह करने लगती है। बस! यहीं बात बिगड़ जाती है। क्योंकि राम उसे लक्ष्मण से बातचीत हो जाने के कारण ग्रहण नहीं कर सकते तथा लक्ष्मण, राम से बातचीत हो जाने के पर भाभी तुल्य समझ कर ग्रहण करने से विवश हो जाते है। मोहांध नारी अपने

भोग के अभाव में क्रोधित होकर नग्न मायावी रूप धारण करती है। लक्ष्मण आज्ञा पाकर नाक काट लेते हैं। वह रोती, चिल्लाती भाग जाती है। कवि कथा का अन्त बड़ी ही उचित रीति करते हुए पुनः राम की कुटिया में आनन्द भर देता है।

कथा वस्तु में वार्तालाप कवि की मौलिकता को लिये हुए है। काव्य वस्तुकथा के विचार से भी सफल है।

प्रश्न ६ :—"गुप्त जी ग्राम्य सभ्यता के उपासक हैं" पंचवटी के आधार पर इस कथन की सत्यता अथवा असत्यता पर अपना मत दीजिए।

उत्तर :—गुप्त जी निस्सन्देह ग्राम्य-सभ्यता के उपासक हैं। उन्हें नागरिक सभ्यता पसन्द नहीं। कवि के विचारों से, ग्राम्य जीवन ही आदर्श जीवन है। ग्राम में रहकर व्यक्ति अपने सहज मानवीय गुणों की वृद्धि कर सकता है परन्तु नगरों में तो अपने सांस्कारिक गुणों का भी हनन करना पड़ता है। यहाँ (ग्राम में) आँखों के सामने हरियाली, झाड़ियाँ तथा झाड़ियों में झरता हुआ झरना उल्लास की वृद्धि में सहायक होता है। यहाँ निष्कपटता, सरलता और ऋजुता का साम्राज्य है। प्रकृति अपना विभव-दान ग्रामीणों को खुले रूप से लुटाती है। यहाँ के लोग सरल, भावुक एवं भोले होते हैं। इसके ठीक प्रतिकूल नगरों का वातावरण है। वहाँ संकुचित गलियाँ, सड़ती हुई गंदगी मस्तिष्क एवं स्वास्थ्य को नष्ट करती है। वहाँ के लोग कपटी, छली, धूर्त एवं वाक्पटु होते हैं। उनकी मीठी बोली मीठी छुरी की भाँति होती है। उनका हृदय संकुचित एवं स्वार्थमय होता है।

इस प्रकार ग्राम्य एवं नागरिक जीवन में महान अन्तर है। नगर के लोग ग्रामीण भोले व्यक्तियों के हृदय के आगे प्रस्तर हैं। वे अपवित्र एवं प्रायः दुश्चरित्र हैं। उनमें वासना एवं भोग की लिप्सा है। वे ग्रामीण लोगों की समता के योग्य नहीं। वे ग्रामीण कणों से भी बराबरी नहीं कर सकते। यथा :—

वन की एक एक हिम-कणिका जैसी सरस और शुचि है।

क्या सौ सौ नागरिक जनों की वैसी विमल रम्य रुचि है ।।

पंचवटी में लक्ष्मण का चरित्र एवं उनका वातावरण ग्राम्य-जीवन के प्रतीक तथा आभरणयुक्त शूर्पणखा नागरिक जीवन की प्रतीक है ।

प्रश्न ७ :—पंचवटी में मनोवैज्ञानिक तत्व क्या है ? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर :—पंचवटी में कवि ने एक मनोवैज्ञानिक सत्य का विश्लेषण किया है । वह है :—

कोई पास न रहने पर भी जन मन मौन नहीं रहता ।
आप आप की सुनता है यह, आप आप से है कहता ।।

इस मनोविज्ञान की समस्या पर कवि ने पंचवटी में ५ पृष्ठ रंग डाले हैं । रात्रि-काल में सीता-राम पर्णकुटी में शयन कर रहे हैं । लक्ष्मण अकेला बाहर उनके प्रहरी रूप में बैठा है । वह अकेला है, कोई पास नहीं । अतः अपने आप ही प्रकृति की चाँदनी, सुमन्द पवन आदि नियति नटी के क्रिया-कलाप पर विचार करता है । वह आज रात्रि में अपनी १३ वर्ष की अवधि की समाप्ति पर विचार करके अपने तथा राम के भावी जीवन पर तर्क वितर्क करता है । साथ ही स्वजनों की स्मृतियाँ उसका हृदय भर देती हैं । वह उर्मिला की दशा पर विचार करने लग जाता है :—

बेचारी उर्मिला हमारे लिए कभी रोती होगी ।
क्या जाने वह, हम सब वन में होंगे इतने सुख-भोगी ।।

इन बातों को विचारना एवं स्वयं उसका उत्तर देना एक मनोवैज्ञानिक सत्य है, जिसका, निर्जन एवं एकांतता में आविर्भाव होता है ।

प्रश्न ८ :—पंचवटी में कवि का राष्ट्रीय दृष्टिकोण क्या है ?

उत्तर :—मैथिली बाबू राष्ट्रीय कवि हैं । यद्यपि पंचवटी का विषय राष्ट्रीयता से सम्पर्क नहीं रखता तथापि कवि की राष्ट्रीय-प्रवृत्ति इसमें भी उमड़ आई है । कवि प्रस्तुत काव्य में स्वयं लक्ष्मण के रूप में नायक है । उसके दृष्टिकोण से शासन-सत्ता एक बड़ी ही जिम्मेवारी की वस्तु है । शासन-सत्ता भोग की वस्तु नहीं अपितु कर्त्तव्य पालन की वस्तु है ।

प्रजा के हितार्थ कार्य करना ही शासन-सत्ता का ध्येय होना चाहिए। जनता की भलाई में अपने परिवार तक को भूल जाना ही रामराज्य है :—

"और आर्य को ? राज्य-भार तो वे प्रजार्थ ही धारेंगे।
व्यस्त रहेंगे, हम सबको भी मानो विवश विसारेंगे॥"

जनता का भी यह कर्त्तव्य है कि वह स्वावलम्बी हो। अपना हित आप करने की क्षमता रखकर राष्ट्र को दृढ़ बनाए। राष्ट्र-कार्य को उलझनों में न डाले। यथा :—

"पर अपना हित आप नहीं कर सकता है यह नरलोक ?"

शासनाधिकारी प्रजा का हृदय-सम्राट होना चाहिए। यदि कोई ऐसे सुयोग्य व्यक्ति को इससे वंचित करने का प्रयास करे तो भरत की भाँति सत्याग्रह करना ही उन्नति है।

अपने से श्रेष्ठ शासनाधिकारी को लोभवश तिरस्कृत नहीं करना चाहिए, अपितु उसकी आज्ञा में रहकर अपनी योग्यता का परिचय देना चाहिए :—

"पर सौ सौ सम्राटों से भी हैं सचमुच बड़भागी।"

प्रश्न ६ :—लक्ष्मण और शूर्पणखा का वार्तालाप संक्षेप में लिखकर दोनों के मनोभावों को व्यक्त कीजिए।

उत्तर :—लक्ष्मण उस एकान्त स्थल में अपने स्वजनों का विचार करते करते अचानक उर्मिला की स्मृति में विभोर हो उठे। पत्नी के ध्यान में मग्न हो जाने के कारण उनका अधखुला नेत्र चित्रवत् दृष्टिगोचर होने लगा। जब उसने अपनी आँखें खोली तो सामने एक दिव्याभरणयुक्त रमणी दिखाई पड़ी। जब रमणी ने लक्ष्मण को विस्मित देखा, तो पूछा :—

हे शूरवीर ! क्या तुम एक अबला को देखकर चकित हो गए ?

लक्ष्मण :—हाँ सुन्दरी ! सचमुच चकित हूँ कि इस निशा में तुम अकेली क्यों घूम रही हो ? मैंने तुमसे प्रथम इसलिए बातचीत प्रारम्भ नहीं किया कि पुरुषों का अबला से वार्तालाप धर्मयुक्त नहीं। अब बताओ कि तुम कौन हो ?

शूर्पणखा :—हा ! निष्ठुर कान्त ! तुम यह भी नहीं पूछते कि क्या चाहती हो ? केवल "कौन हो" पूछ रहे हैं। ज्ञात होता है तुम मुझे अवश्य ही छल लोगे। अभी तुम मुझे अपना अतिथि ही समझो। क्या मुझे कुछ आतिथ्य मिलेगा या नहीं ?

लक्ष्मण :—हे रमणी ! मैं तुम्हारा भाव समझ गया। मैं तुम्हें आतिथ्य देने के योग्य नहीं हूँ; क्योंकि निर्धन हूँ।

शूर्पणखा :—तो बताओ तुम्हें क्या दुःख है ? मैं तुम्हारा सभी प्रकार का कष्ट दूर कर सकती हूँ।

लक्ष्मण :—हे नृपकन्ये ! तू धन्य है परन्तु मुझे कोई अभाव नहीं।

शूर्पणखा :—तो इस छोटी वय में निष्काम तपस्या क्यों करते हो ? क्या तुम इस तपस्या के फल को भोगना नहीं चाहते ?

लक्ष्मण :—देवि ! व्यर्थ ही में मुझे तापस की पदवी क्यों देती हो। यदि मुझे मुफ्त में फल मिलेगा तो उसे तुम्हारे ही जैसे के लिए सुरक्षित छोड़ दूँगा।

शूर्पणखा :—यदि मैं ही फल होऊँ तो ?

लक्ष्मण :—तो मैं तुम्हारे लिए एक योग्य पात्र ढूँढूँगा।

शूर्पणखा :—मैंने तुम्हें स्वयं ही खोज लिया है, दूसरे की क्या आवश्यकता ?

लक्ष्मण :—हे रमणी ! तुम्हारा पाप शान्त हो। मैं विवाहित हूँ।

शूर्पणखा :—क्या बहुनारी वाले पति नही हुआ करते ? यदि तुम मुझे न वरोगे तो भला मैं अब कहाँ जाऊँगी। मेरा मन तो तुमने चुरा लिया।

लक्ष्मण :—हे नारी ! तू व्यर्थ प्रेम की बात क्यों करती है। तम्हारी यह बातें प्रेममय नहीं अपितु वासनामय हैं।

इस प्रकार शूर्पणखा और लक्ष्मण के वार्तालाप में हम पाते हैं कि शूर्पणखा मायाविनी है—(शेष दोनों के चरित्र-चित्रण को लिखना चाहिए।)

पंचवटी

परीक्षोपयोगी अवतरण तथा उनकी व्याख्या

१. कोई पास न रहने पर भी, जन-मन मौन नहीं रहता;
आप आप की सुनता है वह, आप आप से है कहता।
बीच बीच में इधर उधर, निज दृष्टि डाल कर मोदमयी,
मन ही मन बातें करता है, धीर धनुर्धर नई नई ॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण बाबू मैथिलीशरण गुप्त की 'पंचवटी' से लिया गया है। श्री लक्ष्मण रात्रि के समय पर्ण-कुटी के बाहर श्री राम और सीता के प्रहरी रूप में; शिला-खण्ड पर बैठे हुए हैं। कवि ने इस अवतरण में पंचवटी का कथानक प्रारम्भ करते हुए मनोवैज्ञानिक सत्य का विश्लेषण किया है :—

व्याख्या :—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मानव अकेले रह कर भी चुप नहीं रह पाता। एकान्तता में भी वह अपने आप कुछ न कुछ कहता सुनता रहता है। यह सत्य वस्तु लक्ष्मण में भी पाई जाती है। लक्ष्मण रात्रि में अकेले शिलाखण्ड पर बैठे हुए हैं। उपरोक्त सत्य के अनुसार वे भी इधर-उधर शून्य में देख लेते हैं तथा मन ही मन नई-नई बातों पर विचार करने लगते हैं।

सारांश यह कि लक्ष्मण मन ही मन कुछ सोच विचार कर रहे हैं।

काव्य-सौष्ठव तथा अलंकार :—एकान्तिक प्रवृत्ति का चित्रण काव्य-सौष्ठव में बड़ा सहायक हुआ है। 'रहता, कहता' 'मयी, नई' में अन्त्यानुप्रास अलंकार है। तथा 'आप आप' 'जन-मन' 'नई नई' आदि में छेकानुप्रास अलंकार है।

छंद :—३० मात्रा का 'लावनी' छन्द है जिसमें १६ और १४ मात्राओं पर यति होती है।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—वास्तव में प्रस्तुत अवतरण से कवि की गंभीरता एवं पर्यवेक्षण शक्ति का पता चलता है। इसमें कवि ने विश्व-सत्य मानसिक क्रिया का विश्लेषण किया है।

२. है बिखेर देती वसुन्धरा मोती सबके सोने पर;
रवि बटोर लेता है उनको सदा सवेरा होने पर।
और विरामदायिनी अपनी संध्या को दे जाता है;
शून्य श्याम तनु जिससे उसका नया रूप झलकाता है॥

प्रसंग:—यह अवतरण मैथिली बाबू की 'पंचवटी' से उद्धृत किया गया है। श्री लक्ष्मण; एकान्तावस्था में प्रकृति के विषय में अपने मन ही मन कह रहे हैं :—

व्याख्या :—पृथ्वी माता सब के सो जाने पर रात्रि में ओसों के बूंद रूपी मोती बिखेर देती हैं। प्रात: होते ही भगवान अंशुमाली उन्हें बटोर लेते हैं अर्थात् सूर्य निकलने पर ओस की बूंदें सूख जाती हैं। अन्त में इसके बदले सभी को विश्राम देने वाली संध्या को यहाँ छोड़ जाते हैं अर्थात् साँझ हो जाती है। फिर उस संध्या का शून्य काला शरीर बन जाता है अर्थात् रात्रि हो जाती है।

काव्य-सौष्ठव तथा अलंकार :—उपमेय (ओस की बूंद) का कथन न किया जाकर केवल उपमान (मोती) का कथन होने के कारण रूपकातिशयोक्ति अलंकार है। प्रकृति का रहस्य उसके ओस के दानों का वर्णन पढ़ते ही बनता है।

छंद :—लावनी।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—कवि का यह प्रकृति-चित्रण अत्युत्तम है। प्रकृति यहाँ सजीव हो उठी है।

३. सरल तरल जिन तुहिन-कणों से, हँसती हर्षित होती है।
अति आत्मीया प्रकृति हमारे साथ उन्हीं से रोती है॥
अनजानी भूलों पर भी वह अदम दण्ड तो देती है।
पर बूढ़ों को भी बच्चों सा सदय भाव से सेती है॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अंश श्री गुप्त जी की पंचवटी से उद्धृत किया गया है। इसमें लक्ष्मण द्वारा प्रकृति-निरीक्षण कराया गया है।

व्याख्या :—लक्ष्मण जी प्रकृति के विषय में मन ही मन सोच रहे हैं :—प्रकृति हमारी आत्मीया है। हमसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। वह हमारी प्रसन्नता में प्रसन्न तथा क्लेश में रोती है। तुषार-कण हमारी प्रसन्नता में हँसते हुए तथा क्लेश में रोते हुए से जान पड़ते हैं। अर्थात् प्रकृति को हम अपने मनोभावों के अनुसार देखते हैं। प्रकृति का नियम बड़ा ही प्रबल है। वह अपने नियमों के प्रतिकूल चलने वाले को निर्दयता-पूर्ण दण्ड देती है; चाहे भले ही नियमोल्लंघन भूल में भी हुआ हो। साथ ही वह इन्हीं नियमों द्वारा बूढ़े और बच्चे में भेद नहीं रखती। सबको समान रूप से आनन्द देती है।

सारांश यह कि यदि कोई व्यक्ति प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल चले तो वह कष्ट पायेगा। यथा कठिन जाड़े की रात में बाहर सोना प्रकृति का नियमोल्लंघन है। ऐसा करने पर अवश्य ही बीमार होने की आशंका है। अपना स्वजन दुःख-सुख में हाथ बटाने ही से आत्मीय कहा जाता है। प्रकृति भी हमारे दुःख-सुख में दुःखी और सुखी दिखाई पड़ती है! अतः वह हमारी आत्मीया है।

काव्य-सौष्ठव तथा अलंकार :—तरल कणों से प्रकृति का हँसना और रोना कितना हृदय-स्पर्शी है! यह पढ़ते ही बनता है। "सरल तरल" 'हँसती हर्षित' में छेकानुप्रास अलंकार। बच्चों-सा=उपमालंकार।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—प्रस्तुत अवतरण में कवि ने प्रकृति को आत्मीया मान कर उसमें सजीवता भर दी है। जो प्रकृति पूर्व काव्यों में वन्दिनी थी; इसमें मुक्त हो चली है।

४. होता यदि राजत्व मात्र ही लक्ष्य हमारे जीवन का,
तो क्यों अपने पूर्वज उसको छोड़ मार्ग लेते वन का।
परिवर्त्तन ही यदि उन्नति है तो हम बढ़ते जाते हैं,
किन्तु मुझे तो सीधे सच्चे पूर्व भाव ही भाते हैं॥

प्रसंग :—यह कवितांश बाबू मैथिलीशरण गुप्त की पंचवटी से लिया गया है। इसमें लक्ष्मण के मनोभाव का वर्णन है। लक्ष्मण सोच रहे हैं :—

व्याख्या :—यदि शासन मात्र ही हमारे जीवन का ध्येय है, तो फिर भला हमारे पूर्वज राज्य-सत्ता को छोड़ कर वन में निवास क्यों करते थे ? अर्थात् राज्य-सत्ता ही केवल हमारा ध्येय नहीं होना चाहिए। यदि यह माना जाय कि नियमों में परिवर्त्तन कर देना ही उन्नति का मार्ग है, फिर तो नित्य ही हम लोग (सारा विश्व) उन्नति करते जा रहे हैं अर्थात् हमलोग प्राय: पुराने नियमों (राज्य-सत्ता से अधिक तपस्या में महत्व देना) को छोड़ते जा रहे हैं, परन्तु जहाँ तक मेरा व्यक्तिगत विचार है, मैं तो उन्हीं सीधे-सच्चे पुराने भावों को ही पसन्द करता हूँ।

सारांश यह कि शासन-सत्ता से तपस्या का महत्व अधिक है।

छन्द :—लावनी छन्द है, इसमें १६, १४ मात्राओं पर यति होती है।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—इसमें कवि के अपने आदर्शवादी भाव गहरे हो उठे हैं। कवि नित्य नवीन नियम परिवर्तनों में विश्वास नहीं रखता। वह पलायनवादी नहीं।

५. करते हैं हम पतित जनों में बहुधा पशुता का आरोप।
करता है पशुवर्ग किन्तु क्या निज निसर्ग नियमों का लोप ?
मैं मनुष्यता को सुरत्व की जननी भी कह सकता हूं,
किन्तु पतित को पशु कहना भी, कभी नहीं सह सकता हूं।
(सं० २००५ की परीक्षा में आ चुका है)

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण मैथिलीशरण गुप्त की 'पंचवटी' से लिया गया है। लक्ष्मण इस अवतरण में पतितों की पशुता के उपमान से खिन्न हो उठे हैं और कहते हैं :—

व्याख्या :—प्राय: हम लोग पतितों को पशु से उपमा दे देते हैं। किन्तु यह नहीं सोचते कि ये (पतित) अपने प्राकृतिक नियमों तक का

त्याग कर देते हैं परन्तु पशु कभी भी अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ता। मैं मानता हूँ कि पूर्णरूप से मनुष्यता पालन करना देवत्व से भी बढ़कर है परन्तु जिन्होंने अपनी प्रकृति को छोड़ दिया है, जो पतित हो गये हैं उनको तो पशु भी नहीं कहा जा सकता अर्थात् पतितों से अपनी प्रकृति के अनुसार चलने वाले पशु कहीं उत्तम हैं, क्योंकि कम-से-कम पशु अपना स्वभाव तो नहीं छोड़ते परन्तु पतित तो अपना स्वभाव भी छोड़ देता है।

काव्य-सौष्ठव तथा अलंकार :—"आरोप, लोप" "सकता हूँ, सकता हूँ" में अन्त्यानुप्रास तथा छेकानुप्रास अलंकार है। 'पतित' को 'पशु' उपमान से तिरस्कृत होने के कारण 'द्वितीय प्रतीत' अलंकार हुआ। इसी की प्रधानता है।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—कवि मानवता-हीन व्यक्तियों को पशु से भी निकृष्ट बता कर हमारा ध्यान हमारी स्वभाविक प्रकृति की ओर आकर्षित करता है।

छंद :—लावनी।

६. गोदावरी नदी का तट वह ताल दे रहा है अब भी,
चंचल जल कल-कल मानो तान ले रहा है अब भी।
नाच रहे हैं अब भी पत्ते मन से सुमन महकते हैं,
चन्द्र और नक्षत्र ललक कर लालच भरे लहकते हैं॥

(अत्यावश्यक)

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण श्री मैथिलीशरण गुप्त की पंचवटी से लिया गया है। लक्ष्मण गोदावरी नदी के तट का प्राकृतिक दृश्य मन ही मन में देख सुन रहे हैं :—

व्याख्या :—गोदावरी नदी के किनारे से जल की हिलोरें टकरा टकरा कर 'ठक-ठक' शब्द करती हैं, मानो किनारा ताल दे रहा है और नदी का पानी जो 'कल कल' करता हुआ बह रहा है, मानो तान छेड़ रहा है। पेड़ों से पत्ते जो हवा से डोल रहे हैं, मानो वे नाच रहे हैं,

तथा फूल महक रहे हैं। ऊपर आकाश में चन्द्रमा और तारे जो चलते फिरते दिखाई देते हैं, मानो वे इस नाटक-मंडली से प्रसन्न होकर मारे लालच के प्रसन्न होते जा रहे हैं।

सारांश यह कि वनस्थली का प्राकृतिक दृश्य बड़ा ही मनोहर है। गोदावरी 'कल-कल' ध्वनि करती बह रही है; पुष्प महक रहे हैं तथा तारों-भरी रात बड़ी ही मधुमय दिखाई दे रही है।

काव्य-सौष्ठव तथा अलंकार :— इसमें 'वस्तूत्प्रेक्षा' अलंकार का प्राधान्य है। अन्त्यानुप्रास, छेकानुप्रास तथा उपमा (मन से) गौण हे। गोदावरी का ताल देना, पक्षियों का चहकना कितना मनोहर चित्र उपस्थित करता है।

छंद :— लावनी।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—अभी तक प्रकृति उद्दीपन भाव में हो आई थी; इस परन्तु अवतरण में आवलम्बन हो गई है।

७. वैतालिक विहंग भाभी के सम्प्रति ध्यान लग्न से हैं, (आवश्यक)
नये गान की रचना में वे कविकुल तुल्य मग्न से हैं।
बीच बीच में नर्त्तक केकी, मानो यह कह देता है,
मैं तो प्रस्तुत हूं, देखें कल कौन बड़ाई लेता है॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण गुप्त जी की पंचवटी से उद्धृत किया गया है। श्रीलक्ष्मण शिलाखण्ड पर बैठे बैठे गोदावरी तट के प्राकृतिक सौंदर्य का मन ही मन विचार कर रहे हैं :—

व्याख्या :—गोदावरी तट पर पास ही में गाने वाले पक्षीगण इस समय भाभी (सीता) के ध्यान में लगे हुए हैं तथा जिस प्रकार कविगण अपनी रचना में मग्न रहते हैं उसी प्रकार ये भी नये गानों की रचना में मग्न हैं। बीच बीच में नाचने वाला मोर (अपने पंख फड़फड़ा कर) अपने उपस्थित रहने की सूचना देता है तथा यह होड़ सी लगा देता है कि देखें कल (भोजन के समय श्री सीता जी के पास) किसकी बड़ाई होती है।

भावार्थ :—कवि ने यहाँ पक्षीगणों को नाचने वाले वैतालिकों की तरह तथा श्री सीता जी को दान देने वाली रानी के रूप में चित्रित किया है। नाचने और गाने वाले दोनों प्रकार के पक्षियों मे पुरस्कार पाने की होड़ लगी हुई है।

सारांश यह कि कहीं चिड़िया चहक रही हैं और मोर कहीं नाच रहे हैं।

काव्य-सौष्ठव तथा अलंकार :—'सांगरूपक' प्रधान अलंकार है। पूर्णोपमा, छेकानुप्रास तथा अन्त्यानुप्रास गौण हैं। शब्दों का प्रसादत्व तथा पक्षियों को वैतालिक बना कर कवि ने बड़ी मनमोहता पैदा कर दी है।

छन्द—लावनी।

८. मुनियों का सत्संग यहाँ है, जिन्हें हुआ है तत्त्व-ज्ञान।
सुनने को मिलते हैं उनसे, नित्य नये अनुपम आख्यान॥
जितने कष्ट-कंटकों में हैं जिनका जीवन सुमन खिला।
गौरव गंध उन्हें उतना ही अत्र तत्र सर्वत्र मिला॥

प्रसंग :—प्रस्तुत पद्य श्री मैथिलीशरण गुप्त की पंचवटी से लिया गया है। श्री लक्ष्मण जी वन-स्थित संत-मुनियों के विषय में, मन ही मन कह सुन रहे हैं :—

अवतरणार्थ :—तत्त्व-दर्शी मुनियों का यहाँ (पंचवटी में) दर्शन होता है। उनसे नित्य नवीन अनूठी कथाएँ सुनने का अवसर मिलता है। ये लोग महान् हैं। वास्तव में जिस प्रकार काँटों में ही अधिक सुन्दर एवं गन्धयुक्त पुष्प होते हैं उसी प्रकार जो व्यक्ति जितना ही कष्ट सहता है, उसका जीवन भी उतना ही महान् हो जाता है। सभी उसकी बड़ाई करते हैं। जिस प्रकार कंटक में पले हुए फूल सुगंधि से दिशाओं को भर देते हैं; उसी प्रकार कष्ट में पले हुए व्यक्तियों का जीवन यशस्वी हो जाता है, उसके यश की चर्चा सभी स्थान पर होती है। सच तो यह है कि कष्ट ही कसौटी है।

काव्य-सौष्ठव तथा अलंकार :—'जीवन-सुमन खिला' में परिणामालंकार; 'कष्ट-कंटक' तथा 'जीवन-सुमन' आदि में अश्लिष्ट परम्परित

रूपकालंकार है। परन्तु 'कष्ट' से 'गौरव' विरोधी तत्त्व होने के कारण द्वितीय विषमालंकार प्रधान हुआ। इन्हीं अलंकारों की दृष्टि से काव्य-सौष्ठव बढ़ गया है। भाव बड़े मनोहर हैं।

छन्दः—लावनी

गुह निषाद शवरी तक का, मन रखते हैं प्रभु कानन में,
क्या ही सरल वचन रहते हैं, इनके भोले आनन में।
इन्हें समाज नीच कहता है, पर हैं ये भी तो प्राणी,
इनमें भी मन और भाव है, किन्तु नहीं वैसी वाणी॥

प्रसङ्ग :—प्रस्तुत अवतरण श्री गुप्त जी की, 'पंचवटी' से लिया गया है। श्री लक्ष्मण शिला-खंड पर बैठे बैठे जंगली जातियों के विषय में विचार कर रहे हैं :—

व्याख्या :—गुह, निषाद, शवर आदि जंगली जातियों की भी मनोकामना प्रभु पूर्ण करते हैं। अहा! इन भोली जातियों के लोगों के मुँह से कितने सरल वचन निकलते हैं! हमारा सभ्य समाज इन्हें नीच कहता है, पर क्यों? अन्ततः ये भी तो प्राणी हैं। इनमें भी तो हमारे ही जैसे मन और भाव हैं।

छंद :—लावनी छंद है जो ३० मात्रा का होता है १६, १४ मात्राओं पर यति होती है।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—कवि प्रस्तुत पद में गांधीवाद से प्रभावित है। लक्ष्मण के हृदय में नीचों, पतितों तथा अन्त्यज जातियों के प्रति भी सुन्दर भाव उठ रहे हैं।

१०. कभी विपिन में हमें व्यजन का पड़ता नहीं प्रयोजन है,
निर्मल जल, मधु, मंद, मूल-फल अयोजनमय भोजन है।
मन प्रसाद चाहिए केवल, क्या कुटीर फिर क्या प्रासाद?
भाबी का आह्लाद अतुल है, मँझली माँ का विपुल विषाद॥

प्रसङ्ग :—यह पद्यांश मैथिलीशरण गुप्त की 'पंचवटी' से उद्धृत

किया गया है। इस पद में लक्ष्मण जी अपने वनवासी जीवन की सुविधाओं का मन ही मन विचार कर रहे ह।

व्याख्या :—इस वन में हमें कभी भी पंखा या विजने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती क्योंकि पवन स्वयं उचित मात्रा में रहता है। अपने आप तैयार हुए (पके हुए) फल, कन्द, मूल तथा स्वच्छ जल ही हमारा भोजन है। केवल मन की प्रसन्नता चाहिए। चाहे कहीं भी रहने से मिले, फिर किसी महल या कुटिया की में क्या भेद है? अर्थात् हमें अयोध्या के महल से यहाँ की कुटिया कम प्यारी नहीं है। मँझली माता (कैकेयी) का हम लोगों को देखकर होने वाला अत्यन्त दुःख ही हमारे भाग्य का अतीव आनन्द बन कर आया है।

काव्य-सौष्ठव तथा अलंकार:—तीसरी पंक्ति में चतुर्थ प्रतीप चौथी पंक्ति में विषम तथा शब्दालंकार के भेदों में अन्त्यानुप्रास एवं छेकानुप्रास है। बन का कितना मधुमय चित्रण है; यह देखते ही बनता है।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—कवि मनः प्रसाद के आगे महलों के सुख को तुच्छ समझा है। यह उसकी आदर्शवादिता है।

छंद :— लावनी।

११. सांसारिकता में मिलती है यहाँ निराली निस्पृहता;
अत्रि और अनुसूया की सी होगी कहाँ पुण्य-गृहता ?
मानो यह भुवन भिन्न ही, कृत्रिमता का काम नहीं;
प्रकृति अधिष्ठात्री है इसकी, कहीं विकृति का नाम नहीं॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण मैथिलीशरणगुप्त की "पंचवटी से" उद्धृत किया गया है। श्री लक्ष्मण रात्रि में अकेले शिलाखण्ड पर बैठे हुए प्रकृति-वैभव देख रहे हैं तथा मन ही मन में सोच रहे हैं :—

व्याख्या :—यह ऐसी सुन्दर भूमि है जहाँ के निवासी संसार में रहते हुए भी संसार के अवगुणों से दूर हैं। उनके सांसारिक जीवन

में निरभिलाषिता का अद्भुत सम्मिश्रण है। भला (यहाँ रहने वाले) अत्रि मुनि तथा अनुसूया देवी जैसा पवित्र घरेलू जीवन कहाँ मिलेगा ? मानो यह जंगल का संसार ही दूसरा है; जिसमें बनावटी पने का नाम तक नहीं है। यहाँ पर तो एकमात्र प्रकृति ही यहाँ की स्वामिनी है, रक्षिका है, कहीं पर भी सांसारिक विकार नहीं हैं। सारांश यह कि वन-भूमि बड़ी ही मन-मोहक, सात्विक एवं सरल है।

काव्य-सौंदर्य तथा अलंकार :—उत्प्रेक्षालंकार, उपमालंकार, अन्त्यानुप्रास एवं छेकानुप्रास। प्रसाद गुण एवं हमारी प्राचीन संस्कृति का चित्रण अवतरण के सौंदर्य को बढ़ा रहा है।

छंद :—लावनी

आलोचनात्मक टिप्पणी :—प्रकृति के खुले अंचल में रहकर मानव कितना सुखी, सात्विक एवं निस्पृह रह सकता है, कवि ने यही बताने का प्रयास किया है, जो सराहनीय है।

१२. कटि के नीचे चिकुर जाल में उलझ रहा था बायाँ हाथ,
खेल रहा हो ज्यों लहरों से लोल कमल भौंरों के साथ।
दाँया हाथ लिये था सुरभित चित्र विचित्र सुमन माला,
टाँग धनुष की कल्पलता पर मनसिज ने झूला डाला॥

(परीक्षोपयोगी)

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण बाबू मैथिलीशरण गुप्त की पंचवटी से लिया गया है। लक्ष्मण जी जब अपनी प्रिया उर्मिला के विषय में सोचते सोचते चित्रवत से होगये थे, उस समय अचानक उन्होंने एक अति दिव्याभरण युक्त रमणी (शूर्पणखा) को देखा :—

व्याख्या :—उस रमणी का बायाँ हाथ कमर के नीचे लटके हुए केशों में उलझ रहा था। ऐसी दशा में ऐसा ज्ञात होता था, जैसे कमल का पुष्प (उसके हाथों की उपमा) चंचल लहरों में काले काले भौंरों (उसके केशों की उपमा) के साथ खेल रहा है। उसके दाहिने हाथ में रंग बिरंगे तथा सुगन्धित फूलों की माला ऐसी

प्रतीत होती थी; जैसे कामदेव ने अपने धनुष को कल्पतरु के बेलों पर टांग कर हिंडोला (भूला) बनाया है।

काव्य सौष्ठव :—अन्त्यानुप्रास, छेकानुप्रास, गौण हैं। पूर्णोपमालंकार तथा वाचकलुप्तोपमा का प्राधान्य है। सौंदर्य का ऐसा मधुमय रूप हिन्दी-साहित्य में बहुत कम है।

छन्द :—लावनी, ३० मात्रा, १६ तथा १४ मात्रा पर यति है।

आलोचनात्मक-टिप्पणी :—यह अवतरण, पंचवटी काव्य भर में अपनी उच्च एवं मनोहर कल्पना तथा सुन्दर व्यवधान के लिए विशेषता रखता है।

१३. पर सन्देह-दोल पर ही था लक्ष्मण का मन भूल रहा,
भटक भावनाओं के भ्रम में भीतर ही था भूल रहा।
पड़े विचार चक्र में थे वे, कहाँ न जाने कूल रहा,
आज जागरित-स्वप्न-शाल यह सम्मुख कैसा फूल रहा॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण गुप्त जी की पंचवटी से उद्धृत किया गया है। लक्ष्मण शूर्पणखा के मायावी मनोहर रूप को देखकर सन्देह एवं विचार-चक्र में पड़े हुए थे। इसी वस्तु का वर्णन इस अवतरण में किया गया है :—

व्याख्या :—यद्यपि लक्ष्मण उस रमणी के मनोमुग्धकारी रूप को देख रहे थे तथापि उनका मन सन्देह के हिंडोल पर भूल रहा था अर्थात् वे उस रमणी को लक्ष्मण, संदिग्ध-दृष्टि से देख रहे थे। उनका हृदय अनेकों प्रकार की भावनाओं के भ्रम में भूल रहा था, अर्थात् उनके मन में उसके लिये अनेकों प्रकार की भ्रम से भरी भावनाएँ उठ रही थीं। वे उसके विचार में डूबे जाते थे, परन्तु कहीं भी किनारा नहीं मिलता था, अर्थात् वे यह नहीं सोच पाते थे कि यह कौन है ? वे सोच रहे थे कि यद्यपि मैं जागने की दशा में इस रमणी को देख रहा हूँ; तथापि मालूम होता है मानों मैं स्वप्न ही देख रहा हूँ अथवा जागृत दशा में यह स्वप्न-शाल समक्ष ही कैसे फूल रहा है।

काव्य-सौष्ठव तथा अलंकार :—रूपकालंकार प्रधान, अन्त्यानुप्रास तथा छेकानुप्रास गौण हैं। संदेह को हिंडोला बना कर कवि ने वास्तविकता का चित्रण किया है।

छन्द :—लावनी है। ३० मात्रा का छन्द, जिसमें १६, १४ पर यति होती है। अन्त में मगण नहीं होता।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—प्रस्तुत अवतरण कल्पना की गहरी भावुकता को लिए हुए है। कवि ने लक्ष्मण के भ्रम और सन्देह की परिभाषा बड़े ही मार्मिक उपमानों से दी है।

१४. "इसी समय पौ फटी पूर्व में, पलटा प्रकृति-पटी का रंग,
किरण-कंटकों से श्यामाम्बर फटा, दिवा के दमके अंग।
कुछ कुछ अरुण, सुनहरी कुछ कुछ, प्राची की अवभूषा थी,
पंचवटी की कुटी खोलकर, खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी॥"

प्रसंग :—प्रस्तुत पद राष्ट्रीय कवि श्री गुप्त की पंचवटी से लिया गया है। जिस समय लक्ष्मण शूर्पणखा के-विवाह प्रस्ताव पर उसे समझा रहे थे, ठीक उसी समय सीता जी कुटी का द्वार खोल कर आयीं, इसी का वर्णन इस अवतरण में किया गया है :—

व्याख्या :—इसी समय पूर्व में ऊषा उदित हुई। उसकी ललाई से प्रकृति का आवरण बदल गया अर्थात् चन्द्रमा की श्वेत किरणों से श्वेत रंग न रहकर अब ऊषा के कारण लाली छा गई। ऊषा की लाल किरणरूपी काँटों से काले बादलरूपी साड़ी फट गई; जिस से दिवा (दिन) का अंग अंग चमकने लगा। अर्थात् लाल प्रकाश भूमि पर छा गया। पूर्व दिशा रूपी स्त्री का आभूषण अभी कुछ कुछ लाल तथा कुछ कुछ सुनहरा था। इसी समय सीता जी ने पंचवटी की पर्णकुटी को खोला। उस समय ठीक ऐसा मालूम होता था; मानों स्वयं आकाश की ऊषादेवी ही इस पृथ्वी पर आ गई है, कवि इस भ्रम में है कि कहीं सचमुच वह ऊषा ही तो न थी?

अलंकार :—सांगरूपकालंकार प्रधान, भ्रम, अन्त्यानुप्रास गौण है।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—निस्सन्देह कवि इस अवतरण में, जैसी जो कुछ अनुभूति प्राप्त की है; हमारे सामने रखने में सफल हुआ है।

१५. अहा ! अम्बरस्था ऊषा भी इतनी शुचि सस्फूर्ति न थी,
अवनी की ऊषा सजीव थी, अम्बर की सी मूर्ति न थी।
वह मुख देख पाण्डु-सा पड़कर, गया चन्द्र पश्चिम की ओर,
लक्ष्मण के मुँह पर भी लज्जा लेने लगी, अपूर्व हिलोर॥ (आवश्यक)

प्रसंग :— प्रस्तुत अवतरण मैथिलीशरण गुप्त की 'पंचवटी' से उद्धृत किया गया है। कवि ने प्रस्तुत अवतरण में सीता के सौन्दर्य की उपमा ऊषा से देकर ऊषा को उनके सौन्दर्य के सामने तिरस्कृत किया है।

व्याख्या :—आकाश में रहने वाली ऊषा देवी (लालिमा) इतनी पवित्र तथा स्फूर्तिमय नहीं थीं; जितनी कि यह पृथ्वी पर रहने वाली ऊषा (सीता जी)। इसके अतिरिक्त आकाश की ऊषा तो केवल मूर्ति थी। वह जीवित साक्षात् न थी; परन्तु यह पृथ्वी वाली ऊषा साक्षात् थी, जीवित थी। वह मूर्ति नहीं थी। इसी के सौन्दर्य को देखकर चन्द्रमा का सौन्दर्य फीका पड़ गया और वह दुम दबाकर पश्चिम की ओर भाग गया अर्थात् अस्त हो गया। लक्ष्मण जी के मुँह पर इस ऊषा के उदय होने से लज्जा की लालिमा पड़ गई। उनके मुख-मण्डल पर लज्जा की लहरें लहराने लगीं।

काव्य-सौन्दर्य :—अधिक अभेदरूपकालंकार तथा तृतीय प्रतीपालंकार का प्राधान्य है। कवि ने अपनी उपास्या सीता का मनोमुग्धकारी चित्रण किया है। "अम्बरस्था ऊषा" को बार बार कहकर मन तृप्त किया जा सकता है।

छंद :—लावनी।

१६. नाटक के इस नये दृश्य के दर्शक थे द्विज लोग वहाँ,

करते थे शाखासनस्थ वे समधुप रस का भोग वहाँ।
झट अभिनयारम्भ करने, को कोलाहल भी करते थे,
पंचवटी की रंगभूमि को प्रिय भावों से भरते थे॥
(सं० २००६)

प्रसंग :—प्रस्तुत पद मैथिलीशरण गुप्त की पंचवटी से लिया गया है। लक्ष्मण और शूर्पणखा के बीच होते हुए सम्भाषण में जब श्री सीता जी आईं, उस समय लक्ष्मण चुप हो गए थे। वार्तालाप बंद था। इस दृश्य को कवि रंगमंच पर खेले जाने वाले नाटक से उपमा देकर हमारे सामने रखता है।

व्याख्या :—जैसे रंगमंच पर किसी नये पात्र के आने पर दर्शकों की उत्कंठा उस समय तक अधिक बनी रहती है, जब तक वह वार्तालाप प्रारंभ नहीं करता है। उसी प्रकार वनस्थली के रंगमंच पर लक्ष्मण और शूर्पणखा के चलते हुए वार्तालाप में सीता एक नवीन पात्रा के रूप में प्रगट हुईं। इस नाटक के दर्शक वहाँ पर पक्षीगण थे, वे पेड़ की डालियों पर बैठे बैठे भौंरों के साथ रस-भोग कर रहे थे अर्थात् इस नाटक के रस का आनन्द ले रहे थे। जिस प्रकार दर्शक भविष्य में देरी होने पर शीघ्रता के लिए शोर गुल मचाते हैं; उसी प्रकार वे पक्षीगण भी सीता द्वारा वार्तालाप प्रारंभ करने के निमित्त कोलाहल कर रहे थे अर्थात् चहचहा रहे थे। उनके इन मधुर भावों से पंचवटी की रंगभूमि गुंजरित हो उठती थी।

काव्य-सौष्ठ तथा अलंकार :—सांगरूपकालंकार द्विज में श्लेष करके ऊँची डालियों वाला स्थान देकर कवि ने सौन्दर्योत्पादन किया है।

छंद :—लावनी।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—कवि ने प्रस्तुत अवतरण में नाटक का रूपक देकर वार्तालाप का महत्व अधिक बढ़ा दिया है। वास्तव में रचना बड़ी मनमोहक है।

१७. एक अपूर्ण चरित लेकर जो उसको पूर्ण बनाते हैं,
वे ही आत्म-निष्ठ जन जग में परम प्रतिष्ठा पाते हैं।

यदि इसको अपने ऊपर तुम प्रेमासक्त बना लोगी,
तो निज-कथित गुणों की सबकी तुम सत्यता जना दोगी ॥
(सं० २००५)

प्रसंग :— प्रस्तुत अवतरण श्री गुप्त जी की 'पंचवटी' से लिया गया है। जब शूर्पणखा श्री रामचन्द्र जी से, लक्ष्मण को छोड़कर; विवाह प्रस्ताव करने लगी तब श्री रामचन्द्र जी ने उसे समझाया :—

व्याख्या :— हे रमणी ! जो व्यक्ति किसी अधूरी वस्तु को पूरी करते हैं, वे ही स्थिर बुद्धि कहलाते हैं और संसार में बड़ाई पाते हैं (लक्ष्मण जी का जीवन यहाँ पर आधा है।) अतः यदि तुम उसे (लक्ष्मण को) अपना प्रेमी बना लोगी तो इससे तम्हारे अपने मुँह से कहे हुए गुणों की सत्यता ज्ञात हो जायगी अर्थात जब तुम लक्ष्मण को आकर्षित कर लोगी तभी मुझे तुम्हारे स्वगुण-कीर्तन पर विश्वास हो सकता है। यदि तुम वास्तव में सुन्दरी हो तो अपना प्रेमी बना लो।

काव्य-सौष्ठव :— अर्थान्तरन्यासालंकार प्रधान है। अन्त्यानुप्रास गौण है। लक्ष्मण के अपूर्ण जीवन को पूर्ण करने के लिए सम्मति देना कितना अनुनयपूर्ण है, इसे सहृदय पाठक समझ सकते हैं।

छंद :— ताटंक।

१८. जो अन्धे होते हैं बहुधा प्रज्ञा-चक्षु कहाते हैं।
पर हम इस प्रेमान्ध बन्धु को सब कुछ भूला पाते हैं ॥
इसके इसी प्रेम को यदि तुम अपने वश में कर लोगी।
तो मैं हँसी नहीं करता हूँ, तुम भी परम धन्य होगी ॥

प्रसंग :— प्रस्तुत अवतरण श्री गुप्त जी की पंचवटी से उद्धृत किया गया है। श्री रामचन्द्र जी शूर्पणखा के विवाह-प्रस्ताव पर उससे लक्ष्मण के साथ ही विवाह करने के लिए सम्मति दे रहे हैं :—

व्याख्या :— जो व्यक्ति चर्म-चक्षु-विहीन (आँख से अंधे) होते हैं, प्रायः उनमें बुद्धि-चक्षु (बुद्धि की आँख) होती है; परन्तु मेरा यह

प्रेम का अन्धा अनुज तो आँख रहते हुए भी सब प्रकार से अंधा है। यह सबको भूल गया है। अतः यदि तुम इसके प्रेम को अधिकार में करलो, तो मैं सत्य कहता हूँ, तुम भी अपने को धन्य मानोगी।

सारांश :—यदि तू (शूर्पणखा) लक्ष्मण से विवाह कर लोगी तो तुम्हारा यह सौन्दर्य भी उसके अविरल प्रेम से धन्य धन्य हो जायगा। अतः उसे वरो।

छंद :—लावनी।

१८. झंकृत हुई विषम तारों की तन्त्री सी स्वतन्त्र नारी—
"तो क्या अबलाएँ सदैव ही अबलाएँ हैं" बेचारी ?
नहीं जानते तुम कि देखकर अपना निष्फल प्रेमाचार,
होती हैं अबलाएँ कितनी, प्रबलाएँ अपमान विचार।

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण गुप्त जी की पंचवटी से लिया गया है। यह उस समय की बात है, जब शूर्पणखा के विवाह-प्रस्ताव को राम-लक्ष्मण दोनों ने अस्वीकार कर दिया था। यह असफलता देखकर शूर्पणखा क्रोधित हो चली।

व्याख्या :—शूर्पणखा लक्ष्मण के कठोर अस्वीकृति-सूचक शब्दों को सुनकर भभक उठी। जैसे किसी कठिन वीणा के तार झनझना उठते हैं; ठीक उसी प्रकार वह कड़कते हुए शब्दों में डपट कर बोली :—

"क्या तुम नारियों को निरी नारियाँ (पतली निर्बल) ही समझते हो ? क्या तुम यह नहीं जानते कि वे ही निर्बल नारियाँ अपने प्रेम को निष्फल होते देख कर तथा अपने अपमान को विचार कर कितनी शक्ति-शालिनी हो जाती हैं ?"

काव्य-सौष्ठव तथा अलंकार :—इसकी प्रथम पंक्ति में शब्द चित्र है। शब्दों के सुनने मात्र ही से चित्र उपस्थित हो जाता है। उपमा; अन्त्यानुप्रास तथा छेकानुप्रास अलंकार हैं।

छन्द :—लावनी; १६, १४ मात्रा पर यति है।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—'प्रस्तुत अवतरण शब्द-चित्रण का

उत्तम उदाहरण है। हिन्दी-साहित्य में "घन घमंड नभ गर्जत घोरा" वाले शब्द-चित्र के पश्चात् "झंकृत हुई विषम तारों की तंत्री सी स्वतंत्र नारी" कोटि के शब्द चित्र बहुत कम हैं।

२०. सबने मृदु मारुत का दारुण झंझानर्तन देखा था,
संध्या के उपरान्त तमी का विकृतावर्त्तन देखा था।
काल-कीट कृत वयस कुसुम का क्रम से कर्त्तन देखा था;
किन्तु किसी ने अकस्मात् कब यह परिवर्तन देखा था॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण मैथिलीशरण गुप्त की पंचवटी से उद्धृत किया गया है। इसमें शूर्पणखा के मायावी विराट एवं भयंकर रूप का वर्णन है।

व्याख्या :—यह सच है कि मन्द-मन्द बहती हुई हवा को पुनः बड़े वेगपूर्ण (झकझोर) रूप में बहते हुए तो प्रायः सभी ने देखा था तथा सायंकाल के बाद बड़े ही विकट रूप में अंधेरे के आगमन को भी देखा गया था; एवं समय रूपी कीड़े के द्वारा अवस्था रूपी फूलों का काटना भी प्रायः सभी देख चुके थे; परन्तु कोई भी इस प्रकार अचानक परिवर्तन नहीं देखा था। अर्थात शूर्पणखा का मायावी नग्न रूप तीव्र झकझोर, कठिन तमतोम एवं काल से भी भयावना था। ऐसा भयावना रूप पहले कभी-नहीं देखा गया था।

काव्य-सौष्ठव :—छेकानुप्रास, अन्त्यानुप्रास, निरंगरूपकालंकार हैं, काल रूपी कीड़ेने आयु रूपी पुष्प का वर्णन काव्य-सौष्ठव का विषय है।

छन्द :—ताटंक।

आलोचनात्मक टिप्पणी :—कवि के प्रस्तुत कवितांश में "झंझानर्तन" "काल-कीट" आदि उपमान बड़े ही निखरे हुए तथा प्रभावशाली है। ये ही शब्द रूपी छन्द के शिरमौर हैं।

२१. हमने छोड़ा नहीं राज्य क्या, छोड़ी नहीं राज्य विधि क्या? (२००६)
सह न सकेगा कहो हमारी इतनी सुविधा की विधि क्या?
"विधि की बातें बड़ों से पूछो वे ही इसे मानते हैं;
मैं पुरुषार्थ पक्षपाती हूँ, इसको सभी जानते हैं॥

प्रसंग :—प्रस्तुत अवतरण श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'पंचवटी से लिया गया है। श्री सीता जी अपने त्याग का वर्णन करती हुई विधाता और भाग्य का नाम लेती हूँ। लक्ष्मण इस पर मतभेद रखकर कहने लगते हैं कि मैं भाग्यवादी नहीं अपितु पुरुषार्थी व्यक्ति हूँ। इसी का वर्णन प्रस्तुत कवितांश में है।

व्याख्या :—सीता कहती है—क्या हम लोगों ने राज्य-सत्ता नहीं छोड़ी थी? क्या राज्य का खजाना नहीं छोड़ा? अर्थात् अवश्य छोड़ दिया। क्या ब्रह्मा जी हमारी इतनी सुविधा (वन में पर्णकुटी बना कर रहने की, जैसे राम लक्ष्मणादि रहते थे) भी नहीं देख सकते? यह सुन कर श्री लक्ष्मण जी बोले:—हे आर्ये! ब्रह्मा की बातें वे ही जानें; उन्हीं (राम की ओर संकेत है) से पूछो! मैं तो केवल पुरुषार्थ में विश्वास रखता हूँ; जैसा कि सभी जानते हैं।

सारांश :—सीता भाग्यवादी हैं और लक्ष्मण कर्म (पुरुषार्थ) वादी। सीता ब्रह्मा की ओर अपने दु:खों एवं सुखों का संकेत करती है परन्तु लक्ष्मण अपने बल तथा पुरुषार्थ पर विश्वास रखते हैं।

छन्द :—३० मात्रा का 'लावनी' छन्द है। १६, १४ मात्राओं पर यति है।

टिप्पणी :—कवि ने भाग्यवाद एवं पुरुषार्थवाद दोनों का अद्भुत सम्मिश्रण करके हमारे ऊपर निर्णयार्थ छोड़ दिया है। वह स्पष्ट नहीं किया कि दोनों में सत्य कौन है? वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि दोनों का समान स्थान है; यही कारण है कि दोनों की व्याख्या करके कवि मौन हो गया है। ❀

❀ पंचवटी के विशेष अध्ययन के लिए हमारी पंचवटी की टीका भूमिका सहित रीगल बुक डिपो, दिल्ली से मंगा कर देखिये।

आधुनिक काव्य संग्रह

प्रश्न १ :—मैथिली शरण गुप्त की रचनाओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर :—गुप्त जी की समस्त रचनाओं को हम मुख्य ८ भागों में बाँट सकते हैं :—

१—पौराणिक-काव्य :—जयद्रथ-वध, तिलोत्तमा, चन्द्रहास, त्रिपथगा, शक्ति और नहुष।

२—खंड-काव्य और प्रबन्ध-काव्य :—पंचवटी, साकेत और द्वापर।

३—कथानक :—रंग में भंग, अनघ, गुरुकुल, विकटभट, सिद्धराज और कुणालगीत।

४—चंपू—यशोधरा।

५—देशभक्ति-पूर्ण-काव्य :—भारत-भारती, स्वदेश-संगीत।

६—हिन्दू जातीयता-पूर्ण काव्य :—हिन्दू।

७—अनुवाद :—मेघनाथ-वध, पत्रावली और उमरखैयाम की रुबाइयों का अनुवाद।

प्रश्न २ :—गुप्त जी की काव्य-शैली पर भाषा, भाव तथा कवित्व शक्ति की दृष्टि से प्रकाश डालिए।

(सं० २००६)

उत्तर :—गुप्त जी आधुनिक युग के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी भाषा-शैली वर्णन प्रधान होने के कारण क्लिष्ट नहीं है। प्रायः अभिधा शक्ति वाले शब्दों का प्रयोग हुआ है। अतः उनकी

भाषा भाषा जन-साधारण से दूर नहीं है। कवि ने अन्य छाया वादी कवियों की भाँति शब्दों का प्रयोग प्रतीक के अर्थ में प्रायः नहीं किया है। भाषा चलती हुई तथा लोकोक्तिपूर्ण है; परन्तु भाषा उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी दोनों से बची हुई है। सारांश यह कि भाषा शुद्ध हिन्दी है, सर्वसाधारण के समझने योग्य है। यथा :—

"कहते है इसको ही अंगुली पकड़ प्रकोष्ठ पकड़ लेना।"

गुप्त जी इतिवृत्तात्मक युग के सबसे महान कवि हैं। अतः इतिवृत्तात्मक-शैली की प्रधानता, आपके काव्य की प्रमुख विशेषता है। इस शैली से व्यक्त हुए भाव प्रायः शीघ्र समझ में आते हैं। यही कारण है कि गुप्त जी की रचनाएँ जितनी लोक-प्रिय हैं; उतनी अन्य किसी भी आधुनिक कवि की नहीं। इसके अतिरिक्त आप ने अपने भावों को सीधी-सादी आर्जव तथा आकर्षक रीति से व्यक्त किया है। कल्पना में क्लिष्टता के प्रति आग्रह नहीं। फलतः आप अपने भावों को ज्यों का त्यों जनता के पास पहुँचाने में सफल हुए हैं, जो किसी भी लोक-प्रिय कवि के लिए आवश्यक गुण है।

भाव

कवि के नाते आपने सर्वदा अपने उत्तरदायित्व को समझा है। समय तथा परिस्थितियों पर विचार करते हुए आपने जनता का पथ-प्रदर्शन किया है।

आपकी रचना 'भारत-भारती' का आदर जनता ने हृदय से किया है; यह आपके मार्मिक भावों की देन का प्रतीक है।

गुप्त जी स्वभाव ही से कवि हैं। आपने अपने मनोवेगों को कल्पना के सहारे बड़ी ही मार्मिक रीति से व्यक्त किया है। कविता का स्रोत आप के कंठ से स्वतः ही फूट पड़ा है; बनावटीपन आपकी कविता में नहीं। जो कुछ है, मनोवेगों तथा मौलिक विचार-धाराओं का प्रतिफलन है। 'साकेत' की रचना आपकी कवित्व-शक्ति पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। 'उर्मिला' हिन्दी काव्य में उपेक्षिता रही; परन्तु आपने उसे अपनी लेखनी की शक्ति देकर 'साकेत' की नायिका बनाया तथा उसमें सरस जीवन की झाँकी लगाई। आपने अपनी लेखनी की तूलिका से उर्मिला का चरित्र बड़ा ही मनोमोहक बनाया है। उर्मिला के आँसुओं से त्याग की महानता भीग उठी है :—

कवित्व-शक्ति

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि पतंग तो जलता ही है, दीपक भी जलता है।
सीस हिला कर दीप कहता—

बंधु वृथा ही तू क्यों दहता ?
पर पतंग पड़कर ही रहता
कितनी विह्वलता है।
दोनों ओर प्रेम पलता है ॥

अहा ! इसमें मनोवैज्ञानिक सत्य का कितना सुन्दर समन्वय हुआ है। विशेषता तो इस बात की है कि प्रबन्ध-काव्य में मुक्तक-गीतशैली पहली हो वार यहाँ सफल हुई है। साकेत के अतिरिक्त आपकी कवित्व-शक्ति का परिचय यशोधरा, झंकार तथा काबा आदि में भी पूर्णरूप से मिलता है। पंचवटी के प्रकृति-चित्रण में तो कवि ने अपनी शक्ति को धन्य कर लिया है :—

नाच रहे हैं अब भी पत्ते मन से सुमन महकते हैं।
चन्द्र और नक्षत्र ललक कर लालचभरे लहकते हैं ॥

प्रश्न ३:—प्रतिनिधि कवि किसे कहते हैं ? आधुनिक काव्य-संग्रह में किस कवि को युग का प्रतिनिधि कवि कहा जा सकता है ? युक्ति-युक्त उत्तर दीजिए। (२००५)

उत्तर :—जो कवि किसी धारा विशेष, वाद विशेष, अथवा युग विशेष की समस्त भावनाओं का प्रतिनिधित्व करे; उसे उस धारा-विशेष, वाद-विशेष अथवा युग-विशेष का प्रतिनिधि कवि कहते हैं। जैसे छायावादी धारा की प्राय. समस्त भावनाओं, एवं विचार-धारा का प्रतिफलन पंत की कविता में हुआ है ; अतः वे छायावादी धारा के प्रतिनिधि कवि हैं। गीतिकाव्य में निराला का काव्य सभी आधुनिक कवियों से अधिक सुष्ठु तथा प्राञ्जल है अतः उन्हें गीतिकाव्य का प्रतिनिधि कवि कहते हैं। उसी प्रकार आधुनिक युग की प्रायः समस्त भावनाओं का समावेश जिस कवि की कविताओं में हुआ हो, वही इस युग का प्रतिनिधि कवि कहा जा सकता है।

इस दृष्टि-कोण से जब हम आधुनिक कवियों पर दृष्टि डालते हैं तो गुप्त जी की रचनाओं में हमें युग की प्रायः सभी भावनाएँ मिलती हैं।

उनकी भारत-भारती हमारे राष्ट्रीय वीरों का कंठहार रही है। "पहले

क्या थे, क्या हो गए और क्या होंगे अभी" में हमारे अतीत वर्त्तमान और भविष्य का सम्यक् चित्रण हो आया है। 'जयद्रथ-वध' तथा 'रंग-भंग' आदि ग्रन्थों में उन्होंने इतिवृत्तात्मक शैली की प्रधानता देकर जनता में अपनी लोक-प्रियता को छाप लगा दी है।

प्रतिनिधित्व के उत्तरदायित्व को भी कवि भूल नहीं सका है; अपने काव्य की प्रचलित धारा को क्षेत्र से बाहर नहीं जाने दिया है। साकेत द्वारा जहाँ उन्होंने रामकाव्य का प्रतिनिधित्व किया है; द्वापर लिखकर कृष्णकाव्य के नये रूप में सफल हुए हैं। सीता, द्रौपदी, उर्मिला तथा यशोधरा आदि नारी-चरित्रों को हमारे घर के अन्त:पुरों में प्रतिष्ठित करके "आँचल में दूध और आँखों में पानी" वाली करुणामयी उक्ति का सुन्दर दान दिया है।

कर्बला और सिद्धराज में उन्होंने भारतीय चतुर्थांश मुसलमानों का भी प्रतिनिधित्व किया है जिससे उनकी राष्ट्रीयता में चार चाँद लग जाते हैं।

आधुनिक युग की रहस्यवादी धारा भी 'झंकार' में आपसे अछूती नहीं रह सकी है। वर्त्तमान प्रगतिवादी साहित्य के सृजन में भी आप उदासीन नहीं हैं।

इस प्रकार हम गुप्त जी में राष्ट्रीय भावना, प्रगतिवादी दृष्टिकोण तथा रहस्यवादी प्रवृत्ति एवं अन्य सभी युग-प्रचलित धाराओं का समावेश पाते हैं।

अत: गुप्त जी सच्चे अर्थ में इस युग के प्रतिनिधि कवि हैं।

प्रश्न ४ :—"गुप्त जी हिन्दी के यशस्वी राष्ट्र-कवि हैं" इस पर युक्ति-युक्त विवेचना कीजिए।

उत्तर :—गुप्त जी को राष्ट्रीय कवि माने जाने का आधार उनकी प्रबल राष्ट्रीय भावना है। उनकी 'भारत-भारती' राष्ट्र की वाणी है, जिसने जनता के हृदय को मार्मिक रीति से स्पर्श किया है तथा अतीत, वर्त्तमान एवं भविष्य को गौरव से भर दिया है। उनकी शैली इतिवृत्ता-

त्मक होने के कारण जन-साधारण को रसास्वादन करा सकी है; साथ ही भावों की गहराई ने उच्च कोटि के व्यक्तियों का मार्मिक-स्थल स्पर्श किया है। इस प्रकार उनकी रचना को लोक-प्रियता प्राप्त है।

उनकी राष्ट्रीयता आवा कर्बला में और भी निखर आई है। कवि केवल हिन्दू जाति का ही नहीं अपितु समस्त भारत का राष्ट्रीय-कवि बन गया है। (शेष प्रश्नोत्तर ३ में देखिये)

प्रश्न ५ :—अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" के साहित्यक व्यक्तित्व पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये।

उत्तर :—"हरिऔध" जी का स्थान हिन्दी के निर्माताओं में है। आपने द्विवेदी-युग से आधुनिक युग तक साहित्य की सेवा की है। आपका अधिकार खड़ीबोली तथा ब्रजभाषा दोनों पर है तथा आप दोनों के सन्धिकाल के मूर्ति स्वरूप हैं।

रीतिशास्त्र तथा संस्कृत का आपको गहरा अध्ययन है; "रस-कलश" जिसका प्रतीक है।

कृष्ण-काव्य में आप सूरदास के उत्तराधिकारी हैं। 'प्रिय-प्रवास' की रचना ने आपका स्थान बहुत ऊँचा कर दिया है। यह एक महाकाव्य है जिसकी भाषा संस्कृत-गर्भित है। यह ग्रन्थ अपनी दृष्टि से अनूठा है; यह आद्योपान्त संस्कृत छन्दों में लिखा गया है। यह अतुकांत कविता का सर्वप्रथम सफल प्रयास है। इसकी भूमिका आपके पाण्डित्य का परिचय देती है। इस ग्रन्थ पर आपको 'मंगलाप्रसाद' पारितोषिक मिल चुका है। आपकी भाषा जितनी ही संस्कृत-गर्भित है; उतनी ही सरल भी। यह बात 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' को पढ़ने से पता चलता है।

आपसे राम काव्य भी अछूता नहीं रह सका है। "वैदेही बनवास" से यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है।

आपकी गद्य रचनाओं में 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' तथा 'देवबाला' आते हैं।

प्रश्न ६:—'प्रसाद जी' मानव हृदय की भावनाओं के सफल कलाकार हैं" इसकी सयुक्तिक विवेचना कीजिए।

अथवा

प्रसाद की प्रमुख रचनाओं की विशेषता बताते हुए उनके साहित्यिक जीवन की समीक्षा कीजिए।

उत्तर :—श्री जयशंकर प्रसाद जी स्वभावतः मानव जीवन के आभ्यन्तरिक रहस्यों के स्वतंत्र विचारक थे। उनकी शैली की गंभीरता, हिन्दी को आधुनिक चेतना की देन, खड़ीबोली की खड़खड़ाहट को भावना-प्रवाह से ओजपूर्ण बनाना, कल्पना की ऊँची उड़ान आदि विशेषताएँ सर्वदा के लिए अमर । उन्होंने ही छायावाद और आधुनिक रहस्यवाद को जन्म दिया तथा इसे कामायनी द्वारा अन्तिम सीढ़ी तक पहुंचाया।

वे सच्चे कवि थे, अनुकरण की प्रकृति उनमें नहीं थी। उन्होंने स्वयं ही गूढ़ातिगूढ़ विषयों का मनन किया तथा वर्तमान के लिए अतीत की गहराइयों में बैठकर मौक्तिक निकाले। अंग्रेजी युग में रहते हुए भी उन्होंने अंग्रेजी का दान स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार मौलिकता का दान देकर उन्होंने हिन्दी की नींव को पुष्ट बनाया। उनका अधिकार बौद्ध विचार-धारा पर था; जिसकी स्पष्ट छाप उनकी रचनाओं में है। उनका नियतिवाद भारतीय परम्परा के सर्वथा अनुकूल है।

उनकी कविताओं में झरना, लहर, आँसू तथा कामायनी का विशिष्ट स्थान है। झरना और लहर गीति-काव्य हैं। आँसू मुक्तक रचना है तथा कामायनी एक महाकाव्य ग्रंथ है। इस प्रकार वे एक महाकवि थे। दूसरी ओर एक महान नाटककार के रूप में हमारे सामने आये। उन्होंने अतीत के गर्भ से आधुनिक नाटकों की सृष्टि की। चन्द्रगुप्त, स्कंदगुप्त, अजातशत्रु, ध्रुव-स्वामिनी तथा जनमेजय का नागयज्ञ प्रमुख नाटक-ग्रंथ हैं। कुछ दिनों पूर्व इनके नाटकों में भाषा की क्लिष्टता तथा अनभिनेयता आदि दोष देखे जाते थे परन्तु यह भूल थी। यदि हम अभिनय नहीं कर सकते, अथवा हमारे पास वैसे रंगमंच नहीं है

तो यह हमारा दोष है न कि प्रसाद का। दूसरी ओर प्रसाद की भाषा लोक-प्रियता के लिए नहीं, वह तो हीरे की खान है; जिस पर उच्च साहित्यिक-वर्ग का ही अधिकार रह सकता है। इस प्रकार ये तो दोनों ही गुण हैं; अवगुण नहीं। हिन्दी साहित्य में उनकी यह देन अमूल्य है; इससें भी 'अन्तर्द्वन्द्व' अपना स्थान सर्वदा ऊँचा रखेगा।

प्रसाद जी सफल कवि, सफल नाटककार होते हुए एक सिद्धहस्त कहानीकार एवं उपन्यासकार थे। उनकी ये दोनों प्रकार की रचनाएँ अपने दृष्टिकोण से बेजोड़ हैं। 'कंकाल' तथा 'तितली' दोनों मानव-हृदय की सूक्ष्म वस्तुओं (भावनाओं) के व्याख्यात्मक उपन्यास हैं। 'आकाशदीप' तथा 'इंद्रजाल' की कहानियों का महत्व भी किसी अन्य कहानी से कम नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद जी की बहुमुखी प्रतिभा ने हिन्दी क्षेत्र में सर्वत्र ही प्रकाश दिया है। उन्होंने मानव हृदय की व्याख्या सभी दिशाओं में की है।

अतः प्रसाद जी मानव-हृदय के सफल कलाकार हैं।

प्रश्न ७ :—श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" के विषय में आप क्या जानते हैं? इनकी विशेषताओं का वर्णन करते हुए रचनाओं का भी परिचय दीजिए।

उत्तर :—'निराला' जी एक युग-प्रवर्तक कवि हैं। आप ही भारती के सर्वप्रथम कवि हैं, जिन्होंने छंदों में चिरवन्दिनी हिन्दी का उद्धार किया है। आप ही ने सर्व प्रथम "प्रिये छोड़ वन्धनमय छन्दों की छोटी राह" का आन्दोलन चलाया। आप नर-केशरी हैं, जिसका प्रतिबिम्ब काव्य-सरिता में स्पष्ट हो आया है। प्रत्येक पंक्ति में आपका व्यक्तित्व सजीव हो उठा है। गीतिकाव्य के आप प्रतिनिधि कवि हैं। अन्य प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :—

(अ) भाषा में संस्कृत शब्दों की प्रचुरता है, जो गहन विचारों को व्यक्त करने के लिये प्रयोग किया गया है। कहीं कहीं आपकी भाषा इतनी सरल हो गई है, जिसे जनसाधारण भलीभाँति समझ सकता है।

(ब) आप अपनी दार्शनिकता के लिए प्रसिद्ध है। आपका अध्ययन दर्शनशास्त्र में अधिक है। स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव आप पर अधिक है। आप अद्वैतवादी हैं; यही कारण है कि कठिन विपत्तियों में भी आपने धैर्य नहीं खोया।

(स) काव्य-क्षेत्र में आप अपने मुक्तक छन्दों के लिए प्रसिद्ध हैं। आप की रचनाएँ प्रायः गण मात्रा से हीन हैं। ताल और लय के आधार पर आपने कई प्रकार के छन्दों की सृष्टि की है।

(द) आप रूढ़िवाद के कट्टर विरोधी हैं। भाव, छंद आदि किसी प्रकार का भी बंधन, आपने कवि के लिए अनुचित समझा और सफल क्रान्ति की।

(य) आपकी कविताओं पर माइकेल मधुसूदन, रवीन्द्र बाबू का प्रभाव है। दर्शन में विवेकानंद के शिष्य हैं।

(र) आपकी रचनाएँ क्रमशः, अनामिका (१९२३), परिमल (१९३०), गीतिका (१९३६), अनमिका (१९३८), तुलसीदास (१९३८), कुकुरमुत्ता, बेला, नये पत्ते १९४६), आदि हैं।

(ल) उपरोक्त रचनाओं में आपने प्राकृतिक तथा मानवीय दोनों प्रकार के सौंदर्य चुने हैं। 'तुलसीदास' एक खण्डकाव्य है। गीतिका में रहस्यवाद निखर आया है। कुकुरमुत्ता आदि में कवि प्रतिवादी हो गया है।

(व आपके उपन्यासों में अप्सरा, अलका, निरुपमा तथा कहानियों में 'लिली' और 'सखी' हैं।

इस प्रकार हम निराला में प्राचीनता, नवीनता तथा आधुनिकता आदि की एक शृंखला पाते हैं।

प्रश्न ८ :—"पंत प्रकृति के कवि हैं" इस पर अपना संयुक्तिक मत दीजिए।

उत्तर :—निस्सन्देह पंत जी प्रकृति के कवि हैं, गायक हैं तथा उसके अंचल के सुकुमार शिशु हैं। आपको प्रकृति-निरीक्षण ही से कविता की प्रेरणा मिली थी। आपने अपनी जन्म-भूमि कूर्माचल प्रदेश

में प्रकृति के सौन्दर्य को हृदय खोलकर देखा। उससे तादात्म्य का अनुभव किया। इन्हीं भावों का प्रतिबिंब हम उनकी वीणा, पल्लव आदि में पाते हैं। कवि का दार्शनिक सिद्धान्त भी वर्ड्सवर्थ की भाँति प्रकृति पर ही आधारित है। यथा :—

"न जाने कौन अयि द्युतिमान,
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूंक देते छिद्रों में गान।"

आप प्रकृति से आमने सामने बातें करते दिखाई पड़ते हैं, यथा :—

"बता दो ना हे मधुप कुमारि,
अपना वह मधुर गान।"

इस प्रकार पंत प्रकृति के कवि हैं।

प्रश्न ६ :—पंत की प्रवृत्तियों तथा विचारधाराओं पर एक युक्तियुक्त टिप्पणी लिखिये।

उत्तर :—पंत 'छायावाद' के प्रतिनिधि कवि हैं; प्रकृति-वादी हैं तथा आपने आधुनिक प्रमुख प्रवृत्तियों तथा विचारधाराओं का सुन्दर समन्वय किया है। आप अपनी रचना वीणा और पल्लव में छायावादी, गुंजन में रहस्यवादी ज्योत्सना में प्रतीकवादी; युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या में प्रगतिवादी (समाजवादी) होगए हैं; परन्तु आपने कहीं भी किसी प्रवृत्ति को तिलांजलि नहीं दी है, अपितु सबका सब में सुन्दर समन्वय किया है। वास्तव में आप समन्वयवादी हैं। आप पर अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ, कीट्स, शैले, टेनीसन तथा बंगला कवि रवि बाबू का प्रभाव पड़ा है।

आपकी भाषा बड़ी कोमल है। ध्वनि में चित्रमयता है फिर भी आप भाव-पक्ष को कला-पक्ष से उत्तम मानते हैं। वास्तव में आप खड़ी बोली के मधुर कवि हैं।

आपकी दो प्रमुख धाराएँ छायावाद और प्रगतिवाद हैं। आपने जीवन की समस्याओं को प्रगतिवाद के द्वारा सुलझाने में योग दिया है।

समाज के बंधनों में बंधी हुई नारी के प्रति आपकी अधिक सहानुभूति है। यही कारण है कि आपने प्रगतिवाद में पैर बढ़ाकर 'ग्राम्या' की रचना की। आप प्रगतिवाद को 'उपयोगितावाद' की संज्ञा देते हैं।

प्रश्न १० :—"श्री माखनलाल चतुर्वेदी एक भारतीय आत्मा, शरीर से योद्धा, हृदय से प्रेमी, आत्मा से विह्वल-भक्त तथा विचारों से क्रान्तिकारी हैं" इस पर अपना सयुक्तिक मत दीजिए।

उत्तर :—वास्तव में चतुर्वेदी जी के व्यक्तित्व के ये चारों रूप हैं।

"मुझे तोड़ हे वनमाली उस पथ में देना तू फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जाते हों जहँ वीर अनेक।"

उनकी युद्ध-वीरता का परिचायक है तथा इसी में उनके क्रान्तिकारी विचार भी मिल जाते हैं। "कोकिल बोलो तो" में उनकी क्रान्तिकारी विचारधारा और भी स्पष्ट हो जाती है। "अरे अशेष शेष की गोदी बने तेरा बिछौना सा" में उनके हृदय से भक्ति का स्रोत फूटता सा दिखाई देता है। उनकी साकार भावना निराकार में मग्न होने का साधन है। उनकी आत्मा प्रभु के प्रेम में विह्वल है। वे सूफियों जैसे प्रेमाकुल तथा कातर हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वे शरीर से योद्धा, हृदय से प्रेमी, आत्मा से विह्वल भक्त और विचारों से क्रान्तिकारी हैं। परन्तु ये चारों तत्व पृथक पृथक अंकुरित नहीं होते। इसका समन्वय कवि ने भली भाँति किया है। उसकी राष्ट्रीय भावना, प्रभु-भक्ति से दूर की वस्तु नहीं। वह तो प्रभु-प्राप्ति के दो साधन हैं। यदि हम उन्हें राष्ट्रीय-रहस्यवादी कहें तो अत्युत्तम है। इस प्रकार धर्म और राजनीति (राष्ट्रीयता) का बड़ा ही मधुर रूप कवि ने रखा है। कवि का जीवन अधिकतर जेलों में कटा है परन्तु वह निराशावादी नहीं। उनमें एक विचित्र विरोधात्मक विचार मिलते हैं। वे सौन्दर्य और शृंगार के रसिक कवि हैं; परन्तु संयम भी साथ-ही-साथ है।

आपने अन्य भाषाओं से शब्द उधार लिए हैं; जिन्हें हिन्दी ने अपना लिया है। आपकी रचना का संकलित रूप "हिम-किरीटिनी"

है। "साहित्य देवता" गद्य ग्रंथ तथा "कृष्णार्जुनयुद्ध" प्रख्यात नाटक हैं।

प्रश्न ११ :—श्रीमती वर्मा (महादेवी) के काव्य की विशेषताएँ लिखिये।

उत्तर :—श्रीमती वर्मा की प्रमुख रचनाएँ नीहार, रश्मि, नीरजा पुनः तीनों का एकीकरण 'यामा' है। पीछे की रचनाएँ स्नेह की जलन-'दीपशिखा' है। इनके आधार पर हम उनके काव्य की निम्नांकित प्रमुख विशेषताएँ देखते हैं :—

(अ) राष्ट्रीय जागृति :—आपकी प्रारम्भिक कुछ रचनाओं में राष्ट्रीयता की चाँदनी छिटकी हुई है। उनके भाव बड़े ही संयत रूप से प्रवाहित हुए हैं। यथा :—

"तेरी उतारू आरती माँ भारती"

अथवा

"शृंगारमयी अनुरागमयी भारत जननी, भारत माता"

(ब) करुणा की गहरी छाप:—आपकी रचनाओं में विषाद की तमोनिशा साकार हो उठी है। अभाव तथा वेदना को वाणी मिली है। उनके लिए यह विश्व-व्यथा का सवेरा है; इसके प्रभाती किरणों में सुनहरी नमी है। उनके इस प्रकार की रचनाओं में व्यथा संग्रहणीय न होकर बिखेरी जाने वाली हो गई है। प्रकृति के सभी अंग यथा (ऊषा, संध्या, रात्रि आदि) उनके लिए आँसू से तर होकर प्रकटित होते हैं। सारांश यह कि व्यथा, करुणा, कसक और पीड़ा का जितना मार्मिक विश्लेषण आपने किया है; हिन्दी साहित्य में अन्य किसी ने नहीं किया।

(स) रहस्यवाद उनका अपना विषय है। आत्मा को नारी रूप में तथा परमात्मा को प्रियतम रूप में देखकर कवयित्री ने अपने नारी हृदय से रहस्यवाद को रंगीन बना दिया है। ऐसी तड़पन अन्यत्र दुर्लभ है। यथा :—

"क्यों मुझे प्राचीर बनकर आज मेरे प्राण घेरे।"

अथवा :--"फिर विकल हैं प्राण मेरे"

एक हृदय की तड़पन देखिये :--

आह ! वह कोकिल न जाने--
क्यों हृदय को चीर रोई ?

(द) छायावाद :--आपका स्थान छायावाद के वेदना-क्षेत्र में सर्वोच्च है। भावों की अभिव्यंजना, कसकमय नवीन शब्दावली का निर्माण तथा वीणा, झंकार आदि अनेक प्रतीकों का प्रयोग आपकी शैली की विशेषताएँ हैं।

इसके अतिरिक्त श्रीमती वर्मा चित्रकार भी हैं; यामा इसका उदाहरण है। 'अतीत के चल चित्र', 'शृंखला की कड़ियाँ' गद्य रचनाएँ हैं। आपका 'विवेचनात्मक गद्य' आपके पाण्डित्य का दर्पण है; उसमें चिन्तन-शीलता और गंभीरता उमड़ आई है।

प्रश्न ११ :--"श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' राष्ट्रीय धारा के अत्यन्त प्रतिभाशील कवि हैं" इस कथन की सयुक्तिक विवेचना कीजिए।

उत्तर :--नवीन जी निर्विवाद एक प्रतिभा-सम्पन्न राष्ट्रीय कवि हैं। उनके हृदय में साहित्य और राष्ट्र के हितार्थ एक अविरल प्रेमधारा बहती रही है। राष्ट्र के हितार्थ आप जेल रहते रहे हैं। परन्तु साथ ही साहित्य की अभिवृद्धि के लिए रचनाएँ भी करते रहे हैं।

आपमें कुछ विरोधी तत्वों का समावेश है। आपके विचार नैतिक दृष्टिकोण से बड़े ही संयत, प्रबल और दृढ़ है। ठीक इसके विपरीत आपके स्वरों में प्रेम तथा कविताओं में एक प्यार की अमिट प्यास अंकित हुई है।

विद्रोहात्मक कविताओं में "कवि कुछ ऐसा गान सुनाओ, बस उथल पुथल मच जाय" का बड़ा ही उच्च स्थान है। यह आपके हृदय के तारों की प्रतिध्वनि है; इसमें बनावट नहीं।

परन्तु आपकी रचनाए अधिक नहीं हैं। केवल 'कुंकुम' आपका कविता-संग्रह है।

प्रश्न १२ :--श्री सुभद्राकुमारी चौहान पर एक संक्षिप्त आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये।

श्री सुभद्राकुमारी एक नारीरत्न थीं; जिनका स्वर्गवास अभी हाल में मोटर-दुर्घटना के कारण हुआ है। आप राजपूतनी होने के नाते स्वभावतः देश-प्रेम-विषयक रचनाएँ करती थीं।

सर्वप्रथम आपकी प्रतिभा की किरणें "कर्मवीर" द्वारा हिन्दी-साहित्य-गगन में विकीर्ण हुईं। तत्पश्चात् आपने 'राखी', 'झाँसी की रानी' तथा 'बिखरे मोती' की रचना की। राखी एक मुक्तक रचना है जिसके द्वारा आपने राष्ट्र को अपनी भगिनी-भावना से भर दिया है। 'झाँसी की रानी, एक सर्वप्रिय रचना है; जो आजकल आपके नाम का पर्याय सा हो गया है। एक के साथ दूसरे का स्मरण हठात् हो जाता है।

आपकी भाषा उर्दू, मिश्रित हिन्दी नहीं अपितु शुद्ध हिन्दी है; तथापि उसमें क्लिष्टता नहीं आने पाई है। भाषा की इस सादगी में आपने भावनाओं का सागर उडेल दिया है।

काव्य-प्रवाह में मनमोहकता है। शैथिल्य का नाम भी नहीं मिलता।

' बिखरे मोती" आपकी कहानियों का संग्रह है।

आपसे अभी हिन्दी को आशा थी; परन्तु अचानक दुर्घटनावश आपसे विछोह हो गया है।

प्रश्न १३ :—"श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' की कविता में देश-व्यापी जागरण का स्वर है" इस उक्ति की सार्थकता पर समुक्तिक विवेचना कीजिए।

<u>अथवा</u>

'दिनकर' जी के काव्य की विशेषाओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर :—श्री 'दिनकर' एक परिवर्त्तनवादी कलाकार हैं। आर्य संस्कृति की आधुनिक पतितावस्था देखकर उनका हृदय विक्षुब्ध हो उठा है; अतः वे इसे उलट देना चाहते हैं। उनमें हमारे अतीत के प्रति बड़ी श्रद्धा है। अतीत का गौरव उनके नस-नस में भरा पड़ा है, उन्हें उसका मोह है; उसकी करुण स्मृति है।

रोटी और कपड़ा विहीन भारतीयों को देखकर उन्हें अपने

अतीत के स्वर्ण-युग की स्मृति हो जाती है; जबकि भारत में दूध की नदी बहती थी; सुवर्ण का दान होता था और पीताम्बर हमारा वस्त्र था।

अतः उनकी कविता में भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल इतिहास है। नालन्दा, वैशाली, पाटलिपुत्र तथा हस्तिनापुर की बिखरी ईंटों से उन्हें स्वाभाविक प्रेम है; वे उन ईंटों के मधुमय इतिहास की स्मृति में कराह उठते हैं। इस श्रेणी की रचनाओं में 'कविता की पुकार' "बोधिसत्व" 'मिथिला' तथा 'वैभव की समाधि पर' का उच्च स्थान है। इसमें क्रान्ति की ज्वाला भरी पड़ी है। यथा :—

क्रान्ति-धात्रि कविते ! जाग उठ,
आडम्बर में आग लगा दे।
पतन, पाप, पाखंड जले,
जग में ऐसी ज्वाला सुलगादे।

'रेणुका' उनकी कविताओं का प्रथम संग्रह है। तत्पश्चात् 'रसवन्ती' की रचना अपने नाम की सार्थकता के साथ होकर प्रकटित हुई है।

आपको प्रकृति से भी स्वभावतः प्रेम है। अतः उन्हें पर्वत, उपत्यका, हरियाली तथा निर्भर आदि में आत्मीयता मिलती है।

साथ ही इनमें कवि भारत का गौरव भी देखने लगता है। 'हिमालय के प्रति' वाली रचना इसका प्रमाण है। 'मेरे नगपति विशाल' इसका प्रतीक है।

आप गीति-शैली के कलाकार नहीं हैं। कथात्मकता अधिक पाई जाती है। आपके भाव सहजगम्य तथा मार्मिक हैं; भाषा परिष्कृत है।

प्रश्न १४ :—श्री उदयशंकर भट्ट की हिन्दी-सेवाओं पर एक टिप्पणी लिखिये।

उत्तर :—भट्ट जी एक सफल नाटककार हैं; साथ ही एक अच्छे कवि भी। गीति नाटकों में आपकी दोनों धाराओं का सुन्दर सम्मिश्रण है।

नाटकों में 'तीन नाटक', 'मुक्तिपथ', 'विक्रमादित्य' तथा 'मत्स्यगंधा' उल्लेखनीय हैं, जिनमें आपका सफल व्यक्तित्व मुद्रण है।

'युगदीप' नामक रचना में आपने संघर्षमय राजनैतिक जीवन का सुन्दर चित्रण किया है। अन्य काव्य-संग्रह 'विसर्जन' 'अमृत और विष' भी 'युगदीप' के पथ पर लिखे गए हैं। 'तक्षशिला' एक प्रबन्ध-काव्य है।

आपकी भाषा बड़ी परिमार्जित तथा विषयानुकूल है, माधुर्य भाव निखरा हुआ है।

आपका साहित्य जीवन का दर्पण है। हमारा दैनिक जीवन जिस प्रकार आज असन्तोष और विद्रोहमय है; उसी प्रकार आपकी रचनाओं में भी जीवन की यथार्थ व्याख्या है।

इस प्रकार भट्ट जी ने हिन्दी-साहित्य की पूजा में अपने उत्तमोत्तम नैवेद्य चढ़ाए हैं। साहित्यिक वर्ग आपकी इन सेवाओं का आभारी है।

प्रश्न १५ :—श्री हरिवंशराय 'बच्चन' की लोक-प्रियता का कारण क्या है? स्पष्ट व्यक्त कीजिए।

उत्तर :—श्री बच्चन की लोक-प्रियता के निम्नांकित प्रमुख कारण हैं :—

(अ) कवि हिन्दी में अपने विषय के दृष्टिकोण से अनोखा है। भारतीय सांस्कृतिक मान्यताओं में 'हालावाद' त्याज्य विषय रहा है। परन्तु बच्चन ने इसे उर्दू की रुबाइयों से उधार लेकर हिन्दी में खड़ा किया; जिससे जनता की दृष्टि इस ओर खिंची। आकर्षण का एक गौण कारण मानवता का एक दुर्बल अंग "अपने को भूलना" कहा जा सकता है। 'मदिरा' सम्बन्धी सभी रचनाएँ प्रायः यही पाठ पढ़ाती हैं।

(ब) बच्चन की भाषा तथा व्यञ्जना की शैली अति सरल है जिसे जनता भली प्रकार समझ सकती है; दूसरी ओर छायावादी कवियों की कठिन संस्कृत भाषा एवं कल्पना की ऊँची उड़ान साधारण जनता की वस्तु नहीं थी। अतः जन-साधारण ने बच्चन की कविता का आदर किया।

(स) व्यक्तिगत जीवन का जैसा सच्चा रूप बच्चन की कविताओं में व्यक्त हुआ है; वैसा अन्यत्र नहीं। अतः लोक-प्रियता अवश्यम्भावी थी।

(द) कवि अपनी कविताओं के पढ़ने की एक विशेष कला रखता है; जिससे वह समय समय पर सभाओं एवं सम्मेलनों में अपनी कविताएँ सुनाकर जनता को घंटों मन्त्रमुग्ध रख सकता था।

इन सरल कारणों से बच्चन जनता के हृदय को बड़ी सहानुभूति से छू सके हैं। वास्तव में आप जन-रुचि के प्रमुख कवि हैं।

प्रश्न १६ :—'हालावाद' किसे कहते हैं? सोदाहरण व्यक्त करते हुए बच्चन की रचनाओं में उनका 'वाद' निर्णय कीजिए।

उत्तर :—सामाजिक जीवन में मदिरा-पान का जो दृश्य है, साहित्यिक क्षेत्र में उसी का सरस वर्णन ही हालावाद है। वास्तव में यह 'वाद' पलायनवादी प्रवृत्ति का एक रूप है। जब मानव में अपने कष्टों तथा कठिनाइयों से सामना करने की शक्ति नहीं रह जाती; तो वह ऐसा सहारा ढूँढता है जिसमें वह अपने दुःखों, कठिनाइयों आदि को भूल सके। मदिरा इसके लिए महान् औषधि है। अतः वह मदिरा की शरण लेता है। अतः इस प्रवृत्ति को हालावादी प्रवृत्ति कहते हैं।

इस दृष्टि से जब हम बच्चन की रचनाओं में 'मदिरालय' 'साक़ीबाला' 'प्याला' 'पीनेवाला' 'मधुशाला' 'तेरा हार' तथा 'मधुकलश' आदि पर दृष्टिपात करते हैं; तो स्पष्ट ज्ञात है कि कवि हालावादी हैं। उदाहरण स्वरूप निम्नांकित अवतरण रखे जा सकते हैं :—

इस पार प्रिये तुम हो, मधु है; उस पार न जाने क्या होगा।
यह चाँद उदित होकर नभ में, कुछ ताप मिटाता जीवन का
लहरा लहरा ये शाखायें कुछ शोक भुला देतीं मन का।
बुलबुल तरु की डाली पर से संदेश सुनाती यौवन का।

× × ×

तुम देकर मदिरा के प्याले, मन मेरा बहला देती हो।
उस पार मुझे बहलाने का उपचार न जाने क्या होगा।
इस पार प्रिये तुम हो, मधु है उस पार न जाने क्या होगा॥

परन्तु 'बच्चन' को केवल 'हालावादी' कह देना अनुपयुक्त है। उनकी नवीन रचनाओं की दिशा अब हालावादी नहीं रही। 'सतरंगिनि'

'एकान्त संगीत' तथा 'मौन-निमंत्रण' आदि रचनाएँ यदि देखी जायँ तो रहस्यवादी 'प्रवृत्ति की ओर अधिक झुकी हुई हैं।

कुछ भी हो, बच्चन जन-हृदय के सच्चे सहानुभूति-दायक रहे हैं तथा भविष्य में भी रहेंगे, ऐसी आशा है।

प्रश्न १७ :—सियारामशरण गुप्त की भाषा, भाव, शैली तथा कवित्व-शक्ति की दृष्टि से आलोचना कीजिए।

उत्तर :—गुप्त जी अपने अनुज श्री मैथिलीशरण गुप्त के समान ही साहित्य-गगन के जगमगाते नक्षत्र हैं। भाषा सरल तथा सुबोध है।

भाषा — शब्द-संचय में उलझाव नहीं मिलता। प्रवाह कुछ ऐसा ढलता हुआ है कि भाषा में कृत्रिमता नहीं पाई जाती; स्वभावतः बहती हुई ज्ञात होती है। यथा :—

पड़ी एक करवट कब से, तू बोल बोल ! कुछ तो बेटा।

भाषा के सरल होते हुए भी भावों में छिछोरापन नहीं है। भाव

भाव — अति गम्भीर हैं, जो एकदम हृदय को स्पर्श करते हैं। कवि के भाव वाणी की भाँति तीव्र हैं, जो सीधे तेजी से हृदय पर चोट करते हैं। यथा :—

"सहसा यह सुन पड़ा कि कैसे अछूत भीतर आया ?"

× × × ×

"बेटी की छोटी इच्छा वह कहीं पूर्ण मैं कर देता,
थे क्या अरे दैव त्रिभुवन का सभी विभव मैं हर लेता ?"

इस भाँति हम देखते हैं कि कवि की भाषा बड़ी सीधी सादी है परन्तु भाव बड़े गहरे। कवि ने बच्चों की सरल भाषा में हमारे हृदय का मार्मिक स्थल स्पर्श किया है। भाव बड़े निर्मल हैं।

आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कविता का मूल्य

कवित्व-शक्ति — तभी है जब पाठक अथवा श्रोता कविता सुनते अथवा पढ़ते ही "सच कहा" कह दे। यदि हम कविता के इस उत्तमोत्तम गुण की दृष्टि से गुप्त जी की कवित्वशक्ति

पर विचार करें तो यह बात सोलह आने ठीक बैठती है। आप अपनी सीधी-सादी भाषा में अपनी सशक्त भाव-प्रकाशन शैली द्वारा जन-रुचि को अपनी ओर आकर्षित कर सकने में सफल हुए हैं।

आपकी कविताओं का महत्व, आपकी एक विशेष विषय-प्रणाली है। आपने प्रायः उपेक्षित विषयों को अपने काव्य का रूप दिया है; जिनसे हम अपने दैनिक जीवन में अति निकट होते हुए भी ध्यान नही देते। दूसरे शब्दों में यह कि हम बहुधा किसी वस्तु को देखते हैं परन्तु ध्यान नही देते; प्रायः ऐसे ही विषय गुप्त जी के काव्य में अवतरित हुए हैं।

विशेषता

आप अपने अग्रज की भाँति ही राष्ट्र-प्रेमी हैं। आपका मौर्य-विजय, आर्द्रा, पथिक, दुर्वादल, विषाद, आत्मोत्सर्ग, अनाथ आदि रचनाओं में इसकी अच्छी झाँकी मिलती है तथा 'बापू' काव्य तो इसका प्रतीक ही है। जिसमें गांधी जी की विचारधारा का सुन्दर चित्रण हुआ है।

प्रश्न १८ :—श्री भगवतीचरण वर्मा के काव्य की विशेषता संक्षेप में लिखिये।

उत्तर :—वर्मा जी (भगवतीचरण) एक बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न कवि हैं। आपकी विशेषता आपके प्रणय-विह्वल पुकारों में है।

आप एक यथार्थवादी कवि है। आपकी रचनाओं में किसी दूसरे लोक की बातें नही। आध्यात्मिकता का स्थान भौतिकता ने ले लिया है। प्रेम और यौवन आपका प्रमुख विषय रहा है। शब्दों में मिठास और भावों में एक अजीव मस्ती मिलती है यथा :—

> हम दीवानों की क्या हस्ती, हैं आज यहाँ कल वहाँ चले।
> मस्ती का आलम साथ चला, हम धूल उड़ाते जहाँ चले॥

आजकल का झुकाव जनवाद की ओर है। 'मानव' तथा 'भैंसा-गाड़ी' इसके प्रबल प्रमाण हैं।

कविता-क्षेत्र के बाहर आप उपन्यासकार तथा कहानीकार भी हैं। चित्रलेखा, तीन वर्ष, पतन आपके सजीव उपन्यास । 'दो बाँके' तथा 'इन्स्टालमेंट' का कहानी-संग्रह जनता में लोकप्रिय रहे हैं।

इसके अतिरिक्त कवि एक सफल गीतिकार हैं जिसमें आपका व्यक्तित्व निखर आया है।

प्रश्न १६ :—श्री नरेन्द्र शर्मा की प्रवृत्तियों पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये।

उत्तर :—शर्मा जी का काव्य-विषय "कोमलता पर होने वाले आघातों की कसक का सजीव चित्रण" रहा है। उसमें कवि ने प्रणय-बन्धनों की ग्रंथियों को खोलने का प्रयास किया है। वास्तव में कवि का जीवन ही उसकी कविताओं में प्रतिबिम्बित हुआ है। कवि ने यौवन की कसमसाहटों, आशाओं तथा निराशाओं को स्पन्दन दिया है जिसका प्रमाण उसकी रचना "प्रवासी के गीत" हैं। उसकी अन्य पीछे की रचनाओं 'पलाशवन' 'मिट्टी के फूल' में कवि मानववादी तथा प्रगतिवादी क्षेत्र से उतरता जान पड़ता है। इनमें कवि ने अपनी यौवन समस्या को भुला कर जीवन की कटुसत्य समस्याओं पर विचार किया है।

एक नई कृति 'कामनो' में कवि पुनः प्रणय-कथा का पुरोहित बन बैठा है।

प्रकृति के प्रति आपका दृष्टिकोण उदार है। आपको उसकी गोद में सुख और उल्लास मिलता है।

आपकी शैली में आधुनिकता है। विदेशी शब्द तथा कोट, बटन आदि का प्रयोग आप निस्संकोच करते हैं।

आजकल आप गीति-लेखक के रूप में सिनेमा जगत् की शोभा बढ़ा रहे हैं।

प्रश्न २० :—पं० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' की रचनाओं पर एक संक्षिप्त आलोचनात्मक टिप्पणी लीखिये।

उत्तर :—श्री अंचल की कृतियों में 'अपराजिता' एवं 'मधूलिका' प्रारम्भिक संग्रह हैं। इनमें कवि ने यौवन की मर्मभेदी वेदना; आशा, निराशा के रुदन तथा हास्य का विचित्र चित्रण किया है। कसक और कराह की प्र[illegible]: बहुत-सी कविताएँ नैराश्य एवं विरह-ज्वाला से

दग्ध है। इसमें कवि की वाणी साकार हो उठी है; सम्भवतः कवि ने इसमें स्वयं अपना चित्रण किया है।

पीछे की रचनाओं में 'किरणबेला', 'करील', 'लाल चूनर' हैं, इनमें कवि प्रगतिवादी बन गया है।

'चढ़ती धूप' नामक उपन्यास तथा 'तारे' और 'ये वे बहुतेरे' कहानी संग्रह आपकी कृतियाँ हैं। 'समाज और साहित्य' आपके विचारों का संग्रह है।

उपर्युक्त समस्त रचनाओं पर एक विहंगम दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि कवि यथार्थता तथा ऐहिकता का विद्रोही है तथा काल्पनिकता के प्रति स्पष्टता का प्रबल विरोधी। उसके काव्य में सौंदर्य की तृष्णा, प्रेम की प्यास तथा प्यार की अतृप्ति भरी हुई है।

आधुनिक समाजवाद से प्रभावित होकर कवि की प्रकृति कुछ परिवर्तित हो रही है। हिन्दी को आपसे अभी अधिक आशा है।

प्रश्न २१ :—छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, अभिव्यंजनावाद तथा प्रतीकवाद को समझाते हुए उनका उदाहरण भी दीजिए।

उत्तर :— (परीक्षोपयोगी)

छायावाद :—डा० रामकुमार वर्मा के सारगर्भित शब्दों में "प्रकृति के अन्तर्हित भावों में मानवीय भावों का प्रदर्शन ही छायावाद है।" यह वाद रीतिकाल की वासनामय शृङ्गारिक प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था। रीतिकाल के कविगण नारी का स्थूल वर्णन करते थे; उसी के विरोध में इस वाद ने जन्म लिया। छायावादी कवि नारी का स्थूल चित्रण छोड़कर प्रकृति में नारी का सूक्ष्म चित्रण करने लगे। अतः छायावाद जड़ में चेतन का आभास है। द्विवेदी-युग के कवि सीधे शब्दों (अभिधा शक्ति) में अपने भाव व्यक्त करते थे; उसकी प्रतिक्रिया इसकी शैली में हुई। छायावादी कवि सीधे शब्दों को छोड़कर 'प्रतीक' का सहारा लेने लगे। यथा —

ऊषा का था उर में अभास
मुकुल का मुख में मृदुल विकास

चांदनी का स्वभाव में वास
विचारों में बच्चों की साँस पंत

इसमें ऊषा का अर्थ उल्लास, मुकुल का अर्थ प्रफुल्लता, चांदनी का सौंदर्य, स्निग्धता तथा बच्चों की साँस का अर्थ भोलापन है। इस प्रकार छायावाद में प्रतीकवाद की प्रधानता हुई। साधारण जनता ऐसी ऊटपटाँग भाषा को न समझ सकी और इसका नाम छायावाद रखा। इसका युग सं० १६०६ से १६३८ तक है।

रहस्यवाद :—रहस्यवाद हमारी बहुत प्राचीन परम्परा है। हमारे वेदों में निर्गुण ब्रह्म के प्रति जितनी अभिव्यक्ति हुई है; प्रायः सभी रहस्यवाद है परन्तु यह शब्द नया है जो अंग्रेजी मिस्टिसिज्म (Mysticism) का पर्याय है। भारतवर्ष में पहले पहल यह नाम रवीन्द्र बाबू की गीतांजली के लिए श्री डब्ल्यू० बी० यीट्स ने प्रयोग किया क्योंकि उसमें आध्यात्मिक-चिन्तन था और अंग्रेजी काव्य में आध्यात्मिक-चिन्तन "रहस्यवाद" अथवा मिस्टिसिज्म कहा जाता है।

परन्तु रहस्यवाद और हमारे यहाँ के अध्यात्मवाद में अन्तर है। हम प्रायः सगुणोपासक हैं; सगुणोपासना में रहस्यवाद नहीं होता। अद्वैतवाद कुछ मिलती जुलती वस्तु है; परन्तु उसमें ज्ञान का प्राधान्य है। परन्तु रहस्यवाद का ज्ञान की अपेक्षा हृदय की अनुभूति के सहारे निर्म्माण हुआ है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आत्मा परमात्मा विषयक निर्गुण-वाद ही रहस्यवाद का विषय है। डा० वर्मा भी इसी से सहमत हैं :—

'रहस्यवाद' उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें आत्मा परमात्मा से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ती है और यह सम्बन्ध इतना अधिक हो जाता है कि दोनों में भेद नहीं रह जाता'।

हमारे कवियों ने प्रायः आत्मा को नारी और परमात्मा को पुरुष मानकर रहस्यवाद लिखा है। कुछ कवि ब्रह्म को प्रिया और अपने को प्रियतम मानते हैं। इसी प्रकार सभी कवियों के अपने अपने पृथक् पृथक् सिद्धान्त हैं।

सारांश यह कि आत्मा तथा परमात्मा विषयक समस्त निर्गुण काव्य-धारा रहस्यवादी है यथा :—

लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ॥—कबीर

पास ही रे हीरे की खान, कहाँ खोजता उसे अज्ञान।—निराला

तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किसमें होकर आऊँ—गुप्त

प्रगतिवाद :—जो चेतना राजनैतिक जीवन में समाजवाद है, वही साहित्य में 'प्रगतिवाद' के नाम से विख्यात हुई है। यह वाद साम्राज्य-वाद और पूंजीवाद की शोषण और दमन नीति की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था। इसका ध्येय समाज को प्रगतिशील, जीवनमय तथा सुखी बनाना है।

साहित्य में प्रगतिवाद का जन्म सन् १९३५ से माना जाता है। इसमें शोषित तथा शोषक वर्ग का चित्रण है। अत्याचारों और पीड़ाओं के प्रति हुंकार प्रगतिवाद की मूल भावना है।

प्रगतिवाद समाज में समानता चाहता है। इसके दृष्टिकोण से सभी का जीवन-स्तर समान होना चाहिए तथा इसमें मानव-धर्म ही एक-मात्र धर्म माना जाता है। दूसरे शब्दों में इसका मूल ध्येय समाज में 'साम्य-वाद' की स्थापना है।

प्रगतिवादी कवियों के प्रतिनिधि पंत जी हैं। निराला, दिनकर, अंचल आदि इस वाद के यशस्वी कवि माने जाते हैं।

उदाहरण के निम्नांकित अवतरण बड़े ही मार्मिक हैं :—

यह आता,
दो टूक कलेजे के करता,
पछताता,
पथ पर आता। ——निराला

चूं चरर-मरर चल रही भैंसा गाड़ी——भगवतीचरण वर्मा

अभिव्यंजनावाद :—इस वाद के जन्मदाता इटली के श्री क्रोचे (Benedetto Croce) हैं। उनके मतानुसार अभिव्यंजना का आधार

सहजानुभूति है। यह (अभिव्यंजना) आंतरिक है, जो प्रकृति के माध्यम से अपने को व्यक्त करती है। सहजानुभूति तथा अभिव्यंजना को पृथक नहीं किया जा सकता।

इसका स्थान साहित्य में महत्वपूर्ण है। क्रोचे के मतानुसार तो काव्य में अभिव्यंजना ही प्राण है। इसका कार्य अनूठे अर्थों का उत्पादन है। आचार्य शुक्ल इसे भारतीय वक्रोक्तिवाद का यूरोपीय संस्करण मानते हैं परन्तु यह उनका भ्रम है। अभिव्यंजना और वक्रोक्ति में बहुत अन्तर है। वक्रोक्ति अलंकार से प्रभावित होता है परन्तु अभिव्यञ्जना नहीं। यह सहज ही उक्ति रूप में आ जाता है। इसके अतिरिक्त वक्रोक्ति में कला को वाहर से छोड़ा गया है परन्तु अभिव्यंजना में भीतर से। इस प्रकार वक्रोक्ति कला के मूर्त रूप पर आधारित है परन्तु अभिव्यंजना वाद सूक्ष्म आध्यात्मिक क्रिया को सब कुछ मानता है।

क्रोचे लिखता है :—

"We may define beauty as successful expression, or better as expression and nothing more, because expression, when it is not successful is not expression".

इस प्रकार अभिव्यंजना सौंदर्य है। जिस प्रकार सौंदर्य की व्याख्या नहीं की जा सकती; उसी प्रकार अभिव्यंजना की भी व्याख्या असम्भव है। श्रेणी विभाजन तो केवल असुन्दरता का हो सकता है जो अभिव्यंजना की असफलता का कारण है।

प्रतीकवाद :—जिन शब्दों द्वारा चित्रमय अर्थ हमारी भावनाओं तक पहुँचता है उसे 'प्रतीक' कहते हैं। इन शब्दों को प्रकृति से उनके धर्म और लक्षणों के कारण चुना गया।। जैसे फूल का लक्षण कोमलता है और इसका धर्म सुख देना है। अतः इसका 'कोमलता' तथा 'सुख' के लिये प्रयोग हुआ। इसी भाँति 'ऊषा' प्रसन्नता के लिए 'संध्या' निराशा और दुख के लिए प्रयोग की जाने लगी।

जिन कविताओं में उपरोक्त रीति से शब्दों का प्रयोग हुआ उसे प्रतीकवाद कहते हैं। यथा :—

ऊषा का उर में आवास
मुकुल का मुख में मृदुल विकास —पंत

इसमें 'ऊषा' और 'मुकुल' प्रतीकवादी शब्द हैं। प्रतीक शब्द अंग्रेजी के 'Symbol' का पर्याय है। अंग्रेजी के Mysticism (रहस्यवाद) में पहले पहल इसका प्रयोग हुआ। उन्होंने आत्मा को कुछ तथा परमात्मा को कुछ अन्य मान कर उपासना की। इस प्रकार प्रतीक के शब्द चुने गये। हिन्दी में 'प्रसाद' जी इसकी उत्पत्ति कालिदास से भी पूर्व की मानते हैं अर्थात् यह वस्तु हिन्दी में संस्कृत से आई।

वास्तव में इस बात पर अंग्रेजी का प्रभाव पड़ा है। छायावादी तथा रहस्यवादी कवियों ने अपने साधना पथ को स्पष्ट करने के लिए इसका सहारा लिया है।

छंद, रस और अलंकार

प्रश्न १ :—काव्य में छन्दशास्त्र की क्या उपयोगिता है?
(सं० २००५)

उत्तर :—किसी भी कला अथवा कार्य को संपूर्ण करने के लिए एक विशेष विधि, विशेष क्रम तथा व्यवस्था आदि की आवश्यकता पड़ती है। काव्य भी कला है; अतः उसके लिए विधि, विशेष क्रम तथा व्यवस्था आवश्यकीय है। इसी व्यवस्था-शास्त्र का नाम ही छन्दशास्त्र है। इस प्रकार काव्य में छन्द का एक विशिष्ट स्थान है। इसके द्वारा काव्य में संगीत-सौन्दर्य उत्पन्न होता है; लयात्मक-ध्वनि निकलती है जो काव्य का एक अनिवार्य अंग है। इसके द्वारा कवि अपने भावों को कविता के रूप में ढालकर सरलतापूर्वक लोगों के हृदय तक पहुँचाता है। यही एक ऐसी वस्तु है जो कविता को गद्य से विभिन्न वस्तु बनाकर उसमें रोचकता की संजीवनी डालती है। लोगों में आकर्षण का कारण ही छन्द है। इसका अर्थ यह नहीं कि छन्दहीन कविता हो ही नहीं सकती; हो सकती है; पुनरपि च छन्दहीन कविता उतनी आकर्षक नहीं हो सकती जितनी एक छन्दपूर्ण कविता। इसके अतिरिक्त प्रायः ऐसा देखा जाता है कि किसी एक गद्य-भाग को हम स्मरण रखने में असमर्थ हो जाते हैं परन्तु जब वही गद्य छन्दों में ढालकर पद्यमय बना दिया जाता है तो उसे स्मरण रखने में कठिनता नहीं होती। यह छन्द ही की उपयोगिता है कि आज भी बहुत से संस्कृत के छात्र लगभग पूर्ण पुस्तक की ही रट लगा लेते हैं और उसे अपनी जिह्वा पर बिठा लेते हैं।

यदि हम इन समस्त कारणों के मूल में दृष्टि डालें तो ज्ञात होता है कि छन्द-शास्त्र ही काव्य को संगीतमयता प्रदान करता है। संगीत-हीन काव्य, काव्य नहीं रह जाता; दूसरे शब्दों में संगीत काव्य का एक अनिवार्य अंग है और उस अनिवार्य अंग की पूर्ति छन्द-शास्त्र से होती है।

प्रश्न २ :—छन्द कितने प्रकार के होते हैं ? उनके अन्तर को उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

अथवा

मात्रिक छंद और वर्णछंद में क्या अन्तर है ? सोदाहरण समझाइए। (२००५)

उत्तर :—छन्द तीन प्रकार के होते हैं :—१ वर्णिक छंद २—मात्रिक छन्द, ३—लयात्मक छन्द।

तीनों प्रकार के छन्दों के उदाहरण निम्नांकित हैं :—

१. वर्णिक छन्द

	वर्ण	मात्रा
कैसे मैं फिरूँगा—मुझे कौन बतलाएगा	१५	२५
कैसे मैं फिरूँगा हाय ! शून्य लंका धाम में ?	१५	२५
दूँगा सान्त्वना क्या मैं तुम्हारी उस माता को	१५	२७
कौन बतलायगा मुझे हे वत्स ! पूछेगी	१५	२७
मन्दोदरी रानी जब कह यह मुझ से	१५	२१
पुत्र कहाँ मेरा, कहाँ पुत्र-वधू मेरी है	१५	२५

२. मात्रिक छन्द

	मात्रा	वर्ण
प्रम करना है पापाचार	१६	१०
प्रेम करना है पापाचार	१६	११
जगत के दो दिन के ओ अतिथि	१६	१२
प्रेम करना है पापाचार !	१६	१०

३. लयात्मक छन्द

	मात्रा	वर्ण
अचल छवि में पलक उघार	१६	१३
पान करता हूँ रूप अपार	१६	११
पिघल पड़ते हैं प्राण	१२	६
चवल चलती है दृगजलधार	१६	१३

उपर्युक्त उदाहरणों से यह विदित होता है कि पहले उद्धरण की प्रत्येक पंक्ति में वर्णों की संख्या समान (१५) है किन्तु मात्राओं की संख्या समान नहीं। अतः उसमें वर्णों का क्रम है तथा विधान विशेष का होना पाया जाता है; एतदर्थ उसे वर्णिक छन्द कहते हैं।

दूसरे उद्धरण की प्रत्येक पंक्ति में मात्राओं की संख्या १६ है अर्थात् समान हैं परन्तु वर्णों की संख्या विभिन्न ह; असमान है। अतः उसे मात्रिक छन्द कहते हैं।

तृतीय उदाहरण के पदों में न तो मात्रा ही समान हैं और न वर्ण ही। प्रत्युत उसमें एक प्रकार का लय पाया जाता है। उसका आधार लय ह। अतः उसे लयात्मक छन्द कहते हैं।

प्रश्न २ :—वर्णिक, मात्रिक तथा लयात्मक छन्दो के उपभेदों को समझाकर लिखिए ?

उत्तर :—वर्णिक तथा मात्रिक प्रत्येक के तीन उपभेद हैं :—१ सम २. अर्धसम, ३. विषम।

सम :—जिस छन्द के चारों चरणों की वर्ण संख्या अथवा मात्रा संख्या समान हों।

अर्धसम :—जिस छन्द के प्रथम तथा तृतीय, दूसरे तथा चतुर्थ चरणों की संख्या समान हो परन्तु प्रथम तथा द्वितीय चरणों की संख्या असमान हो।

विषम :—जिनके सभी चरण असमान हों।

सम के दो भेद होते हैं :—

१—साधारण। २—दण्डक।

जिन वर्णिक छंदो के प्रत्येक चरण में २६ अथवा २६ से कम वर्ण होते है उन्हें साधारण तथा इससे अधिक वर्णों वाले छंद को दण्डक कहते हैं।

जिन मात्रिक छंदो के प्रत्येक चरण में ३२ या ३२ से कम मात्राएँ हों; उन्हें सम तथा इससे अधिक मात्रा वाले छंद को दण्डक कहते हैं।

इनकी सारिणी निम्न प्रकार है :—

छन्द

मात्रिक वर्णिक लयात्मक

सम अर्धसम विषम सम अर्धसम विषम गीति साधा० विषम

साधारण दण्डक साधारण दण्डक
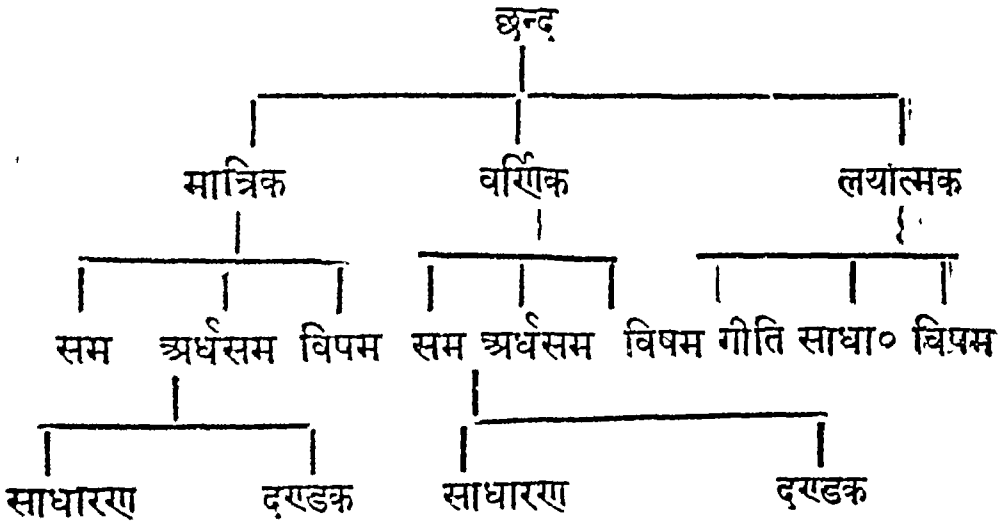
प्रश्न ३ :—गण किसे कहते हैं ? इनके भेद सोदाहरण बताइये।

उत्तर :—तीन-तीन अक्षरों के समूह को गण कहते हैं।

इनके कुल आठ भेद है :—१—यगण, २—मगण, ३—भगण, ४—जगण, ५—सगण, ६—रगण, ७—तगण, ८—नगण।

इनका उदाहरण अथवा रूप निम्न प्रकार होता है :—

यगण	ISS	एक लघु दो गुरु।
मगण	SSS	तीनों गुरु।
भगण	SII	एक गुरु दो लघु।
जगण	ISS	बीच में गुरु दोनों ओर लघु।
सगण	ISS	दो लघु एक गुरु।
रगण	SIS	बीच लघु दोनों ओर दो गुरु
तगण	SSI	दो गुरु एक लघु।
नगण	III	तीनों लघु।

प्रश्न ४ :—दग्धाक्षर किसे कहते है, शुभाशुभ वर्णों का विवेचन कीजिए।

उत्तर :—यदि किसी छन्द के आरम्भ में झ, ह, र, भ, तथा ष इत्यादि पाँच वर्णों में से कोई भी आवे तो उन्हें दग्धाक्षर कहते हैं।

सारांश यह कि झ. ह, र, भ, ष, छंदशास्त्र में दग्धाक्षर अर्थात् अत्यंत अशुभ माने जाते हैं; इनका प्रयोग छंद के आरंभ में नहीं होना चाहिए। छंदशास्त्र के नियमानुसार इन्हें शुभ बनाने के लिए इनसे बने हुए शब्द को देवता-वाची अथवा मंगलवाची बना देने से यह दोष मिट जाता है। जैसे 'ह' दग्धाक्षर है परन्तु यदि छंदारम्भ में 'ह' का प्रयोग 'हरि' शब्द से हुआ तो वह शुभ वर्ण ही माना जायगा।

शब्द शास्त्र में	क ख ग घ	ङ झ ञ ट ठ ढ
	च छ ज	ण त थ प फ ब
	ड द ध न	भ म र ल व ह
	य स क्ष	ष
	१४ वर्ण शुभ तथा	१६ वर्ण अशुभ

माने जाते हैं।

प्रश्न ६ :—इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वंशस्थ, भुजंगप्रयात, द्रुत-विलम्बित, वसन्ततिलका, शिखरिणी, शार्दूल विक्रीडित, मत्तगमंद सवैया, दुर्मिल छंदों को सोदाहरण समझाइए।

उत्तर :—

इन्द्रवज्रा:—जिसमें दो तगण, जगण और दो गुरु होकर प्रत्येक चरण में ११ वर्ण हों। (ता ता ज गा गा शुभ इन्द्रवज्रा)

यथा :— S S I S S I I S I S S = त त ज ग गा ११ वर्ण

मैं जो नया ग्रंथ विलोकता हूँ,
भाता मुझे सो नव मित्र सा है।
देखूँ उसे मैं नित बार बार,
मानो मिला मित्र मुझे पुराना॥

उपेन्द्रवज्रा :—(ज त जा ग गा) जिसमें जगण, तगण, जगण और दो गुरु होकर प्रत्येक चरण में ११ वर्ण हो।

यथा :— I S I S S I I S I S S

वही वही भूल न जाइएगा,

पधारिये सत्वर आइएगा ।
बने स्वयं सत्पथ सौख्यकारी,
सुकर्म हों विघ्न विपत्तिहारी ॥

वंशस्थ :—जिसका प्रत्येक चरण १२ वर्ण होकर तगण, जगण, रगण से क्रमबद्ध हो । यथा :—

।ऽ। ऽ ऽ।।ऽ। ऽ । ऽ =(१२ वर्ण, जतजर)
ललामता कोमलता स्वकीय से,
अनूपता पल्लव पत्र पुंज से ।
सलोचनों को करती प्रलुब्ध थी,
प्रलोभनीया लतिका लवङ्ग की ॥

भुजंगप्रयात :—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में चार यगण होकर १२ वर्ण हों । यथा :—

तुझे बंध बाधा सताती नहीं है =य य य य, १२ वर्ण
मुझे सर्वदा मुक्ति भाती नहीं है
प्रभो शंकरानन्द आनन्द दाता
मुझे क्यों नहीं आपदा से छुड़ाता

द्रुतविलम्बित :—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में नगण, दो भगण तथा रगण क्रमशः होकर १२ वर्ण हों । यथा :—

तनय के बल को वह सोच के = न भ भ र, १२ वर्ण
तुरत भूल गया मकराक्ष को
फिर विचार किया दशकंध ने
समर शासन दूं घननाद को

वसंततिलका :—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में तगण, भगण, दो जगण और दो गुरु होकर १४ वर्ण हों तथा प्रत्येक आठवें वर्ण पर यति हो । यथा :—

भू में रमी शरद की कमनीयता थी =त भ ज ज ग ग, १४ वर्ण
नीला अनंत नभ निर्मल हो गया था.

थी छा गई ककुभ में, अमितासिताभा
उत्फुल्ल सी प्रकृति थी, प्रतिभात होती

शिखरिणी :—प्रत्येक चरण में यगण, मगण, नगण, सगण, भगण लघु और गुरु होकर १७ वर्ण हों जिसमें ६ और ११ वर्णों पर यति पड़े। यथा :—

हरे सर्व स्वामिन्, अमर अविनाशिन् जगपते =य म न स भ ल ग,
विभो लीलाकारिन्, सकल गुणधारनि भगवते १७ वर्ण
व्यथा-बाधा-हारिन्, अजर अघनाशिन् शुभगते
अहो लक्ष्मीकान्त प्रभुवर सदा मंगलमते

शार्दूलविक्रीड़ित :—जिसके प्रत्येक चरण में 'म स ज स त त ग' अर्थात् मगण, सगण, जगण, सगण, दो तगण और गुरु होकर १९ वर्ण हों। १२, ७ पर यति पड़े। यथा :—

रूपोद्यान-प्रफुल्लप्राय कलिका राकेन्दु-बिम्बानना।
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला-पुत्तली॥
शोभा वारिधि की अमूल्य मणि की लावण्य-लीलामयी।
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृग-दृगी, माधुर्य सन्मूर्ति थी॥

इसके प्रत्येक चरण में म स ज स त त ग होकर १९ वर्ण हैं।

मत्तगयंद (सवैया) :—जिसके प्रत्येक चरण में सात भगण और दो गुरु अर्थात् २३ वर्ण हों (इसे मालती व इन्दव भी कहते हैं) यथा:—

हो रहते तुम नाथ जहाँ इतना मन साथ सदैव वहीं है।
मंजुल मूर्ति वसी उर में वह नेक कभी टलती न कहीं है॥
लोलुप लोचन को दिखती वह चारु घटा सब काल यही है।
है वह योग मिला हमको जिसमें दुःखमूल वियोग नहीं है॥

दुर्मिल (सवैया) :—जिसके प्रत्येक पाद में आठ सगण अर्थात् २४ वर्ण हों; इसे चन्द्रकला भी, कहते हैं। यथा :—

इसके अनुरूप कहें किसको वह कौन सुदेश समुन्नत है।
समझें सुरलोक समान इसे उनका अनुमान असंगत है॥

कवि-कोविद-वृन्द बखान रहे, सबका अनुभूत यही मत है।
उपमान-विहीन रचा विधि ने यह भारत के सम भारत है॥
=प्रत्येक चरण में ८ सगण २४ वर्ण हैं।

प्रश्न ६ :—मनहर, रूपघनाक्षरी तथा देवघनाक्षरी की परिभाषा उदाहरण सहित दीजिए।

मनहर :—इसके प्रत्येक चरण में ३१ वर्ण; १६, १५ पर यति अन्त में गुरू होता है यथा:—

मंजुल मृदुल मुरली के स्वर के समान,
उसका सरस राग गूँजता है कान में।

यह एक चरण है, इसमें १६, १५ पर यति, कुल ३१ वर्ण होते हैं। इसी के समान इसके कुल चार चरण होते हैं।

रूपघनाक्षरी :—इसमें ८, ८, ८, ८, की यति से प्रत्येक चरण में ३२ वर्ण होते हैं। अन्त में गुरु लघु आते हैं। यथा :—

नगर से दूर कुछ, गाँव की, बस्ती एक,
हरे भरे खेतों के समीप, अति अभिराम।
जहाँ पत्रजाल अंतराल से झलकते हैं,
लाल खपरैल श्वेत छज्जों के सँवारे धाम॥
बीचो बीच वट वृक्ष खड़ा है विशाल एक,
झूलते हैं बाल कभी जिसकी जटाएँ धाम।
चढ़ी, मंजुमालती लता है जहाँ छाई हुई,
पत्थर की पट्टियों की चौकियाँ-पड़ी हैं श्याम॥

देवघनाक्षरी :—इसके प्रत्येक चरण में ८, ८, ८, ९ के विराम से ३३ वर्ण होते हैं। प्रत्येक चरण के अन्तिम तीन वर्ण लघु होते हैं। यथा :—

झिल्ली झनकारे पिक, चातक पुकारे वन,
मोरनि गुहारे उठें, जुगनू चमकि चमकि।
घोर घन कारे भारे, धुरवा धुरारे धाम,
धूमनि मचावें नाचें, दामिनी दमकि दमकि॥

झूकनि बयारि वहे, लूकनि लगावे अंग,
हूकनि मभूकनि की, उर में खमकि खमकि॥
कैसे करि राखौ प्राण, प्यारे जसवन्त विना,
नान्ही नान्ही बूंद झरे, मेघवा झमकि झमकि॥

प्रश्न ७ :—उल्लाला, चौपाई, चौपई, रोला, दिक्पाल, मदन या रूपमाला, हरिगीतिका, वीर और त्रिभंगी सोरठाव उल्लाल की परिभाषा लिख कर उदाहरण द्वारा समझाइए।

उत्तर—उल्लाला :—इसके प्रत्येक चरण में १३ मात्रा और प्रत्येक ८ वीं पर यति होती है। यथा:—

| | S S | | | | | | | S | S | S S | | | प्रत्येक चरण
यदि चाहो भवनिधि तरन। छोड़ दूसरों की सरन॥ में १३
करो प्रोतवत् हरि चरन। वे ही हैं सव दुख हरन॥ मात्रा

चौपाई :—प्रत्येक चरण में १५ मात्रा तथा अन्त में क्रमशः गुरु और लघु होते हैं यथा :—

| | | | S | | | S | S |
उपवन में अति भरी उमंग। = १५ मात्रा अन्त गुरु, लघु
कलियाँ खिलती हैं बहुरंग।
पर मिलता है उसको मान।
जो है सुखद सुगंधनिधान।

चौपाई :—जिसके प्रत्येक चरण में १६ मात्रा होती हैं। यथा:—

S S | S | | | | | S S S | S | | | | | | | S S
आगे चले बहुरि रघुराई। ऋष्यमूक परवत नियराई॥

रोला :—जिसके प्रत्येक चरण में ११, १३ के विराम से २४ मात्राएँ हों। यथा:—

जोति जाती हुई, जिन्होंने भारतवाजी। = २४ मात्राएँ, ११
निज बल से मलमेंट, विधर्मी मुगल कुराजी॥ तथा १३ पर
जिनके आगे ठहर, जंगी न जहाजी। यति है।
है ये वही प्रसिद्ध, छत्रपति भूप सिवा जी॥

दिक्पाल :—जिसमें १२, १२ के विराम से २४ मात्राएँ हों। पाँचवीं तथा सत्रहवीं मात्राएँ लघु हों। यथा:—

निहार सखी सारिका कुछ कहे बिना शान्ति सी।
दिये श्रवण हैं यही, इधर मैं हुई भ्रान्ति सी॥
इसे पिशुन जान तू, सुन सुभाषिणी है बनी।
धरो सखि किसे धरूँ धृति लिये गए हैं धनी॥

मदन या रूपमाला :—जिसके प्रत्येक चरण में १४, १० के विराम से २४ मात्राएँ हों। अन्त के क्रमशः गुरु और लघु दो मात्राएँ हो।
यथा :—

S I S I I S I S I I S I S I I S I
जाते हैं जित बाजि केशव, जात हैं तित लोग।
बोलि विप्रन पान दीजत, यत्र तत्र सुभोग।

हरि गीतिका :—इसके प्रत्येक चरण में १६, १२ के विराम से २८ मात्राएँ होती हैं; अन्त में क्रमशः लघु और गुरु होता है।

खगवृंद सोता है अतः कल, कल नहीं होता वहाँ।
बस मन्द मारुत का गमन ही, मौन है खोता जहाँ॥
इस भाँति धीरे से परस्पर, कह सजगता की कथा।
यों दीखते हैं वृक्ष ये हों, विश्व के प्रहरी यथा॥

वीर : — इसके प्रत्येक छन्द में १६, १५ पर यति होकर ३१ मात्रा होती हैं। यथा :—

मुर्चा लौटी तव नाहर को, आगे बढ़े पिथौराराय।
नौ से हाथिन के हलका माँ, अकले घिरे कनौजीराम॥
सात लाख से चढ़ौ पिथौरा, नदी वेतवा के मैदान।
आठ कोस लौ चले सिरोही, नाहीं सूझै अपुय विरान॥

त्रिभंगी :—जिसके प्रत्येक चरण में १०, ८, ८ और ६ के विराम से ३२ मात्राएँ हों। अन्त में रु हो परन्तु जगण न हो। यथा :—

।। S । S S । ।। ।। S S ।।।। S ।। S S S
मुनि साप जो दीन्हा, अति भल कीन्हा, परम अनुग्रह, मैं माना।
यह एक चरण है। शेष ऐसे ही तीन चरण होते हैं।

सोरठा :—जिसके प्रथम व तृतीय चरण में ११, द्वितीय व चतुर्थ में १३ इस प्रकार प्रत्येक दल में २४ मात्राएँ होती हैं। यथा :—

जेहि सुमिरत सिधि होय, गणनायक करिवर वदन।
करहु अनुग्रह सोइ, बुद्धि राशि शुभगुन सदन॥

उल्लाल :—जिसके प्रथम व तृतीय चरण में १५ और द्वितीय व चतुर्थ में १३ मात्राएँ हों। यथा :—

हम जिधर कान देते उधर सुन पड़ता हमको यही।
जय जय भारतवासी कृती, जय जय भारत मही॥

प्रश्न ८ :—कुण्डलिया और छप्पय के अन्तर को सोदाहरण परिभाषा में लिखिये।

उत्तर :—**कुण्डलिया** :—यह भी छप्पय की भाँति ६ चरणों का ही होता है परन्तु इसमें पहले दो चरण दोहा के शेष चार रोला के होते हैं। इसके अतिरिक्त इसके प्रथम चरण का प्रथम शब्द तथा अन्तिम चरण का अन्तिम शब्द एक ही होता है। परन्तु छप्पय में ऐसा नहीं होता, उसमें कुल छः चरण रोला और उल्लाला से बनते हैं। पहले चार पाद रोला के शेष दो उल्लाला के चरण होते हैं। यथा :—

कुण्डलिया :—

बगला बैठा ध्यान में, प्रातः जल के तीर। =१३+११=२४ दोहा
मानो तपसी तप करे, मलकर भस्म शरीर॥
मलकर भस्म शरीर तीर जब देखी मछली। ११+१३=२४ रोला
कहैं भीर असि चोंच समूची फौरन निगली॥
फिर भी आवें शरण, बैर जो तजके अगला।
उनके भी तू प्राण, हरे रे छी छी बगला॥

छप्पय :—

नीलाम्बर परिधान, हरित पट पर सुन्दर है। =११+१३=२४ रोला
सूर्य चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है ॥
नदियाँ प्रेम प्रवाह, फूल तारे मण्डन है।
वन्दोजन खग वृन्द, शेष फन सिंहासन है ॥
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष को। =१५+१३=२८
हे मातृभूमि तू सत्य है, सगुण मूर्ति सर्वेश की ॥ उल्लाला

नोट :—उल्लाल और उल्लाला के विभेद से छप्पय मे भी दो भेद हो जाते हैं। नीचे के दो चरण कही १५+१३=२८ होते हैं और कहीं १३+१३=२६ होते हैं।

प्रश्न ६ :—कविता में रस और अलंकार का स्थान निर्धारित कीजिए। (सं० २००५)

अथवा

रस और अलंकार का अन्तर बताइए। (सं० २००३)

उत्तर :—रस और अलंकार दोनों शब्द ही अपने स्थान एवं अधिकार का अर्थ लिये हुए हैं। रस का अर्थ है आनन्द एवं अनुभूति, तथा अलंकार का अर्थ है आभूषण। दोनों का स्थान कविता-कामिनी के शरीर में विशिष्टता रखता है। रस कविता-कामिनो का प्राण है और अलंकार उसका आभूषण। दूसरे शब्दों में रस काव्य का नैसर्गिक सौंदर्य है और अलंकार उसका वाह्य सौंदर्य। जैसे एक नारी में प्राकृतिक अथवा नैसर्गिक सुन्दरता रहते हुए भी उत्तम आभूषणों की आवश्यकता पड़ती है तथा वह अपने सुन्दर नैसर्गिक कपोलों पर लाली लगाकर और भी सुन्दरी बन जाती है, उसी प्रकार अलंकार कविता-कामिनी के कपोलों की लाली है परन्तु एक चेतना-शून्य अथवा निष्प्राण नारी के कपोलों पर लाली लगा दी जाय तो क्या उसकी सुन्दरता बढ़ जायगी ? अर्थात् नहीं। अरे ! वह तो भूतनी सी प्रतीत होगी। इसी प्रकार रस काव्य का प्राण है; उसके बिना अलंकार व्यर्थ है। हाँ !

नैसर्गिक सौंदर्य वाली कामिनी जिस प्रकार विना अलंकार के भी सुन्दर प्रतीत होती है; उसी प्रकार काव्य में रस का स्थान है; अलंकार विहीन काव्य भी रसमय होने पर उत्तम कहा जा सकता है परन्तु अलंकारमय काव्य रस-विहीन होने पर उत्तम नहीं कहा जा सकता।

यथा:-

"चाचा के चबूतरे पर चील ने चोंच चलाई" इसमें अलंकार है परन्तु रस नहीं। कैसा भद्दा लगता है। परन्तु यदि दोनों का साथ हो फिर तो पूछना ही क्या ? सारांश यह कि कविता कामिनी में रस उसकी आत्मा तथा अलंकार उसका शृङ्गार है।

प्रश्न १० :—विभाव और अनुभाव का अन्तर उदाहरण देकर समझाइए ? रस कितने प्रकार के होते हैं; उनके नाम तथा स्थायी भाव व्यक्त कीजिए। (२००५)

उत्तर :—भाव-प्रवर्त्तन के दोनों पक्ष, आलम्बन एवं उद्दीपन तथा उनकी क्रियाएँ आदि विभाव कहलाती हैं। जिन बाह्य लक्षणों से भाव होने का ज्ञान हो; उसे अनुभाव कहते हैं। अथवा आश्रय की शरीर के वे विकारादि, जिनके द्वारा अनुभावों की सहायता से उसके मन में स्थित भावों के जागरित होने का अनुभव हो, उसे अनुभाव कहते हैं। यथा :—

यदि वाटिका में नायिका के सौंदर्य को देखकर नायक के हृदय में प्रेम का संचार हुआ तो यहाँ नायिका आलंबन हुई। उसका सौंदर्य तथा उसकी चेष्टायें, वाटिका की सुन्दरता आदि उद्दीपन हुए। इस प्रकार दोनों (आलम्बन तथा उद्दीपन मिलकर) विभाव कहलायेंगे।

ऊपर वर्णित विभाव के फल स्वरूप यदि नायक के शरीर में कंप, प्रस्वेद आदि चेष्टाएँ होंगी तो वे अनुभाव कहलायेंगी।

रस के दस भेद हैं। १. शृङ्गार, २. हास्य, ३. करुण, ४. वीर, ५. रौद्र, ६. वीभत्स, ७. भयानक, ८. अद्भुत, ९. शान्त, १०; वत्सल।

इनके स्थायी भाव क्रमशः १. रति, २. हँसी, ३. शोक, ४. उत्साह, ५. क्रोध, ६. घृणा, ७. भय, ८. विस्मय, ९. निर्वेद, १०. वात्सल्य।

प्रश्न ११ :—रस किसे कहते हैं ? करुण और विप्रलंभ शृङ्गार; वीर और रौद्र में क्या अन्तर है ? (२००६)

उत्तर :—विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों से परिपुष्ट रति, शोक इत्यादि स्थायी भाव ही रस हैं। वास्तव में रस वह आनन्दातिरेक की अन्तिम सीढ़ी है जो ब्रह्मानन्द के समान आनन्ददायक होता है, तथा जिसके आगे समस्त भौतिक आनन्द निष्प्रभ हैं।

करुण और विप्रलंभ शृङ्गार का अन्तर

करुण रस शोक स्थायी भाव से पुष्ट होकर बनता है परन्तु विप्रलंभ शृङ्गार रति स्थायी भाव से। संयोग शृङ्गार में तो रति स्पष्ट रूप से रहती है, परन्तु विप्रलम्भ शृङ्गार में वही रति कुछ अपना रूप परोक्ष कर लेती है अर्थात् उसमें रोने कल्पने के भाव आ जाते हैं। करुण रस में भी रोना-कल्पना होता है परन्तु अन्तर केवल इतना है कि जहाँ करुण रस में आशा और अभिलाषा समाप्त हो गई रहती है, वहाँ विप्रलंभ शृङ्गार में प्रेमी के मिलने की उत्कट अभिलाषा रहती है। विप्रलंभ शृङ्गार में नायक अथवा नायिका मिलन के लिए तड़पते रहते हैं परन्तु करुण रस में उनका आनन्द सर्वदा के लिए समाप्त हो जाने पर रोते हैं; उन्हें पुनः इस जीवन में मिलन की आशा नहीं रहती। संक्षेप में यह कि करुण रस का रोना नैराश्य आपत्ति तथा शोकप्रद होता है परन्तु वियोग शृङ्गार का रोना आशा, अभिलाषा तथा आनन्दप्रद रहता। दोनों में उतना ही अन्तर है जितना आनन्द और दुःख के आँसुओं में। यथा :—

वियोग शृङ्गार :—

सखी इन नैनन तें घन हारे
बिन ही रितु बरसत निसिबासर, सदा मलिन दोउ तारे ॥

करुण रस :—

पितु सुरपुर वन रघुवर केतू। मैं केवल सब अनरथ हेतू ॥
धिक् मोहि भयउं वेनु वन आगी। दुसह दाह दुःख दूषन भागी ॥

वीर और रौद्र रस का अन्तर

वीर रस का स्थायी भाव, उत्साह और रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। वीर रस में नायक उत्साहित होकर अपने शत्रु को पछाड़ने के लिए अपने पराक्रम को कहता है; उसमें उत्साह बना रहता है परन्तु रौद्र रस में क्रोध होने से वह विपक्षी के अपराधों और गर्वोक्तियों का ध्यान करके अपनी-सुधि बुधि तक भूल जाता है। यथा :—

रौद्र रस :—

"पृथ्वीनाथ मैं जो रूठ जाऊँ" कहा वीर ने
"जोधपुर की तो फिर बात ही क्या ? वह तो
रहता है मेरी कटारी की पर्तली में ही
मैं यों नवकोटि मारवाड़ को उलट दूँ"

वीर रस :—

सौमित्रि को घननाद का रव अल्प भी न सहा गया,
× × ×
सानन्द लड़ने के लिए तैयार जल्दी होगए,
उठने लगे उसके हृदय में युद्ध-भाव नए नए।

प्रश्न १२ :—रसात्मक उक्ति कितने प्रकार की होती है ? संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर :—रसात्मक उक्ति आठ प्रकार की होती है :—

१—रस, २—भाव, ३—रसाभास, ४—भावाभास, ५—भावशान्ति, ६—भावोदय, ७—भावसंधि, ८—भाव-शबलता।

रस :—विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों से परिपुष्ट होकर रस बनता है।

भाव :—माता, पिता, गुरु आदि पूज्यजनों के प्रति प्रेमभाव अथवा निर्वेद आदि में से यदि कोई भाव व्यञ्जित हो तो उसे भाव-ध्वनि कहते हैं।

रसाभास :—जहाँ रस का वर्णन अनौचित्य हो। यथा पति-पत्नी से भिन्न पुरुषों का प्रेम-वर्णन इत्यादि।

भावाभास :—जहाँ भाववर्णन में अनौचित्य हो। यथा गुरुजनों के प्रति क्रोध।

भावोदय :—जहाँ पूर्वस्थित भाव समाप्त होकर नये भाव का वर्णन हो।

भावशान्ति :—जहाँ पहले से वर्तमान भाव की शान्ति हो।

भावसन्धि :—जहाँ दो भावों की समान रूप से स्थिति हो।

भाव-शबलता :—जहाँ अनेक भावों का मिश्रण हो।

प्रश्न १३ :—अलंकार के कितने भेद हैं? उनके अन्तर को समझाइए।

उत्तर :—अलंकार के प्रमुख तीन भेद हैं :—१. शब्दालंकार, २. अर्थालंकार, ३. उभयालंकार।

शब्दालंकार में उन समस्त अलंकारों की गणना होती है; जिनके शब्दों में चमत्कार पाया जाय अर्थात् शब्दों द्वारा जिस कविता का सौंदर्य बढ़े; उसे शब्दालंकार कहते हैं।

अर्थालंकार में शब्दों का चमत्कार नहीं रहता प्रत्युत उसके अर्थों में विशेषता रहती है।

जहाँ शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों का चमत्कार पाया जाय; वहाँ उभयालंकार होता है।

प्रश्न १४ :—निम्नांकित शब्दालंकारों की परिभाषा लिखकर समझाइयें तथा सम्बन्धित अलंकारों का अन्तर भी बताइए। (२००६)

श्लेष-वक्रोक्ति व श्लेप; काकुवक्रोक्ति; पुनरुक्तिप्रकाश; वीप्सा; पुनरुक्त-वदाभास; यमक व लाटानुप्रास; छेकानुप्रास व वृत्त्यनुप्रास।

उत्तर :—श्लेष-वक्रोक्ति व श्लेष—जहाँ श्रोता शब्दों में श्लेष करके वक्ता के शब्दों का हठपूर्वक दूसरा अर्थ निकाले, वहाँ श्लेष-वक्रोक्ति

होती है अर्थात् उस अलंकार को श्लेष होने से पहले वक्रोक्ति होनी आवश्यक है। यथा :—

वक्ता ने कहा :—"गौरवशालिनि प्यारी हमारी सदा तुम ही इक इष्ट रहो"

श्रोता (नायिका) ने उत्तर दिया :—"ह न गऊ नहि हौं अवशा, अलिनी हूं नहीं, अस काहे कहो"

अर्थात् नायिका के गौरवशालिनी का अर्थ = गउ + अवशा + अलिनी निकाला। परन्तु श्लेषालंकार में वक्रोक्ति नहीं होती; प्रत्युत एक शब्द के कई अर्थ निकल जाते हैं। यथा :—

रहिमन पानी राखिये बिन पानी सब सून।
पानी गए न ऊबरे मोती मानस चून॥

यहाँ एक पानी शब्द से तीन अर्थ मोती की आब, इज्जत तथा जल निकाला गया, अतः यहाँ श्लेषालंकार हुआ।

काकु-वक्रोक्ति :—जहाँ शब्द में श्लेष तो नहीं होता, प्रत्युत ध्वनि ऐसी टेढ़ी करके निकाली जाती है; कि अर्थ टेढ़ा हो जाता है। यथा :—

हौं सुकुमारि ? नाथ वन जोगू !?

इसमें अर्थ यह निकलता है कि मैं सुकुमारी हूं और आप मानो सुकुमार नहीं, कठोर हैं ?

अतः काकु-वक्रोक्ति हुई।

पुनरुक्ति प्रकाश, वीप्सा व पुनरुक्तिवदाभास।

जहाँ एक ही शब्द अनेक बार आकर चमत्कार पैदा करे परन्तु उनके अर्थ में भिन्नता न हो, उसे पुनरुक्तिप्रकाश कहते हैं। परन्तु जब एक विस्मयादिबोधक शब्द अनेक बार आवे तो वहाँ वीप्सा हो जाती है। यथा :—

बचाओ बचाओ मरा मैं हाय = वीप्सा।

धीरे धीरे वहन करके तू उन्हीं को उड़ा ला = पुनरुक्तिप्रकाश।

जहाँ समानार्थक दो शब्द लगातार आवें वहाँ पुनरुक्तिवदाभास होता है। यथा :—

अली भौंर गूंजन लगे होन लगे दल पात।

यमक और लाटानुप्रास

लाटानुप्रास में शब्दों या वाक्यों की आवृत्ति अनेक बार होती है परन्तु अर्थ में अन्तर नहीं होता। यमक में जितनी बार शब्दों की आवृत्ति होगी; उतने ही प्रकार के अर्थों में भेद भी होगा। यथा :—

पूत कपूत तो क्यों धन संचय ?
पूत सपूत तो क्यों धन संचय ? —लाटानुप्रास

कनक कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय —यमक

छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास

जहाँ वृत्तियों के अनुसार एक अथवा अनेक वर्णों की आवृत्ति होती है वहाँ वृत्त्यनुप्रास होता है। यथा :—

बज रहे मृदु मंद मृदंग थे।

जहाँ एक अथवा अनेक वर्णों की आवृत्ति एक बार हो वहाँ छेकानुप्रास होता है यथा :—

गिर गई मेरी छोटी कुटी।

जहाँ एक अथवा अनेक वर्णों की आवृत्ति दो बार हो; यथा :—

गिर गई मेरी छोटी कुटी

प्रश्न १५ :—निम्नांकित अर्थालंकारों की परिभाषा उदाहरण सहित लिखिये।

दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास (२००६), भ्रान्ति, रूपक, संदेह, समासोक्ति, अप्रस्तुत-प्रशंसा, (२००३) उत्प्रेक्षा, प्रतीप, अतिशयोक्ति, मालोपमा, (२००२) अनन्वय, उपमेयोपमा, विभावना, विशेषोक्ति, परिसंख्या।

उत्तर :—

दृष्टान्त :—जहाँ उपमेय और उपमान में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव हो।

यथा :— कन कन जोरे मन जुरे, खाते निवरे सोय।
—: बूँद बूँद सों घट भरे, टपकत रीतो होय॥

अर्थान्तरन्यास :—जहाँ सामान्य से विशेष या विशेष से सामान्य का समर्थन हो। यथा :—

सबै सहायक सबल के, कोउ न निबल सहाय।
पवन जगावत आगि को, दीपहिं देत बुझाय॥

भ्रान्ति :—जहाँ तत्सदृश वस्तु में वस्तु का मिथ्या निश्चय हो। यथा :—

देखो विहग माणिक्य को पेशी समझ कर ले चला।

रूपक :—जहाँ उपमेय में उपमान का आरोप हो। इसके तीन भेद होते हैं :—

१—सांग, २—निरंग, ३—परम्परित।

सांग :—"सन्त हंस, गुन पय गहहिं, परिहरि वारि विकार"।

अर्थात् जहाँ प्रसिद्ध उपमानों का अङ्ग-सहित वर्णन हो।

निरंग :—अङ्ग-रहित आरोप। यथा :—चरण-कमल।

परम्परित :—जहाँ एक रूपक दूसरे का कारण हो। यथा :—

तुलसीदास हिन्दी <u>साहित्य-गगन</u> के चन्द्रमा हैं।

सन्देह :—जहाँ किं, वा, अथवा आदि संशय-युक्त शब्दों में वर्णन हो। यथा :

"की तुम तीन देव महँ कोऊ।
नर-नारायण की तुम दोऊ॥"

समासोक्ति :—जहाँ प्रस्तुत के वर्णन में अप्रस्तुत की प्रतीति हो। यथा :—

अस्ताचल रवि को जाते, लख भू-नयनों में जल आया।

अप्रस्तुत-प्रशंसा :—जहाँ अप्रस्तुत के वर्णन में प्रस्तुत की प्रतीति कराई जाय। यथा :—

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई वह बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब में, अपत कटीली डार॥

मालोपमा :—जहाँ एक उपमेय के कई उपमान हों। यथा :—

गन्धवाही गहन कुन्तल तूल से मृदु धूम श्यामल ।

प्रतीप :—इसके पाँच भेद हैं (इस शब्द का अर्थ "उलटा" है ।)

प्रथम प्रतीप :—जहाँ उपमान को उपमेय के समान बताया जाय। यथा:—

मोंहि देत आनन्द है, या मुख सो वह चंद"

द्वितीय प्रतीप :—जहाँ उपमेय का तिरस्कार हो । यथा :—

प्रकृति माधुरी पर कहा, गरब तोहि कसमीर ।
नन्दन वन तो सम अहै, सोहत परम गंभीर ॥

तृतीय प्रतीप :—जहाँ उपमान का तिरस्कार हो । यथा :—

पवि न जिय जनि गर्व करि, हौं हीं कठिन अपार ।
चित दुर्जन को देखिये, तो से लाख हजार ॥

चतुर्थ प्रतीप :—जहाँ उपमान को उपमेय की समता के अयोग्य बताया जाय । यथा :—

बहुरि विचार कीन्ही मन माहीं ।
सीय वदन सम हिमकर नाहीं ॥

पंचम प्रतीप :—जहाँ उपमेय की उपस्थिति में उपमान की आवश्यकता न समझी जाय । यथा :—

राधा जी के वदन अस, चन्द उदय केहि हेत ।

उत्प्रेक्षा :—जहाँ प्रस्तुत में अप्रस्तुत की सम्भावना हो । इसके तीन भेद हैं :—

वस्तूत्प्रेक्षा :—जहाँ प्रस्तुत में अप्रस्तुत की सम्भावना हो । यथा :—

फूले कास सकल महि छाई । जनु वर्षाकृत प्रकट बुढ़ाई ॥

हेतूत्प्रेक्षा :—जहाँ अहेतु में हेतु की सम्भावना हो । यथा :—

अरुन भये कोमल चरन, भुवि चलिवे ते मानु ॥

फलोत्प्रेक्षा :—जहाँ अफल में फल की सम्भावना हो । यथा :—

तव मुख समता को कमल, जलसेवत इक पाय ॥

अतिशयोक्ति :—जहाँ किसी वस्तु का अत्यन्त बढ़ा कर वर्णन हो । इसके ६ भेद हैं :—

रूपकातिशयोक्ति :—जहाँ केवल उपमान का वर्णन हो। यथा :—

शोभित कमल सनाल पर, पूर्ण चन्द्र छवि धाम।
तहाँ मीन मुक्ता झरहिं, निरख रहे घनश्याम॥

भेदातिशयोक्ति :—जहाँ भेद न होने पर भी भेद बताया जाय।

वह चितवन औरे कछु, जिहि बस होत सुजान।

सम्बन्धातिशयोक्ति :—जहाँ सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध वर्णन हो। यथा :—

देख लो साकेत नगरी है यही।
स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही॥

असम्बन्धातिशयोक्ति :—सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध बतलाया जाय। यथा :—

लेत न मुख में घास मृग, कण्व-सुता की याद।

चपलातिशयोक्ति :—जहाँ कारण के ज्ञान मात्र से कार्य हो जाय।

तब शिव तीसर नयन उघारा।
चितवत काम भयउ जरि छारा॥

अत्यन्तातिशयोक्ति :—जहाँ कारण से पहले ही कार्य हो जाय।

हृदय समर्पण के पहिले ही आंसू हो गिर जाता मन॥

अक्रमातिशोक्ति :—जहाँ कार्य और कारण एक साथ हों। यथा :—

चक्र अरु गजफन्द दोऊ, छोड़े एकहि साथ।

अनन्वय :—जहाँ उपमेय के समान उपमेय को ही बताया जाय। यथा :—

भारत के सम भारत है।

उपमेयोपमा :—जहाँ उपमेय को उपमान के समान और उपमान को उपमेय के समान बताया जाय। यथा :—

"राम के समान शंभु, शंभु सम राम हैं"

विभावना :—जहाँ कार्य कारण के भाव में विलक्षण कल्पना की जाय। इसके ६ भेद हैं :—

प्रथम विभावना :—जहाँ बिना कारण के कार्य हो :—

विन पानी साबुन बिना, निरमल करे सुभाय।

द्वितीय विभावना :—जहाँ अपर्याप्त कारण से कार्य हो :—

काम कुसुम धनु सायक लीन्हे।
सकल भुवन अपने बस कीन्हे॥

तृतीय विभावना :—जहाँ कारण में रुकावट होने पर भी कार्य हो जाय। यथा:—

बिपत हू में होय के, पर दुःख हरत महान।

चतुर्थ विभावना :—जहाँ अयोग्य कारण से कार्य की उत्पत्ति हो। यथा :—

फूलो चम्पक बेलि तें, झरत चमेली फूल।

पंचम विभावना :—जहाँ विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति हो।

"शीतल चन्दन चन्दहू लगे जरावन गात"

षष्ठम विभावना :—जहाँ कार्य से कारण की उत्पत्ति हो।

उपज्यो तो मुख-इन्दु ते, प्रेम-पयोधि अपार।

विशेषोक्ति :—जहाँ कारण होते हुए भी कार्य न हो। यथा :—

देखो दो-दो मेघ बरसते।
मैं प्यासी की प्यासी॥

परिसंख्या:—जहाँ एक स्थान पर वर्णित पदार्थों का अन्यत्र निषेध प्रतीत हो। यथा :—

मूलन ही की अधोगति केशव जहँ गाइय।

द्वितीय प्रश्न-पत्र

परीक्षोपयोगी दृष्टिकोण

यह प्रश्न-पत्र पुस्तकों की दृष्टि से अन्य सभी प्रश्न-पत्रों से विस्तीर्ण है। इसमें कुल ६ पुस्तकें पाठ्य-क्रम में हैं। जिनमें सात पुस्तकें अनिवार्य हैं तथा ५ पुस्तकों में से किन्हीं दो का विकल्प है।

पाठ्य-क्रम पर विचार

अनिवार्य पुस्तकों में १—कहानियाँ, २—संचयन, ३—जीवन-यज्ञ, ४—हिन्दी-गद्य-निर्माण ५—अभिज्ञान शाकुन्तल, ६—मुक्ति का रहस्य, ७—बहता पानी-की गणना है। वैकल्पिक पुस्तकों में १—चित्रलेखा, २—लज्जा, ३—विसर्जन, ४—देहाती दुनियाँ, ५—पिपासा हैं। जिनमें किन्हीं दो का अध्ययन आवश्यक है। अब प्रश्न यह है कि इन पाँचों वैकल्पिक पुस्तकों में से किन दो को चुना जाय। मैं छात्रों को अपनी उत्तमतम सम्मति तो यही दूँगा कि वे जिन पुस्तकों को सरल, सुबोध तथा छोटी समझें; उन्हें अध्ययन करें। जहाँ तक मुझे अपने अध्ययन एवं अध्यापन का अनुभव है; परीक्षात्मक दृष्टिकोण से चित्रलेखा और पिपासा अधिक सहायक एवं सुबोध प्रतीत हुई हैं। अतः इस प्रदर्शक में, वैकल्पिक पुस्तकों में से इन्हीं दोनों का अध्ययन कराया गया है।

इस प्रश्न-पत्र में प्राश्निक कुल ७ सात प्रश्न करेगा जिसमें दो प्रश्न अनिवार्य होंगे। शेष प्रश्नों में से किन्हीं तीन को करना पड़ेगा। विषय विभाजन के

अङ्कों का क्रम

दृष्टिकोण से अङ्कों का क्रम निम्न प्रकार रहता है:—

(अ) व्याख्या भाग—	४६ अङ्क
(ब) आलोचना भाग ...	५४ ,,
योग	१००

व्याख्या भाग में दो प्रश्न होंगे और ये दोनों ही अनिवार्य होंगे। इन दोनों प्रश्नों में एक प्रश्न, प्रश्न-पत्र का प्रथम तथा दूसरा सप्तम प्रश्न होगा। प्रथम पत्र में कुल छः अवतरण विभिन्न पुस्तकों से चुने

हुए होंगे जिनमें से किन्ही तीन की व्याख्या संदर्भ सहित करनी होगी। सप्तम प्रश्न एक गद्य-खण्ड होगा जो संचयन अथवा हिन्दी गद्य-निर्माण दोनों में से किसी एक से आयेगा। इसमें विकल्प नहीं होगा। यह प्रश्न अकेले १० अङ्क का होगा, इस प्रकार व्याख्या भाग में कुल ४ अवतरणों की व्याख्या करनी होंगी; जिनका अङ्क विभाजन निम्न प्रकार है :—

दिए गए छः अवतरणों में से किन्ही तीन की सदर्भ सहित व्याख्या—	३६
दिया गया एक गद्य-खण्ड का भावार्थ—	१०
योग	४६

आलोचनात्मक भागमें कुल प्रश्न पाँच होंगे प्रत्येक प्रश्न वैकल्पिक होगा जिनका प्रश्न नम्बर २ से ६ तक रहेगा। इस प्रकार ५ × २=१०, प्रश्नों में से किन्हीं तीन प्रश्नों का उत्तर वांछनीय होगा। प्रत्येक प्रश्न का पूर्णाङ्क १८ रहेगा। इस प्रकार आलोचनात्मक १८ × १०=१८० अङ्क का प्रश्न आयगा जिसमें १८ × ३ = ५४ अङ्कों के तीन प्रश्नों का उत्तर देना अपेक्षित हों। के तीन प्रश्नों का उत्तर देना अपेक्षित होगा।

आलोचनात्मक पाँच प्रश्नों में एक प्रश्न (प्रायः छठा) ऐसा होता है। जिसमें नाटकीय, औपन्यासिक अथवा कहानी सम्बन्धी तत्वों, नायकों अथवा रसादि के विषय में टिप्पणी लिखने को दी जाती है। यथा—निम्नांकित में से किन्ही ६ पर टिप्पणी लिखिये:—

कथावस्तु, यत्न, वीज, विन्दु, पताका, प्रकरी, प्रवेशक धीरोदत्त, धीरललित, धीर शांत विदूषक, संचारीभाव, कौशिकीवृत्ति, फलागम। प्रख्यात कथावस्तु, निर्वहण, भाण, व्यायोग, विभाव, स्थायी भाव।

उपरोक्त विचार से यह स्पष्ट है कि यदि परीक्षार्थी चाहे तो उपरोक्त ६ पुस्तकों में से हिन्दी-गद्य निर्माण तथा संचयन को छोड़कर किन्हीं २ पुस्तकों को पूरा भी छोड़ सकता है। यदि किसी परीक्षार्थी का सम्यग अध्ययन हिन्दी गद्य निर्माण, संचयन और किन्ही तीन अन्य पुस्तकों

पुस्तकों का महत्त्व

का है, तो यह सफलतापूर्वक उत्तीर्ण हो सकता है। प्रश्न प्राय: सभी पुस्तकों से पूछे जाते हैं परन्तु निम्नांकित पुस्तकें ऐसी हैं; जिन पर प्राश्निक की दृष्टि सर्वदा रहती है :—

१. चित्र लेखा, २. हिन्दी गद्य निर्माण, ३. मुक्ति का रहस्य, ४. पिपासा, ५. अभिज्ञान शाकुन्तल ६. जीवन-यज्ञ।

अत: परीक्षार्थियों को चाहिए कि उपरोक्त छै पुस्तकों को जहाँ तक हो सके पूर्ण रीति से अध्ययन करें। शेष तीन पुस्तकों का केवल आलोचनात्मक अध्ययन पर्याप्त होगा।

बहुत से छात्र केवल पाँच या छ: पुस्तकों को ही तैयार करते हैं; शेष पुस्तकों को पूर्णतया छोड़ देते हैं। यह रीति ठीक नहीं। यह एक प्रकार से जुए का खेल हो जायगा। अत: मैं अपने छात्रों को अनुमति दूँगा कि वे पूर्ण पुस्तकों की तैयारी करें। किसी भी पुस्तक को बिना तैयारी के न छोड़ें, परन्तु इन सब में उपरोक्त छै पुस्तकों पर विशेष ध्यान दें।

पुस्तकों और अंकों का समीकरण

प्रथम प्रश्न पत्र में छै अवतरण व्याख्या के तथा आलोचनात्मक भाग के प्रश्नों मे जितने प्रश्न तथा अंकों का क्रम रहेगा उन सब का क्रम पुस्तकों के दृष्टिकोण से अनुमानत: इस प्रकार रहेगा:—

नाम पुस्तक	व्याख्या के अंक	आलोचनात्मक अंक	योग
चित्रलेखा	१२	१८	३०
हिन्दी गद्य-निर्माण	१०	१८	२८
संचयन	×	१८	१८
कहानियाँ	×	१८	१८
अभिज्ञान शाकुन्तल	१२	१८	३०
जीवन-यज्ञ	१२	१८	३०
बहता पानी	१२	१८	३०

पिपासा	... १२	...	१८	...	३०
मुक्ति का रहस्य	... १२	...	१८	...	३०
(विविध)	... ×	...	१८	....	१८
कुल योग	८२	+	१८०	=	२६२
अनिवार्य (आवश्यक)	४६	+	५४	=	१००

उपरोक्त सारिणी स्पष्ट है कि यह प्रश्नपत्र जितना ही विस्तीर्ण है, उतना ही विकल्प से भरा हुआ है। अतः छात्रों को इस प्रश्न-पत्र से घबराना नहीं चाहिए।

बहुत से छात्र इस प्रश्न-पत्र में पुस्तकों की संख्या अधिक देखकर तो घबड़ा ही जाते हैं, बहुत उससे भी अधिक परीक्षा-भवन में प्रश्न-पत्र पानेपर घबड़ा जाते हैं। ध्यान रहे, घबड़ाने वाला छात्र प्रायः अनुत्तीर्ण होता है। अतः शान्तिपूर्वक परीक्षा-भवन में बैठना चाहिए तथा इस प्रश्न-पत्र से घबराना नहीं चाहिए। यह तो एक प्रकार से मनोरंजक प्रश्न-पत्र है। यदि ढंग से किन्हीं ६ पुस्तकों का अध्ययन किया गया हो, तो छात्र किसी भी दशा में उत्तीर्ण होने से नहीं रुक सकता।

प्रश्न-पत्र पाने पर सर्वप्रथम पूर्ण प्रश्न-पत्र को कम से कम तीन बार शान्तिपूर्वक पढ़ा जाय। फिर यह पहले ही निर्धारित कर लिया जाय कि कौन-कौन से प्रश्न करने है; तत्पश्चात् प्रश्नों का उत्तर देना आरम्भ किया जाय।

उत्तर लिखते समय सर्वप्रथम उसी प्रश्न को लिया जाय; जो अति सरल तथा छोटा हो। कभी भी लम्बे उत्तर वाले प्रश्नों के हल करने का प्रयास नहीं करना चाहिए।

कहानियाँ

प्रश्न १ :—कहानी की परिभाषा लिखते हुए उपन्यास से उसका अन्तर स्पष्ट करो।

उत्तर :—साहित्य के अनेक अंगों में कहानी भी है, इसकी गणना गद्यभाग में होती है। जैसे साहित्य के लक्षण के विषय में विद्वानों की सम्मतियाँ भिन्न २ हैं, उसी प्रकार कहानी के विषय में भी। कुछ मत निम्नलिखित हैं :—

क—घटनाओं का परस्पर सम्बन्ध रखने वाला क्रम, जो अन्ततः किसी न किसी परिणाम पर पहुँचे, कहानी कहलाता है—फोस्टर।

ख—आध घंटे से लेकर एक घंटे तक पढ़ने में समय लेने वाला वर्णनात्मक गद्य ही कहानी के नाम से पुकारा जाता है—एडगर एलन पो।

ग—मनुष्य जो करे, वही कहानी है—ह्यू वाकर।

घ—आधुनिक कहानी साहित्य का एक विकसित कलात्मक रूप है, जिसमें लेखक कल्पना-शक्ति के सहारे कम से कम पात्रों और चरित्रों के द्वारा, कम से कम घटनाओं और प्रसंगों की सहायता से मनोवांछित कथानक, चरित्र, वातावरण, दृश्य अथवा प्रभाव की सृष्टि करता है—डा० श्री कृष्णलाल।

इसी प्रकार अन्य भी अनेक मत कहानी की परिभाषा के विषय में प्रकट किये गये हैं। इनमें अधिकांश तो कहानी की व्याख्या हैं। कहानी का बहुमत-सम्मत और वास्तविक लक्षण यही है कि जीवन की किसी विशेष स्थिति का संक्षिप्त किन्तु रागात्मक चित्रण कहानी है। इसी लक्षण के द्वारा वह उपन्यास से सर्वथा भिन्न सिद्ध होजाती है। कहानी का उपन्यास से स्थूल भेद निम्नलिखित पंक्तियों में स्पष्ट है।

१—उपन्यास बृहत्काय होता है, कहानी संक्षिप्त।

२—उपन्यास में सम्पूर्ण मानव-जीवन को सामने रखा जाता है, कहानी में किसी विशेष महत्त्व-पूर्ण परिस्थिति को।

३—उपन्यास में मानव-जीवन या समाज के प्रतिनिधि अनेक पात्र होते हैं, कहानी में मुख्य रूप से एक अथवा दो ही पात्र विशेष रूप से लक्षित होते हैं। पात्र वैसे भी उपन्यास की अपेक्षा कम ही रहते हैं।

४—उपन्यास में अनेक समस्याओं पर विचार किया जाता है, कहानी में एक पर ही सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित रहता है।

५—उपन्यास में परिणाम समाप्ति से पूर्व भी झलकाया जा सकता है, कहानी में ऐसा होना उसके कौतूहल नामक महत्त्वपूर्ण तत्त्व की हत्या करेगा। यह कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भेद है।

६—उपन्यास में पात्रों के चरित्र-चित्रण पर विशेष ध्यान दिया जाता है, कहानी में जीवन के एकांगी प्रदर्शन के कारण चरित्र-चित्रण सम्भव नहीं है। हाँ, चरित्र की सृष्टि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा अवश्य हो जाती है। चरित्र-चित्रण में मानव-हृदय की सूक्ष्म और स्थूल सबलता और दुर्बलता तथा मानव-जीवन के उत्थान-पतन पर गहरी दृष्टि डाली जाती है, कहानी में जीवन के इतने परिमाण में सम्मुख न आने से इन सभी बातों पर दृष्टि डालना असम्भव है।

प्रश्न २:—कथा साहित्य का ऐतिहासिक क्रम लिखते हुए कुछ अच्छे आधुनिक कथाकारों का उनकी कथाओं के साथ उल्लेख कीजिए।

उत्तर :—जब से मानव ने जन्म लिया, तभी से उसकी इच्छा अपने हृदय की बात दूसरों तक पहुँचाने की रही है। रात-दिन के गतिशील समय-चक्र में बहते हुए उसने जीवन में जो विभिन्न परिस्थितियाँ आती हैं, अवसर आने पर वह उन्हें विस्तार या संक्षेप से किसी दूसरे को सुनाना चाहता है। उसकी यह प्रवृत्ति उसके जन्म के साथ ही संसार में आई है। इसलिए कहानी का जन्मकाल तो बहुत प्राचीन है। प्रायः सभी बच्चे रात को अपनी २ दादी और माताओं से कहानी सुना करते हैं। प्राचीन काल में कहानी को आख्यायिका कहते थे, परन्तु आज की कहानी में बहुत कुछ परिवर्तन होगया है।

आधुनिक कहानी का जन्म सन् १९०० में हुआ। उस वर्ष प्रयाग से सरस्वती नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ था। उसमें बंगला की कहानियों के अनुवाद प्रकाशित होते थे। विशेषकर कहानी-लेखक ये थे—गिरिजाकुमार घोष (पार्वतीनन्दन), प्रमथनाथ भट्टाचार्य, बंग महिला। सर्वप्रथम किशोरीलाल गोस्वामी की इन्दुमती नामक मौलिक कहानी प्रकाशित हुई। उनके अतिरिक्त पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा गिरिजादत्त वाजपेयी ने भी कुछ कहानियाँ लिखीं। इसके अनन्तर सन् १९०७ में उन्हीं बंगमहिला की "दुलाईवाली" कहानी प्रकाशित हुई। इसमें आधुनिक कहानी की बहुत सी विशेषतायें थीं। कहने को तो इंशा अल्ला खां की "रानी केतकी की कहानी" पहली कहानी कही जाती है, परन्तु वह केवल हिन्दी गद्य के नमूने के तौर पर लिखी गई थी। आधुनिक कहानियों के विकास-क्रम को देखते हुए उपर्युक्त कहानियों को ही आरम्भिक मानना उचित होगा।

१९०७ में "इन्दु" नामक पत्रिका निकली। इसमें अन्य कहानियों के बाद १९११ में श्री जयशंकर प्रसाद जी की "ग्राम" नामक कहानी प्रकाशित हुई। बाद में "आकाशदीप" आदि अन्य कहानियाँ भी निकलीं। इनसे कथा-साहित्य में पर्याप्त प्रगति हुई। इसी काल में श्री विश्वम्भरनाथ जिज्जा और हास्य रस के कहानी लेखक श्री जी० पी० श्रीवास्तव भी कथा-क्षेत्र में आये।

१९१२ में विश्वम्भर नाथ कौशिक और १९१५ में श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कहानियाँ प्रकाशित हुईं। गुलेरी जी की "उसने कहा था" कहानी ने बड़ा आदर पाया। इन्हीं दिनों श्री ज्वालादत्त शर्मा भी कहानी क्षेत्र में आये थे। इसी काल में आचार्य चतुर सेन शास्त्री की कहानी प्रकाशित हुई। सन् १९१६ में श्री मुंशी प्रेमचन्द जी का इस क्षेत्र में पदार्पण हुआ। आपने अनेक वर्षों तक अनवरत प्रवाह से लगभग ३०० कहानियाँ लिखीं। सर्व प्रथम इनकी "पंच परमेश्वर" नामक कहानी प्रकाशित हुई थी। सन् १९२० में सुदर्शन जी ने भी हिन्दी कहानी के विकास में पर्याप्त सहयोग दिया। इस काल तक की कहानियाँ आदर्श प्रधान कहलाती हैं।

इसके अनन्तर कथा-साहित्य की नई पीढ़ी का आरम्भ होता है। इसमें यथार्थवादी कहानियाँ लिखी जाने लगीं। इससे पूर्व रायकृष्ण दास बालकृष्ण शर्मा "नवीन" और गोविन्दवल्लभ पन्त भी इस क्षेत्र में आ चुके थे। १९२२ में श्री बेचन शर्मा उग्र भी इस ओर आकृष्ट हुए। १९२४ में भगवतीप्रसाद वाजपेयी, १९२५ में विनोद शंकर व्यास और १९२६ में वाचस्पति पाठक कहानी लिखने लगे।

वर्तमान काल में साहित्य के अन्य अंगों की भाँति कथा-क्षेत्र में भी प्रगतिशीलता आई है। कहानियों को जनता की ओर से पर्याप्त आदर मिल रहा है। हिन्दी के कवि नाटककार और उपन्यासकार सभी कहानियाँ लिखकर इस अंग को समृद्ध करने लगे हैं। सर्वश्री अज्ञेय, जैनेन्द्रकुमार, भगवतीचरण वर्मा, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, पहाड़ी, यशपाल, उपेन्द्र नाथ 'अश्क' और अख्तर हुसैन 'रायपुरी' आधुनिक युग के प्रमुख कहानी-लेखक हैं।

प्रश्न ३:—कहानियों की उपयोगिता सिद्ध करते हुए उनके आवश्यक तत्वों का निरूपण करो।

उत्तर :—आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य की पर्याप्त उन्नति हो चुकी है। काव्य, नाटक, उपन्यास, निबंध और कहानी, सभी अंग उत्तरोत्तर विकसित हो रहे हैं। परन्तु इन सभी में कहानी की-सी लोकप्रियता किसी को नहीं मिल पाई है। जिस के निम्नलिखित कारण कहे जा सकते हैं :—

१—काव्य या नाटक पढ़ने के लिये विशेष शिक्षित होना आवश्यक है। कहानी से साधरण शिक्षित भी लाभ उठा सकता है।

२—उपन्यास मंहगे होते हैं। धनिक व्यक्ति ही यथेच्छ उपन्यास पढ़ सकते हैं। इसके विपरीत कहानियाँ प्रायः सभी साप्ताहिक और मासिक पत्रों में पढ़ी जा सकती हैं। आजकल तो "माया" "रसभरी" और "नई कहानियाँ" जैसी अनेक पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं, जिनमें केवल कहानियाँ ही प्रकाशित होती हैं।

३—आजकल मानव समाज जीवन की आवश्यक सामग्री जुटाने में ही पर्याप्त व्यस्त रहता है, उसे बड़े २ काव्य, उपन्यास और नाटक पढ़ने के लिये अवकाश नहीं है। जिस प्रकार उसने नाटकीय क्षेत्र में एकांकी नाटकों को पसन्द किया है, इसी प्रकार कथा क्षेत्र में उपन्यासो के स्थान पर उसने मनोरंजन के लिये कहानियाँ चुनी हैं, जिससे उसे मनोरंजन की सामग्री भी मिल जाय और अधिक समय भी नष्ट न हो।

४—कला की दृष्टि से भी आज कहानी का पर्याप्त विकास हो चुका है। अब वह केवल "आगे क्या हुआ" इस कौतूहल को शांत करने का साधन ही नहीं रह गया है, अपितु मनुष्य को उसमें अपने जीवन की कुछ कुछ झांकी मिलती है। समाज के विषय में व्यंग्य मिलते हैं, जीवन मार्ग में आने वाली विविध घाटियों के दर्शन होते हैं, इस प्रकार साहित्य के अन्य अंगों से प्राप्त होने वाली सामग्री कहानियों से ही प्राप्त हो रही है।

५—हमारा जीवन आज संकुचित न रह कर व्यापक हो चला है। विदेशी भाषाओं की पुस्तकों का हिन्दी में और हिन्दी की पुस्तकों का अन्य भाषाओं में अनुवाद होने से नवीन विषयों का अच्छा आदान प्रदान हो रहा है। यह विशेषता कहानी साहित्य में भी आ गई है। कहानियों में तो विदेशी कला का प्रभाव भी लक्षित होता ही है। इस कारण यह अंग किसी भी रूप में साहित्य के दूसरे अङ्गों से पिछड़ा हुआ नहीं है। अतः समाज का इसकी ओर आकृष्ट होना स्वभाविक है।

कहानी के तत्व :—उपन्यास की भाँति कहानी के तत्व भी उसी प्रकार हैं :—

१—कथावस्तु, २—पात्र और चरित्र-चित्रण, ३—कथोपकथन, ४—देशकाल, ५—उद्देश्य, ६—शैली।

कथावस्तु :—कहानी का मुख्य आधार कथावस्तु है।

यह ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों प्रकार का होता है। सामाजिक से अभिप्राय समाज में रहने वाले व्यक्ति से है, क्योंकि कहानी

में सारे समाज का चित्रण नहीं हो सकता। घटना प्रायः कल्पित ही होती है परन्तु उसकी नींव किसी वास्तविक तथ्य पर ही होनी चाहिये। ऐतिहासिक घटना भी सदा यथार्थ रूप की अपेक्षा कल्पना का रंग देकर उपस्थित की जाती है। कथावस्तु का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है; परन्तु उसमें शिथिलता न होनी चाहिये। घटना-क्रम का स्वाभाविक परम्परा में विकसित होना आवश्यक है। इस प्रकार ही निर्वाह होता है। इसके लिये घटनाओं का शृंखला-बद्ध होना, साथ में "आगे क्या हुआ" का कौतूहल जो कि अन्त तक बना रहे, स्वाभाविक तथ्यों पर घटना पर क्रम आधारित होना चाहिये। प्राचीन काल में कथावस्तु ही प्रधान होता था, आजकल नहीं, परन्तु महत्व अब भी है।

पात्र और चरित्र-चित्रण—कहानी में बहुत कम पात्र होते हैं। उनका आधार कोई विशेष भाव होता है। कार्य व्यापार को निभाने के लिये उनका सजीव होना आवश्यक है। उनके चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता लाने के लिये मनोविज्ञान का सहारा लिया जाता है। उसके बिना पात्र के चित्र की गहराई तक नहीं पहुँचा जा सकता। कहानी के पात्र का सम्पूर्ण जीवन अंकित न हो सकने से चरित्र-चित्रण के स्थान पर चरित्र-सृष्टि ही सम्भव है। उसके लिये भी मनोविश्लेषण से काम लेना पड़ता है। पात्रों के चरित्र को स्वाभाविक बनाने के लिये भावुकता आवश्यक है। परन्तु यह भावुकता ऐसी न होनी चाहिये जो मनुष्य को अधःपतन की ओर अग्रसर करे। सत्य का निरूपण करना हो तो उचित रूप में ही किया जाय। जिसका प्रभाव बुरा न पड़े।

चरित्र का निरूपण दोनों रूप से किया जा सकता है, उपन्यास के व्याख्यात्मक ढंग से और नाटकों के कथोपकथन वाले ढंग से। यह प्रकार अधिक उपयोगी है।

कथोपकथन—पात्रों को सजीव बनाने और स्वाभाविकता लाने के लिये संवाद भी आवश्यक होता है। उसमें प्रसाद और ओज गुण अवश्य होना चाहिये। साथ ही प्रसंग के अनुकूल होना आवश्यक है। भाषा

और विचार पात्रों की शिक्षात्मक और बौद्धिक स्थिति के अनुकूल होना चाहिये।

देश काल—घटना-स्थल और समय का निरूपण करने में विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है। जैसे यूरोप में मई जून में भी धूप प्यारी लगती है, भारत में नहीं। आम भारत में होता है यूरोप में नहीं। इन बातों का ध्यान आवश्यक है। अशोक को कोट पैन्ट पहराना आदि इसी प्रकार की अनभिज्ञता का सूचक होगा।

उद्देश्य—प्रायः सभी लेखकों का कहानी लिखने में कुछ न कुछ उद्देश्य रहता है। कोई शिक्षा-पद्धति पर, कोई सरकारी-पद्धति पर, व्यंग्य करने के लिये कहानी लिखता है। इसके लिये लेखक को चाहिये कि उद्देश्य प्रकट करने में संयम से काम ले। उसकी व्याख्या करके कथा पर उसका आवरण न डाल दे।

शैली—कहानी लिखने से पूर्व उसके रूप, पात्रों की श्रेणी, उनके अनुकूल मानसिक स्थिति, वातावरण आदि पर विचार कर लेना चाहिये। उसकी रोचकता के लिये यह आवश्यक है कि उसकी भाषा मनोहर और स्पष्ट हो।

प्रश्न :—"बड़े घर की बेटी" शीर्षक वाली कहानी सामाजिक है या ऐतिहासिक? युक्ति से सिद्ध करते हुए इसके द्वारा लेखक का दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिये।

उत्तर :—यह कथा सामाजिक है। इसमें किसी ऐतिहासिक घटना या व्यक्ति के चरित्र का निरूपण नहीं किया गया है। इसमें शुद्ध रूप से भारतीय परिवार की दशा दिखाई है। कहानी होने से इसमें पूरे समाज या परिवार का दृश्य तो आ नहीं सकता। केवल एक झलक दिखाई गई है कि हमारे घरों में स्त्रियों के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाता है। कथा का सारा घटना-प्रवाह आनन्दी पर केन्द्रित है। वह बड़े घर की बेटी है। सुसराल में उसके पीहर की सी सम्पत्ति नहीं है। वह अपने अभ्यास के कारण ही पाव भर घी एक वार के मास

बनाने में डाल देती है। जिसका परिणाम यह होता है कि उसका देवर लालबिहारी उसे बुरा भला कहता है और खड़ाऊँ चला देता है। लालबिहारी के पिता भी उसका अपराध न मानकर आनन्दी का ही अपराध मानते हैं। इस प्रकार दिखाया है कि उन्हें स्त्री के मान-सम्मान की कोई चिन्ता नहीं। उन्हें जो चाहे कह सकता है। आनन्दी अच्छे सम्मान से पली है, वह इतना अपमान नहीं सह सकती। अतः श्रीकण्ठ के आने पर उनसे सब घटना कह देती है। परन्तु जब श्रीकण्ठ का क्रोध और लालबिहारी के विरुद्ध उनका निर्णय सुनती है तो उसका क्रोध पश्चात्ताप में बदल जाता है। उसके हृदय में वंश-गौरव की स्वाभाविक उदारता भर आती है। जाते हुए लालबिहारी को वही अपने आग्रह से रोकती है। इस प्रकार दोनों भाइयों में मेल करवा कर घर को बिगड़ने से बचा लेती है। बूढ़े ठाकुर को भी यह देख प्रसन्नता होती है और इनके मुख से सहसा निकल जाता है कि बड़े घर की बेटी ऐसी ही होती है जो कि बिगड़ा काम बना लेती है।

यह मुंशी प्रेमचन्द जी की कहानी है जो कि राजनैतिक उपन्यासों में भी सामाजिक प्रश्न उपस्थित करने से नही चूकते। हमारे यहाँ देवर और भाभी का क्या बर्ताव होता है, ससुर का अपनी बहू के प्रति क्या भाव रहता है, स्त्रियों में भी किस प्रकार की उदाराशयता रहती है, समाज किस प्रकार दूसरे के जलते झोंपड़े पर हाथ सेंकता है, इन सभी बातों का उत्तर इस छोटी सी कहानी में मिलता है। आनन्दी का चरित्र इसमें बहुत अच्छा दिखाया गया है। आजकल जो स्त्रियों के झगड़ों के कारण अनेक घर प्रतिदिन उजड़ते हैं, गृहस्थ नरक बन जाता है, यह सब आपत्ति टल जाय यही इस कहानी का उद्देश्य है।

प्रश्न :—"उसने कहा था" कहानी का संक्षिप्त सार लिखकर उसे कहानी कला की कसौटी पर परखिये।

उत्तर :—लहनासिंह अमृतसर अपने मामा के यहाँ आया हुआ था। वह एक दिन दुकान से दही लेने गया, वहीं एक लड़की से भेंट हो गई। वह भी अमृतसर अपने मामा के यहाँ आई हुई थी। दही लेने के

बाद उसने लड़की से पूछा —"तेरी कुड़माई हो गई ?" लड़की आँखें चढ़ा कर "धत्" कहकर भाग गई। एक महीना इसी प्रकार होता रहा। परन्तु एक दिन लहनासिंह ने पहले की भाँति पुनः पूछा तो लड़की ने कहा कि हाँ हो गई। देखते नहीं रेशम से काढ़ा हुआ सालू—यह कहकर वह चली गई।

इस घटना के अनन्तर जबकि वह याद भी नहीं रही थी, लहनासिंह सिख राइफल्स मे भर्ती होकर जमादार के पद पर पहुँच गया। इधर जर्मनी के साथ प्रथम महायुद्ध छिड़ गया और मोर्चे पर जाने की आज्ञा आई।

उसी समय सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी भी आई कि वे और उनका पुत्र बोधासिंह भी युद्ध में जा रहे हैं, अतः वह उनके पास होकर जायें। उनका घर मार्ग मे था।

लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुंचा। जब चलने को उद्यत हुए तो सूबेदार ने बाहिर आकर कहा कि लहनासिंह तुम्हें सूबेदारनी जानती हैं, जाओ मिल आओ। लहनासिंह आश्चर्य में पड़कर भीतर पहुँचा, मत्था टेकना कहा। भीतर से आसीस आई। सूबेदारनी ने पूछा कि पहचाना या नही ? लहना के नही करने पर पुनः उत्तर मिला कि "तेरी कुड़माई हो गई ? धत्—कल हो गई —देखते नहीं रेशमी बूटों वाला सालू—अमृतसर में।

पहचानने पर सूबेदारनी रोकर हाल सुनाने लगी कि मैंने तुम्हें पहचान लिया है अतः कुछ कहती हूँ। मेरे पति और बेटा (जो कि एक ही हैं) दोनों युद्ध में जा रहे हैं। और कोई लड़का नहीं है। चार हुए थे, पर कोई नही बचा। अब इन्हें तुम्हारे हाथ सौंपती हूँ। जिस प्रकार अमृतसर में तुमने अपने आपको घोड़े की लातों में डालकर मुझे बचाया था, ऐसे ही इनकी भी रक्षा करना।'

इधर युद्ध में आये, खाइयों में पड़े पड़े तंग आ गये थे। बोधासिंह ज्वरग्रस्त था। रात को लहनासिंह उसे अपना ओवरकोट ओढ़ा देता, कम्बल डाल देता, स्वयं ज़ीन का कुर्ता और जरसी पहने पहरे पर रहता।

एक दिन रात का समय था, कोई जर्मन इनके खेमे में आ गया। लेफ्टिनेन्ट के वेष में सूबेदार के पास पहुँच कर उसे हुक्म दिया कि यहाँ से एक मील पर एक खाई है, वहाँ पचास से अधिक जर्मन न होंगे। रास्ते में १५ जवान खड़े हैं, इसी समय धावा बोल कर उस पर अधिकार करो।

सूबेदार ने उसका मुँह न देखा था। दस सैनिक वहाँ छोड़कर बाकी सभी चले गये। लहनासिंह भी जाना चाहता था, परन्तु बोधा की ओर संकेत करके सूबेदार ने उसे रोक दिया। लहनासिंह वहाँ पहरे पर था।

इधर लेफ्टीनेन्ट साहब लहना की अंगीठी की ओर मुँह करके सिगरेट सुलगाने लगे और एक सिगरेट लहना को भी दी। अंगीठी के प्रकाश में उसने साहब का मुँह और बाल देखे।

लहना ने जाँच के लिए पूछा—कि देश को कब लौटेंगे। उत्तर मिला कि लड़ाई समाप्त होने पर, यह देश पसन्द नहीं है क्या? इस पर लहना ने कई बातें बनाकर कहीं। साहब ने हाँ में हाँ मिलाई। जिससे लहना सब कुछ समझ कर दियासलाई लेने के बहाने खाई में घुसा। अंधेरे में वजीरासिंह से टकराया। लहना ने उसे सब बातें समझाईं और कहा कि सूबेदार आदि के पैरों के चिह्न देख देख कर उनके पीछे २ चले जाओ। उनको वापिस लौटा लाओ।

वजीरासिंह को भेजकर लहना ने खन्दक की दीवार से लगकर देखा कि साहब ने ३ गोले निकालकर जमीन में गाड़ दिये और उनकी रस्सी को अंगीठी तक ले जाकर जैसे ही दियासलाई झाड़नी चाही कि तुरन्त लहनासिंह ने बन्दूक का कुंदा साहब की गर्दन में मारा। साहब 'हाय रे राम' करके बेहोश हो गये। लहना ने उनकी तलाशी ली और डायरी आदि निकाल ली। पतलून की जेब से पिस्तौल निकालनी रह गई। होश में आकर साहब ने जांघ में से ही पिस्तौल चलाई जिसकी गोली लहना की जांघ में लगी। लहना ने अपनी २ गोलियों से साहब को समाप्त कर दिया। उसी समय ७० जर्मन चिल्लाकर खाई में कूद पड़े। उनको पहले सिखों की बन्दूकों ने रोका। लहनासिंह ताक ताक कर मार रहा

था। उसी समय पीछे से फौज लौट आई। जर्मन बीच में फंस गये। थोड़ी देर में सिखों में १५ और जर्मनों में ६३ समाप्त हुए और लड़ाई बन्द हुई। लहना के बड़ा घाव लगा जो कि पसली में होने से भारी था। लहना ने खन्दक की मिट्टी से घाव को भर दिया, कमरबन्द बाँध दिया। किसी को भी पता न चलने दिया।

थोड़ी देर में डिपो से गाड़ियाँ आगईं, सूबेदार, जिनके दाहिने कन्धे में गोली लगी थी, और बोधासिंह गाड़ी में बैठे। लहना साथ नहीं गया। उसके घाव का किसी को भी पता नहीं लगा।

कुछ दिनों में सूचना निकली कि फ्रांस और बेल्जियम के मैदानों में ७७ सिख राइफल्स का जमादार लहनासिंह घावों से मरा।

कथा की कथावस्तु बहुत ही आकर्षक है। उसका आरम्भ भी बहुत रोचक ढंग से हुआ है। आदि से अन्त तक कौतूहल का विच्छेद नहीं होता। लहना के चरित्र की सृष्टि बहुत ही सजीव हुई है। सूबेदारनी और लहना का एक गम्भीर और निर्मल प्रेम का स्रोत, जिसमें कहीं भी उछल-कूद नहीं है, तड़पन नहीं है, अबाध गति से बह रहा है। उसका परिणाम उसी प्रकार सर्वस्व समर्पण में पूर्ण हुआ है जैसे कि प्रायः शुद्ध प्रेम का हुआ करता है। एक २५ वर्ष पूर्व की भूली हुई प्रेयसी ने जिस आशा और विश्वास के साथ उससे प्रार्थना की थी, वह उसने प्राण देकर पूर्ण कर दिखाई। साथ ही उसमें तुरन्त कार्य करने वाली प्रतिभा, अपूर्व साहस, निर्भीकता और चतुरता दिखाई है जो उसके चरित्र को सजीव कर देती है।

कथोपकथन :—इसके कथोपकथन बड़े ही सजीव हैं। आरम्भ से अन्त तक स्वाभाविकता और रोचकता भरी पड़ी है। सारा कथानक कथोपकथनों से विकसित होता है। उसके बल पर लेखक भी पंजाबी ही प्रतीत होता है।

देश-काल :—इसकी झलक-विशेष तो नहीं है, परन्तु आरम्भ में ही अमृतसर के बाजार का दृश्य वहाँ के पंजाबी वार्तालाप के द्वारा

सजीव है। साथ ही युद्धस्थल में वहाँ की खन्दक और वहाँ की गीली मिट्टी आदि के वर्णन देश-काल के अनुकूल ही हैं।

उद्देश्य :—यह कथा वास्तव में किसी सामाजिक प्रश्न को सुलझाने या ऐतिहासिक चरित्र को प्रकाश में लाने के लिए नहीं लिखी गई है। वास्तव में गुलेरी जी इस ओर किसी विशेष उद्देश्य से अग्रसर नहीं हुये थे।

शैली :—कहानी के लिये जो रोचकता, शृंखलाबद्धता, कौतूहल, प्रसादगुण, प्रवाह और ओजगुण यह सभी इस कथा में प्राप्त हुए हैं। इसकी भाषा बहुत ही सशक्त है जो कि पात्रों को सजीव बना देती है। इस प्रकार देखते हैं कि हिन्दी के कहानी-साहित्य में यह कहानी अपनी कला के लिये विशेष स्थान रखती है।

प्रश्न :—"उसकी मां" अथवा "अपना अपना भाग्य" का संक्षिप्त सार देकर उसकी विशेषता प्रकट कीजिये कि वह कहाँ तक सफल बन पड़ी है।

उत्तर :— "उसकी मां"

जमींदार के घर के सामने एक बुढ़िया और उसका पुत्र लाल ये दोनों रहते थे। जमींदार का इस घर से कुछ स्नेह था। लाल राजनैतिक षड़यन्त्रों में भाग लेता था। एक दिन पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट जमींदार को सूचना भी दे गया कि लाल क्रान्तिकारी पार्टी का सदस्य है। जमीदार ने उसे समझाया भी परन्तु वह अपनी लगन से नहीं टला। वह और उसके साथी अपना कार्य करते रहे। बुढ़िया जानकी उनको बालक ही समझती। वे उसे भारत-माता जैसी कहते, वह पुलकित हो उठती। एक दिन वह भी आया कि वे सभी पकड़े गये। पुलिस ने उनके विरुद्ध बड़े २ प्रमाण इकट्ठे किये। इनकी ओर कोई वकील भी न था। एक वह बुढ़िया ही घर के बर्तन बेचकर पैरवी का प्रयत्न करती। जेल में मिलने का प्रयत्न करती। उसे केवल पुलिस की जालसाजी लगती, उसे आशा थी कि वे सभी निर्दोष हैं। न्यायालय से

अवश्य छूट जायेंगे। परन्तु शोक, एक दिन उसकी आशा के विरुद्ध दण्ड सुना ही तो दिया गया। लाल और उसके एक साथी को मृत्यु दण्ड और कुछ को ७ व १० वर्ष तक का कठोर कारावास दण्ड मिला। एक दिन वह आया कि उनको फांसी लग गई, दूसरे भी इधर उधर भेज दिये गये। बुढ़िया बेचारी उस दण्ड के कागज को हाथ में लिये झोंपड़ी के बाहर बैठी २ मर गई। उसकी आशा के विपरीत यह मृत्यु दंड हुआ था, अतः वह यह आघात नही सह सकी।

अपना अपना भाग्य

दो मित्र नैनीताल ग्रीष्म भ्रमण करने गये हुए थे। एक दिन शाम के समय घूमने गये। घूमते २ रात का एक बज गया। लौटते हुए वे ताल के पास एक बैंच पर बैठ गये। उन्होंने देखा कि कोहरे में से एक लड़का जिसकी आयु लगभग १० वर्ष की होगी, नंगे पैर, नंगे सिर, एक फटी-सी कमीज डाले धीरे २ आ रहा है। एक ने उसे बुलाया। पास आने पर पूछने से पता लगा कि वहाँ से १५ मील की दूरी पर उसका गाँव है, जहाँ उसके मां बाप रहते हैं। घर में खाने पीने को न मिलने के कारण वह एक लड़के के साथ भाग आया। उसको किसी साहब ने पहले नौकर रख लिया, बाद में इतना मारा कि मर ही गया।

इसको अभी कोई काम ही न मिला था। साथ भूखा था। इन दोनों को दया आई, उसे साथ ले चले, रास्ते में एक होटल पर जाकर किसी वकील को पुकारा। नीचे आने पर जो उन्हें उस लड़के को नौकर रखने को कहा तो वे विना जमानत के उसे रखने को उद्यत न हुए और सोने चले गये।

इधर इन दोनों मित्रों ने भी अपनी २ जेबों में हाथ डाला और १०—१० के नोट ही पाकर उसे अगले दिन आने को कह कर लौटा दिया।

अगले दिन पता लगा कि वह लड़का सर्दी से ठिठुर कर मर गया था, उस पर बर्फ की हल्की पर्त जम गई थी। जिसे सुनकर उन मित्रों के मुँह से निकला "अपना अपना भाग्य"।

इन कहानियों में पहली कथा में एक माता का चरित्र अंकित किया गया है। उसका बेटा मातृ-भूमि की दासता दूर करने के प्रयास में बलि हो जाता है। वह बुढ़िया केवल उसको और उसके साथियों को निर्दोष समझती है। शेप सम्पूर्ण राजकीय अधिकारी और उनकी कृपा पर जीने वाले नागरिक सब की दृष्टि में वे राजद्रोही, देश-द्रोही और न जाने क्या २ थे, साथ ही लाल की माता होने के नाते बुढ़िया भी उनकी दृष्टि में अपराधिनी है। वे लोग उसके प्रति सहानुभूति के दो वचन कहना भी अपराध समझते हैं।

इस प्रकार एक देशभक्त पुत्र के अदम्य साहस और उसकी माता का वात्सल्य यहाँ विशेष महत्त्व की वस्तु है, दूसरी ओर बुढ़िया की इस अवस्था के प्रति जमीदार साहब की समवेदना देखने योग्य है। उन्हें दुःख अवश्य है परन्तु सरकारी कोपदृष्टि का भाजन बनने का डर लगा हुआ हैं। इसलिये सहायता कुछ नहीं कर सकते।

दूसरी कहानी "अपना अपना भाग्य" में समाज की आर्थिक विषमता का व्यंग्य चित्र है। एक ओर तो वकील लोग हजारों रुपया सैर-सपाटे में खो देते हैं, ४ रुपये प्रतिदिन होटल के कमरे का किराया देते हैं, दूसरी ओर एक लड़का भूखा, नंगा सर्दी से ठिठुर कर मर जाता है। धन की गोद में खेलने वाले उसकी नीयत पर भी विश्वास करने को उद्यत नहीं। साथ ही भ्रमणकर्ता मित्रों की मौखिक दया देखने योग्य है, वे केवल दया की भावना से ही संसार भर की सहायता का रुपया लूट लेना चाहते हैं। अपने भ्रमण में चाहे और सौगुना व्यय हो जाय पर १० रुपये उसे देने में इनका बजट बिगड़ जाने का डर है। इस कथा की विशेषता यह है कि इसका विकास भी कथोपकथन के द्वारा ही हुआ है। संवाद बड़े स्पष्ट हैं—जिससे दोनों मित्रों के मनोभावों पर अच्छा प्रकाश पड़ जाता है। लेखक ने लड़के का वर्णन भी अच्छा किया है जोकि भीषण आर्थिक विषमता के शिकार हुए उसकी दीन-दशा पर पर्याप्त प्रकाश डाल देता है। इस कथा के वास्तविक पात्र तो वे दोनों मित्र ही हैं, लक्ष्य वह लड़का ही है।

ये दोनों कथायें सफल कथाओं में गिनी जाती हैं, परन्तु प्राचीन दृष्टिकोण से। क्योंकि उसके अनुसार किसी अच्छे आदर्श चरित्र को उपस्थित कर देना मात्र कथा का कौशल था, साथ ही नवीन दृष्टिकोण से इन दोनों में एक दोष भी है। समाप्ति से पूर्व ही अन्त का स्पष्ट हो जाना, "उसकी माँ" में तो पहले सूचित हो ही जाता है साथ ही "अपना अपना भाग्य" में भी प्रथम ही उस दुःखद अन्त की संभावना हो जाती है। आधुनिक कहानी कला चाहती है कि कहानी का अवसान आशा के विपरीत हो। वह एक आघात सा होना चाहिये। उसका अनुभव इस आदर्श प्रधान अन्त से अधिक रोचक होगा। पहले अन्त प्रकट होने से कौतूहल के नष्ट होने की शंका रहती है। यह त्रुटि "उसने कहा था" में भी है। सूबेदारनी के आंचल पसार कर भिक्षा मांगने में और अमृतसर की घटना "मुझे उठाकर दही वाले की दुकान पर खड़ा कर दिया और आप घोड़े की लातों के बीच चले गये" की स्मृति कराने से ही "जिस प्रकार उस समय तुमने अपने प्राण संकट में डालकर मुझे बचाया था, ऐसे ही अब इन दोनों को बचाना" का भाव लेकर सर्वस्व समर्पण की माँग प्रकट हो जाती है।

प्रश्न :—सिद्ध कीजिये कि 'साइकिल की सवारी', 'कुंवर साहब मर गये', 'पत्नीव्रत' और 'रामलीला' कहानियाँ आधुनिक कला की दृष्टि से सफल हैं।

उत्तर :—आजकल कहानी के तत्त्वों में मनोविश्लेषण, चरित्र-सृष्टि, भावुकता आदि के साथ २ आश्चर्यजनक अन्त का भी विशेष स्थान है। कथा में अन्य अंगों का समावेश होने पर भी पुरानी कहानी का तत्त्व 'कौतूहल' आज भी कहानी का प्राण बना हुआ है। रोचकता की दृष्टि से भी कहानी की सफलता और असफलता देखी जाती है। क्योंकि जब तक पाठक का कौतूहल अन्त जानने को बना रहता है, तब तक वह कहानी का या सुनने वाले का पिण्ड नहीं छोड़ता। यदि कहानी का अन्त उसे प्रथम ही बता दिया जाय तो निस्सन्देह उसे पहले की भाँति सुनने या पढ़ने की उतनी इच्छा नहीं रहेगी।

प्राय: पाठक या श्रोता जब कहानी का पूर्वार्ध पार कर लेते हैं तो वे अन्त के विषय में अपनी २ आकलें लगाने लगते हैं। यदि अन्त उनकी आशा के अनुसार हुआ तो वे उदासीनता के साथ कहानी को उठाकर रख देंगे। समाप्ति पर उनका कौतूहल शिथिल हो चुका होगा। परन्तु यदि अन्त अचानक ही उनकी संभावना के विपरीत सुखान्त या दु:खान्त निकल आये तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहेगा, पढ़ने के अनन्तर भी उनके हृदय पर एक छाप सी रह जायगी। कौतूहल बना ही रहेगा जिसके बल पर वे पुन: २ उसे पढ़ेंगे। अब देखिये कि इन कहानियों में किस प्रकार आशा के विपरीत समाप्ति हुई है।

साइकिल की सवारी--

एक व्यक्ति २० रुपये दस दिन के ठेके के देकर साइकिल चलाना आरम्भ करता हैं। सात आठ दिन में वह कुछ २ चलानी सीख लेता हैं, परन्तु अपनी साइकिल पर चढ़ नहीं सकता न सहसा उतर सकता है। एक दिन एक तांगा आता है और पहले तो बचकर निकलने लगता है, पर सहसा घोड़ा भड़क जाने से साइकिल से टक्कर लगती है। साइकिल और उसके सवार दोनों घोड़े के नीचे आ जाते हैं। घर पर ले जाकर पट्टी बंधवाई जाती है। यहाँ तक पाठकों को यही संभावना रहती है कि शायद अच्छे होने के बाद फिर सीखने लगे हों या दिन पूरे न होने से उस्ताद से पैसों का झगड़ा करने लगे हों। परन्तु पत्नी के यह बताने पर कि तांगे पर वही बच्चों के साथ थीं, महाशय जी का धैर्य छूट जाता है। अन्त के वाक्य से जान पड़ता है कि उन्होंने पुन: साइकिल पर हाथ भी नहीं लगाया।

कुँवर साहब मर गये

कांग्रेस का जलूस सिविल लाइन्स की ओर जाता है, पुलिस उनको रोकती है, लाठी चार्ज होता है। जनता भाग जाती है, स्वयंसेवक पकड़े जाते हैं। कांग्रेस आफिस में सहसा समाचार आता है कि नगर के प्रमुख रईस कुंवर कमलनारायण भी पकड़े गये रात को केशव के द्वारा पकड़े जाने की कथा मालूम होती है कि कुंवरसाहब के घर में शराब समाप्त

हो जाने के कारण वे कार से लाने के लिये बाजार चले। दूकान पर धरना देखकर सिविल लाइन्स की दूकान की ओर बढ़े। मार्ग में लाठी चार्ज हो रहा था, पुलिस कप्तान के न मानने पर और रूखा उत्तर देने पर स्वयं पुलिस वालों को लाठी चलाना बन्द करने को कहा। जनता उनको देख कर 'भारत माता की जय'। कहने लगी, साथ कुंवरसाहब ने भी कह दिया 'महात्मा जी की जय' बस पुलिस उन्हें भी थाने में ले गई।

कोतवाल ने चार गिलास ह्विस्की के पिलाये तो कुंवर साहब के शान्ति हो गई और घर पहुँच गये।

प्रातःकाल जब कांग्रेस कर्मचारी इस समाचार पर ध्यान दिलाने के लिये उनकी कोठी पर गये तो नौकर से कहलवा दिया "इनसे कह दो कुँवर साहब मर गये।"

इस कहानी को आदि से अन्त तक पढ़ते हुए कहीं भी इस प्रकार के अन्त की सम्भावना नहीं होती, किसी को आशा नहीं कि वे अपने मुंह से कहलायेंगे कि वे मर गये हैं। इस प्रत्याशित अन्त से पाठक भी चौंक उठता है।

पत्नी-व्रत

इसी प्रकार पत्नी-व्रत की दशा है। खन्ना साहब की दूसरी पत्नी लक्ष्मी अपनी सास के दुर्व्यवहार के कारण अंत में राजयक्ष्मा से पीड़ित होकर सरकारी हास्पिटल में भर्ती हो जाती है। उसके शील-स्वभाव से अस्पताल के कर्मचारी और अन्य रोगी भी प्रसन्न व मुग्ध रहते हैं। लक्ष्मी को अपने पति पर पूर्ण विश्वास है कि वे उस पर अच्छा प्रेम करते हैं। खन्ना साहब उसे बीच २ में देखने जाते रहते हैं। उसको गहनों से बहुत प्रेम है, इस लिये वह अस्पताल जाते समय गहने भी साथ लेती गई। परन्तु एक सप्ताह हुआ, खन्ना साहब उसे समझा बुझा कर गहनों का डिब्बा उससे ले गये हैं। लक्ष्मी का आज देहान्त हो गया। उस दिन के उपरान्त पति को देखने की आशा मन में रखे २ ही वह समाप्त हो गई। अस्पताल की ओर से खन्ना साहब के पास सूचनार्थ एक सेवक भेजा जाता है। यहाँ तक पाठकों को यही संभावना

रहती है कि खन्ना साहब आयेंगे और समवेदना के शब्द कहेंगे। उसका संस्कार करने तो अवश्य आयेंगे। परन्तु सहसा इस आशा पर आघात होता है। नौकर आकर सूचना देता है कि वे तो शादी कराने चले गये हैं।

यह सूचना पाठकों के लिये सर्वथा असंभावित थी।

रामलीला

रामरत्न का वंश-परम्परागत कार्य है--रामलीला कराना, परन्तु वह राम का अभिनय करने के लिये उसी प्रकार का सरल, निर्दोष और सुशील बालक चाहता है। बहुत प्रयत्न करने पर उसे एक खेलता हुआ बालक मिलता है जो उसकी आशा के अनुकूल राम का सफल अभिनय करता है। कुछ वर्षों के बाद रामरतन को कहीं रामलीला के लिये जाना होता है। अब उसे यथार्थ रावण की आवश्यकता है जिसका शील भी उसी प्रकार का हो, जो स्वभाव से वैसा ही क्रूर हो। बहुत खोज के पश्चात् उसे एक व्यक्ति शराब पीता दिखाई देता है। वैसा ही उसका क्रूर और डरावना आकार है। रामरत्न उसे रावण का अभिनय करने का निमन्त्र देता है, वह सहर्ष स्वीकार करता है। रामरत्न उसे पुरस्कार मांगने को कहता है तो उत्तर मिलता है कि वह उससे बहुत कुछ पा चुका है, जब कि राम का अभिनय किया करता था।

इस कथा में राम का अभिनय करने वाले सरल व्यक्ति का इस प्रकार सर्वथा भिन्न गुण-कर्म वाले आकार में बदल जाना सभी की आशा के विपरीत है। परन्तु इससे एक अचानक आघात सा होता है। कौतूहल बना रहता है कि ऐसा क्योंकर हुआ।

यही कारण है कि नवीन कला की दृष्टि से ये कहानियाँ अधिक सफल मानी जाती हैं।

अनाथ-बालिका

डा० राजनाथ गोरखपुर में प्रैक्टिस करते थे। घर में केवल माता थी। व्यवसाय अच्छा था। वैसे उदार-चित्त थे। एक दिन एक लड़की उन्हें अपनी रुग्ण माता को दिखाने ले गई। माता ने दो बन्द लिफाफों

के साथ उस कन्या को डाक्टर के सुपुर्द कर दिया। स्वयं वह रात को चल बसी। एक लिफाफा डाक्टर के नाम का था। वह उन्होंने दो वर्ष बाद पढ़ा था। कन्या का नाम सरला था। डाक्टर के घर वह भली प्रकार रही।

बड़े दिनों की छुट्टियों में सतीश, जो कि डाक्टर साहब का भांजा था और एम० ए० में पढ़ता था, घर आया। कुछ ही दिनों में सरला से उसका हेल-मेल अच्छा हो गया। छुट्टी बीतने पर वह काशी चला गया।

डाक्टर साहब को लिफाफे से सरला का सम्पूर्ण वृत्तान्त ज्ञात हो गया था। उसके पिता शिवप्रसाद बहुत धनी व्यक्ति थे। उनकी असमय ही मृत्यु हो गई थी। बाद में एक दिन किसी कारण से रुष्ट होकर सरला के ताऊ रामप्रसाद ने सरला की मां को घर से चले जाने को कहा। वह छोड़ कर चली आई।

सतीश का एक मित्र रामसुंदर उसके साथ ही पढ़ता था, उसने सतीश से परीक्षा समाप्त होने पर एक कार्य में सहायता मांगी जो कि सतीश ने स्वीकार कर ली। सतीश ने ५०० रुपये मंगाये। डाक्टर साहब ने रुपये भेजते हुए लिख दिया कि छुट्टी बीतने के आस-पास वह अपने मित्र के साथ घर अवश्य आये।

कुछ दिनों के पश्चात् सतीश रामसुंदर को लेकर घर आया। खाना खाते समय सरला को रामसुंदर ने बार-बार देखा। सतीश को तो कुछ और ही संदेह हुआ, परंतु उसने बताया कि वह जिस बहन को ढूँढ रहे थे, यह वही मालूम होती है। जब उसने डाक्टर साहब से उसका समाचार जाना तो पहचान कर उसे बड़ा हर्ष हुआ।

रामसुन्दर ने सरला का भाग, सूद के सहित उसे सौंप दिया जैसी के उसके पिता की आज्ञा थी।

कुछ दिनों बाद सतीश का सरला के साथ धूम-धाम से विवाह हो गया।

शरणागत :—रज्जब कसाई अपनी स्त्री के साथ गाँव जा रहा था। स्त्री को बुखार हो आया। रात को गाँव में गए, किसी ने स्थान न दिया। दाऊ जी की शरण में पड़ा। अभयदान मिला। अगले दिन भी बुखार न उतरा। दाऊ जी के कहने से एक गाड़ी किराये पर करके शाम को ही चल पड़ा। मार्ग में रात हो गई। अंधेरे जङ्गल में लुटेरों से सामना हुआ। नेता ने पूछा कौन है? रज्जब ने अपना परिचय दिया। ललितपुर का नाम लेते ही नेता ने साथियों से कहा–यह कसाई है, इसका पैसा न छुएँगे। साथी बैलगाड़ी पर चढ़ने को उद्यत हुए तो नेता ने ललकार कर उतार दिया। साथी ने उतर कर कहा—"दाऊ जी! आगे से कभी आप के साथ न आऊँगा।" दाऊ जी ने कहा कुछ भी हो, बुन्देला शरणागत पर हाथ नहीं उठाता।

पुरस्कार :—कोशल देश का इन्द्र-पूजन महोत्सव था। इस वर्ष मधूलिका का खेत इस कार्य के लिये चुना गया था। महाराज ने हाथी से उतर कर खेत में हल जोता; मधूलिका ने बीज बोया। कार्य-समाप्ति के बाद राज-मंत्री ने पुरस्कार रूप में स्वर्णमुद्राओं से पूर्ण थाल मधूलिका को दिया, जिसे उस ने खेतों में बखेर दिया। कारण पूछने पर मधूलिका ने कहा कि राज्य को खेत देने में उसे कोई आपत्ति नहीं, परन्तु वह उसका मूल्य नहीं लेगी। मन्त्री ने परिचय भी दिया कि वह सिंहमित्र की कन्या है। महाराज महल को चले गये। उत्सव में मगध का राजकुमार अरुण भी था, वह मधूलिका को न भुला सका। प्रातःकाल वह मधूलिका के पास गया। उसके प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित किया। परन्तु मधूलिका के इस उत्तर से कि "राजकुमार! नियमों से मानव-हृदय बाध्य होता तो मगध का राजकुमार राजकुमारी की ओर न खिंचकर एक कृषक बालिका का अपमान न करता। राजकुमार आहत सा होकर लौट पड़ा।

तीन वर्ष बीते, एक दिन मधूलिका झोंपड़ी में बैठी राजकुमार का स्मरण कर रही थी कि राजकुमार आश्रय की खोज में द्वार पर आ पहुंचा। उस समय वह मगध राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने के कारण निर्वासित होकर आया था। साथ में बहुत से सैनिक भी थे।

राजकुमार ने मधूलिका को कहा कि वह उसे रानी बनाना चाहता है। कोशल मे वह नवीन राज्य स्थापित करेगा।

उसके कहने से मधूलिका कोशल नरेश के पास गई। दुर्ग के दक्षिणी कोण के जङ्गल की भूमि उस ने अपने खेत के बदले मांगी। सोच-विचार के बाद उसकी प्रार्थना स्वीकृत हुई। अरुण के सौ सैनिक भूमि काट कर समतल करने लगे। कोसलदेश का सेनापति दस्युओं के दमन के लिये बाहर गया था। रात के तीसरे पहर अरुण को आक्रमण करना था। मधूलिका अपने अज की ओर जा रही थी, मार्ग में उसे ध्यान आया कि यह क्या हो गया, उसने कोसलदेश के शत्रु मगध के राजकुमार को क्यों सहायता दी, उसके पिता ने तो कोसल की मगध से रक्षा की थी। वह लौट पड़ी। अचानक मार्ग में १०० सैनिकों के साथ सेनापति से उसकी भेंट हो गई, और आक्रमण को सूचना दी। सेनापति के प्रबन्ध से अरुण वन्दी हो गया। मधूलिका से पुरस्कार माँगने को कहा गया। वह "मुझे भी प्राण दण्ड मिले" कहती हुई वन्दी अरुण के समीप जा खड़ी हुई।

कुछ प्रमुख कहानी-लेखकों की विशेषतायें

मुंशी प्रेमचन्द जी :—मुंशी जी का जो स्थान उपन्यास-क्षेत्र में है, वही कहानी-क्षेत्र में भी है। आप आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कलाकार हैं। इस कारण आपकी कहानियोंमें कुछ न कुछ उद्देश्य छिपा रहता है। समाज-सुधारक की प्रवृत्ति होने के कारण आपकी कहानियों में प्रायः हमारे विषम सामाजिक जीवन के विभिन्न दृश्य-लक्षित होते हैं। कोई एक आध काहानी ही इसका अपवाद होगी। कला के लिये तो विशेष लिखने को आवश्यकता ही नहीं है। आपकी भाषा अपनी एक मिसाल है। वैसे इनकी प्रमुख विशेषता इनकी है कथा वस्तु की सामाजिक जीवन से समीपता, यह प्रवृत्ति सब में नहीं मिलती। जीवन का यथार्थ चित्र-उपस्थित करने और वाणी को पिछड़ी जनता की वाणी बनाने के कारण ही मुंशी जी को सब से अधिक यश प्राप्त हुआ है।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी :—गुलेरी जी कहानी क्षेत्र में विशेष नहीं रमे, परन्तु अपनी एक कहानी से ही उन्होंने पर्याप्त यश पा लिया। उनकी कथा में ३ बातें तो पूर्णरूप से स्पष्ट हैं :—

१—विनोद-प्रियता, २—प्रबन्ध-पटुता, ३—अगाध-पाण्डित्य। इस एक कहानी से ही ये तीनों बातें सत्य सिद्ध हो जाती हैं। प्रबन्ध-पटुता तो अपूर्व ही है। संवादों की सजीवता, कथा-वस्तु का स्वाभाविक विकास, चरित्र की अद्भुत सृष्टि, आप की लेखनी की विशेष उल्लेख-योग्य विशेषताएँ कही जा सकती हैं।

श्री जयशंकरप्रसाद :—हिन्दी-साहित्य के विशिष्ट कवि, श्रेष्ठ नाटककार प्रसाद जी ने कहानियों में भी अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है। आपकी कहानियों में भी ३ विशेषतायें स्पष्ट लक्षित होती हैं। १—ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर भारत की अतीत गरिमा के चित्र, २—कवि-हृदय की भावुकता, ३—दार्शनिकता, आपकी रचनायें प्रायः व्यक्ति प्रधान होती हैं।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा :—ऐतिहासिक और देश-विशेष की भौगोलिक स्थिति को लिखने में सर्वप्रथम हिन्दी में वर्मा जी की ही लेखनी आगे आई है। जैसे आपने "विराटा की पद्मिनी" और "गढ़ कुण्डार" लिख कर हिन्दी के उपन्यास-क्षेत्र की इस न्यूनता को दूर किया वैसे कहानी-क्षेत्र में इस अभाव को दूर करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत संग्रह में संगृहीत आपकी कहानी "शरणागत" में एक बुन्देले ठाकुर को शरणागत रक्षा की भावना का आदर्श चित्र उपस्थित किया है। ललित पुर बुन्देलखण्ड का ही प्रदेश है। अपनी-अपनी यही निराली विशेषता है।

श्री विश्वम्भरनाथ कौशिक :—कौशिक जी के कहानी-क्षेत्र में पदार्पण करने से हिन्दी की कहानी नवीन कलात्मक आदर्श की ओर अग्रसर हुई। इनकी कथाओं में घटना-वैचित्र्य अपूर्व ही रहता है। प्रस्तुत संग्रह में संगृहीत कहानी "नास्तिक प्रोफेसर" में बच्चे के रुग्ण होने पर प्रोफेसर के आकस्मिक हृदय परिवर्तन का अच्छा दृश्य उपस्थित किया है वह भी इस बुद्धिवादी युग में।

श्री चतुरसेन शास्त्री :—शास्त्री जी हिन्दी-साहित्य के महारथियों में से एक हैं। आपकी रचनाओं में अध्ययन की सामग्री के साथ सामयिक छाप थोड़ी बहुत अवश्य रहती है। भावुकता के साथ मनोविश्लेषण के लिये आप सिद्ध-हस्त हैं।

श्री सुदर्शन शर्मा :—सुदर्शन जी अपने विनोद-प्रिय साहित्य के लिये सिद्ध-हस्त हैं। आपके लेखों में शिष्ट परन्तु व्यंगपूर्ण हास्य का बहुत अच्छा दर्शन होता है। जिस प्रकार आपका प्रहसन "आनरेरी मजिस्ट्रेट" अच्छा प्रसिद्ध हुआ है, उसी प्रकार कहानियाँ भी लोकप्रिय हैं। "साइकिल की सवारी" अपने हास्य के लिये बहुत सफल है।

भगवतीचरण वर्मा :—वर्मा जी आधुनिक कलाकारों में प्रमुख स्थान रखते हैं। आपने "चित्रलेखा" जैसा दार्शनिकता और भाव-गाम्भीर्य-पूर्ण उपन्यास लिख कर हल-चल मचा दी है। आप भी कहीं २ हास्य की पुट देते हैं परन्तु वह इतना सफल नहीं हो पाता, व्यंग्य उसमें भले ही हो।

श्री जैनेन्द्रकुमार :—हिन्दी के आधुनिक कहानीकारों में श्री जैनेन्द्र का विशेष स्थान है। इस प्रगतिशील युग में जबकि साहित्य के सारे अंग यथार्थ की ओर झुके जा रहे हैं, आप कहानी को भी जीवन का यथार्थ चित्र दिखाना चाहते हैं, इसमें कोई आदर्श नहीं, केवल एक चुभता व्यंग्य होगा। वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था पर, प्रस्तुत जीवन पर, 'अपना अपना भाग्य' इसी दिशा की ओर प्रयास की सूचना है। समोक्षकों से इसने अच्छा आदर पाया है।

उपेन्द्रनाथ अश्क :—आप आधुनिक युग के प्रगतिशील नाटककार, उपन्यासकार और कहानी-लेखक हैं। आपकी विशेषता यही है कि हमारे समाज में प्राचीनकाल से प्रचलित रीतियों के जीर्णावशेष कितने विकृत हो चुके हैं, इस प्रश्न की ओर आपने गहराई से संकेत किया है। साथ ही विदेशी विलास-प्रिय सभ्यता के प्रभाव में आकर हम में कितना दुराचार घुस आया है, इसपर भी तीव्र कटाक्ष-पात करते हैं।

आपकी रचनाओं का विषय विशेषकर सामाजिक प्रश्नों से उलझा रहता है। राजनैतिक समस्याओं का अभाव-सा ही रहता है। "पत्नीव्रत" इन के दृष्टिकोण का अच्छा उदाहरण है।

नई समीक्षा की दृष्टि से कथातत्त्व

१. कथानक :—यह तत्त्व पूर्ववत् महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह कथा की आधार-शिला है, परन्तु अब केवल इसी का विकास सब कुछ नहीं। आजकल कथानक तो साधन-मात्र रह गया है। अब चरित्र की प्रधानता हो गई है।

२. दृश्य :—कथा को एक से लेकर ४-५ तक दृश्यों में बाँटा जाता है, पहले १०-१२ तक दृश्य हो जाते थे। कुछ में एक ही दृश्य होता है। कथोपकथन के लिये एक से अधिक पात्रों की आवश्यकता होती है। परन्तु कहानी में यह आवश्यक नहीं जैसे नाटक में। कहानी में मनोविश्लेषण और वातावरण के चित्रण से भी कार्य हो जाता है।

नाटकीय दृश्य में उत्तेजना लाने के लिये द्वितीय पात्र अवश्य लाना पड़ जाता है। प्रायः घटनामूलक कहानियों में चरित्र की चरम परिणति ऐसे दृश्यों से ही होती है। कहानी को रोचक और सजीव बनाने के लिए दृश्य अवश्य उपस्थित करने होते हैं।

३. तीव्र द्विविधा :—यह पहला कौतूहल नामक तत्त्व ही है। परिणाम जानने के लिये पाठकों की उत्कण्ठा होना बहुत आवश्यक है। इस कौतूहल या द्विविधा के बिना कथा का विकास नहीं होता है। इसी से बाध्य होकर पाठक उसे पढ़ने को लालायित होते हैं। इसके अभाव में कहानी अनुपयोगी ही रह जाती है।

४. चरम परिणति :—यह कथा का अन्तिम किन्तु महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। सारी कहानी का यह निष्कर्ष होता है, इसका अत्यन्त गुप्त रहना आवश्यक है। समाप्ति से पूर्व इसका प्रकट होना अक्षम्य है। यदि कहीं बीच में स्पष्ट होता भी दीखे तो किसी घटना से उसे पुनः उलझा देना चाहिए। चरित्र की चरम परिणति अर्थात् अन्तिम परिपाक अन्त

में ही होना चाहिए। परिणाम के पहले स्पष्ट हो जाने से इसमें बाधा पड़ जाती है।

कहानियों के प्रकार

आजकल की कहानियाँ निम्नलिखित भेदों में बाँटी जा सकती हैं :—

१—साधारण रूप से घटना प्रवाह वाली, जिनमें बीच २ मे संवेदनशीलता (मार्मिक अनुभूतियाँ) भी हों। जैसे गुलेरी जी की "उसने कहा था"।

२—मनोदशाओं के मार्मिक वर्णन वाली—जैसे हृदयेश जी की "उन्मादिनी"।

३—घटनाचक्र के साथ २ अनुभूतियों और मार्मिक व्याख्या वाली—जैसे मुंशी जी की कहानियाँ।

४—घटनाओं और संवादों के साथ गूढ़ व्यंजनात्मक और कल्पनात्मक—जैसे प्रसाद जी व रायकृष्णदास।

५—प्रतीकात्मक लाक्षणिक कहानी।

प्रश्न :—द्विवेदी जी द्वारा की गई हिन्दी-साहित्य की सेवाओं का उल्लेख करके विशेषता बतायें कि जिस कारण से युग-प्रणेता माने जाते हैं।

उत्तर :—यह ठीक है कि वतमान हिन्दी के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कहे जाते हैं। उन्होंने राजा शिवप्रसाद व राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा उपस्थित किये गये खड़ीबोली गद्य के दो रूपों को देखकर उन दोनों से बीच का मार्ग अपनाया था। उनका चलाया स्वरूप ही आगे तक साहित्य की भाषा के रूप में अपनाया जाता रहा है। तथापि भाषा के उस स्वरूप में नीचे लिखे दोष थे।

१. पूर्वी शब्दों का प्रयोग।

२. व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धि।

३. विरामचिन्हों का अप्रयोग।

ये दोष तो केवल गद्य क्षेत्र में थे, पद्य-क्षेत्र के तो और भी अनेक

थे जिनका द्विवेदी जी ने निराकरण किया। जैसे ब्रजभाषा का बहिष्कार, गद्य पद्य की एक भाषा का आन्दोलन, साहित्य-क्षेत्र से शृङ्गार का बहिष्कार। भारतेन्दु जी ने गद्य की भाषा तो खड़ीबोली मान ली थी, परन्तु पद्य की वही ब्रजभाषा रखी। पद्य क्षेत्र में राजनैतिक और सामाजिक विषयों के प्रवेश के साथ २ शृङ्गार का दूषित प्रवाह भी यथापूर्व चालू रहने दिया। रीतिकाल में कविता कट छँट कर एक विषय में रह गई थी। भारतेन्दु जी की इस कमी को उन्होंने पूर्ण किया। द्विवेदी जी ने हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में आकर निम्नलिखित सेवायें कीं।

१. गद्य पद्य की एक खड़ीबोली ही भाषा रखी,

२. खड़ीबोली को कविता के योग्य सिद्ध किया,

३. साहित्य-क्षेत्र से शृङ्गार का बहिष्कार किया,

४. गद्य क्षेत्र में भाषा में आने वाली अशुद्धियों को तीव्र आलोचनाओं से दूर करवाया।

५. भाषा परिष्कार के साथ विषयों की व्यापकता प्रस्तुत की।

६. सरस्वती का सम्पादन करते हुए प्रोत्साहन देकर अनेक योग्य कवि हिन्दी-साहित्य के लिये प्रस्तुत किये, जैसे मैथिलीशरण गुप्त, लोचनप्रसाद पाण्डेय।

७. हिन्दी में संस्कृत के काव्यों की अनुवाद प्रणाली चलाई।

८. अंग्रेजी के निबन्धों का अनुवाद कर हिन्दी में भी निबन्ध-लेखन-कला को प्रगति दी।

९. आलोचनात्मक स्वतन्त्र ग्रंथ लिखने की परिपाटी चलाई।

१०, मराठी-साहित्य की भाँति खड़ीबोली में भी संस्कृत के वर्ण-वृत्तों में पद्य रचना का प्रचार किया।

द्विवेदी जी द्वारा रचित ग्रन्थ

१. कुमारसम्भव सार। (अनुवाद)

२. रघुवंश। (अनुवाद)

३. विक्रमांकदेव चरित-चर्चा।

४. नैषधीय चरित-चर्चा।

इनके अतिरिक्त अनेक अनूदित और आलोचनात्मक ग्रंथ उन्होंने लिखे। यद्यपि द्विवेदी जी का संस्कृत, अंग्रेजी और फारसी, किसी भी भाषा पर पूर्ण अधिकार नहीं था, तथापि वे अन्य बड़े २ लेखकों और कवियों के सामने युग-प्रवर्तक कहलाये, इसका कारण उनका निर्माता रूप है। उनसे अच्छी कवित्व शक्ति तो पं० श्रीधर पाठक में पाई जाती है। परन्तु द्विवेदी जी द्वारा किया गया भाषा का संस्कार आज तक काम दे रहा है। आजकल हिन्दी-गद्य का जो परिष्कृत रूप मिल रहा है, वह उन्हीं के कड़े अनुशासन की देन है। यह ठीक है कि उनकी कृतियों में कोई ठोस बात नहीं मिलेगी, परन्तु उनका उद्देश्य यह भी था कि साधारण भाषा में लिख २ कर समाज को नित्य नवीन विषयों से परिचित कराना। इसलिये उन्होंने संस्कृत के तत्सम प्रधान किन्तु सरल शब्दों में गहन से गहन विषयों को प्रस्तुत किया।

वास्तव में भारतेन्दु जी ने भाषा का रूप स्थिर तो किया और सम्भव है जीवित रहते तो वे भी उसे कुछ परिष्कृत कर जाते। परन्तु उनके अकाल ही कराल काल से कवलित हो जाने के कारण जो महत्त्व-पूर्ण कार्य शेष छूट गया था, उसे पूर्ण करने का भार द्विवेदी जी ने अपने ऊपर लिया। १८ वर्ष तक लगभग सरस्वती का सम्पादन करते हुए अनवरत रूप से अपने इस महान् उद्देश्य की पूर्ति में लगे रहे।

उनकी यही सेवायें उन्हें आचार्यत्व और युग-प्रणेतृत्व के सम्मान-नीय पद पर ले गईं।

प्रश्न :—द्विवेदी जी का जीवन-परिचय दीजिये।

उत्तर :—श्री द्विवेदी जी जिला रायबरेली के दौलताबाद नामक गांव के निवासी थे। इनका पितामह बड़े विद्वान् थे और छावनियों में जा जा कर कथा किया करते थे। इनके पिता सेना में सैनिक थे। सन् १८५७ के एतिहासिक विप्लव में इनके पिता वाली पल्टन भी विद्रोह कर बैठी। इनके पिता, जिनको सेना में लछमन जी कहा करते थे, किसी तरह संकट झेलते घर आये, बाद में बम्बई जाकर किसी गोसाईं के नौकर हो गये।

द्विवेदी जी की शिक्षा आर्थिक संकट के कारण थोड़ी ही हुई। थोड़ी संस्कृत घर पर पढ़ कर स्कूल में पढ़ने जाने लगे। वहाँ हिन्दी का कोई प्रबंध न था। इस कारण द्विवेदी जी को फारसी पढ़नी पड़ी। बाद में चार साल अनेक स्कूलों में भटकते रहे। मैट्रिक पास होने पर पहले अजमेर १५) मासिक पर नौकरी करने लगे। बाद में अपने पिता के पास बम्बई जा कर तार का काम सीखा। बाद में जी. आई. पी. रेलवे के आफिस में ५०) मासिक पर तार बाबू कहलाने लगे।

नौकरी में इन्होंने चार नियमों का पालन किया।

१—समय की पाबान्दी, २—लगन से कार्य करना, ३—रिश्वत न लेना, ४—अपना ज्ञान बढ़ाते रहना, इस कारण रेलवे के दूसरे विभागों का काम भी सीख लिया।

इसका परिणाम यह हुआ कि इनकी वेतन-वृद्धि होती गई। बाद में जब इण्डियन मिडलैण्ड रेलवे बनी तो जनरल ट्राफिक मैनेजर के साथ ये झांसी आ गये। वहाँ इनकी पर्याप्त पद-वृद्धि हुई। अंत में एक बार जब कि इनके किसी **अधिकारी** ने इन्हें ८ बजे दफ्तर में आने और अन्य कर्मचारियों को बुलाने की आज्ञा दी तो इस पर इन्होंने त्याग पत्र दे दिया।

रेलवे में नौकरी करते हुए ही झांसी में इन्होंने एक रीडर देखी जिसमें कई अशुद्धियां थी। उसकी इन्होंने आलोचना प्रकशित की, उसके परिणाम-स्वरूप उस रीडर के प्रकाशनाधिकारी इण्डियन प्रेस प्रयाग ने इन्हे सरस्वती के सम्पादन का भार सौंपा। रेलवे की नौकरी छोड़ते ही ये सम्पादन के कार्य मे लग गये।

मित्रों के कहने से धन-प्राप्ति के हेतु आपने एक 'तरुणोपदेश' और चार चरणों वाले छन्द में सोहाग रात नामक पुस्तकें लिखीं। पत्नी के विरोध के कारण आपने उसे अन्त तक प्रकाशित नहीं करवाया।

सरस्वती के सम्पादकत्व-काल मे आपने ४ नियम बना लिये—१—मालिक का विश्वास प्राप्त करना, २—पाठकों के उपयुक्त लेख ही प्रकाशित करना, ३—समय का अनुल्लंघन, ४—उचित पक्ष पर अड़ना।

इन नियमों का उन्होंने सदा पालन किया। इसी कार्यकाम में उन्होंने साहित्य की इतनी सेवा की, पत्र को अपने प्रकाशन के समय पर ही भेजा, कभी विपय की कमी या किसी कारण प्रकाशन में विलम्ब न होने दिया।

इसी प्रकार द्विवेदी जी ने आजीवन संघर्ष करते हुए आत्मोन्नति के साथ २ समाज-सेवा भी की। संपादन कार्य का आरंभ करने के समय उन्हें २३।।) मिलते थे, उसी में संतोप किया और पैसे को जीवन का लक्ष्य नहीं बनाया।

प्रश्न :—साहित्य की परिभाषा लिखते हुए जीवन में उसकी उपयोगिता सिद्ध कीजिये।

उत्तर :—ज्ञान-राशि के संचित कोष को ही साहित्य कहते हैं। साहित्य किसी जाति का मस्तक होता है, किसी भाषा की सम्पत्ति होता है। जिस जाति का साहित्य जितना प्राचीन और उन्नत होगा, वह उतनी ही उन्नत और प्राचीन मानी जायगी। जिस भाषा का अच्छा साहित्य नहीं, वह मृत-भाषा मानी जाती है।

साहित्य से ही समाज या जाति की मानसिक या मस्तिष्क संबंधी शक्ति बढ़ती है। जिस प्रकार इस शरीर को सुंदर, सबल और पुष्ट बनाने के लिये पौष्टिक, शुद्ध और सबल खाद्य की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार मस्तिष्क को सबल और समृद्ध बनाने के लिये उत्तम साहित्य की आवश्यकता होती है। अच्छे साहित्य के अभाव में जातीय मस्तिष्क की वही दशा होती है जो कि दूषित और अशक्तिकारक भोजन से शरीर की होती है।

साहित्य जाति की संस्कृति और सभ्यता का प्रतिविम्ब होता है, स्थायी कोश होता है। इसके द्वारा आगामी संतान स्फूर्ति और जागृति पाती है। साहित्य द्वारा अनेक देशों में क्रांतियाँ होती देखी गई हैं। पिछड़ी जातियाँ उन्नत होकर आगे बढ़ गईं। पश्चिमी देशों ने वर्तमान प्रगति अपने उत्कृष्ट और समृद्ध साहित्य के बल पर ही की है।

इसी कारण प्रत्येक देशभक्त, जो कि शक्ति रखता है, निरन्तर अपनी

भाषा का साहित्य समृद्ध करता है, उत्कृष्ट से उत्कृष्ट रचना करता है।

कुछ लोग अपनी प्रतिभा विदेशी भाषा में साहित्य-रचना के लिये व्यय करते हैं, परन्तु यह एक प्रकार से मातृ-द्रोह, जाति-द्रोह और देश-द्रोह है।

दूसरे देशों की भाषा केवल नवीन ज्ञान बढ़ाने के लिये पढ़ी जाती है। उनका उपयोग अपनी संस्कृति के विकास में सहायक न होगा। अपनी भाषा से जाति का सांस्कृतिक सम्बंध होता है। उसका साहित्य ही जाति का उपकार कर सकता है। इसी कारण विजेता देश हारे देशों पर अपनी भाषा लादने की चेष्टा करते हैं। इन बातों को देखते हुए प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति का कर्तव्य है कि उसे अपने उपार्जित ज्ञान और समुन्नत मस्तिष्क शक्ति का उपयोग अपनी भाषा के साहित्य की समृद्धि-हेतु करना चाहिए।

संचयन

प्रश्न :—कविता के विषय मे द्विवेदी जी के विचार प्रकट कीजिये।

उत्तर :—हृदय में मनोवेगों का उद्रेक होने पर शब्दों से उनकी अभिव्यक्ति कविता कहलाती है। हृदय के आनन्द से सम्बन्ध होने के कारण उसे सुनकर या पढ़कर रसिक लोग आनन्द से झूमने लगते हैं। परन्तु इस आनन्द का अनुभव उन्हें ही होता है, जो रसिक हों। जिनके हृदय में भावनाओं की कोमलता वर्तमान हो, वासना के रूप में रस के संस्कार पहले से विद्यमान हों। इनके अभाव में कविता का आनन्द-बोध उसी प्रकार नहीं होता जैसे दीवार को चित्र के सौन्दर्य की अनुभूति।

सच्चे कवि अपने अन्तर्वर्ती रस को शब्द-चयन द्वारा कविता में भर देते हैं, पहले स्वयं उन्हें उस रस का अनुभव हो चुका होता है। तभी तो श्रोता के हृदय में भी रंग की गोली की भाँति फूटकर अपना प्रभाव दिखाती है। रसानुभव ही कविता का चमत्कार है। तुलसीदास जी को स्वर्ग सिधारे कितना समय हुआ ? सूरदास कब हुए थे किन्तु उनकी कविता आज भी रसिकों को आनन्दित कर रही है। सीता द्वारा वन-गमन के समय कहे गये वचन आज भी एक पति-प्राण आर्य महिला की वाणी के नाते हृदय को गुदगुदाते हैं। सूर के "अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल" आदि पद अभी भी भक्तों के लिये संजीवन रस का काम देते हैं। इसी कारण बहुत से विद्वानों का कहना है कि कविता-रस परिपाक की ही प्रतिमूर्ति है। कुछ उसे एक भ्रम मानते हैं, जब तक वह बना रहता है तभी तक आनन्द का अनुभव होता है। भ्रम दूर होने पर कुछ नहीं।

कविता सत्य और कल्पना का मिश्रित रूप है। रोचकता लाने के लिये उसमें कल्पना अवश्य होती है। इस कारण कहा जाता है कि जब तक बौद्धिक विकास अधिक नहीं होता तभी तक कविता का प्रभाव होता है। अधिक शिक्षित या सभ्यता की चरम कोटि की ओर बढ़ते बढ़ते मनुष्य तर्कशील हो जाता है, कल्पना उसके लिये रोचक नही रहती। उदाहरण के लिये देखते हैं कि रामायण आदि का प्रभाव अर्ध-शिक्षित या अर्धसभ्य व्यक्तियों पर जितना पड़ता है, उतना पूर्ण शिक्षितों पर नही। इसी कारण वैज्ञानिक और दार्शनिक जैसे बुद्धिजीवियों के लिये कविता किसी काम की नहीं।

वास्तव में कविता रचने और उसके आस्वादन के लिये भोला हृदय चाहिये। आज वह भावुकता न रहने से कविता में भी उतनी सरसता नहीं। पहले की भाँति आजकल कविता निःस्वार्थ भाव से भी नही होती।

कविता समाज के अस्त-व्यस्त और परिश्रान्त जीवन को विश्राम देने वाली है। जीवन की क्लान्ति को दूर करके उसमें नूतन चेतना का संचार करती है। इसी लिये समाज को कविता की आवश्यकता होती है।

प्रश्न :—कवित्व-शिक्षा के आवश्यक तत्त्व लिखिये।

उत्तर :—क्षेमेन्द्र के विचार के अनुसार प्रत्येक कवि में निम्नलिखित गुण होने चाहिये।

१. कवित्व-शक्ति, २. शिक्षा, ३. चमत्कारोत्पादन, ४. गुणदोष-ज्ञान, ५. परिचय-चारुता।

सर्वप्रथम कवि में कवित्व शक्ति का स्वाभाविक संस्कार होना चाहिए। इसके बिना कोई भी आदरणीय और सिद्ध कवि नहीं हो सकता। इसे सरस्वती के क्रिया-मातृका मन्त्र का जाप करने से जागृत किया जा सकता है या अभ्यास आदि से। अच्छे गुरु के पास विधिपूर्वक कवित्व का मार्ग बताने वाले ग्रंथ पढ़े जायँ।

कवित्व पाना चाहने वाले ३ प्रकार के व्यक्ति होते हैं। १. अल्पप्रयत्न साध्य, २. कृच्छ्र साध्य, ३. असाध्य।

पहले प्रकार का व्यक्ति थोड़े ही प्रयत्न से योग्य पथ-प्रदर्शक की सहायता से कवि बन सकता है, उसे इस कार्य के लिये छन्द, कोष, व्याकरण, अच्छे कवियों के काव्यों का गम्भीर अध्ययन करना चाहिये।

कृच्छ्रसाध्य व्यक्ति को उपर्युक्त प्रयत्नों के साथ साथ सतत अभ्यास की आवश्यकता है। पहले निरर्थक शब्दों की जोड़ तोड़ बिठाकर छन्दों का अभ्यास, औरों के पदों में अपने पद मिलाने का प्रयत्न आदि प्राथमिक कार्य करने चाहियें। कविता करने के मार्ग-प्रदर्शक ग्रन्थों के अनुसार कार्य करना चाहिये।

असाध्य व्यक्ति वे हैं जिनके हृदय की कोमलता नष्ट हो गई है, जिन्हें कविता, नाटक आदि विषय में रुचि नहीं है, दार्शनिक, वैज्ञानिक, तार्किक और कोरे वैयाकरण कभी कवि नही बन सकते, उनका इस दिशा में प्रयत्न व्यर्थ ही होगा।

शिक्षा :—कविता की शक्ति प्राप्त होने पर अपना अध्ययन बढ़ाना चाहिये। अधिक से अधिक लोक-व्यवहार का ज्ञान, समस्या-पूर्ति का अभ्यास, महाकवियों की रचनाओं का अध्ययन करे, नाटक देखने, गाना सुनने में रुचि रखे। साथ ही ऐसे व्यक्ति को अपना मस्तिष्क स्फूर्तिशील, शीतल, ताजा और जागृत रखना चाहिये। स्निग्ध और पवित्र भोजन करे व रसिक व्यक्तियों की संगति करे, प्रकृति-ज्ञान के लिये वन, नदी, पर्वत और उपवनों का भ्रमण करना चाहिये।

चमत्कारोत्पादन :—केवल तुकबन्दी करके शब्द जोड़ना ही पर्याप्त नहीं होता, शब्द-चमत्कार, अर्थ-चमत्कार और रस-पाक आदि सामग्री कविता में अवश्य होनी चाहिये। कविता वही है जिसे पढ़कर या सुनकर मुँह से वाह-वाह निकल उठे। हृदय प्रसन्न हो जाय।

गुण दोष ज्ञान—काव्य में तीन गुण और तीन दोष होते हैं। गुण १—शब्द-वैमल्य अर्थात् सुन्दर, रोचक शुद्ध और प्रसिद्ध शब्दों

का प्रयोग, २—अर्थ-वैमल्य अर्थात् रोचक, स्पष्ट और संगत अर्थ का प्रकाशन, ३—रस-वैमल्य शृंगार, वीर, करुण या शान्त आदि में से किसी एक रस की स्पष्ट और पूर्ण अभिव्यक्ति। इन्हीं का अभाव होने से ३ दोष वन जाते हैं।

१—शब्द-कालुष्य, २—अर्थ-कालुष्य, ३—रस-कालष्य।

परिचय ज्ञान—कवि को सम्पूर्ण शास्त्रों, लौकिक व्यवहारों, सम्पूर्ण कलाओं का ज्ञान होना चाहिये।

इन सामग्रियों से परिपूर्ण हृदय वाला व्यक्ति ही सफल कवि हो सकता है।

प्रश्न—द्विवेदी जी ने 'आजकल की कविता' के शीर्षक से क्या दिखाने का प्रयास किया है ? संक्षेप से समझाइये।

उत्तर—आजकल हिन्दी में वहुत से नवीन कवि कविता करने को उत्सुक हैं। कविता करना बुरी बात नहीं, परन्तु उनके लक्ष्य को देखकर कुछ लिखना पड़ता है। श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर के ४०–५० वर्षों के निरंतर परिश्रम और अभ्यास के वाद गीतांजलिय में जो नवीन शैली की कविता निकली है, जिसे कुछ विद्वान् अंग्रेजी को मिस्टिक शैली की बताते हैं और हिन्दी में उसका अर्थ रहस्यवादी लेते हैं। कुछ इसका नाम छायावादी कहते हैं। इसे श्लेषालंकार या सहोक्ति के अन्तर्गत भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु ये नये कवि अपने ज्ञान और शिक्षा को न देखकर एक साथ उसी प्रकार की कविता करने चले हैं उनकी कविता में न कोई विशेष अर्थ है, न कोई गाम्भीर्य है। तथापि सुन्दर बेल-बूटों वाले ग्लेज कागज़ पर छपवाते हैं।

पहले कवि यश पाने के लिये, देव-स्तुति के लिये और धनोपार्जन के लिये भी कविता करते थे। आज के कवियों की कविताओं में उन वातों के योग्य कोई गुण ही नहीं है। यदि आत्म-संतोष के लिये कविता

करें तो आलोचना चाहते हैं। बिना प्रसन्नता के अच्छी आलोचना भी न होगी।

कविता तो वही आदर पाती है जो अपनी भावगरिमा से जाने अन-जाने सभी को प्रसन्न कर सके, उसे बाहरी आडम्बरों की आवश्यकता नहीं होती। प्रसिद्धि के लिये उपनाम देने की आवश्यकता नही होती। कालिदास आदि का किसी को वास्तविक नाम या परिचय का भी ज्ञान नहीं परन्तु उनका यश अक्षय है।

कवि बनने के लिये प्रतिभा, ठोस अध्ययन और सतत अभ्यास की आवश्यकता होती है। अल्प प्रयत्न साध्य और कृच्छ साध्य के लिये भी इन तीनों गुणों की आवश्यकता है, फिर जिनके पास इनमें से कोई भी सामग्री नहीं वे क्या कवि बनेंगे और उनकी कविता क्या होगी?

अपने विचारों को दूसरे के सम्मुख रोचक ढंग से प्रकट करने का साधन कविता कहलाता है। इसलिये कविता के लिये आवश्यक है कि उसका भाव पाठक की समझ में आ जाय। उसके चमत्कार से प्रभावित होकर सभी वाह २ कर उठें, तभी कवि की सफलता होती है। कविता में प्रसाद गुण, निरालापन और लालित्य इन तीनों का होना आवश्यक है। इनके बिना कोरे आडम्बर से भरी शब्द-योजना कविता नहीं कहलाती और न ऐसे कवियों को कवित्व का यश मिलता है।

छोटी मोटी कविता करें तो भी कोई बात नहीं। बिना गहन अध्ययन और चिरन्तन अभ्यास के सहसा छायावदी कवि बनने का दुःसाहस करते हैं।

सारांश यह कि कवि बनने से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति को उसके उपयुक्त सामग्री जुटा लेनी चाहिये। अनाप-शनाप कविता के द्वारा वे अपने आप को हास्यास्पद कर ही देते हैं, अपनी भाषा और उसके साहित्य के लिये लज्जा का कारण बन जाते हैं।

सारांश

गोपियों की भगवद्भक्ति

शरद् ऋतु की पूर्णिमा की चाँदनी रात थी। श्रीकृष्ण ने एकाएक रासक्रीड़ा की इच्छा से अपनी भुवन-मोहिनी वंशी बजा दी। उसकी ध्वनि सुनकर सारी गोपियाँ अपनी चेतना भूलकर लटपट होती हुईं सारे काम छोड़ कर श्रीकृष्ण की ओर वन में चल दीं। उस समय उनके वस्त्र भी अस्त-व्यस्त हो रहे थे। परन्तु वह चली जा रही थीं। जाकर श्रीकृष्ण के पास पहुंचीं।

श्रीकृष्ण ने उनसे हँसकर कहा कि क्या कारण है, आप लोग इस आधी रात में अपने पिता, पुत्र और पतियों को छोड़कर यहाँ एकाएक कैसे आ गईं? ब्रज पर कोई विपत्ति तो नहीं आई है। आप लोगों को थोड़ी लोक-मर्यादा का भी ध्यान रखना चाहिये।

गोपियाँ इन वचनों को सुनकर स्तब्ध-सी रह गईं। सहसा हाथ बाँधकर उनमें से एक ने कहा कि भगवन्! आप शरण में आये स्वजनों को अवश्य अपनाते हैं, आप सर्वव्यापक हैं। हमारे पति, पुत्र और पिता आदि में भी आप ही रम रहे हैं। आप विश्व रूप हैं। इस कारण संपूर्ण जगत् के पिता, माता, पुत्र, भ्राता और पति आदि सभी कुछ आप ही हैं। इसलिये हम सर्व भाव से आपको भजने के लिये आई हैं। आपने स्वयं कहा है कि जो मुझे निःसंग होकर भजता है, जिस किसी भी भावना से मेरी शरण आता है, मैं उसे उसी भाव से अपनाता हूँ। अतः अब आप हमें इस प्रकार के व्यवहार से न ठुकरायें।

गोपियों के इन प्रेम भरे वचनों को सुनकर श्रीकृष्ण ने उनकी इच्छा के अनुसार रासलीला आदि से उन्हें संतुष्ट किया।

श्रीकृष्ण की यह लीला समाज के लिये बड़ी विवादास्पद बनी हुई है। श्रीकृष्ण को पर-पुरुष मानकर गोपियों का उनके साथ प्रेम को व्यभि-

चार की दृष्टि से देखा गया है जो कि सर्वथा अनुचित है। क्योंकि जब कि श्रीकृष्ण को सर्वेश्वर और विश्व रूप मान लिया, तब उन्हें पर-पुरुष कैसे कहा जा सकता है। वह स्त्रियाँ थीं, वेद शास्त्र आदि तो वह पढ़ी नही थी जो कि योग ध्यान का आश्रय लेती। उनके बस का जो कुछ था, आत्म समर्पण करके वह उनमे सर्व-भाव से लीन हो गई। उनका अनन्य प्रेम, अनन्य भक्ति यही थी, इसी कारण ज्ञान का अभिमान लेकर उपदेश देने आया हुआ उद्धव उनके अनन्य प्रेम, अटूट भक्ति-भाव और तन्मयता को देखकर दंग रह गया था, उनकी चरण-रज को ही परम तीर्थ मानने लगा था।

परन्तु खेद यह है कि इतना होने पर भी गोपियों को व्यभिचार-दुष्टा कह कर पुकारा गया है। स्वयं श्रीमद्‌भागवतकार ने स्थान २ पर श्रीकृष्ण को विश्वात्मा, विश्वरूप, सर्वेश्वर और प्रधान पुरुष माना है, उनके प्रति अनन्य भक्ति की ज्ञान की अपेक्षा अधिक महिमा मानी है परन्तु गोपियों के भक्ति-भाव को जार-बुद्धि का प्रेम कहकर उसने भी अन्याय किया है।

सच्चा भक्त लोकमर्यादा की चिन्ता नही करता, सम्भव है, लोक की चिन्ता करे तो उसे उस मार्ग की ओर कोई बढ़ने भी न दे। मीराबाई इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। उसके परिवार वालों ने उसे कुल-कलंकिनी कह कर लांछित किया, परन्तु क्या हुआ। वह तो "सन्तन ढिग बैठ २ लोक लाज खो" चुकी थी। गोपियों ने श्रीकृष्ण की सर्वभाव से उपासना की थी। उन्होंने तो स्वयं कह दिया था कि लौकिक पति आदि स्वजन तो उलटे सांसारिक बन्धन में डालने वाले हैं, आप स्वयं हमें उस ओर न धकेलें।

यदि श्रीकृष्ण के साथ जार-बुद्धि ही थी, तो सोचा जाय, उन्हें उनके पति आदि ने आधी रात में श्रीकृष्ण के पास जाने से क्यों नहीं रोका? क्या उनके घर में कोई था ही नहीं? नहीं, थे अवश्य, परन्तु वे सभी श्रीकृष्ण के हाथों अनेक बार आपत्तियों से छुटकारा पा चुके थे, अतः वे उन्हे अवश्य कोई महापुरुष मानते थे, वैसे भी सभी व्रजवासी अपनी २ अवस्थानुसार श्रीकृष्ण के यथानुरूप आत्मीय थे। फिर उनकी कन्याओं,

बधुओं ने यदि कृष्ण के साथ आत्मीयता प्रदर्शित की तो क्या आश्चर्य ?

ऐसी दशा में उन प्रेम की सजीव प्रतिमाओं, मथुरागमन के बाद श्रीकृष्ण के विरह में वियोगाग्नि से जल २ कर आँसुओं से नहा २ कर अपने आप को समाप्त कर देने वाली गोपिकाओं पर व्यभिचार-दुष्टा और स्वैरिणी आदि आरोप लगाना सर्वथा अनुचित ही है।

प्रश्न :—नाटक किसे कहते हैं ? उसकी क्या उपयोगिता है ? इस पर विस्तृत प्रकाश डालिये।

उत्तर :—संस्कृत की नाचना अर्थवाली नट् धातु से नट, नाट्य और नाटक शब्द बनते हैं। नटों का कार्य या व्यवसाय नाट्य या नाटक कहा जाता है। नाट्य शब्द नाट्यशास्त्र का वाचक हुआ अर्थात् नाटक खेलने की कला। साथ ही नाटक खेलने के नियम बताने वाली विद्या नाट्य-शास्त्र कही जाती है। नट और नटी द्वारा किये जाने वाले कार्य-नाटक में दिखाये जाते हैं।

नाटक का दूसरा नाम रूपक है। एक व्यक्ति में दूसरे व्यक्ति को मान लेना आरोप कहा जाता है। उस आरोप के कारण ही इसे रूपक कहते हैं। अभिनेता में अभिनेय का आरोप किया जाता है।

काव्य दो प्रकार का होता है—श्रव्य, दृश्य। जिसको पढ़ने सुनने से आनन्द प्राप्त हो सके उसे श्रव्य और जिसको रंगमंच पर खेला जाता हुआ देख कर आनन्द मिले, वह दृश्य काव्य कहलाता है।

काव्य के सभी अंगों में दृश्य-काव्य श्रेष्ठ माना जाता है। उसमें वर्णनीय घटना रंग-मंच पर प्रत्यक्ष घटती हुई दिखाई जाती है। प्रायः प्रत्यक्ष देखी गई बात का प्रभाव विशेष पड़ता है।

नाटक का मुख्य तत्त्व अभिनय है। इसका अर्थ है चारों ओर से ले जाना। अभिनय के द्वारा कथा-वस्तु विकास की ओर ले जाई जाती है। अभिनय अनुकरण या नकल को कहते हैं। अभिनय चार प्रकार का होता है, आंगिक—जो शरीर की चेष्टाओं से किया जाय, वाचिक—जो कुछ कह कर किया जाय। आहार्य—जो वेषभूषा धारण करने से किया जाता है। सात्त्विक—मानसिक हर्ष-शोक आदि भावों का अनुकरण। इस प्रकार

चारों प्रकार के अभिनयों से कथा-वस्तु को प्रत्यक्ष दिखाया जाता है। नाटक में एक व्यक्ति वह होता है जिसका अनुकरण किया जाता है, दूसरा वह जो अनुकरण करता है। पहले को अनुकार्य या अभिनेय कहते हैं, दूसरे को अनुकर्ता या अभिनेता कहते हैं। अभिनेता ही अपने आप अभिनेय की सी चेष्टायें करके कथा-वस्तु को प्रत्यक्ष कर देता है।

प्रश्न :—अभिनय या नाटक खेलने की प्रणाली कब से चली ? प्रमाणों से सिद्ध करते हुए उसके आवश्यक तत्त्व लिखो।

उत्तर :—अभिनय की प्रणाली कब से आरम्भ हुई, यह जानना कठिन है। यह तो निश्चित है कि सर्वप्रथम नाचने की कला का जन्म हुआ था, बाद में नाचने के साथ अभिनय भी होने लगा।

हमारी नाट्य-कला बहुत प्राचीन है, इसके प्रमाण :—

१—नाट्य-शास्त्र के लेखक भरत मुनि बहुत प्राचीन माने जाते हैं, उनसे पूर्व भी कृशाश्व आदि नाट्याचार्य हो चुके थे। इनसे सिद्ध होता है कि भरत मुनि से पूर्व भी नाटक लिखे जा रहे थे।

२—व्याकरणकर्ता पाणिनि मुनि का समय ईसा से १००० वर्ष पूर्व तक माना जाता है, उन्होंने भी शिलालिन् और कृशाश्व नामक नाट्य-सूत्रकारों का उल्लेख किया है। लक्षण-ग्रंथ लक्ष्य-ग्रंथों के बाद ही बनते हैं।

३—महाभाष्यकर्ता पतञ्जलि ने जो कि ईसा से ७५ वर्ष पूर्व हुए थे, बलि-बन्धन और कंस-वध नामक नाटकों का उल्लेख किया है। इस से सिद्ध हो गया है कि यहाँ की नाट्य-कला बहुत प्राचीन है। विदेशियों का तब तक भारत में आगमन भी नहीं हुआ था। इसलिये विदेशियों का हमारी नाट्य-कला पर कोई प्रभाव नहीं है।

भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र के अतिरिक्त धनञ्जय का दश रूपक ग्रंथ भी इस विषय का उपयोगी ग्रंथ है।

पहले गन्धर्व और अप्सराएँ अभिनय किया करती थीं, बाद में मनुष्यों में भी इस कला का प्रचार हो गया।

नाटकों का जन्म मनुष्य की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति से हुआ है। छोटे

से छोटे बच्चों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। उसी प्रवृत्ति को जब व्यापक रूप में कलात्मक ढङ्ग से रंगमंच पर दिखाया जाता है, तो नाट्य-कला का जन्म होता है।

नाट्य-कला के नियमों का जिसमें उल्लेख हो, उसे नाट्य-शास्त्र कहते हैं। इसमें अभिनय के विभिन्न नियम बताये गये हैं। परन्तु वे सभी देश-काल की अपेक्षा से हैं। उनका सदा ही पालन आवश्यक नहीं। अभिनय की सफलता के लिये नाटककार नाट्य-शास्त्र के नियमों का उल्लंघन भी कर सकते हैं। नाट्य-शास्त्र ही क्योंकि नाटकों के लिये सब कुछ नहीं।

नाटक की उत्पत्ति वास्तव में कवि के मनोभाव से होती है। जब उसकी मानसिक इच्छा बलवती होती है, वह उसकी अभिव्यक्ति के लिये किसी विषय की सृष्टि करता है, उसी से पात्रों की कल्पना हो जाती है अपने हृदय में उत्पन्न भावों को ही कथा का रूप देकर कलाकार नाटक रूप में परिणत करता है, अभिनय द्वारा उन्हें रंगमंच पर प्रत्यक्ष दिखा देता है। उसका फल होता है समाज का मनोरंजन, जो नाटक मनोरंजन में समर्थ न हो वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं। क्योंकि नाटक का मूलतत्त्व रसपरिपाक है। वह अभिनय की यथार्थता पर आधारित है। अतः नाटकीय कथा, जीवनीय घटनायें और ऐतिहासिक बातों को शृंखला-बद्ध करके परस्पर सम्बद्ध रखना चाहिये। क्रम और समय के अनुसार उन्हें यथोचित रीति से उपस्थित किया जाय।

सारांश यह है कि नाटक की सफलता के लिये उसका अभिनय सर्वांगीण और सफल होना चाहिये।

प्रश्न :—उपन्यास क्या है और कसा होना चाहिये, इस पर द्विवेदी जी के विचार प्रकट कीजिये।

उत्तर :—उपन्यास शब्द मूल में तो संस्कृत का है। उसका अर्थ वाङ्मुख माना है। परन्तु हिन्दी में आजकल इस शब्द का प्रयोग उस अर्थ में नहीं होता। अंग्रेजी में उपन्यास का नाम नावेल है, जिससे लोग अर्थ लेते हैं कि नूतन अर्थ और कथा का प्रकाश न करने वाला ग्रन्थ।

इसी अर्थ को लेकर मराठी में नवल शब्द घड़ा गया है। सारांश में उपन्यास शब्द का अर्थ किसी कथात्मक गद्य प्रबन्ध है

संस्कृत में इसके अंकुर मात्र हैं। दशकुमार चरित, कादम्बरी इनी गिनी पुस्तके हैं पर उन में चरित्र-चित्रण आदि प्रस्तुत उपन्यासों में मिलने वाली कोई सामग्री नहीं मिलती।

वास्तव में उपन्यास गद्य साहित्य का एक प्रकार है। यह पश्चिमा साहित्य की देन है। वहाँ पर इस कला का चरम विकास हो चुका है।

उपन्यास वास्तव में मानव समाज के चरित्र का प्रतिबिम्ब है। इसलिये उसमें मनुष्य के कार्य-कलापों का ही शृंखलात्मक ब्योरा रहता है। मनुष्य के कार्यों से उसके मनोभावों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इसलिये उपन्यास में मनोविज्ञान की सहायता अवश्य लेनी पड़ती है। कुछ लोगों का तो कहना है कि उपन्यासकार को मनोविज्ञान के आधार पर ही कार्य करना चाहिये। परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि सर्वथा मनोविज्ञान की सीमा बंधी नहीं रखी जा सकती। उपन्यासकार के सभी पात्र कल्पित होते हैं। उनके भाव वास्तव में लेखक के मनोभाव होंगे। इस कारण वह किसी भी घटना की प्रतिक्रिया अपने मन की स्थिति के अनुसार सब पर एक सी दिखायेगा जोकि वास्तविकता के विरुद्ध होगी। क्योंकि किसी की मन दुर्बल होता है। एक घटना किसी के हृदय पर अधिक प्रभाव डालती है किसी के हृदय पर नहीं। इसलिये सभी को अपने मन के अनुसार तोलना उचित न होगा। इसलिये मध्यम मार्ग अपनाना चाहिये। पात्र की स्थिति, वातावरण आदि को देखते हुए उसके मनोभावों की कल्पना करनी चाहिये। हाँ, कुछ स्वाभाविक तथ्य होते हैं, जैसे बच्चे के प्रति हृदय में कोमलता, प्रेम की मृदुलता, लगातार विपत्तियों के आने पर हृदय का डगमगाना आदि। यदि मनुष्य इन बातों से सर्वथा शून्य होगा तो वह मनुष्य न रहकर राक्षस या देवता हो जायगा। इन मनोविज्ञान के नियमों को सर्वथा प्रकट न कर देना चाहिये। वे तो गुप्त रूप में ही काम करते रहें तो उचित होगा।

इसी प्रकार देश, काल, सामाजिक नियम, धर्म, वर्तमान परिस्थिति आदि का ध्यान रखना भी आवश्यक होगा। भारत में ही काले बालों को अच्छा मानते हैं, सुनहरे बालों को यूरोप में ही। इस स्थिति के विरुद्ध वर्णन लेखक को उपहसनीय बना देगा।

उपन्यास जातीय जीवन का दर्पण होता है, उसमें जीवन के सभी दृश्य दिखाये जा सकते हैं। समाज के उत्थान में बहुत कुछ सहायता उपन्यास से प्राप्त हो सकती है। इसलिये आदर्श सामने रखकर उपन्यास लिखना समाज के लिये अच्छा होगा।

कुछ यथाथ चित्रण के नाम पर अच्छे बुरे चरित्रों को यथावत् दिखाना ही उचित समझते हैं, यह उनकी भूल है। नग्न दुराचार के दिखाने से क्या समाज की दुष्प्रवृत्ति दूनी नहीं पनपेगी। समाज के हिताहित का ध्यान रखकर ही इनका निर्माण उचित होगा।

उपन्यास में छोटे बड़े, राजा प्रजा, धनी मजदूर सभी वर्गों के जीवन का चित्रण संभव है। इसलिये वही उपन्यासकार श्रेष्ठ होगा जो इन सभी के कल्याण को सामने रखकर अपनी लेखनी उठायेगा।

प्रश्न :— द्विवेदी जी के शब्दों में मेघदूत की आलोचना कीजिये।

उत्तर :—मेघदूत महाकवि कालिदास का अक्षय कीर्तिस्तम्भ है। इसमें वियोग शृङ्गार की जो अपूर्व अभिव्यक्ति हुई है वह विश्व-साहित्य में अपूर्व है।

कथासार :—यक्षराज कुबेर ने अपने एक सेवक यक्ष को उसके कार्य में प्रमाद पाकर एक वर्ष तक पत्नी से दूर रहने का दण्ड दिया। वह अपने स्वामी की आज्ञा को स्वीकार कर वहाँ से चला आया। इधर उधर से होकर वह चित्रकूट पर पहुँचा। वहीं उसने शाप के ८ मास व्यतीत किये। एक बार जबकि अषाढ़ का मास समाप्त होने को था, आकाश में बादल सर्वप्रथम दिखाई दिये। बादल को देखकर वह यक्ष बहुत देर तक कुछ सोचता रहा। उसे ध्यान आया कि वर्षा ऋतु आने वाली है, वियोगी जनों के लिये यह अत्यन्त संताप का कारण होती है। हो न हो कहीं वह विरहाग्नि से तड़प २ कर मर न जाय।

अपना ध्यान भी उसे हुआ कि किसी प्रकार अपनी कुशल किसी के हाथ उस तक पहुँचादूँ और सान्त्वना का संदेश देदूँ। यह विचार आते ही उसे उपयुक्त सन्देश-वाहक एकमात्र वही वादल दिखाई दिया। उसने उसी से सन्देश ले जाने की प्रार्थना की। बस इसी आधार पर मेघदूत की सृष्टि हुई है।

मेघदूत की कविता इतनी सरस है कि इसी नाम पर बाद में पवन-दूत आदि अनेक काव्यों की सृष्टि हुई।

प्रेरणा :—कालिदास को वादल द्वारा सन्देश भेजने की प्रेरणा श्रीराम द्वारा हनूमान के हाथ सीता के लिये सन्देश भेजने से मिली, जैसा कि उन्होंने स्वयं सूचित किया है :—

इतनो कहत तोहिं मम प्यारी,
जिमि हनुमत को जनकदुलारी ॥
सीस उठाय निरखि धन लैहै।
प्रफुलित चित ह्वै आदर दैहै ॥

वादल के चित्रकूट से अलकापुरी तक के मार्ग में आने वाले अनेक देशों का कालिदास ने वर्णन किया है। इससे विद्वानों की धारणा है कि कालिदास, जोकि सम्भवतः काश्मीर का निवासी था, वहाँ से उज्जयिनी आते समय इन स्थानों से परिचित हो गया, तभी उसने ऐसा अच्छा वर्णन किया है।

आलकापुरी के मार्ग में कालिदास ने अनेक तीर्थों का वर्णन किया है जो कि मेघ के लिए तीर्थ दर्शन का प्रलोभन देने वाले हैं। "माल-वीनां लोलापांगैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि" इसके द्वारा क्या आकर्षक लालच दिया है।

छन्द और शैली—मेघदूत की सृष्टि के लिए कवि ने मन्द आरोह और अवरोह वाला मन्दाक्रान्ता छंद और वैदर्भी रीति चुनी है जो कि असमस्त पदों वाली और माधुर्य गुण से युक्त है। यह सामग्री वियोग शृंगार की अभिव्यंजना के लिये बहुत ही उपयुक्त रही है।

नायक—इसका नायक धनाधिप कुबेर का सेवक है। धनपति का सेवक होने के नाते सेवकों का भी समृद्ध होना संभव है। उत्तरमेघ में उसकी समृद्धि बताई भी गई है। सम्पत्ति होने पर विलासप्रियता आ ही जाती है। वही विलासप्रियता शाप का कारण बनी थी। पुनः पति-पत्नी का उत्कट प्रेम। ऐसी दशा में दोनों का एक वर्ष के लिए वियोग कितना सन्तोषजनक होगा। इस प्रेम के कारण वह पागल हो उठा है। उसे अपने अपराध के लिए ग्लानि नहीं है, शाप के लिये स्वामी पर क्षोभ नहीं है। केवल पत्नी के प्राण बचाने की चिन्ता है। तभी तो उसे इतना विचार नहीं रहा कि धुएँ, पानी और आग का समूह रूप मेघ चतुर व्यक्ति के योग्य सन्देशवाहक का कार्य कैसे करेगा। साथ ही इस कल्पना द्वारा कवि को यक्ष की वियोगावस्था का वर्णन करने को अच्छा साधन मिल गया।

बादल को सुखकर और सुन्दर दृश्यों के कारण लम्बा न लगने वाला मार्ग बताना कवि का अपूर्व कौशल है।

आगे बादल पहुँच कर किस प्रकार उसकी प्रेयसी को पहचाने, किस प्रकार उससे बातचीत आरम्भ करे, इसके शिष्ट जनोचित ढंग बता कर सन्देश मे पहले श्रुतिसुखद शब्द कहलाये हैं :—

भर्तुर्मित्रं कियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहम्।

अर्थात् हे अखण्ड-सौभाग्यवती! मुझे अपने पति का मित्र बादल जान। इसमें पहले भर्तु पद उसे चौंका देने वाला है ताकि पति का नाम सुनते ही वह उत्कंठा से उसका हाल सुनने को उद्यत हो जाय। साथ ही अविधवे पद और आगे 'अव्यापन्नः' शब्द भी उसकी आशी-लता को हरी भरी करने वाले हैं। उसे पति को जीवित सुनकर अपने जीवन को बनाये रखने की इच्छा उत्पन्न हो जायगी।

इसके अतिरिक्त अपने मिलने के दिनों की गुप्त बातें उसने बादल की प्रामाणिकता के लिये सन्देश में कही। इस प्रकार अनेक सुखद कल्प-नाओं से भरा यह काव्य अव्याज प्रेम का अनूठा ग्रंथ है।

लोभ—लोभ मनुष्य के लिये बहुत बुरा है। लोभी मनुष्य को कभी सन्तोप नही होता, कभी तृप्ति नहीं होती। सदा चिन्ता वनी रहती है। घर भरा होने पर भी अभाव ही दिखाई देता है। उसके लिये लोभी का नैतिक पतन भी हो जाता है। सदा चिन्तित रहने से स्वास्थ्य भी विगड़ जाता है। अधिक धन होने पर आवश्यकतायें भी बढ़ जाती हैं। इस प्रकार लोभी मनुष्य का जीवन दुःखमय हो जाता है। अतः लोभ नही करना चाहिये।

क्रोध—क्रोध मनुष्य को पशु बनाने वाला दुर्गुण है। विवेक ही पशु से मनुष्य की विशेपता है, जिसे क्रोध नष्ट कर देता है। क्रोधी व्यक्ति जरा २ सी वात पर तिनक बैठता है। अपने व्यवहार से मित्रों को भी शत्रु वना लेता है। मनुष्य उससे दूर रहने लगते हैं। क्रोधी व्यक्ति का रूप भी नष्ट हो जाता है। आकृति भयानक हो जाती है। हृदय की कोमलता जाती रहती है। समाज से सर्वथा पृथक् हो जाता है। ऐसे व्यक्ति का जीवन दुःखमय हो जाता। क्रोध का उपभोग केवल अत्याचारी के विरुद्ध करना चाहिए। सर्वथा क्रोध त्यागने से अपना सम्मान वचाना भी कठिन हो जाता है।

द्विवेदी जी की समीक्षा शैली—द्विवेदी जी की समीक्षा शैली निर्णयात्मक है। इसमें ग्रंथकार की सदुक्तियों की प्रशंसा की जाती है तथा त्रुटियों के लिए उसे फटकारे लगाई जाती है। अन्त में रचना का मूल्य आंका जाता है। इस शैली का प्रधान तत्व गुण-दोष-प्रकाशन है। लेखक की अन्तःप्रवृत्तियों की ओर गहरी निरीक्षण शक्ति इस शैली में नहीं पाई जाती। त्रुटियों के उद्घाटन के रूप में प्रस्तुत संग्रह में "कविता" शीर्षक वाला लेख है। गुण-प्रकाशन वाली आलोचना इसी संग्रह के 'मेघदूत' नामक लेख में की गई है।

जीवन-यज्ञ

प्रश्न :—जीवन-यज्ञ से क्या अभिप्राय है ? इस ग्रन्थ को लिखने में लेखक का क्या उद्देश्य है ? स्पष्ट कीजिये ।

उत्तर :—यह लौकिक जीवन एक यज्ञ है जिसका कि कोई न कोई लक्ष्य होता है । इस यज्ञ की सार्थकता तभी है जब कि इसकी ज्योति सदा प्रज्वलित रहे । जिस प्रकार धूमिल-अग्नि में आहुति-प्रक्षेप नहीं किया जाता, उसी प्रकार इस जीवन के यज्ञ में कर्म रूपी, उत्साह रूपी अग्नि मन्द पड़कर निर्लक्ष्य सी होगई है । उसमें निराशा, अनुत्साह और मन्दता का धूम छा गया है जिससे हमारी आँखें आगे देखने में असमर्थ हो रही हैं । अतः यह जीवन-यज्ञ सदा चलता रहना चाहिये—जैसे आत्मा अमर है, इसी प्रकार यह यज्ञ भी अनवरत गति से प्रज्वलित रहना चाहिये ।

प्रत्येक व्यक्ति एक कर्म-जाल के चौराहे पर खड़ा है । उसने कहाँ जाना है, उसका गन्तव्य स्थान कौन-सा है, इसके निश्चय बिना वह कुछ नहीं कर सकता । अतः मनुष्य को चेतना में आने के बाद ही जब कि उसका मार्ग आरम्भ होता है, यह निश्चय कर लेना चाहिये कि उसने अपने जीवन में क्या बनना है, क्या करना है । इस प्रकार एक लक्ष्य बना लेने के बाद दत्त-चित्त होकर अपने लक्ष्य की पूर्ति में जुट जाना चाहिये । लक्ष्य की पूर्ति के लिये मनुष्य में साहस और आशा के साथ दृढ़ आत्म-विश्वास होना आवश्यक है ।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने मन में यह महत्त्वाकांक्षा रखनी चाहिये । बिना इस प्रकार की उच्च आकांक्षा किये वह कभी भी उन्नति के मार्ग की ओर अग्रसर न होगा । उच्चाकांक्षा को सत्य बनाने के लिये निरन्तर अध्यवसाय की आवश्यकता होती है । कठिनाइयों से न घबरा कर प्रयत्न करते रहना यही लक्ष्य तक पहुँचने की सीढ़ी है ।

इसके लिये चारित्र्य और स्वास्थ्य अनिवार्य हैं। जब मन, बुद्धि और शरीर तीनों स्वस्थ हों, कार्य करने में समर्थ हों तभी मनुष्य को जीवन की कला का ज्ञान होता है।

मनुष्य को उत्तम मार्ग दिखाने वाली विद्या होती है। उस विद्या को ग्रहण करे, अध्ययन के साथ साथ जीवन-क्षेत्र में उसके उपदेशों को प्रयोग में लाये। इस प्रकार व्यक्ति कर्मक्षेत्र में बढ़ने योग्य हो जायगा।

प्रत्येक मनुष्य की व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों स्थितियाँ हैं। एक ओर वह व्यक्ति है दूसरी ओर वह समाज का अंग है। अतः उसे समाज के नियमों पर चलना पड़ता है। सामाजिक के साथ साथ वह नागरिक भी होता है। प्रत्येक नागरिक को अपने कर्तव्य और अधिकारों का ज्ञान होना अनिवार्य है। नागरिक का अपने राष्ट्र से सम्बन्ध है। अतः उसे अपने राष्ट्र, अपने देश, अपनी मातृभूमि के प्रति भक्तिपूर्ण होना चाहिए।

राष्ट्र-भक्ति के साथ साथ अपनी संस्कृति का ज्ञान और उसके प्रति प्रेम बढ़ाना चाहिये।

इस प्रकार जीवन-यज्ञ पूर्ण करने का मार्ग-प्रदर्शन ही इस पुस्तक का उद्देश्य है।

सारांश

१

जीवन का लक्ष्य :—मनुष्य को अपने जीवन में क्या करना है? इसका निश्चय पहले कर लेना चाहिये, जैसे किसी की रुचि चिकित्साकार्य में हो, उसे आरम्भ से उसी पथ पर चलना होगा। जिन्हें शिल्प-कला में रुचि हो वे उधर बढ़ें। परन्तु यह नहीं कि जब तक कुछ करना न पड़े, तब तक कुछ निश्चय ही न कर सके। ऐसा व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता, प्रायः अचानक कोई कार्य आ पड़ने पर पहले से तैयार न रहने के कारण मनुष्य उसे करने में असमर्थ हो जाता है।

जो भी व्यक्ति घर से निकलता है, पहले सोच लेता है कि उसे

कहाँ जाना है। जो सड़क पर जाकर ऐसा सोचता है, वह निरुद्देश्य व्यक्ति ही होगा।

प्रत्येक मनुष्य सुख और आनन्द चाहता है, उसके जीवन में जो दुःख, शोक और संकट आते रहते हैं उनसे वह बचना चाहता है। परन्तु आनन्द को भी यह देखना है कि वह क्षणिक है या चिर तृप्ति करने वाला। क्षणिक आनन्द तो मदिरापान में भी वह अनुभव करेगा, परन्तु वे विषयानन्द सब क्षणिक हैं। उनके अनन्तर वही पुनः दुःख-ज्वाला ही है।

चिरतृप्ति और आनन्द देने वाला चिरकाल का लक्ष्य है :—

"तमसो मा ज्योतिर्गमय"

"असतो मा सद्गमय"

"मृत्योर्मा अमृतं गमय"

अर्थात् मुझे अन्धकार से प्रकाश में ले चलो, असत्य से सत्य की ओर ले चलो, मृत्यु से अमृत में ले चलो।

यह विशिष्ट लक्ष्य है। इसके अतिरिक्त लौकिक लक्ष्य भी होते हैं, जैसे डाक्टरी, वैज्ञानिक बनना, शिल्प-कला आदि। ये सामान्य लक्ष्य कहलाते हैं। परन्तु दोनों लक्ष्यों को अन्त में एक ही परिणाम पर पहुँचना चाहिये। लौकिक कार्यों को इस प्रकार किया जाय कि विशिष्ट लक्ष्य से दूर न रह कर उसके समीपतर होते चले जायँ।

इस प्रकार लक्ष्य निश्चय कर उसके बोध के लिये जुट जाना चाहिये।

लक्ष्य-भेद :—जब किसी लक्ष्य की पूर्ति करनी होती है, उसके लिये एकाग्रता आवश्यक होती है। लक्ष्यभेद तभी संभव है जब कि व्यक्ति के समक्ष और कुछ विकल्प न हो। उसे अपने लक्ष्य के अतिरिक्त और कुछ न सूझे। लक्ष्य में तन्मयता किये बिना लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकती। चित्त इधर-उधर के प्रलोभनों में पड़ सकता है। जैसे तीर धनुष से छूट कर सीधे लक्ष्य की ओर बढ़ता चला जाता है वही दशा लक्ष्य-साधक की होनी चाहिए। इसके लिये कुतुबनुमा का उदाहरण

दिया जाता है कि कोई भी शक्ति उसकी सूई के रुख को ध्रुव की ओर से नहीं मोड़ सकती ।

तन्मयता की आवश्यकता इसीलिये है कि मनुष्य जिस कार्य को आरंभ करता है सर्वप्रथम उसी को पूर्ण करे। उसके पूर्ण होने से पूर्व दूसरे पर हाथ न लगाये। अन्यथा वह किसी भी कार्य को न कर सकेगा यह भी, वह भी की रीति कभी नहीं पनप सकती है ।

लक्ष्यभेद का यही सच्चा मार्ग है ।

आशा और आत्म-विश्वास :—किसी को प्रेरणा देने वाली आशा ही होती है। निरंतर असफल होता हुआ भी मनुष्य आशा के पथ-प्रदर्शन में प्रयत्न करता हुआ एक न एक दिन सफल हो ही जाता है। उद्योगी व्यक्ति के लिये निराशा बड़ी भारी बाधा है। यदि उसे निरंतर आशा दिलाई जाती रहे, तो वह सचेष्ट रहता है। जैसे २ आशा बढ़ती जाती है, प्रयत्न में गति बढ़ती जाती है। जहाँ आशा घटी कि सहसा उत्साह जाता रहता है। आशा और निराशा दोनों का मन पर तीव्र प्रभाव पड़ता है ।

कोई पथिक ग्राम जाता हुआ जैसे २ समीप पहुँचता है, उसकी गति तीव्र होती जाती है। परन्तु यदि उसे कह दिया जाय कि वह गाँव अभी बहुत दूर है तो वह ढीला पड़ जायगा। निराशा का यही घातक प्रभाव है ।

आशा आत्मा का गुण है, निराशा विकारग्रस्त मन का। आशावाद आस्तिकता है निराशावाद नास्तिकता। उद्योगी के लिये आत्म-विश्वास की भी आवश्यकता होती है। अपनी आत्मा पर, अपने आप पर यदि विश्वास है, तो कभी आशा साथ नहीं छोड़ेगी, कभी निराशा पास नहीं फटकेगी। सच्चा आत्म-विश्वासी कभी धोखा नहीं खाता, सफलता की सीढ़ी पर वही चढ़ पाता है। जिसने यह समझ लिया कि वह इस कार्य के लिये समर्थ नहीं है, दूसरों के अनेक प्रोत्साहनों और सहायता से भी वह कभी सफल नहीं हो सकता। मनुष्य की आत्मा ही सबसे बड़ी मित्र है, आशा उसे दीपक का काम देती है। आत्मविश्वास खोना आत्मा

की हत्या करना है। आत्म-विश्वास के कारण छोटे व्यक्ति भी महान् बन जाते हैं। आत्मबल बहुत बड़ी शक्ति है।

आत्म-विश्वासी बड़े से बड़े संकट से विचलित नहीं होता। किसी रुकावट से नहीं रुकता, किसी भय से भीत नहीं होता। उस पर जैसे २ विपत्ति पड़ती है, उसकी आत्म-ज्योति प्रबलतर और उज्ज्वलतम होती है। इसलिये लक्ष्यवेध के लिये आगे बढ़ते हुए आत्म-विश्वास का बल और आशा का दीपक सदा साथ रखना चाहिये।

महत्त्वाकांक्षा या उच्चाभिलाषा :—किसी लक्ष्य को सामने रखते हुए मनुष्य की जो ऊँचा उठने की इच्छा होती है वही महत्वाकांक्षा या ऊँची अभिलाषा कहलाती है। यह अध्यात्मिक, शारीरिक, आर्थिक और भौतिक सभी प्रकार की होती है। इसके अच्छे और बुरे दोनों पक्ष होते हैं।

जब मनुष्य दूसरों को हानि पहुँचाये बिना ऊँचा उठना चाहता है, वह सच्ची और उत्तम महत्वाकांशा कहलायेगी। जो संसार को कष्ट पहुँचा कर अपने आपको ऊँचा उठाना चाहते हैं, उनकी झूठी महत्वाकांक्षा है। ऐसे व्यक्ति एक बार ऊँचे उठ भी जायँ तो भी उनका पतन निदान है।

महत्वाकांक्षा तो संसार में प्रायः सभी रखते हैं पर ऐसे कम हैं जो अपनी उन्नति या प्रगति औरों की भलाई के लिये करना चाहते हैं। सैकड़ों घरों को उजाड़ कर एक का महल बनाने की रीति ही अधिकतर है।

महात्वाकांक्षा का संबंध जीवन-लक्ष्य से है। लक्ष्य जितना उत्तम होगा। महत्वाकांक्षा उतनी ही ऊँची होगी। संसार में आज तक जिन्होंने बड़े २ आविष्कार किये, बड़े २ रहस्यों का पता लगाया, सब उसी महत्वाकांक्षा के परिणाम हैं। भारतीय योगियों ने लोकोपकार के लिये योग की क्रियायें बताईं। वे योग से हजारों मीलकी दूरी से अपने शिष्यों को आज्ञा देते थे, आज टेलीविजन, टेलीफोन, टेलीग्राम, मोनोग्राम और रेडियो आदि आविष्कारों ने यह सत्य कर दिखाया है। यह महत्वाकांक्षा का ही तो परिणाम है।

महत्वाकांक्षा सत्य होने से पूर्व कल्पना के रूप में रहती है। पक्षियों की भांति आकाश में उड़ने की आकांक्षा जो कभी कल्पना रूप में थी आज सत्य सिद्ध हो रही है। प्राणों को हथेली पर रख कर प्रतिवर्ष पर्वतरोहण करने वाले साहसी क्या कम महत्वाकांक्षी हैं। अनेक वैज्ञानिक मनुष्य को भाँति ७ के रोगों से छुटकारा दिलाने के लिये प्रयत्नशील हैं, इनका क्या स्वार्थ है? सब लोक-कल्याण की भावना से कार्य कर रहे हैं।

ये सभी महत्वाकांक्षी है।

संकल्प बल :—मनुष्य के मस्तिष्क में जो विचार उत्पन्न होते हैं, कार्य रूप में अग्रसर होने पर वे ही संकल्प बन जाते हैं।

विचार शक्ति-बहुत प्रबल है, उसकी गति प्रकाश की गति से भी तीव्र है। क्योंकि उसमें प्रकाश की अपेक्षा अधिक चेतना है। सूक्ष्म वस्तु में चेतना अधिक हुआ करती है। जैसे बिजली की लहर तार से छूने पर दूसरी वस्तु को भी प्रभावित कर देती है, इसी प्रकार विचार की भी लहर छूटती हैं, उनसे सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। बहुत से व्यक्ति विचार शक्ति वाले होते हैं परन्तु प्रयोग में न आने के कारण उनके विचार दुर्बल रहते हैं, प्रबल मस्तिष्क शक्ति वाला उनको प्रभावित कर सकता है।

इसी कारण महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति को अपनी विचार-शक्ति प्रबल करनी चाहिये जिससे स्वयं वह किसी से प्रभावित न होकर औरों को भी प्रभावित कर सके।

मनुष्य को अपने हृदय में सदा उच्च विचार रखने चाहियें, उन्हें अधिक से अधिक सघनता देनी चाहिये, जिसकी इच्छा-शक्ति प्रबल होती है, वह अवश्य सफल होती है, आजकल पश्चिमी देशों में प्रचलित प्राण-चिकित्सा इसी संकल्प बल पर आधारित है। वहाँ के चिकित्सक नीरोगिता और सबलता के विचारों का प्रभाव रोगियों के हृदय पर डालते हैं। स्नायविक रोगों पर यह प्रयोग बहुत सफल सिद्ध हुए हैं। इस प्रकार विचारों की प्रबल शक्ति मनुष्य में भरी पड़ी है, उसके सदुप-

योग से संसार की काया-पलट हो सकती है। बिना संकल्प-बल के कोई व्यक्ति ऊँचा नहीं उठ सकता। जो अपने आप को अभागा समझता है वह संपत्ति पाकर भी दरिद्र ही रहता है।

मनुष्य को अपने मन में बुरे विचार कभी न लाने चाहियें, इसके द्वारा वह अपने मन के अतिरिक्त समाज को भी दूषित करता है। समाज में भी वह बुराइयों के कीटाणुओं का विस्तार करता है।

इसलिये उच्चाकांक्षा वाले के लिये संकल्प बल आवश्यक होता है।

अध्यवसाय :— संकल्प के बाद अध्यवसाय की आवश्यकता है। हृदय में विचारों को मूर्तरूप देने का संकल्प कर लेने के बाद कार्यसिद्धि पर्यन्त किया जाने वाला निरन्तर प्रयास अध्यवसाय कहा जाता है। अध्यवसाय के बिना कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता। इसके लिये उत्साह और निरन्तरता की आवश्यकता होती है। कुछ लोग कार्य के आरम्भ में तो परिश्रम करते हैं, उस समय उनमें पर्याप्त उत्साह रहता है, परन्तु धीरे २ कम होता जाता है, उस कार्य को छोड़कर वे दूसरा कार्य आरम्भ करते हैं, उसकी भी अन्त में वही दशा होती है। इस प्रकार आजीवन उनके भाग में असफलता ही आती है। महान् कार्यों के लिये ऐसे उत्साह की आवश्यकता नहीं होती। उनके लिये तो ऐसे अदम्य उत्साह की आवश्यकता है जो बड़े से बड़े संकट आने पर दूना होता चला जाय।

प्राय: कोई कार्य अनेक वर्षों में करने के हुआ करते हैं, उनमें क्षणिक उत्साह क्या करेगा। कभी उन्हें लगातार असफलता ही मिलती रहती है। तथापि वर्षों तक पुन: पुन: प्रयत्न करते रहते हैं। आज तक जितने बड़े कार्य हुए, सभी एक आध दिन में नहीं हो गये। आगरे का ताज-महल, मिश्र के पिरामिड, वाट का भाप का इंजिन, चीन की प्रसिद्ध ऐतिहासिक दीवार एक दिन में ही या अनायास ही नहीं बन गईं। इनमें लाखों व्यक्तियों का अनेकों वर्षों तक निरन्तर किया गया परिश्रम काम आया है।

निरन्तर अध्यवसाय की यही महिमा है। चीटियाँ भी चलती चलती

सैंकड़ों मील पहुँच जाती हैं और बैठा रहकर शीघ्रगामी गरुड़ भी एक पग नहीं जा सकता। कोरे संकल्प से कुछ नहीं हो पाता, टाटा, बिरला, रामदुलाल आदि प्रसिद्ध उद्योग पति घर बैठे २ अनायास ही इतने संपन्न नही हो गये। उन्हें अनेक बार घोर संकट झेलने पड़े, परन्तु उत्साह न छोड़ा। जिसके उत्साह का समर्थन प्राप्त है, वह अध्यवसाय भी करेगा और एक दिन सफलता की वर लक्ष्मी का वरण करेगा।

चारित्र्य :--इसके अन्तर्गत निःस्वार्थता, दयालुता, सचाई, सहिष्णुता, निश्छलता, त्यागभावना और आत्मसंयम आदि अनेक गुण आ जाते हैं। इसके विना मनुष्य मे अन्य गुणों का कोई महत्त्व नहीं। बड़े से बड़ा उद्योगी, विद्वान्, कलाकार और जनसेवक चरित्र-हीन है तो उसका कोई सम्मान नहीं। चारित्र्य ही मनुष्य के जीवन को उचित मार्ग की ओर ले जाता है। चरित्र को ही सदाचार के नाम से पुकारते हैं। सदाचारी पुरुष अपना प्रभाव दुष्प्रवृत्ति वालों पर डाल सकता है। इसके लिए मनुष्य को सर्वप्रथम अपनी परीक्षा करनी आवश्यक है। ऐसा करने से उसे अपनी दुर्वलताओं पर लज्जा आएगी और वह उन्हें दूर करने का प्रयत्न करेगा।

दूसरों के उद्धार से पूर्व आत्म-शुद्धि आवश्यक है। जो स्वयं शुद्ध नही, वह औरों को प्रभावित क्योंकर कर सकता है। दूसरे की आलोचना से पूर्व अपने आपको देखना चाहिए।

चरित्र के लिए निम्न बातें अपेक्षित हैं :—

१. निर्भयता—अन्याय से न डरना। सत्य का समर्थन और न्याय की रक्षा के लिए अन्यायी का सामना करना। उच्च भावनाओं का विकास होने पर मनुष्य भय छोड़ देता है।

२. निर्लोभिता—किसी भी लाभ की आशा में अन्याय से धन का अर्जन न करना। जो लोग विना किसी आशा के धर्मकार्य करते हैं, वे भी इसी कोटि के होते हैं। कुछ लोग दान देते हैं परन्तु उसमें उनकी मनोवृत्ति कुछ पाने की आशा रखती है। वे दुखियों पर दया न कर केवल यश पाना चाहते है। एक लखपति का दान इतना महत्त्वपूर्ण

नहीं जितना पेट काटकर देने वाले एक निर्धन का किया हुआ एक पैसे का दान महत्त्व रखता है। उसे देते हुए आत्म-संतोष होता है, सहानुभूति रहती है।

३. सचाई—अपनी व पराई आत्मा को धोखा न देना। जो व्यक्ति किसी कार्य को किसी कामना से करता है और अपने आपको निष्काम बताता है, दुराचारी होता हुआ भी सदाचारी होने का ढोंग करता है, वह अपने आपको भी धोखा देता है और दूसरे को भी। जो स्वयं सच्चा होता है उसका सभी विश्वास करते हैं।

लोग व्यवसाय-क्षेत्र में झूठ आवश्यक बताते हैं परन्तु यह ठीक नहीं। बड़े २ उद्योगसंघों में एक कागज के टुकड़े के सहारे ही लेन-देन व्यापार चलता है।

दयालुता—दूसरों के दुखों को देखकर दया करना, न कि उनकी विवशता से लाभ उठाना।

भारत इन गुणों के लिए, इस सदाचार के लिए प्रसिद्ध था। परन्तु वर्त्तमानकाल में ये सब बुराइयाँ यहाँ भर आई हैं। अकाल के दिनों में अनाज छिपा कर रखना, आवश्यक वस्तुओं को अनुचित भाव में बेचना, सहायता के नाम पर स्वार्थ साधन आदि दुष्प्रवृत्तियाँ भारत में घर कर गई हैं जो इसके लिए लज्जा का विषय हैं।

चारित्र्य मनुष्य का अमूल्य धन है, इसी के बल पर वह अपने खूंखार शत्रुओं को भी अपना अनुवर्ती बना लेता है। उसके प्रभाव से दूसरे भी अपनी दुष्प्रवृत्ति छोड़ देते हैं।

इसलिए जीवन में सफलता चाहने वाले व्यक्ति को इस चारित्र्यरूपी रत्न की रक्षा अवश्य करनी चाहिए।

स्वास्थ्य :—जिस शक्ति से शरीर और मन स्वाभाविक रूप से विकसित हों और यथासमय अपना कार्य कर सकें, उस शक्ति को स्वास्थ्य कहते हैं। इसके बिना शरीर कार्य करने में असमर्थ हो जाता है, जीवन के करने योग्य कार्य रुके रह जाते हैं। उद्देश्यों की पूर्ति असफल हो जाती है।

शरीर आत्मा का मन्दिर है। आत्मा सबसे बड़ा देवता है, उसके मन्दिर को स्वच्छ और निर्दोष रखना आवश्यक है। इसी मन्दिर में मन और विचार शक्तियां निहित हैं।

ईश्वर ने यह शरीर-यन्त्र ऐसा दिया है जिसको प्राकृतिक नियमों के द्वारा अपने वश में करके असम्भव कार्य भी किये जा सकते हैं योगी लोग इसको वश में कर असाधारण शक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

शरीर की स्वस्थता के लिये प्रकृति की ओर से बहुत कुछ साधन दिये गये हैं। स्वच्छ वायु, निर्मल जल, पोषक अन्न आदि सामग्रियां दी हैं। इसके अतिरिक्त कुछ नियम भी हैं जिनका पालन आवश्यक है। परन्तु मनुष्य स्वास्थ्य के उन प्राकृतिक नियमों का अपनी असावधानी से उल्लंघन करके पुनः भाग्य को दोष देते हैं। प्रकृति कुछ चिकित्सा स्वयं करती है, जैसे ज्वर द्वारा पसीने के रूप में मल बाहर को निकालना, अरुचि द्वारा उपवास कराना आदि। पर हमारा भी तो कुछ कर्त्तव्य है। उसका पालन न करने के कारण ही मनुष्य निरन्तर रोगी होता है और अकाल ही काल ग्रास हो जाता है।

प्रकृति की ओर से मुक्त वायु, निर्मल जल, स्वतन्त्र और विस्तृत आकाश, वन, उपवन आदि सुन्दर दृश्य मन और शरीर की ताजगी के ही साधन मिले हैं। फूलों के सौन्दर्य से मन को प्रसन्न करना चाहिए। खूब हंसना खेलना चाहिये। बेकार न बैठकर परिश्रम करना चाहिये। जितना अधिक परिश्रम किया जाय, शरीर अधिक से अधिक स्वस्थ रहेगा। अपने हाथ से परिश्रम करने में संकोच न करना चाहिये।

अच्छे आचार विचार रखे जायँ, ठीक आहार विहार किया जाय। स्वाद के लोभ में गरिष्ठ या जठराग्नि बिगाड़ने वाले पदार्थ न खाये जायँ। अधिक ठूँस कर न खाया जाय। इसके अतिरिक्त मनुष्य को प्रसन्नचित रहना आवश्यक है। रात दिन उदास और सुस्त रखना स्वास्थ्य को बिगाड़ने का साधन है। क्योंकि विचार का स्वास्थ्य पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि मनुष्य अपने आप को स्वस्थ रहने पर रोगी समझने लगे तो शीघ्र ही सचमुच रोगी हो जायगा।

इसलिये स्वस्थ मन, स्वार्थ आहार विहार स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं।

संसार में रहते हुए जिस व्यक्ति की इच्छा हो कि वह कुछ काम करके दिखाये, उसे अपने मन और शरीर को निरन्तर स्वस्थ रखने का प्रयत्न करना चाहिये, अन्यथा वह कुछ भी न कर पायेगा। उसकी आशायें मन की मन में रह जायंगी।

जीवन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः—संसार में मनुष्य का जन्म उत्पन्न होकर बिना कुछ किये कराये अनेक प्रकार के कष्ट भोगकर योंही मर जाने के लिये नही है। वह हुआ अमृत का, कभी न मरने वाले अमर पुरुष का पुत्र है। अमर की सन्तान भी अमर ही होनी चाहिये।

मनुष्य अपने अनियमित आहार विहार के कारण शारीरिक प्रकृति को बिगाड़ देता है। इसी कारण वह रुग्ण होता है। उसकी आयु कम हो जाती है। इसलिये उसे प्रयत्न करना चाहिए कि वह नीरोग रहे, स्वस्थ रहे। अपनी दुर्बलता के कारण ईश्वरदत्त शक्तियों को नष्ट करे। वेदवाणी उसे आह्वान करती है कि आओ दीर्घजीवी बनो, पुरुषार्थ करो, मृत्यु के वश में न जाओ।

निर्बल पुरुष आत्मा को नहीं पा सकता, उसकी शक्तियों का लाभ नहीं उठा सकता। उसे अपनी ही भूल के कारण उत्पन्न की हुई अवस्था से ऊपर उठना चाहिये।

जीवन कला:—जीवन एक कला है। जिस प्रकार सुन्दर चित्र में किसी पशु-पक्षी को सचेष्ट सा प्रतीत होते देख उस चित्रकारी को कला के नाम से पुकारते हैं, उसी प्रकार इस मनुष्य-जीवन में विचार-शक्ति और कार्य-शक्ति के प्रतीक मन, बुद्धि और शरीर तीन तत्त्वों का समन्वय कला का रूप धारण कर लेता है। परन्तु यदि इस का उपयोग कला के रूप में ही किया जाय तो ही यह कला कहने योग्य है। जिससे जीना आ जाय वही कलाकार है। जीना आये बिना विद्या, ज्ञान और धन आदि व्यर्थ हैं। इनका उपयोग वही जानता है जो जीना जानता है।

जीवन को कला रूप तभी प्राप्त होगा जब कि मन अच्छे, विचारों

और आदर्शों से भरा हो, स्वार्थ भावना से शून्य हो, कर्म मार्ग में दृढ़ रहे, बुरे विचारों पर अंकुश रखे। शरीर नीरोग, सबल और कार्य करने में समर्थ हो, सम्पूर्ण अंग पुष्ट हों। विचारों को लक्ष्य की ओर प्रेरित करने वाली, गहन से गहन समस्याओं को समझ सकने वाली, निर्मल बुद्धि हो। इन तीनों का समन्वय ही कला के रूप में आयेगा।

जब मनुष्य जीवन का महत्त्व जान लेगा। "जीओ और जीने दो" के सिद्धान्त का पालन करेगा। सबलता और सम्पन्नता के नाम पर दुर्बल और दीनों को न सतायेगा, उनके भी जीवन का सम्मान करेगा, जीवन के विषय में जो सिद्धान्त वह मानता है, उन पर चलेगा, उसके मन, वाणी और कार्य तीनों में एकता होगी, तभी जीवन वास्तव में कला का रूप ले सकेगा।

अभी तक जीवन के विषय में दृष्टिकोण नहीं बदला है। मनुष्य ज्ञान की विशेष कोटि विशेष ज्ञान अर्थात् विज्ञान के भी गहन भाग तक पहुँच चुका है, तथापि जीवन का महत्व उसने अभी नहीं समझा। वास्तव में आध्यात्मिकता की ओर उसकी दृष्टि नहीं पहुँची है। भौतिक सुखों को ही उसने अधिक से अधिक आदर दिया है। इसी भौतिक उपासना के कारण उसका विज्ञान अनेक भयानक अस्त्र बना रहा है जो प्राचीन अस्त्रों से १०० गुना संहारक हैं। आज मनुष्य प्रेम, सहानुभूति, त्याग और सेवा का भाव भुला बैठा है।

उसे वही भारतीय भावना "सब सुखी हों, नीरोग हों, कोई दुःखी न हों" अपनानी होगी। तभी कल्याण होगा। शीघ्र ही यह प्राचीन समाज-व्यवस्था नष्ट होगी और नये सिरे से व्यवस्था होगी। इसके लिये नये मनुष्य चाहियें जो जीवन को कला मान कर उन आदर्शों का पालन करने को उद्यत हों, नये दृष्टिकोण अपनायें।

नवीन जीवन के ये चार आदर्श रखे गये हैं, १—पूर्ण सचाई, व ईमानदारी, २—पूर्ण-पवित्रता, ३—पूर्ण स्वार्थहीनता ४—पूर्ण प्रेम।

इनका पालन तभी सम्भव है जब कि हृदय में दृढ़ विश्वास और निश्चय किया जाय, ईश्वर में सच्चा विश्वास हो। ईश्वर से सद्‌बुद्धि के

लिये प्रार्थना करें। तभी मनुष्य मात्र की मनोवृत्ति का सुधार होगा।

सद्विद्या :—विद्या उस साधन को कहते हैं जिसके द्वारा मनुष्य को वस्तुओं का ज्ञान हो जाय। इसी कारण विद्या को ज्ञान भी कह सकते हैं।

विद्या दो प्रकार की मानी गई है, १-परा, २-अपरा। इनमें संसार के कर्मकाण्ड सम्बन्धी तथा लौकिक ज्ञान करने वाली विद्या अपरा कहलाती है। इसमें भौतिक और रसायन शास्त्र के साथ २ आधुनिक सम्पूर्ण विज्ञान भी सम्मिलित है।

दूसरी परा ब्रह्मविद्या कहलाती है जिसके द्वारा आत्मज्ञान होता है।

भारतीय ऋषियों ने मनुष्य जीवन का फल केवल भौतिक सुख न मानकर, पारमार्थिक कल्याण मुख्य पुरुषार्थ माना है। प्रायः मनुष्य इस भूमि पर मिलने वाले आहार-विहार आदि के सुखों को ही सुख मान लेता है। इसी ज्ञान को देने वाली अपरा विद्या को पढ़कर वह अपने का विद्वान् और ज्ञानी मान बैठता है।

यहाँ के शिक्षक भी केवल उन्हीं बन्धनों में गेरने वाली लौकिक शिक्षा लोगों को देते हैं। वास्तविक ज्ञान उन्हें भी नहीं है। सांसारिक व्यक्ति उन्हीं को सर्वदर्शी मानकर चलते हैं। माया के चक्कर में पड़े हुए उन लोगों की वही दशा है जोकि अन्धे के सहारे चलने वाले अन्धों की होती है।

इसलिये जो लोग कल्याण चाहते हैं उन्हें सत्य ज्ञान देने वाली उस परा-विद्या का अध्ययन करना चाहिये। अपरा को पढ़ें परन्तु केवल लौकिक जीवन के निर्वाह के लिये। वास्तविक ज्ञान और परमार्थ की प्राप्ति उसी परा-विद्या से होगी जोकि आत्मा का सत्य रहस्य बतायेगी।

शिक्षण और उसका मर्म :—प्रत्येक मनुष्य के मन में जानने की इच्छा रहती है। वह ३ प्रकार की होती हैं। १-यह क्या है? २-क्यों है? ३-कैसे है? इन तीनों में ही ज्ञान का महत्त्व होता है। जिज्ञासा ज्ञान का बीज है और ज्ञान जिज्ञासा का फल, शिक्षा

का उपयोग है अधिक से अधिक जिज्ञासा को जागृत करना और अच्छे संस्कार डालना।

जीव मात्र में प्ररणा और सामाजिकता ये दोनों प्रवृत्तियाँ रहती हैं मनुष्य में विचार-शक्ति अधिक रहती है, यह उसकी अन्य जीवों से विशेषता है। बुद्धि के उचित उपयोग से ज्ञान की वृद्धि हो जाती है। ज्ञान का अर्थ है किसी वस्तु के भीतरी बाहरी तत्वों को जानकर उचित रूप से उसका उपयोग करना। सारांश में प्राप्त ज्ञान को स्वयं प्रयोग में लाना शिक्षा का उपयोग है। यदि शिक्षित अपनी पाई शिक्षा का स्वयं पालन नहीं करता तो उसकी शिक्षा अधूरी है।

आजकल शिक्षकों में स्वयं चरित्र-बल नही पाया जाता जिसकी वे शिक्षा देते हैं। अध्यात्म विद्या पढ़ाने पर भी स्वयं उनके जीवन में उसका कोई उपयोग या प्रभाव नहीं है। उनका ज्ञान वास्तव में पुस्तकीय ही है।

कारण यह है कि आजकल साक्षर और शिक्षित का एक ही अर्थ माना जाता है जोकि भ्रम है। केवल पढ़ा-लिखा और उसके अनुसार न चलने वाला व्यक्ति जिसे जीवन के व्यवहार का ज्ञान होता ही नहीं, साक्षर कहलाता है। शिक्षित तो ज्ञानी और ज्ञान के अनुसार चलने वाला व्यक्ति ही होता है। निरक्षर व्यक्ति भी शिक्षित हो सकता है। ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो लोक-व्यवहार में सब प्रकार से चतुर परन्तु अपढ़ हैं। कबीर और रामकृष्ण परमहंस ऐसे ही शिक्षित थे।

शिक्षा वास्तव में सामाजिक जीवन से ही प्राप्त होती है। पाठशाला में तो साक्षरता प्राप्त होती है।

आजकल की साक्षरता रूप शिक्षा का यही वास्तविक उपयोग लाभ है कि उससे जिज्ञासा बढ़ जाती है। बुद्धि और मानसिक शक्तियों को एक ओर केन्द्रित किया जा सकता है। साथ ही संसार के महापुरुषों के विचार, जीवनीय अनुभव पुस्तकों में संगृहीत है। पुस्तकों के अध्ययन से भिन्न २ युगों के संघर्षों और ऐतिहासिक जीवन सम्बंधी प्रगति का ज्ञान होता है।

वास्तविक शिक्षा वही है जिस के द्वारा मन, बुद्धि और शरीर का यथार्थ उपयोग करने का ज्ञान हो जाय। जब तक इस तथ्य के अनुसार आचरण न होगा, लोग यूँ ही अन्धकार में भटकते रहेंगे। वास्तविक प्रकाश मिलना असम्भव होगा।

जीवन और शिक्षण :—आजकल की शिक्षा-प्रणाली में शिक्षा का अर्थ केवल अक्षरज्ञान या साहित्यिक-ज्ञान रह गया है। पढ़ने के दिनों में शिक्षार्थी को व्यवहार-ज्ञान से सर्वथा शून्य रखा जाता है, लोग कहते हैं कि शिक्षा के अवसर पर शिक्षार्थी को किसी कार्य में भाग न लेना चाहिए।

परन्तु यह सर्वथा भ्रम है, पुस्तक में केवल अर्थ-ज्ञान होता है, वास्तविक ज्ञान तो जीवन में ही प्राप्त होता है। ज्ञान क्रिया के बिना भार है। जो लोग पढ़ते समय क्रिया शून्य रहते हैं, कालेज से बाहर आकर कर्मक्षेत्र में पहुँचते ही उनके हाथ पाँव फूल जाते हैं। या तो उन्हें कार्य करना ही नहीं आता या उनकी क्रियाशक्ति नष्ट हो चुकी होती है।

क्रियात्मक शिक्षण का आदर्श विज्ञान से ग्रहण करना चाहिए। यदि विज्ञान के विद्यार्थी को केवल थ्योरियां रटा दी जायँ तो क्रियाक्षेत्र में वह सफल न होगा।

यही अन्य प्रकार की शिक्षा का हाल है। वर्त्तमान शिक्षाप्रणाली में एक दोष यह भी है कि वह पढ़ते २ शिक्षार्थी को अभिमानी बना देती है। वह अपने हाथ से कार्य करने में लज्जा का अनुभव करता है। उसे नौकरों से कार्य कराने का स्वभाव पड़ जाता है। केवल बैठे २ कार्य करने की नौकरी ढूँढता है। इस कारण भी आजकल बेकारी बढ़ जाती है।

प्राचीन काल में ऋषियों के गुरुकुलों में राजा और प्रजा, धनी और निर्धन सभी के वालक साथ २ बैठ कर प्रेम से बिना किसी भेद भाव के विद्याध्ययन करते थे। उनका शिक्षण क्रियात्मक अधिक रहता था, अक्षर-ज्ञान कम। तभी वे कर्म-क्षेत्र में आकर कभी अड़ते न थे। जब तक वही

प्रणाली और वे ही आदर्श न अपनाये जायेंगे, वास्तविक शिक्षा प्राप्त न होगी।

वास्तव में जीवन भी एक शिक्षण-काल ही है। अतः कार्य के सामने ही उपदेश कार्य करता है। युद्ध के बीच ही अर्जुन को गीता का उपदेश दिया गया था। इसलिये कोरी साक्षरता किसी काम की नहीं।

शिक्षक और शिक्षार्थी :—प्राचीन काल में शिक्षा-स्थान प्रकृति उन्मुक्त वातावरण, नगरों और वस्तियों से सर्वथा दूर वनों में होते थे। वह एक व्यक्ति की न होकर सार्वजनिक सम्पत्ति होती थी। शिक्षार्थियों से कोई शुल्क न लिया जाता था, राजा और रंक में कोई भेद भाव न था। आज की भांति वेतन भोगी शिक्षक न थे। शिक्षणालय बड़ी २ अट्टालिकाओं में न होकर झोपड़ों में रहते थे।

उस समय केवल आचार्य का अनुशासन आवश्यक था। आचार्य वही होता था जो आचार ग्रहण कराए। आचार और विचार का नित्य सम्बन्ध है। बिना विचार के आचार अन्धा है और आचारशून्य विचार भी कोरा अक्षरज्ञान है। आचार्यों का शुद्ध आचरण ही छात्रों के लिये आदर्श और अनुशासन था। आज की भाँति उस समय दूषित परीक्षायें नहीं थीं। योग्य आचार्य का शिष्यत्व ही सब से बड़ा प्रमाणपत्र होता था। उनके कार्य में किसी का अंकुश नहीं था। कोई राजनैतिक हस्तक्षेप वहाँ की शान्ति भंग न कर सकता था।

आजकल शिक्षक वेतन भोगी हैं। वेतन के मापदण्ड से वे शिक्षा वितरण करते हैं। उनमें भी कोरा साहित्य-ज्ञान होता है। आचार से स्वयं शून्य रहते हैं। लोभी होने के साथ २ भ्रष्टाचारी होते हैं।

शिक्षक शिक्षार्थी दोनों का गहरा सम्बन्ध पड़ता है। उनका व्यवहार शिक्षार्थियों की प्रकृति बन जाता है। आजकल के छात्र अनुशासन हीन रहते हैं। उसका कारण ये शिक्षक ही हैं। बहुत से शिक्षक मार-पीट और धमकी से ही बालकों को अनुशासन में रखना चाहते हैं। परंतु ऐसा करके वे उनमें भय और आतंक भर कर उन्हें दब्बू बना देते हैं।

शिक्षक को शिक्षण-काल में भी शिक्षार्थियों से कुछ सीखने की मनोवृत्ति रखनी चाहिए। शिक्षार्थी को अच्छा या बुरा बनना शिक्षक के हाथ की बात है। शिक्षार्थी के जीवन की कुंजी शिक्षक के पास होती है। इस तथ्य को समझने की आवश्यकता है।

आज जीवन जटिलताओं से भर गया है। उसमें व्याकपता आ गई है, इसलिये शिक्षा पद्धति में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। शिक्षण अब वनों से निकल कर मुक्त गृहों और विशाल भवनों तक पहुँच गया है। बुद्धि के विकास के साथ ज्ञान की वृद्धि भी हुई है। परन्तु खेद यही है कि नैतिकता की अभी कमी है। इसमें संसार पिछड़ा हुआ है। नैतिकता के बिना कोई भी सुधार लाभप्रद न होगा।

अभी तक संसार भय और आतंक की भाषा में सोचता है, दण्ड के द्वारा अनुशासन चाहता है, हृदय की नैतिकता पर उसे विश्वास नहीं।

इसलिये शिक्षक और शिक्षार्थी का सम्बन्ध उदार और आदर्श-मय होना चाहिये। तभी शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण होगा। शिक्षक अपना उत्तरदायित्व समझ जायेंगे उसके अनुसार आचरण करेंगे। अपने छात्र समाज के लिये वे आदर्श बन जायेंगे।

व्यक्ति और समाज :—प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है, वह अनेक उचित अनुचित कार्य करता है केवल सुख प्राप्ति के लिये। परंतु हम उसे सुखी नही देखते। इसका क्या कारण है ? वास्तव में इसके कारण हैं समाज के साथ उसके उचित संबन्धों का विच्छेद।

व्यक्ति समाज की इकाई है, अनेक व्यक्तियों का समाज, राष्ट्र और साम्राज्य बनता है। 'एकोऽहं बहु भविष्यामि, अर्थात् मैं एक अनेक हो जाऊँ। इस भावना से व्यक्ति विवाह करके सन्तान उत्पन्न कर कुटुम्ब निर्माण करता है। कुटुम्बों से जाति, जाति से समाज, समाज से ग्राम, नगर और देश बनते हैं। जब उसका कुटुम्ब और जाति के रूप में विस्तार हो जाता है तो उसकी स्वता संकुचित होने लग जाती है। वह जाति के समक्ष कुटुम्ब को, समाज के समक्ष जाति को देश के अन्य

जसमूह के समक्ष अपने समाज को प्राथमिकता देता है।

जिस आत्मविकास और आत्म-रक्षा की भावना से उसने समाज की नींव डाली, उसी भावना को लेकर समाजों में संघर्ष उत्पन्न होते हैं, बड़े २ युद्धों का जन्म होता है। इन्हीं कारणों से राष्ट्र और राजसत्ता का जन्म होता है।

समाज का जन्मदाता व्यक्ति ही है। उसीने अपने सुखों के लिए अपने बहुत से अधिकार समाज को दे दिये। वे अधिकार वापिस मिलने कठिन हैं। जब व्यक्ति समाज से अपने अधिकार लौटाता है तभी संघर्षों ने युद्ध, सर्वनाश और विध्वंस को जन्म दिया है। वह समाज का या तो युद्ध के रूप में विरोध करता है या कुछ का समर्थन करके उनके समर्थन से बल प्राप्त करता है। इस प्रकार समाज में वर्ग बन जाते हैं। जितने वर्ग-भेद बढ़ते हैं उतनी ही गुनी अशान्ति और संघर्ष बढ़ते हैं।

समाज़ और व्यक्ति की नियमित व्यवस्था ही उचित है। उसने जो अपने स्वार्थों की रक्षा के लिये राष्ट्र और राज्य-सत्ता के नाम से राज-नैतिक संगठन किये हैं, उनका दुरुपयोग न हो। इसलिये व्यक्ति समाज के और समाज व्यक्ति के अधिकार हड़पने की चेष्टा न करे। न तो व्यक्ति द्वारा ही समाज की उपेक्षा उचित है, न समाज द्वारा व्यक्ति की। दोनों का ही परिणाम भयानक हो जाता है। दोनों अपने अपने कर्तव्यों और अधिकारों का उचित उपयोग और पालन कर। यही मानव समाज के लिये सुख-शान्ति का मूल होगा।

यह ठीक है कि प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा भिन्न होगी जो कि सम्पूर्ण ही सफल नहीं होतीं, तथापि एकमात्र समझकर व्यक्ति की उपेक्षा न करनी चाहिये। व्यक्ति मूल है, समाज वृक्ष है।

समाज व्यक्ति को उचित सहयोग और अवसर देकर उसके विकास के लिये प्रयत्नशील हो, व्यक्ति भी अपने कर्तव्यों का पालन करता हुआ समाज को शक्तिशाली बनाये, उसकी उन्नति करे। समाज की उन्नति में व्यक्ति की उन्नति है और समाज के ध्वंस में व्यक्ति का। इस तथ्य को

हृद्गत कर दोनों को अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व निभाने चाहियें।

संसार में आजकल संघर्ष हो रहे हैं। उसका कारण यही है कि समाज और व्यक्ति के भिन्न २ नियम हैं। व्यक्ति के लिये लूट-मार, हत्या सब अपराध हैं परन्तु राष्ट्र अपने से दुर्बल राष्ट्रों को आक्रमण से नष्ट करते हैं, वहाँ की प्रजा का शोषण करते हैं, एक युद्ध में लाखों व्यक्ति मारे जाते हैं। अधिक हत्या करने वाले को वीर और पराक्रमी का सम्बोधन दिया जाता है। व्यक्ति को सत्य बोलने के लिये दबाया जाता है परन्तु राष्ट्र स्वयं कूटनीति के नाम पर झूठ से ही सारा कार्य करते हैं।

इसलिये समाज और व्यक्ति दोनों के लिये एक ही नियम हो, एक ही रीति से पालन किया जाय। तभी व्यक्ति २ समाज २ तथा व्यक्ति और समाज सुख शान्ति से रह सकते हैं।

हमारा सामाजिक जीवन :—सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य का सामूहिक भाषा में सोचना और बोलना कर्तव्य है। अकाल के दिनों में अन्न छिपाकर रखना, वस्त्राभाव के दिनों में वस्त्र छिपाकर ऊँचे मूल्य में बेचना, खाद्य पदार्थों में मिलावट आदि आज अनेक भीषण अपराध हो रहे हैं। इन सब की जड़ में व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना कार्य कर रही है। यह समाज के नाश का कारण होगी। अपनी आवश्यकता से अधिक धन संचय जो कि औरों की आवश्यकता पूर्ण करने योग्य होता है परन्तु संग्रह करने वाले के किसी उपयोग का नहीं होता, केवल अन्याय का कार्य है। दूसरों के हानि लाभ का ध्यान न रखकर केवल अपने स्वार्थ की भावना से सोचना मानवता के लिये अहित-कर है।

समाज को इन बुराइयों को रोकना तो चाहिये ही, उससे पूर्व ऐसे लोगों की मनोवृत्तियों को सुधारना चाहिये, उचित व्यवस्था करनी चाहिये। 'जीओ और जीने दो' की भाषा में सोचना चाहिये।

नागरिक ज्ञान और कर्तव्य :—जिस प्रकार समाज का अंग

व्यक्तिगत कहलाता है, उसी प्रकार एक राष्ट्र का व्यक्ति नागरिक कहलाता है। राष्ट्र के प्रति उस नागरिक के कुछ कर्तव्य होते हैं जिनका उसे पालन करना होता है, इसके बदले नागरिक को राष्ट्र की ओर से कुछ सुविधायें मिलती हैं जो उसके अधिकारों के अन्तर्गत आती हैं। जैसे जीवन और धन की सुरक्षा। सांस्कृतिक और सामाजिक विकास की सुविधाये, आपत्तियों से संरक्षण आदि।

समाज का ही राजनैतिक संगठन राष्ट्र कहलाता है। नागरिक होने के नाते राष्ट्र के प्रति उसकी पूर्ण निष्ठा होनी आवश्यक है। इसके लिये उसका कर्तव्य होता है कि वह ऐसा कोई कार्य न करे जिससे राष्ट्र के स्वास्थ्य, अर्थ या सार्वजनिक जीवन की हानि हो। प्रत्येक कार्य यह देखकर करना चाहिये कि इससे किसी को कोई कष्ट तो नही होता। जहाँ तहाँ कूड़ा फेंकना, घरों को गन्दा रखना, गन्दी वस्तु बेचना, अनुचित शब्दों का प्रयोग आदि ऐसी बातें जिनसे सार्वजनिक हानि होती है, कभी न करने चाहियें।

गाँवों में गलियाँ, रास्ते गोवर और मल-मूत्र से गंदे रहते हैं, लोग जहाँ तहाँ टट्टी फिर देते हैं, शहरों में नालियों में मैला बहता रहता है। ऊँचे मकानों से सड़कों पर कूड़ा फेंक दिया जाता है, आदि २ सामाजिक अपराध हैं। इन बातों से सार्वजनिक स्वास्थ्य की हानि होती है। चोर-बाजारी से जनता की आवश्यकतायें पूर्ण नहीं होतीं। प्राणहानियाँ हो जाती हैं। इस प्रकार राष्ट्र का वल घटता है। संकुचित स्वार्थी मनोवृत्तियाँ छोड़कर मनुष्य का सामूहिक कल्याण की भावना से सोचना ही उचित होता है। राष्ट्र के प्रति निष्ठा रखने वाले नागरिक इस प्रकार के अनुचित कार्य कभी नहीं करते।

ऐसे नागरिक ही आदर्श नागरिक कहाते हैं।

हमारा देश :—प्राचीन देश, सभ्यता, संस्कृति और ज्ञानगरिमा की दृष्टि से प्राचीन। आका[illegible] जन-संख्या से भी विशाल।

जन-संख्या लगभग [illegible] संसार की जन-संख्या का पंचमांश। चीन के [illegible] न-संख्या। २००० मील

चौड़ा, बीस लाख वर्गमील क्षेत्रफल। रूस को छोड़ सम्पूर्ण यूरोप के बराबर।

उत्तर में हिमालय, रेगिस्तान की आँधी से रुकावट। दक्षिण में व मध्य में अनेकों पर्वत, गंगा, यमुना आदि अनेक नदियाँ, अनेक तीर्थ, एक साथ विभिन्न ऋतुएँ। विभिन्न आकृति, विभिन्न वर्ण, विभिन्न धर्म वाले मनुष्य, खनिज सम्पत्ति का प्राचुर्य उर्वरा भूमि।

परिश्रम के अभाव में दीन दशा, विशाल भूमि होने पर भी भूखे नंगे। संसार से अधिक गरीबी।

परिश्रम से उद्धार की प्रतिज्ञा उचित।

भारतीय संस्कृति की मूलधारा :—संस्कृति किसी जाति के उच्च आदर्शों और विचारों की सूचक है। भारत के ऋषियों ने आत्म-दर्शन और आत्म-शुद्धि को ही जीवन का प्रमुख लक्ष्य माना था। उनके विचार के अनुसार जगत् में दृश्यमान लौकिक जीवन व उसकी अवस्थायें परिवर्तनशील हैं, परन्तु सर्वदा नित्य आत्मा की शक्ति ही ऐसी है जो त्रिकाल में अंतः प्रेरणा करती रहती है। इस आध्यात्मिकता के कारण हमारी संस्कृति भौतिक भोगों से ऊपर है, अनासक्त है। इननश्वर पदार्थों के मोह में पड़ने के लिये मानव को वह आदेश नही देती।

यह संस्कृति कल्पना की असत्य भूमि पर नही प्रत्युत-चरम सत्य की प्रत्यक्ष-भूमि पर ही स्थिर है। यह ऊपर से उठ कर नीचे नहीं झुकती, इस भोग भूमि से त्याग द्वारा उसी चरम सत्य की ओर पहुँचने का संकेत करती है। इसीलिये इसमें स्वार्थ त्याग और लोक कल्याण पर विशेष वल दिया है।

मानव-समाज की दो प्रवृत्तियाँ हैं। केन्द्र की ओर अर्थात् आत्मा की ओर बढ़ने वाली, दूसरी केन्द्र से निकल कर बाहर की ओर चलने वाली। भारत की संस्कृति मूलकेन्द्र आत्मा की ओर झुकी है, वह आत्मा की शुद्धि, आत्मा की साधना पर ही बल देती है। उसे आत्मा की शक्ति पर ही भरोसा है। अपनी आत्मा की शुद्धि द्वारा ही वह लोक-कल्याण करती है।

इसके विपरीत पश्चिमी संस्कृति आत्मा की ओर से निकल कर संसार की ओर बढ़ती है, आत्म-शुद्धि के बिना ही, पर कल्याण का प्रयत्न करती है। परंतु जब तक मनुष्य अपने आप में शुद्ध चरित्र और दृढ़ निष्ठा वाला न हो, औरों को क्या उपदेश देगा। स्वयं जब तक स्वार्थ परायण मनोवृत्ति को न छोड़े तब तक औरों का कल्याण कैसे करेगा। यह विचारणीय विषय है।

विद्या, बुद्धि और धन की महत्ता भारत ने भी स्वीकार की, इस दिशा में भारत कभी पीछे नहीं रहा। उसने भौतिक-विज्ञान में आश्चर्य जनक उन्नति की थी। चिकित्सा, शरीर-रसायन आदि सभी विद्यायें यहाँ थीं। परन्तु इन सभी का प्रयोजन भी वही त्याग में केन्द्रित था। आज की भांति संसार के संहार के लिये नहीं।

भारतीय संस्कृति को व्यक्ति प्रदान न समझना चाहिये। व्यष्टि समष्टि का ही अंग है, सरल अर्थ कई छोटे अंशों से महान् की उत्पत्ति होती है। आत्मा का 'स्व' भाव अर्थात् अपना मन "मैं हूँ" इसको पहचानना मुख्य है। एक व्यक्ति का स्वभाव समुदाय के अस्तित्व का एक अंश है। वह अंश अंत में महान् समुदाय में ही जाकर एकत्रित होता ह। एक व्यक्ति मानव-समाज का एक छोटा अंग हुआ। वह प्रथम आत्म-कल्याण करके अपने आप को पहचान कर विस्तार की ओर बढ़ता है। यही इसका मूल रहस्य है। नीचे गिरा हुआ व्यक्ति दूसरे को क्या उठायेगा। पश्चिमी संस्कृति का दृष्टिकोण ही भोग-प्रधान है, वह ऐहिक विभूतियों को ही सब कुछ मानती है। आत्मतत्व की ओर वहाँ बल नहीं दिया जाता।

भारतीय तो प्रत्येक कार्य में परमार्थ में त्याग भाग में सर्वस्व-समर्पण पर बल देते हैं। उनकी सिद्धियों और ऋद्धियों का यही उपयोग है।

इसकी भावना है—सब सुखी हों, नीरोग हों, सब का कल्याण हो, कोई भी दुःख न पाये।

भारतीय संस्कृति के प्रतीक

श्री राम :—मर्यादा-पुरुषोत्तम, सामाजिक आदर्श और मर्यादाओं के प्रतीक। सूर्यवंश में जन्म, उदार गुणों से पूर्ण। राज्य पाने के समय वनवास पाने से हर्ष न शोक, वन में अनेक संकट सहना, अत्याचारियों का दमन, दक्षिण भारत में फैले रावण के आतंक का प्रतीकार, शबरी, भील आदि दलितों का उद्धार, शरणागत की रक्षा। पत्नी का त्याग।

आदर्श भाई, आदर्श राजा, पितृ-प्रेम, भ्रातृ-प्रेम और पत्नी-प्रेम कर्तव्य का बाधक नहीं आजीवन अन्याय का प्रतीकार पददलित को ऊँचा उठाना, संघर्षों में अनुद्विग्न जीवन, प्रचलित सामाजिक नियमों का पालन कराने वाला प्रतीक।

श्रीकृष्ण :—नवीन क्रम से सामयिक आवश्यकता के अनुसार मर्यादा और सामाजिक व धार्मिक व्यवस्था करना। सम्पूर्ण देश में फैले धर्मह्रास का प्रतीकार। आसुरी शक्तियों के नाश के लिये व्यापक क्रान्ति, केवल दूसरों के लिये जीवन, आजीवन, संघर्ष। धर्म और त्याग का पक्ष, अधर्म का नाश। क्रान्तिकारी प्रवृत्ति, आसुरी शक्तियों का नाश कराकर महाराष्ट्र महाभारत की स्थापना। द्रौपदी के स्वयंवर में अर्जुन का पक्ष, उनकी सहायता, कौरवों के अत्याचार से द्रौपदी की रक्षा। दुर्योधन द्वारा आधा राज्य न देने पर महाभारत युद्ध कराना, धर्मराज्य की स्थापना कराना। इस प्रकार क्रान्तिपूर्ण जीवन।

महावीर :—कुण्डिनपुर के राजा के यहां जन्म, तीस वर्ष की अवस्था तक राजधर्म का पालन, गृहस्थोचित कर्तव्यों का अनुष्ठान, अचानक पूर्व-जन्म संस्मरण, गृहत्याग। अनेक तीर्थयात्रा, ईसा से ५५७ वर्ष पूर्व जम्मक गांव में ऋजुकुल नदी के तट पर कैवल्यज्ञान। भ्रमण कर उपदेश प्रचार, अनुयायी जैन, जैनधर्म-प्रवर्तक। जैन साधुओं में अपरिग्रह का भाव अभी तक वर्तमान, सम्पूर्ण जीवन लोक-कल्याण में व्यतीत। मोक्ष-प्राप्ति मुख्य कर्तव्य, यज्ञादि व्यर्थ, मनुष्य की समानता।

बुद्ध :—कपिलवस्तु का राजा शुद्धोदन पिता, जन्म नाम सिद्धार्थ, बचपन से विरक्त, गोपा के साथ विवाह, पुत्र जन्म, नगर भ्रमण में वृद्ध, रोगी, मृत मनुष्य के दर्शन, वैराग्य, रात्रि को गृह-त्याग। मगधराज्य प्रवेश, उदक आदि मुनियों से योगशिक्षा, असन्तोष, गहन तप, पुनः मध्यम मार्ग आलम्बन, अन्त में पीपल के वृक्ष के नीचे ज्ञान-प्राप्ति। भ्रमण कर उपदेश देना। अस्सी वर्ष में देह-त्याग। उपदेश—१–संसार के रहने तक दुःख और क्लेश, २–दुःख का मूलकारण सांसारिक पदार्थों में आसक्ति, ३–निर्वाण-प्राप्ति का उपाय आत्म-संयम और इन्द्रिय निग्रह, ४–निर्वाण के अष्टचक्र साधन।

अष्ट चक्र :—१—सत्य में ध्यान, २—बुद्धि का सदुपयोग, ३—सत्कर्म में दृढ़ता, ४—सत्य सेवा, ५—सत्य विश्वास, ६—उच्च उद्देश्य, ७—मृदु भाषण, ८—सत्य व्यवहार।

धर्म की विशेषता—सामान्य मार्ग, जाति-बन्धन नहीं, विदेश तक प्रचार, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियों का निग्रह, नियताहार मुख्य प्रतिज्ञायें।

नैतिक सदाचार और पवित्रता के प्रतीक।

व्याख्येय अंश

नीचे लिखे सन्दर्भों की प्रकरण निर्देश करते हुए सारांश रूप में व्याख्या करो :—

१—'जीवन की गहराई में, किसी केन्द्रविन्दु पर, किसी तल पर दोनों को मिलना होगा। जैसे परिधि केन्द्रविन्दु से दूर दिखने पर भी उससे अभिन्न है, उसी का विस्तार है, तैसे ही मानव का निजी, विशिष्ट लक्ष्य सामान्य लक्ष्य निरतिशय आनन्द, सत्य, प्रकाश और अमृत की साधना के प्रति उन्मुख होना चाहिए। तभी आप में शक्ति का अधिष्ठान होगा; तभी आप में विद्युत की धारा प्रवाहित होगी।'

अर्थ :—जीवन के सामान्य लक्ष्य जो कि लौकिक जीवन निर्वाह

के साधन होंगे और विशिष्ट लक्ष्य जो कि जीवन-कल्याण के रूप में है, दोनों का गन्तव्य एक स्थान होना चाहिए। जीवन के गहरे रहस्य में बैठ कर दोनों एक कल्याण के साधन या मार्ग बनें। जैसे बाहरी घेरा बीच के केन्द्रस्थान से पृथक् होकर भी उसके चारों ओर होने से उसके समीप ही रहता है, ऐसे ही सामान्य लक्ष्य को भी सच्चे आनन्द की प्राप्तिरूप विशिष्ट लक्ष्य में मिल जाना चाहिए। तभी आत्मशक्ति प्राप्त होगी और चेतना में गति आएगी। कार्य करने में स्फूर्ति आयगी। लक्ष्यपूर्ति के लिए शीघ्र बढ़ोगे।

यह अंश 'जीवन का लक्ष्य' शीर्षक वाले निबन्ध से लिया गया है।

२—'आत्मविश्वास आत्मा के प्रति गहरी निष्ठा का अंग है। मनुष्य जितना आत्मनिष्ठ होता है, उसका आत्मविश्वास उतना ही बढ़ता है। आशा में फलासक्ति है। आत्मविश्वास में अन्तर्दर्शन है। आशा जीवन-वृक्ष की लताओं पर फैली फूलों की सुगन्ध है। आत्मविश्वास पृथ्वी के अन्तराल में दूर तक फैला हुआ वृक्षमूल है, जिससे वृक्ष खड़ा है, जिस से उसका अस्तित्व है और जिसके कारण वृक्ष के समस्त शरीर में रस और जीवन दौड़ता है।

अर्थ :—'आत्मविश्वास आत्मा के प्रति जो गहरा प्रेम और भक्ति होती है, उसका एक भाग है। जिसको अपनी आत्मा पर गर्व है, उसके गौरव को मानता है, वह अवश्य अपनी आत्मा की शक्ति में विश्वास करता है। आशा फल की ओर मनुष्य को बढ़ाती है परन्तु आत्मविश्वास लक्ष्य की, जीवन की गहराई का ज्ञान कराता है, रहस्य को बता देता है, तभी तो आशा होगी कार्यसिद्धि की। आत्मविश्वास जीवन का मूल है, आशा उस जीवन को सरस करती है। आत्मविश्वास से ही जीवन बना रहता है, उसमें गति और चेतना मिलती है। आत्मविश्वास मूल है, आशा आगे आकृष्ट करने वाली है।'

यह अंश 'आशा और आत्मविश्वास' शीर्षक वाले निबन्ध से लिया गया है।

हिन्दी-गद्य-निर्माण

प्रश्न १ :—साहित्य में गद्य का स्थान निरूपण करके उसकी अपेक्षा पद्य की अधिकता का कारण लिखिये।

उत्तर :—साहित्य संचित ज्ञान-राशि को कहते हैं। वह गद्य और पद्य दोनों में हो सकता है इसमें भी गद्य जनता के अधिक समीप होता है। क्योंकि पद्य की भाषा संक्षिप्त और अधिक भावनामयी होती है। उसमें कवितत्व का पुट विशेष रहता है। इसके विपरीत गद्य स्वतन्त्र होता है। विस्तृत होने के कारण उसमें भाव स्पष्ट शीघ्र हो जाते हैं। इसकी भाषा भी सरल होती है, नियम के अनुसार तो गद्य की भाषा बोलचाल के अधिक समान होती है। इसलिये उसे साधारण पढ़े लिखे भी समझ सकते हैं। पद्य के भाव समझने के लिये विशेष ज्ञान की आवश्यकता अधिक होती है।

भारतीय साहित्य में पद्य की प्रमुखता का कारण इसलिए बताते हैं कि प्राचीन लोगों की धारणा शक्ति अर्धविकसित की, अतः वे पद्य में कही गई बातें ही समझ सकते थे। परन्तु यह मत तो सर्वथा भ्रमपूर्ण है। क्योंकि वैदिक साहित्य और तत्कालीन अन्य साहित्य सभी पद्य में हैं तो इसका कारण उन्हें अर्ध बुद्ध नहीं कह सकते। वैदिक साहित्य में जैसा गूढ़ ज्ञान भरा पड़ा हैं, इसके लिये उन्हें साधारण बुद्धि का कैसे कह सकते हैं। इसके साथ ही अर्धशिक्षित व्यक्ति ऐसी पद्य रचना कर ही कैसे सकता है।

वास्तव में पद्य की अधिकता के ये कारण हैं :—

१—पद्य में संगीत का तत्व,

२—मनोरंजकता,

३—कण्ठस्थ करने में सुविधा,

४—संक्षिप्तता,

प्रश्न २ :—हिन्दी गद्य के विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त परिचय दीजिये ।

उत्तर :—जिस प्रकार हिन्दी का पद्य साहित्य विक्रम की ११ वीं शताब्दी में आरम्भ हुआ, इसी प्रकार गद्य का । परन्तु उस समय राजस्थानी का ही गद्य में प्रयोग होता था और गद्य का व्यवहार पत्रों, आज्ञा पत्रों, दान-पत्रों और शिला-लेखों में ही होता था । साहित्य के लिये केवल पद्य ही प्रयोग में आता था । ग्रन्थ के रूप में प्रथम गद्य-लेखक गुरु गोरखनाथ हुए । उनके अतिरिक्त वैष्णव गोसांइयों के भी एक दो गद्य ग्रन्थ मिलते हैं । १८वीं शताब्दी के अन्त तक लिखी गईं पुस्तकें ब्रज भाषा में ही थीं ।

खड़ीबोली का आरम्भ भी लगभग १३वीं शताब्दी के बाद ही हो गया था । अमीर खुसरो के पदों में सर्वप्रथम उसके दर्शन होते हैं । उन दिनों यह हिन्दवी के नाम से पुकारी जाती थी । इसके प्रचार में मुसलमान साधुओं और साहित्यकारों ने बहुत कुछ सहयोग दिया था । उनके अतिरिक्त कबीर आदि का भी बहुत हाथ रहा है । उस समय के मुसलमान सन्त हिन्दू मुस्लिम भेदभाव के रोग से ग्रस्त न थे । उन्होंने समान भाव से हिन्दवी को प्रयोग में लिया था । दक्षिण के एकनाथ, रामदास आदि ने हिन्दू सन्त मराठी मिश्रित खड़ीबोली में पद लिखे । वास्तव में भूषण आदि ने भी जो खड़ीबोली का प्रयोग किया केवल मुसलमानों के प्रकरण में ।

खड़ी बोली का गद्य में प्रयोग करने वाला प्रथम लेखक सैयद इन्शा अल्लाखां को कह सकते हैं । इन्होंने ठेठ हिन्दी का नमूना उपस्थित करने के लिये 'रानी केतकी की कहानी' लिखी । इसमें फारसी वाली चटक मटक खूब है । इसको दूसरी भाषा के शब्दों का प्रयोग न करने की प्रतिज्ञा करके लिखा है । हिन्दी-गद्य के जन्मदाता गिने जाने वाले शेष लेखक पं० लल्लूलाल, मुंशी सदासुख लाल और सदल मिश्र हैं जिन्होंने कि शुद्ध खड़ीबोली में गद्य-ग्रन्थ लिखने का साहस किया । परंतु इन्होंने ये गद्य साहित्य की दृष्टि से न लिखा था ।

इसके अनन्तर शिक्षा-विभाग में हिंदी के प्रवेश के लिये राजा शिव-प्रसाद ने प्रयत्न किया और गद्य में पुस्तकें स्वयं लिखीं तथा अपने मित्रों से लिखवाईं। मुसलमानों के विरोध के कारण इन्हें हिंदी में उर्दू का मिश्रण करना पड़ा, जिसके विरोध में राजा लक्ष्मणसिंह खड़े हुए। उन्होंने संस्कृतनिष्ठ हिंदी का पक्ष लिया। इसी विवाद के समय भारतेंदु हरिश्चन्द्र का उदय हुआ। उन्होंने दोनों मार्गों के बीच का मार्ग अपनाकर हिन्दी गद्य की भाषा का स्वरूप निश्चित कर दिया। उसमें भी जो कुछ त्रुटियाँ रह गई थीं, उनका परिहार पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने किया। इस प्रकार हिंदी गद्य परिष्कृत हो गया।

कुछ प्रमुख गद्य लेखक

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द :—ये पहले शुद्ध या संस्कृत-मिश्रित हिन्दी लिखते थे, बाद में मुसलमानों के विरोध से अपनी भाषा में फारसी का भी मिश्रण कर लिया। बाद में तो फारसी की भरमार हो गई। इनकी तीन शैलियाँ हैं। १—ठेठ हिन्दी, इसका नमूना 'नल दमयन्ती' आदि कहानियों में है। २—फारसी-प्रधान शैली, जैसे प्रस्तुत संग्रह में 'काश्मीर'। ३—संस्कृतनिष्ठ शैली, जैसे 'मानव धर्म-सार'।

राजा लक्ष्मणसिंह :—आप संस्कृत-मिश्रित हिन्दी के पक्षपाती थे। आपके मत में उर्दू और हिन्दी दो पृथक् २ भाषायें हैं। अपने मत के प्रचार के लिये 'प्रजा-हितैषी' नाम का समाचार-पत्र निकाला। आपकी हिन्दी का नमूना 'शकुन्तला नाटक' के अनुवाद में मिलेगा जो कि बहुत उत्कृष्ट है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र :—आप ही आधुनिक हिन्दी-गद्य के जन्म-दाता हैं। आपने दोनों राजाओं के प्रस्तुत हिन्दी रूपों को देखकर उनके बीच का रूप न अधिक संस्कृत-भरा न उर्दू-भरा शुद्ध और मँजा हुआ खोज लिया। असमय ही देहान्त हो जाने से आप उसका पूर्ण परिष्कार न कर सके। आपकी भी दो शैलियाँ होती थीं, १—विवेचनात्मक, इसकी

भाषा संयत और गंभीर तथा संस्कृत-बहुल होती थी। इसका नमूना प्रस्तुत संग्रह के लेख 'वैष्णवता और भारतवर्ष' में मिल सकता है। २—वर्णनात्मक शैली, यह सादी छोटे २ वाक्यों वाली होती थी। आप ने सभी प्रकार के ग्रंथ लिखे। आपकी हिन्दी का रूप विशेषकर नाटकों में ही मिलता है।

प्रतापनारायण मिश्र :—ये भारतेन्दु के सहयोगी थे। कठिन से कठिन और सरल से सरल विषय पर निबंध लिखने की इनमें क्षमता थी। इनके लेखों में विनोद की मात्रा बड़ी रहती है। मौजी स्वभाव के होने के कारण पूर्वी शब्दों का भी प्रयोग कर देते थे। इनका लेख प्रस्तुत संग्रह 'शिवमूर्ति' से है।

बदरीनारायण 'प्रेमघन' :—आपकी शैली विशेषकर साहित्यिक थी। उसमें रूपक और अनुप्रास की छटा अच्छी मिलती थी। आपकी पत्रिका 'आनन्द-कादम्बिनी' और 'नागरी नीरद' में इसी प्रकार के वर्षा के रूपक वाले शीर्पकों से लेख छपते थे। आपकी शैली अपनी है।

बालकृष्ण भट्ट :—प्रतापनारायण जी के समान भट्ट जी भी विनोदी थे पर इनके विनोद में चिड़चिड़ाहट भरी रहती थी। इनके लेखों में संयम और गम्भीरता भी कहीं खूब खिलती थी। ये भाव प्रदर्शन के लिये उर्दू-अंग्रेजी के शब्दों का भी प्रयोग करते थे। इस संग्रह में आपका लेख "साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है" शीर्षक से है जो शैली के उदाहरण के लिये पर्याप्त है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी :—भारतेन्दु जी की अकाल मृत्यु के कारण हिंदी के रूप-निर्धारण का कार्य अधूरा रह गया। लेखक तो अनेक प्रकट हुए पर नौसिखिये। उनकी भाषा का एक विचित्र ही रूप होता था। अद्भुत से शब्दों का प्रयोग तो व्याकरण की दृष्टि से भी अशुद्ध, अर्थ की ओर से भी निराश। आपने उनकी आलोचना की और अपनी भाषा का उपयोग करके कुछ नमूने दिये। आप आलोचना-शैली के प्रवर्तक थे, आपकी शैली की विशेषता यह थी कि सीधे-सादे शब्दों में गम्भीर

से गम्भीर विषय को स्पष्ट करना। इन अमूल्य सेवाओं के ही कारण उनको हिन्दी-जगत् ने आचार्य की पदवी भेंट की।

माधवप्रसाद मिश्र :—आप यद्यपि साहित्य-जगत् में विशेष प्रसिद्धि न पा सके तथापि गद्य-लेखकों में आपका भी महत्व है। आपके लेखों में प्रगाढ़ पाण्डित्य और गम्भीरता रहती है। कहीं २ आलोचना में तीक्ष्णता भी आ जाती है।

बालमुकुन्द गुप्त :—आप अनेक वर्षों तक भारतमित्र के संपादक रहे। आपके लेखों में पर्याप्त विनोद की सामग्री और चुभता व्यंग्य रहता था। आपका 'शिवशम्भु का चिट्ठा' अपनी शैली का अपना एक ही नमूना है। हिन्दी गद्य को परिष्कृत और भाव प्रकाशन समर्थ बनाने में आपका पर्याप्त हाथ रहा। प्रस्तुत संग्रह में आपका लेख 'मेले का ऊँट' शीर्षक से हैं। उससे आपकी शैली का ज्ञान हो सकता है।

जयशंकर प्रसाद :—प्रसाद जी हिन्दी-साहित्य-गगन के चमचमाते नक्षत्रों में से हैं। आपके नाटक हिन्दी-साहित्य-भंडार की निधि हैं। आपकी गद्य-शैली में गम्भीरता, भावुकता और दार्शनिकता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। ऐतिहासिक अध्ययन और भारतीय अतीत की झांकी इनकी रचनाओं में सर्वत्र मिलती है। इस संग्रह के 'समाधान' शीर्षक लेख से कुछ २ उनकी शैली जानी जा सकती है।

पद्मसिंह :—आपका आलोचकों के रूप में हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में विशेष महत्त्व है। बिहारी-सतसई की ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत टीका की आलोचना आपने सतसई संहार के नाम से की थी। आप तुलनात्मक आलोचना के जन्मदाता माने जाते हैं। आपकी विद्वत्ता लेखों से स्पष्ट हो जाती है।

बाबू श्यामसुन्दरदास :—आपकी रचनाओं में गम्भीरता और प्रौढ़ता विशेष मिलती है। गूढ़ विषय को 'सारांश यह है' लिखकर स्पष्ट और सरल बनाने की चेष्टा रहती है। काशी-नगरी-प्रचारिणी सभा के संस्थापक के नाते हिन्दी-जगत् आपका ऋणी है।

रायकृष्णदास :—आपके गद्य में कल्पना और भावुकता अच्छी मिलती है जोकि गद्य-काव्य सा बन जाता है। अतीत के चित्र की झांकी तथा प्रतीकात्मकता से भी आप काम लेते दीख पड़ते हैं।

रामचन्द्र शुक्ल :—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल अपनी आलोचना शैली के लिये प्रसिद्ध हैं। व्याख्यात्मक समालोचना हिन्दी-जगत को आपसे ही प्राप्त हुई है। आपके लेखों में प्रगाढ़ विद्वत्ता, गम्भीरता और प्रौढ़ता मिलती हैं जिसके कारण वे दुर्ज्ञेय से हो जाते हैं। साधारण व्यक्ति आपके लेख नही समझ सकते। आपका लिखा 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' विद्वानो की अमूल्य सम्पत्ति है।

मुंशी प्रेमचन्द :—मुंशी जी की गद्यशैली निराली है। उसमें मौलिकता स्पष्ट दृष्टि-गोचर होती है। न संस्कृत अधिक न पूरी उर्दू-ए-मुअल्ला, दोनों के मध्य की प्रसाद गुण सम्पन्न भाषा आपकी विशेषता है। बीच २ में लोकोक्तियों और मुहावरों से भाषा सजीव हो उठती है। मानस शास्त्र की अनुपम अनुभूतियाँ आपके गद्य की आत्मा हैं। पात्र के अनुसार होने से उसमें विशेष स्वाभाविकता आ जाती है।

वियोगी हरि :—आपका गद्य सालंकार और समस्त विशेषण पदों का गुच्छ होकर गद्य-काव्य की सृष्टि करता है। उसे देखकर कादम्बरी का स्मरण हो जाता है। भक्ति-भाव उसकी आत्मा है। बीच २ में पद्यों का विन्यास उसकी शोभा बढ़ा देता है। उर्दू के शब्दों का भी निःसंकोच प्रयोग मिलता है। इस संग्रह का लेख 'दोनों पर प्रेम' उस शैली का अपवाद है।

मिश्र बन्धु :—आपका हिन्दी-साहित्य में अच्छा स्थान है। 'हिन्दी नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु विनोद' के द्वारा आपको अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। अंग्रेजी आलोचना-शैली का इनके लेखों में पर्याप्त प्रभाव है। संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता होने पर भी

विषय के अनुरूप भाषा रहती है। रोचकता के साथ ध्वन्यात्मक गम्भीरता बनी रहता है।

बद्रीनाथ भट्ट :— द्विवेदी युग के गद्य-लेखकों में बद्रीनाथ भट्ट भी विशेष प्रसिद्धि रखते हैं। आपके लेख में व्यंग्यात्मक विनोद अच्छा रहता है। भाषा संस्कृतनिष्ठ होती है। उर्दू के शब्द भी हिन्दी सांचे में ढले रहते हैं। 'चुंगी की उम्मेदवारी' जैसे हास्य-प्रधान पुस्तकों से आप अच्छे लोक-प्रिय हुए थे। 'विश्व-प्रेम' के व्यंग्यात्मक लेख से उनकी शैली का अच्छा ज्ञान होता है।

बेचन शर्मा उग्र :— इनकी गद्यशैली में सामयिकता का प्रभाव अच्छा है। भावप्रवणता, ओजगुण, स्वाभाविकता और प्रासादिकता इनकी विशेपतायें हैं। कहीं २ व्यंग्यात्मकता का भी पुट है। उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का भी स्वाभाविक प्रयोग है। इस प्रकार आपकी शैली युग के अनुरूप ही है।

प्रश्न ३ :— वैष्णव धर्म के साथ भारत का सम्बन्ध भारतेन्दु जी ने किन आधारों पर बताया है, प्रमाणों से सिद्ध कीजिये।

उत्तर :— आर्यों का सब से प्राचीन धर्म वैष्णव धर्म है। इसके अनेक प्रमाण नीचे लिखे हैं :—

१—वेदों में सर्वप्रथम विष्णु के नाम से सूर्य की उपासना का उल्लेख 'आपो वारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः' इत्यादि उक्ति से सूर्य का ही नाम नारायण पड़ा। 'तद्विष्णोः परमं पदम्', 'विष्णोः कर्म्माणि पश्यत' इत्यादि मन्त्रों से यह सिद्ध होता है। इन्हीं विष्णु के दूसरे रूप अग्नि को यज्ञ नाम से पुकारा गया और 'यज्ञो वै विष्णुः' अर्थात् यज्ञ ही विष्णु है। इन्हीं से रुद्र की उत्पत्ति हुई और सूर्य अग्नि और वायु के रूप में ब्रह्मा विष्णु और महेश तीनों देवों की उत्पत्ति हुई। बाद में देवों के भी गण बन जाने से तेतीस और बाद में देवों के तेतीस करोड़ रूपों की कल्पना हुई। उन्हीं विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति की कल्पना की गई। यही उपासना एक दीर्घकाल से यहाँ प्रचलित है।

शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मण में विष्णु को देवताओं व जगत् का रक्षक कहकर सूर्य से पृथक् माना है। भारत में अवतारों की भावना भी विष्णु की ही हुई है। पाणिनि से बहुत समय पूर्व भारत में कृष्ण-पूजा का प्रचार था। राम, कृष्ण, वामन आदि दस और चौबीस अवतार विष्णु के ही माने जाते हैं। इस प्रकार यह तो सिद्ध है कि विष्णु की उपासना चिरकाल से यहाँ प्रचलित है। हाँ, यह हो सकता है कि समय बीतने के अनुसार इसमें परिवर्तन होता रहा हो। सब से प्राचीन वैष्णव बलि, विभीषण, भीष्म, ध्रुव, प्रह्लाद और नारद माने जाते हैं। उनके समय में इस वैष्णव धम का क्या रूप रहा, यह ज्ञात नहीं।

पहले लोग अनेक देवी देवताओं को पूजते थे परन्तु बाद में यह सोचकर कि जगत् के अनेक नियामक नहीं हो सकते। एक ईश्वर की कल्पना हुई, आधिभौतिक सूर्य में आधिदैविक विष्णु की कल्पना हुई। उन्हें व्यापक मानकर आध्यात्मिक रूप दिया गया।

इतिहास और पुराण इस बात के साक्षी हैं कि विष्णु की पूजा प्राचीनकाल से है और सारा भारत वैष्णव-मत प्रधान था। पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक विष्णु के अवतारों की पूजा, उनके दिनों एकादशी, रामनवमी, जन्माष्टमी, अनन्त चतुर्दशी आदि का व्रत रखने का प्रचलन सिद्ध करता है कि सभी आर्य वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। आज भी विकृत रूप में यत्र-तत्र इसके अवशेष वर्तमान हैं।

प्रश्न ४ :—'साहित्य जन-समूह के हृदय का विकास है, यह कहाँ तक सत्य है, प्रमाणों से सिद्ध कीजिए।

उत्तर :—समाज की जिस समय जैसी वृत्ति होती है, वैसे ही साहित्य की सृष्टि होती है। आदिकाल में आर्य वृद्धों ने सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह उपग्रहों को देखा, उनके शुद्ध और सात्त्विक हृदयों में जो आनन्द की अनुभूति हुई, उन्हें वाणी रूप में निबद्ध किया, वह वैदिक साहित्य कहलाता है। उसमें आज वाली कल्पना न थी।

बाद में प्राकृतिक पदार्थों का मनन करके उनके कर्त्ता ईश्वर के विषय

में जो भाव उदित हुए, उपनिषद् कहलाये। आर्य जाति की वृद्धि होने पर धीरे २ सामाजिक नियम बनने लगे। इसकी व्यवस्था के लिये स्मृतियों और दर्शनों की सृष्टि हुई। ईश्वर-सम्बन्धी धारणायें भिन्न २ रूप से प्रकट की गई। उस काल की साहित्यिक भाषा वैदिक और आधुनिक संस्कृत के मध्य की भाषा कही जा सकती है। तभी से संस्कृत के दो भेद हुए, १—वैदिक, २—लौकिक।

इसके उपरान्त भारतीय साहित्य के महान् ग्रन्थ रामायण और महाभारत की सृष्टि हुई। रामायण का युग आर्य सभ्यता के चरण विकास का युग था। उस समय तक जनता में उच्च आदर्श, त्याग, बन्धुत्व और सात्विकता वर्तमान थी, रामायण-में वाल्मीकि ऋषि ने उसी सभ्यता का चित्र खींचा। रामायण के लिये रामचन्द्र जी का पवित्र चरित्र अपनाया गया जिनसा सात्विक चरित्र वाला महापुरुष युग कोई नहीं हुआ।

महाभारत के समय इस सभ्यता का ह्रास होने लगा। परस्पर ईर्ष्या द्वेष, बहु विवाह, परस्वत्वाहरण आदि अपराध बढ़ गये। कूट नीति बल पकड़ गई। भाई भाइयों का अधिकार दबाने लगे। सत्य छल का आवरण बन गया। महर्षि व्यास ने इन सब का निरूपण महाभारत में किया।

इसके अनन्तर बौद्ध-धर्म की प्रबलता हुई जो वैदिक या ब्राह्मण धर्म का प्रबल-विरोधी था। इसने प्राकृत को पाली के नाम व्यवहृत कर अपने साहित्य के लिये उसे अपनाया और वह धीरे २ साहित्य में पर्याप्त आदर पा गई। संस्कृत साहित्य में भी उसे स्थान मिला।

बौद्धों के नाश के बाद पुराणों का युग आया जिसमें भारत में अनेक मत-मतान्तरों और अनेक देवी-देवताओं का प्रयत्न हुआ। नये २ रीति-रीवाज चले, प्राचीन समाज-व्यवस्था का भी लोप हुआ। केवल इतना लाभ हुआ कि वैदिक धर्म को कुछ स्पष्ट कर दिया और प्रचलित हिंसाओं को दूर कर शुद्ध सात्विक धर्म का निरूपण हुआ।

गुप्तकाल में कालिदास जैसे महाकवि हुए, संस्कृत का चरम विकास

हुआ, इसके अनन्तर संस्कृत का ह्रास होने लगा। प्राकृत का प्राधान्य हो गया। पुराणों तन्त्रों आदि से जो मत-मतान्तरों का प्रचार हुआ उससे हिन्दू जाति की एकता नष्ट हो गई। अनेक भाषा अनेक धर्म फैल गये।

प्राकृत के अनन्तर 'भाषा के दो रूप मिले, पृथ्वीराज रासो वाली, और पद्मावत वाली। इसी के साथ गुजराती आदि प्रांतीय भाषाओं का जन्म हुआ।

आधुनिक हिन्दी के ब्रज-भापा बुन्देलखण्डी आदि अनेक रूप हैं। इनमें बेसवाड़े की भाषा अच्छी है। दूसरी भाषाओं की अपेक्षा कविता तो हिन्दी की सब से अच्छी है परन्तु गद्य में कुछ भी उपलब्ध नहीं होता।

उर्दू के कारण भी हिन्दी की प्रगति में बाधा पड़ रही है। तुलसी, सूरदास आदि कुछ सत्कवियों की रचना के अतिरिक्त कोई भी शुद्ध रचना नहीं मिलती।

इस प्रकार जब समाज की जैसी व्यवस्था रही, वैसी साहित्य सृष्टि होती रही।

प्रश्न ५ :— शिव-मूर्ति' का सारांश अपने शब्दों में लिखते हुए उसके आधार पर लेखक के दृष्टिकोण का परिचय दो।

उत्तर :—प्रत्येक मनुष्य अपने इष्ट-देव की उपासना करता है, अपनी भावना के अनुसार उनके रूप की कल्पना करता है। कुछ उसे निराकार कह कर केवल ध्येय और ज्ञेय मानते हैं, कुछ उसके आकारों की कल्पना करके अपने अभिमत आकार से उसे पूजते हैं।

शिव जी की उपासना के लिये उनके भक्तों ने केवल एक पाषाण-खण्ड को अपनाया है जिसे वे शिवलिंग के नाम से पुकारते हैं। इस पर लोगों का कटाक्ष है कि लिंग की पूजा क्यों करते हो, मूर्ति-पूजा ही करनी है तो अच्छे आकार वाली मूर्तियाँ बनाओ।

इसका उत्तर यही है कि शिव को न किसी ने देखा है न स्पर्श किया है, अतः उनकी वास्तविक मूर्ति तो हो ही नहीं सकती। बिना मूर्ति के उसका ध्यान करना कठिन है। इसलिये यह चिह्न स्थापित कर दिया

जाता है। लिंग का अर्थ ही चिह्न होता है। अतः जिसका कोई स्वरूप न हो उसका एक चिह्न मात्र हो सकता है। मूर्तियों में अनेक भावनायें कार्य करती हैं। जिस २ पदार्थ से मूर्ति कल्पित हो, उसके मूल में कोई न कोई भावना अवश्य है। जैसे पाषण मूर्ति से अभिप्राय है कि हमारे विश्वास की नींव पत्थर पर है। अर्थात् दृढ़ आधार पर आधारित है। सहज में बदलने या नष्ट होने वाला नहीं। धातु की मूर्ति से अर्थ है कि स्वामी धातु की भाँति शीघ्र ही पिघल उठता है, वह दयालु है। रत्नमयी मूर्ति का भाव है हमारा ईश्वर से सम्बन्ध अमूल्य है। प्रेममय परमात्मा तभी प्राप्त हो सकता है जब कि अभिमान छोड़ दिया जाय। मिट्टी की मूर्ति मिट्टी के समान उसकी सर्वव्यापकता का संकेत करती है। गोबर की मूर्ति से गोबर के समान ईश्वर की वासना रूप कीटाणु-नाशक शक्ति से अभिप्राय है। पारे की मूर्ति से ईश्वर का रोग-नाशकत्व और पोषकत्व गुण अपेक्षित है। इन सबके अभाव में पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्र, वायु और यजमान, ये आठ मूर्तियाँ तो बनी बनाई ही हैं।

इसी प्रकार श्वेत-वर्ण सात्विकता का प्रतीक है, रक्त-वर्ण अनुराग का और कालावर्ण प्रेम की दृढ़ता का सूचक है। इसी प्रकार काला रंग सौन्दर्य का प्रतीक माना जाता है।

इस प्रकार सब भावनाओं की विशेषता है। जिस शरीर का कोई रंग रूप न दिखाई दे उसकी सांगमूर्ति असंभव है, प्रत्यक्ष सत्ता होने के कारण उसका कुछ न कुछ आकार है अवश्य, पर वह अज्ञात है। अतः प्रतीक रूप में एक चिह्न स्थापित कर दिया गया है।

शिव के मस्तक में गंगा धारण का अर्थ है शिव की वैष्णवता, विष्णु के चरणों से निकली गंगा को शिर पर धारण करने वाले शंकर वैष्णव ही हुए। वास्तव में शिव अर्थात् कल्याण मय और विष्णु अर्थात् व्यापक दोनों एक परमात्मा के ही नाम हैं। अतः शैवों वैष्णवों का और शास्त्रों का परस्पर विरोध अनुचित है।

शिव कैलासवासी हैं, शिव का वासस्थान मन स्वयं कैलास हो जायगा। केवल दृढ़ प्रेम से उन्हें मन में बसाओ, व्यर्थ के कुतर्कों में

समय न बिताओ, कल्याण ही कल्याण रह जायेगा।

प्रश्न ६ :—प्रेमघन जी के मतानुसार हिन्दी के विकास का इतिहास लिखिये।

उत्तर :—सृष्टि सत्व-रजस्तमोरूप तीन गुणों वाली है, इसकी उत्पत्ति के साथ वर्ण, पद, वाक्य के रूप में तीन विभाग वाली वाणी भी उत्पन्न हुई। तीनों गुणों के समान यह वाणी भी आवश्यतानुसार तीन प्रकार की हुई वैदिक संस्कृत, वैदिक अपभ्रंश, आसुरी, आसुरी पैशाची आदि नामों से फैलती हुई अनेक देशों में जाकर सर्वथा विकृत हो गई। वैदिक संस्कृत और प्राकृत आर्यों की ये ही दो भाषायें रह गईं।

देव वाणी या वैदिक संस्कृत व्याकरण से संस्कृत होकर संस्कृत के नाम से प्रचलित हुई। व्यकरण के नियमों से जकड़ी जाने से यह सर्व-बोध्य न रही। अतः प्राकृत या लोक-भाषा का संस्कार किया गया और वह आर्ष प्राकृत कहलाई है। जो लोग प्राकृत से संस्कृत का जन्म मानते हैं वे भ्रम में हैं। क्योंकि प्राकृत के शब्द संस्कृत के व्याकरण से ही व्युत्पन्न होते हैं। संस्कृत प्रकृति मानी गई है, उससे उत्पन्न भाषा प्राकृत कहलाई। यह संस्कृत के साथ व्यवहार में आई। प्रान्तों में इसका विस्तार हुआ, यही महाराष्ट्री प्राकृत कहलाई। इस प्राकृत में धर्म-शिक्षा के ग्रंथ न होने के कारण वह दूसरे बौद्ध-धर्म की भाषा बन गई। पाली और मागधी की उससे उत्पत्ति हुई। संस्कृत में वैदिक धर्म के ग्रन्थ होने के कारण इसका थोड़ा बहुत पठन-पाठन चलता रहा।

यही आर्ष प्रकृत प्रान्तों में फैली, उससे अनेक भाषाओं का जन्म हुआ जो प्रान्तीय भाषायें कहलाईं। जो शौरसेनी, आवन्ती, मागधी आदि नामों से पुकारी गईं। उनकी ही सन्तान आजकल पंजाबी, गुज-राती आदि प्रान्तीय भाषाएँ हैं। इस प्रकार भाषाओं के विकास के तीन क्रम रहे। प्रान्तीय प्राकृत, तज्जन्य अपभ्रंश, वर्त्तमान भाषा। हिन्दी का प्रथम रूप प्राकृत मिश्र अपभ्रंश, द्वितीय रूप ब्रजभाषा, तृतीय रूप वर्त्तमान।

भाषा सब भाषा ही हैं। देववाणी केवल भाषा ही कहाती थी, भेद बढ़ने पर विशेषण भी लग गए। वास्तव में मूलभाषा वैदिक संस्कृत या संस्कृत ही है।

प्रश्न ७ :— द्विवेदी जी के मत में वर्त्तमान छायावादी कवियों में क्या त्रुटियां हैं। प्रमाण देकर समझाइये।

उत्तर :—श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गीतांजलि में जो नई शैली की कविता की है, वह भारतीय साहित्य मे अभूत-पूर्व है। यहाँ के श्लेष अलंकार या व्यंजना वृत्ति के अन्तर्गत भी उसे नहीं म ना जा सकता। यह सृष्टि उनके लगभग ५० वर्ष के निरन्तर परिश्रम का फल है। परन्तु उस शैली का अनुकरण करने वाले नये कवियों की हिन्दी में बाढ़ सी आ गई है। उनका न कुछ अध्ययन होता है, न वे कुछ वर्ष अभ्यास करते हैं, सहसा 'कौन' के प्रेमी बन जाते हैं। एक-साथ रहस्यवादी या छाया-वादी बनना चाहते हैं।

कविता में मनोरंजन और आकर्षण की भाव-सामग्री होनी आवश्यक है। इसके बिना धन, यश की प्राप्ति तो हो ही नहीं सकती। अपने आपको संतोष देने की बात कुछ और है।

वे लोग अपनी कविता को रंग-बिरंगे बेल-बूटों वाले कागज़ों पर छप-वाते हैं, तरह २ के उपनाम जोड़ते हैं, परन्तु इससे क्या लाभ। कविता का मुख्य उद्देश्य तो यही है कि अपने मन की बात और तक पहुँचाई जाए, इसके लिए उसकी भावभंगिमा सुबोध होनी चाहिए, परन्तु इनकी कविता ऐसी है कि वे स्वयं उसका भावार्थ नहीं समझा सकते।

कविता करे तो वह करे जिसे सुनते ही मुँह से एक बार तो वाह! निकल उठे। पर जब तक ऐसी सामग्री ही नहीं होगी, कौन वाह कहेगा। आवश्यक गुणों के रहने पर तो स्वयं यश प्राप्त हो जाता है। प्राचीन कालिदासादि कवियों के वास्तविक परिचय का भी ज्ञान नहीं, परन्तु उन का यश अभी भी वर्त्तमान है। सब उनके काव्य-गुणों का ही प्रभाव है।

अतः सार यही है कि कविता करने से पूर्व उपयुक्त शिक्षा तो प्राप्त

करनी चाहिए और अभ्यास करना चाहिए। कवि-यश सत मेत में नहीं मिलता। जिसकी नकल करने का साहस करते हैं, थोड़ा उसकी चिर-साधना का भी तो ध्यान करना चाहिए।

प्रश्न ८ :—'मजदूरी और प्रेम' शीर्षक वाले लेख का क्या आशय है ? लेखक का इसमें क्या दृष्टिकोण है ? इन दोनों प्रश्नों पर प्रकाश डालिये।

उत्तर :—लेखक का कहना है कि वास्तविक प्रेम और आनन्द मजदूरी में, श्रम की कमाई में है। दूसरों के श्रम का लाभ उठाने में आनन्द या संतोष नहीं होता। गडरिये के जीवन में, माली के, किसान के या मजदूर के जीवन में हमे संतोष दिखाई देता है जो कि दिन-भर परिश्रम करके शाम को दो मोटी रोटी रूखी सूखी नमक के साथ ही खाकर तृप्ति की डकार ले लेते हैं। वे सदा से वैसे ही रहने के कारण संतुष्ट हैं। उन्होंने कभी दूसरे के सुख को छीनने की इच्छा नहीं की दूसरे के झोंपड़े को उजाड़ कर अपना महल खड़ा करना वह नहीं चाहता।

गडरिया उन्मुक्त प्राकृतिक वातावरण में रहता है। किसी नागरिक सीमा के वन्धन में वह नहीं वंधना चाहता। उसका परिवार वन के प्रांगण में ही खेल कर युवा होता है। वह उसी विभूति में मस्त रहता है। किसान कड़ी धूप मे अपने जीवन सहचर वैलों के साथ तन को झुलसाता अपना रक्त सुखाता है। अन्न वोकर, उत्पन्न कर जगत् का पेट पालता है। मजदूर दिन-भर कार्य करके, मेहनत करके चार आने मजदूरी के अपनी पत्नी के हाथ पर रख देता है, वहाँ प्रेम, सहयोग और सौहार्द है।

केवल गद्दी पर वैठे २ अपने शरीर को हिलाये डुलाये विना वैभव का सुख लूटने वाले व्यक्तियों का जीवन वास्तव में जीवन नहीं है। मनुष्य का कर्म करना ही मुख्य जीवनोद्देश्य है। आज मशीनों के आविष्कारों ने मनुष्य का महत्व घटा दिया है। परन्तु इन चलती फिरती मशीनों के आगे उनका महत्व नहीं।

जब से इन मशीनों की पूजा होने लगी है, तभी से मनुष्य की मनुष्यता जाती रही है। जीवन की कोमलता नष्ट हो गई है। अपने हाथ से काम करके खाने में जो आनन्द था, वह इन बोदे जीवनों में कहाँ। कोरी चिन्तन वाली फकीरी भी कुछ नहीं। अपने परिश्रम से मिट्टी में से सोना उगाने वाले इन सच्चे कलाकारों का परिश्रम अमूल्य है, उसका बदला नहीं दिया जा सकता।

इस तथ्य को पश्चिमी देशों ने भी कुछ २ समझ लिया है कि इन जड़ यंत्रों के आविष्कारों से उनकी समस्यायें बढ़ ही गई हैं। बकारी बढ़ गई है, जीवन में व्यस्तता सी आगई है, संतोष का नाम नहीं है। रात-दिन की मशीनों की घरघराहट ने कानों की कोमलता के साथ २ हृदय की सरसता भी मिटा दी है। वे समय की पुकार को सुन रहे हैं कि शीघ्र ही एक दिन उन कारीगरों का, उन सच्चे कलाकारों का ही विश्व में राज्य होगा।

खेद है कि, भारत जैसे पूर्वी देश उन्हीं बातों को अपनाते जा रहे हैं जिन्हें दूसरे छोड़ रहे हैं। बिना आई आपत्ति को जान-बूझ कर बुला रहे हैं। यह अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना है, समय रहते आँख खुल जाना अच्छा है।

यह लेख गांधीवाद और समाजवाद की प्रतिध्वनि देता है।

सारांश

हिन्दी में भावव्यंजकता

वर्तमान काल में जीवन कुछ अधिक व्यापक हो चला है। वैज्ञानिक सुविधाओं ने विश्व को परस्पर मिला दिया है। अतः भारत का नई २ समस्याओं से संबंध हो रहा है, साहित्य भी इससे अछूता नहीं बचा है। जीवन में आगे बढ़ने के लिये हमारा उन नवीन विषयों के सम्पर्क में आना आवश्यक है। हिंदी में अभी तक उन विषयों के भावों को प्रकट करने में समर्थ शब्दों का अभाव है। अतः इस दिशा में प्रयत्न शीघ्र करना चाहिये। इसके लिये निम्नलिखित उपाय बरतने चाहियें :—

१—नवीन शब्दों का निर्माण।
२—दूसरी भाषाओं के शब्दों को अपने सांचे में ढालकर अपनाना।
३—हिंदी में नवीन विषयों की शिक्षा का प्रबंध।
४—व्याकरण के नियमों को कुछ ढीला करना।
५—नवीन विषयों पर पुस्तकों का निर्माण।

भारतीय साहित्य की विशेषतायें

१—समन्वय की भावना :— हृदय के सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि विरुद्ध भावों का विलुप्त होकर व सम होकर आनन्द में परिणति। जीवन के सम्पूर्ण संघर्षों का अवसान आनन्द में। जीवन का ध्येय आदर्शमय और उन्नत होने में। जीवन का मूल्य उसके आदर करने में न कि व्यर्थ, मृत्यु में। अनेक संकट में भी आनंद की आशा और चरम विश्वास। इसका कारण आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता। परमात्मा का वास्तविक स्वरूप आनन्द।

२—धार्मिक भावों की प्रचुरता :— जिसका परिणाम सम्पूर्ण साहित्य में उदात्त भावों की सृष्टि, सामाजिक व राजनैतिक जीवन में भी धर्म की प्रधानता। आध्यात्मिकता का चरम उत्कर्ष, ऐहिक जीवन के प्रति उपेक्षा। नीरस उपदेशों और कृष्ण के नाम पर अश्लील लीलाओं का वर्णन होने से हानि। ये दोनों प्रधान विशेषतायें हैं।

देशगत विशेषता :— १—प्राकृतिक सुषमा, नदी, वन, पर्वत, अन्न से हरी-भरी भूमि, दूसरे देशों में दुर्लभ, साहित्य के लिये सरसता का साधन। सौंदर्य ज्ञान की महत्ता का कारण, रहस्यवादियों के लिये प्रकृति के माध्यम से रहस्यमयी भावनाओं की अभिव्यक्ति का अनुपम लाभ।

कविता की दो शैली— वर्णनात्मक शैली, आत्माभिव्यक्ति की व्यक्तिगत शैली। भारत में वर्णनात्मक शैली की अधिकता, द्वितीय शैली का अभाव। केवल कुछ भक्त कवियों की रचनायें।

बाण भट्ट—संस्कृत में गद्य साहित्य का प्रायः अभाव, केवल बाण-भट्ट का स्तुत्य प्रयत्न, कादम्बरी और हर्षचरित उत्तम गद्य ग्रंथ, गद्य के अभाव का कारण संस्कृत की अव्यवहार्यता नहीं, प्राकृत से संस्कृत का जन्म नहीं, अपितु संस्कृत से प्राकृत का जन्म, प्रकृति संस्कृत, तज्जन्य प्राकृत, प्रमाण संस्कृत के व्याकरण से प्राकृत शब्द-सिद्धि। अन्य भाषाओं के साहित्य की अपेक्षा संस्कृत का सुन्दर गद्य साहित्य। उपनिषदों का ललित गद्य। सम्पूर्ण प्रान्तों में संस्कृत शब्दों का व्यवहार, संस्कृत की व्यवहारिकता का प्रमाण।

वास्तविक कारण—पद्य के संगीतवाद का गद्य में अभाव। गद्य में विस्तार के कारण स्खलन का भय। पद्य में से संक्षिप्तता, पद्य में स्खलन की क्षम्यता। गद्य-लेखन में पद्य-लेखन की अपेक्षा कठिनता।

साहित्य का स्वरूप—साहित्य उस सम्पूर्ण शब्द-रचना को कहते हैं जो अर्थ बोध और नवीन भावों की उत्पत्ति के साथ २ चमत्कार उत्पन्न करती हो अथवा ऐसी रचनाओं की जिसमें आलोचना की गई हो। हृदय में जो रति, करुणा, शोक आदि की उत्पत्ति होती है, उसकी अनुभूति ही भावों की उत्पत्ति है। अर्थ किसी विषय को कहते हैं। वह चार प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमित, आप्तोपलब्ध, कल्पित। इन्द्रियों से अनुभूत विषय प्रत्यक्ष होता है, अनुमान से जाना गया अनुमित कहाता है, इसका उपयोग दर्शनशास्त्र से है। आप्तोपलब्ध गुरुजनों के बताये वस्तु ज्ञान को कहते हैं। इसका सम्बन्ध इतिहास से है। कवि द्वारा अपनी प्रतिभा से उत्पन्न किया गया अर्थ कल्पित कहलाता है। यह काव्य में प्रयुक्त होता है। उसके साथ अन्य तीनों अर्थ भी काव्य में होते हैं। इस प्रकार साहित्य के पांच प्रकार हुए—श्रव्य, दृश्य, कलात्मक गद्य काव्य। इसके रूप उपन्यास व छोटी कहानियाँ हैं। अर्थ गद्य-काव्य, आलोचना व विचारात्मक निबन्ध।

पांचों प्रकार की रचनायें चमत्कार व निर्माण विधि से भिन्न होती हैं। कुछ में भाषा चमत्कार को गूढ़ रूप से प्रकट करती है, कहीं सरलता

से। वह चारों प्रकार के अर्थों में से कोई सा अर्थ प्रयुक्त शब्दों द्वारा प्रकट कराने का कार्य करती है। कहीं उससे असंगत सा अर्थ प्रकट होता है। वहाँ चमत्कार का ही बोध होता है। वे अर्थ चमत्कार की विचित्रता या भावों की गहराई के अनुसार परखे जाते हैं। काव्य में ऐसे अर्थ को महत्व दिया जाता है।

नाटकों में कथोपकथन की प्रधानता होने से ये भावव्यंजना समित रहती है।

कहानी और उपन्यास के कथा-प्रवाह और संवाद में अथ सरल रहता है गूढ़ नहीं। उसमें घटनाओं में विशेष ध्यान रहता है। गद्यकाव्य में भावव्यंजना अच्छी हो सकती है। इन चारों प्रकारों मे कल्पितार्थ प्रधान होता है। निबन्ध में कल्पित अंग रूप में और विचारोत्पन्न अर्थ अंगी होता है। इसमें चमत्कार की अपेक्षा अर्थ की प्रधानता रहती है।

काव्य में जहाँ शब्द से प्रकरण के योग्य अर्थ का बोध नहीं होता है, वहाँ लक्षण और व्यंजना शक्तियों का प्रयोग होता है। वे भी संगत अर्थ का ही बोध कराती हैं। असंगत अर्थ इनके द्वारा ही संगत होकर बोध में आता है।

व्यंजना दो प्रकार की होती है, १—वस्तु व्यंजना जिसमें किसी तथ्य की अभिव्यक्ति हो। २—भावव्यंजना जिसमें किसी रीति आदि की अभिव्यक्ति हो। भाव व्यंजना का अर्थ है कि मन में किसी भाव का संचार होना। भाव का बोध ही अनुभूति नहीं हो सकता। क्योंकि किसी का प्रेम करना जान कर ही रति की अनुभूति नहीं हो सकती। रस-व्यंजना का स्वरूप ही स्थायी भाव की अनुभूति मानी गई है। अतः भावव्यंजना को व्यंजना व्यापार से पृथक् ही मानना चाहिए। व्यंजना के लक्षणानुसार भावव्यंजना में वाच्य अर्थ के बाद व्यंग्य अर्थ के बोध में क्रम का ज्ञान नहीं होता, वस्तुव्यंजना में होता है।

साहित्योपासक :—इसमें मुंशी जी ने भारतीय साहित्यिकों की दयनीय दशा का चित्र खींचा है कि एक उत्तम कवि होता हुआ

प्रवीण सर्वथा उपेक्षित है। उसने अभाव को अपने जीवन का चिर-संगी बना लिया है। उसके जीवन में निराशा इतना स्थान कर गई है कि वह अधिक जीवन भी नहीं चाहता। बुद्धि के दिवालिये विदेशी सभ्यता के भक्त उसे पागल समझते हैं, उससे कत्थकों या गवैयों का ही काम लेना चाहते हैं, जिसे कवि का आत्माभिमान जिसके स्नेह को पाकर उसका प्राण प्रदीप जल रहा है, इस अपमान को स्वीकार नहीं करता। वास्तव में भुक्त भोगी लेखक के उद्गार हैं।

समाधान :— इसमें ब्राह्मणों की हिंसा-वृत्ति और बौद्धों की दाम्भिक धार्मिक उन्मादी वृत्ति का चित्र दिखाया है। ब्राह्मण पुरानी लीक पीटते हुए बलि के कार्य को चालू रखना चाहते हैं, बौद्ध जनता लड़ने को उतारू हो जाती है। सिंहल का राजकुमार धातुसेन शासकीय वाणी में ब्राह्मण को दबाना चाहता है। इस झगड़े को बिहार का अध्यक्ष प्रख्यातकीर्ति अपने आपको बलिदान के लिये उपस्थित कर शान्त करता है। उसकी निष्ठा को देखकर ब्राह्मण प्रभावित हो जाता है और बलि का विचार ही त्याग देता है।

इसमें दिखाया है कि धार्मिक उन्माद के कारण लड़ने और खून बहाने वाले वास्तव में धर्म के नाम पर कुछ त्याग कर नहीं सकते। धार्मिक विवाद को तो कोई आत्म बलिदान की भावना वाला ही दूर कर सकता है। इस अंश से प्रसाद जी का बौद्धदर्शन सम्बन्धी ज्ञान हो जाता है।

विश्व-प्रेमी कवि :—लेखक का आशय इस लेख को लिखने में यही है कि प्रायः शान्ति और अहिंसा का उपदेश देना सहज हो' पर व्यवहार में सर्वथा इस विश्व-प्रेम की भावना का दुष्ट पर उल्टा प्रभाव पड़ता है। और जबकि उपदेशक का ही स्वयं चरित्रपाखण्ड पूर्ण हो, स्वयं वह दम्भी हो, नैतिक बल और सचाई का उसमें अभाव हो, उसके शान्ति सन्देश का प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसे विश्व-प्रेमी चिल्लाते रह जाते हैं और पशु-बल अपना कार्य कर जाता है। प्रायः

आसुरी शक्ति के नाश के लिये उग्रता का ही आश्रय लेना पड़ता है। वर्तमान काल में तो जबकि चारों ओर पाखण्ड और दम्भियों का साम्राज्य है, ऐसे उपदेशक प्रायः ऐसे कवियों से ठग ही हैं। इन प्रवृत्तियों को दृढ़ आत्म-बल वाले महात्यागी गांधी जैसे महापुरुष भी न रोक सके तो इन दम्भियों की बातों का क्या विश्वास। इसी मृग-मरीचिका की ओर आज की भारत सरकार अग्रसर हो रही है।

दीनों पर प्रेम :—इसका सार यही है कि मानव उस परमात्मा का प्रिय पुत्र है। पिता की दृष्टि में कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं। यदि कोई छोटा हो भी तो बड़े छोटे पर विशेष स्नेह रखते हैं। परमात्मा का नाम दीन-बन्धु है। उनको पाने के लिये उनके कृपा-पात्र दीन-दुःखियों को गले लगाना चाहिये। प्रत्येक मानव में उसी सर्वेश्वर का वास है। ऐसी दशा में उस दीन को ठुकराना उसी विश्व-रूप को ठुकराना है। दयालुता पर दुःख कातरता ही सच्ची भक्ति है। परमात्मा को प्रसन्न करने का यही गुर है। उनसे निष्कपट प्रेम किया जाय। उनसे घृणा को त्याग दिया जाय। अपनी शक्ति के अनु-सार उनकी सहायता की जाय। अवश्य भगवान् अपने आप हमारे होंगे। कोरे घण्टे घड़ियाल बजाने से; गगन-चुम्बी मन्दिर खड़े करने से, कथा सुनने सुनाने से तब तक कोई लाभ नहीं जब तक कि हृदय में करुणा नहीं, सहानुभूति नहीं। जो उन दुःखियों से घृणा करता है वह स्वयं भगवान् से घृणा करता है।

मुण्डमाल :—एक हाड़ारानी का उदार चरित्र, जिसने एक हिन्दू कन्या की लाज लूटने के लिये आते हुए औरंगजेब का दर्पदलन करते जाते हुए अपने प्राण प्यारे पति के मन में सन्देह और द्विविधा न रहने देने के लिये दृढ़ निष्ठा और विश्वास के चिन्ह रूप में अपना सिर काट कर दे दिया। उठती जवानी में, जब कि दोनों पति पत्नी यौवन की तरंगों, अटूट और निश्छल प्रेम से पूर्ण हों, विवाह हुए अभी ५—४ दिन ही हुए हों, कर्तव्य पालन की ऐसी दृढ़ निष्ठा किसी एक आध वीर

सन्तान में ही होती है। राजपूती शौर्य की यशःपताका इन्हीं बलिदानों और साहसों से अभी तक फहरा रही है।

भारत के गौरव के लिये ये चरित्र संजीवन रस देने वाले हैं। संसार के इतिहास में ऐसे अनुपम उदाहरण दुर्लभ होंगे।

अवतार :—इस लेख में लेखक दिखाना चाहता है कि जब जनता पर शोषक शक्तियाँ त्राहि २ कर उठती हैं तो दयालु परमात्मा अपना कोई अंश उनके उद्धारार्थ भेज देता है। वह उसकी रक्षा के लिये पुकार उठाता है। जनता को स्वयं अत्याचारों के प्रतिरोध के लिये जागृत करता है। यह मदमत्त शासकों को सह्य नहीं होती, वह जनता में उसके विरुद्ध प्रचार करते हैं। जनता उस अपने सहायक को पहचान नहीं पाती। वह हँसते २ अत्याचारों की वेदी पर बलिदान हो जाता है। जनता तब उसका महत्व समझती है।

साहित्य और सौन्दर्य दर्शन :—प्रत्येक मनुष्य आनन्द चाहता है। आनन्द जीवन का मुख्य तत्व है, उसका कारण सौन्दर्य दर्शन है। सौन्दर्य को देखते ही उस ओर मनुष्य आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता। गोस्वामी तुलसीदास जी व कालिदास ने सौन्दर्यदर्शन से उत्पन्न उत्कण्ठा या आनन्द में जन्मान्तरीय सम्बन्ध को कारण माना है।

सौन्दर्य के बोध के लिये आनन्द उत्पन्न होना आवश्यक होता है। आनन्द के बिना सुन्दर या असुन्दर का ज्ञान नहीं होता।

सौन्दर्य दो प्रकार का होता है, आन्तरिक और बाह्य, इनमें कुछ जीव आन्तरिक सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होते हैं कुछ बाह्य की ओर। चकोर और पतंग चन्द्रमा और दीपक के बाह्य सौंदर्य की ओर आकृष्ट होते हैं। कुत्ता आन्तरिक सौंदर्य 'प्रेम व्यवहार' को ही पहचानता है, भँवरा कमल के गंध को।

सौंदर्य के अनुभव की शक्ति मनुष्य में अधिक कही जाती है। साथ ही वह उस सौंदर्य के द्वारा शाश्वत सौंदर्य से आनन्द प्राप्त कर सकता है। वह जड़ वस्तुओं के सौंदर्य से भी पर्याप्त प्रभावित होता है। कुछ दार्शनिक वस्तु की उपयोगिता के आधार पर सौंदर्य को ग्रहण करते हैं।

जैसे कोयले की उपयोगिता से उसे सुन्दर मानना। पश्चिम में कला की दृष्टि से सौंदर्य परीक्षा में स्त्री-सौंदर्य को महत्व दिया गया है, उन्हें प्रदर्शनियों में लेजाया जाता है। सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी पुरस्कार की अधिकारिणी होती है।

पश्चिम में बाह्य सौंदर्य को प्रधानता दी जाती है। पूर्व में दया, करुणा उदारता आदि गुणों के आन्तरिक सौंदर्य को। इस कारण पश्चिम का प्रेम अस्थायी होता है।

प्राय: पुरुष बाह्य सौंदर्य को ही प्रमुखता देते हैं, परन्तु स्त्रियाँ आन्तरिक सौंदर्य को। इसलिये सौंदर्य परीक्षण शक्ति स्त्रियों में अधिक कही जा सकती है। उनमें बाह्य व आन्तरिक सौंदर्य दोनों पुरुषों से बढ़कर हैं।

स्त्री सौंदर्य की अधिष्ठात्री देवी मानी है क्योंकि उसमें आन्तरिक और बाह्य सभी गुणों और सभी कलाओं का विकास हुआ है। ललित कलाओं की जननी स्त्री ही है। सुन्दर पदार्थों में सौंदर्य की अनुभूति कला के कारण ही होती है।

आधुनिक युग में विज्ञान ने कला का महत्व खो दिया है। कलाकार स्वार्थ के वशीभूत होकर बनावटी सौंदर्य की उद्भावना कर रहा है। स्वाभाविकता से ही सौंदर्य प्रकाशन हो। तभी सत्य शिव और सुन्दर भी होने पायेगा।

प्रश्न (क) :— नीचे लिखे गद्यांशों की व्याख्या कीजिये।

"सत्य चिरन्तन के जन्म-जात वीर बालको! अरे तुम अपनी आत्मा की ओर देखो, शरीर की ओर नहीं। शरीर तो नाशवान है, मगर यह आत्मा तुम्हारी अमर है। इसे कोई नहीं मार सकता, फिर उठो! और उठो! जागो! और जागो! तथा विद्रोह करो इन भूले पागलों के विरुद्ध, जो आत्मा की गद्दी पर अपने शरीरों को संवारे बैठे हैं। ये मिथ्या मार्ग पर हैं; भूले हैं, इनके असत् मूल का सर्वनाश होगा ही, बशर्ते कि तुम सत्य पर सावधानी से डटे रहो।

उत्तर :— ऐ उसी परमात्मा के पुत्रो! तुम केवल आत्मा को

देखो, वह अमर है, शरीर ने तो एक न एक दिन नष्ट होना ही है। इसलिये पूरी शक्ति से अन्याय का सामना करो, मरने से न डरो। तुम यदि आत्मा की सत्यता समझ गये तो निस्संदेह ये और भटके हुए व्यक्ति भी ठीक मार्ग पर आ जायेंगे, उन्हें भी ज्ञान हो जायगा कि वास्तव में आत्मा ही मुख्य तत्व है, वह सदा स्वतंत्र है, उसे कोई बन्दी नहीं कर सकता, न कोई मार सकता हैं। अतः आत्मा आत्मा पर अत्याचार नहीं कर सकती, वे लोग केवल शरीर पर अत्याचार कर सकेते हैं। इस प्रकार वे भी अत्याचार छोड़ देंगे।

यह अंश "अवतार" नामक लेख से लिया गया है, अवतारी पुरुष जनता को जागृत करता हुआ कह रहा है।

प्रश्न (ख) :—भाषा का पहला काम है शब्दों द्वारा बोध करना। यह काम वह सर्वत्र करती है, इतिहास में, दर्शन में, विज्ञान में, नित्य की बात-चीत में लड़ाई-झगड़े में और काव्य में भी। भावों के भेष, चमत्कार-पूर्ण अनुरंजन इत्यादि और जो कुछ करती है उसमें अर्थ जहाँ होगा वहाँ उसको योग्यता और प्रसंगानुकूलता अपेक्षित होगी। जहाँ वाक्य या कथन में वह "योग्यता" उपपन्नता या प्रकरण संबद्धता नहीं दिखाई पड़ती, वहाँ लक्षणा और व्यंजना नामक शक्तियों का आह्वान किया जाता है। और योग्य अथवा प्रकरण संबद्ध-अर्थ प्राप्त किया जाता है।

उत्तर :—यह अंश पं० रामचन्द्र शुक्ल के लेख "साहित्य का स्वरूप" से लिया गया है। इसका सारांश है कि भाषा इतिहास आदि चमत्कार की अपेक्षा न रखने वाले विषयों से लेकर मनोरंजन-प्रधान काव्य तक में शब्द के द्वारा अर्थ का ही बोध कराती है। काव्य में मनोरंजन की सामग्री मनोभावों या प्रकाशन आदि कार्य भी वही भाषा करती है। परन्तु भाषा के द्वारा किस समय किस अर्थ का बोध हो, इसलिये उसका अवसर के योग्य प्रयोग और अर्थ ज्ञान कराना आवश्यक है। कहने वाले, सुनने वाले या किसी तीसरे व्यक्ति से, जिसके विषय में उस भाषा का प्रयोग किया गया हो, अर्थ का सम्बन्ध होना

चाहिये। कहीं कहीं शब्द ऐसा अर्थ भी कह बैठता है, जो प्रसंग या अवसर को देखते ठीक नहीं जँचता। ऐसे अवसर पर लक्षणा और व्यंजना के प्रयोग से उपयुक्त अर्थ का ज्ञान किया जाता है।

प्रश्न (ग) :—प्रथमतः कर्म-मार्ग में फँसकर लोग अनेक देवी-देवों को पूजते हैं, किंतु बुद्धि का यह प्रकृत धर्म है कि यह ज्यों २ समुज्ज्वल होती है, अपने विषय मात्र को उज्ज्वल करती जाती है। थोड़ी बुद्धि बढ़ने से ही यह विचार चित्त में उत्पन्न होता है कि इतने देवी देव इस अनन्त सृष्टि के नियामक नहीं हो सकते। इसका कर्त्ता स्वतंत्र कोई विशेष शक्ति सम्पन्न ईश्वर है। तब उसका स्वरूप जानने की इच्छा होती है। अर्थात् मनुष्य कर्मकांड से ज्ञानकांड में आता है, ज्ञानकांड में सोचते सोचते संगति और रुचि के अनुसार या तो मनुष्य फिर निरीश्वरवादी हो जाता है, या फिर उपासना में प्रवृत्ति होता है। उस उपासना की विचित्र गति है।

उत्तर :—यह अंश श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के लेख 'वैष्णवता और भारतवर्ष' से लिया गया है। इसका आशय यह है कि मनुष्य प्रथम भोला-भाला होता है, वह अपने साधारण विचारों के अनुसार भांति २ के कर्म करता है, अनेक देवी देवताओं को पूजता है। यह अवस्था कर्मकांड कहलाती है। धीरे २ बुद्धि का परिष्कार होने पर उसे ज्ञान होता है कि इस सृष्टि की व्यवस्था करने वाला एक ईश्वर ही है। यह अवस्था ज्ञानकांड कहलाती है। ज्ञान होने पर भी वह अनेक तर्क करता है, उनके परिणाम स्वरूप या तो वह परमात्मा की सत्ता माननी ही छोड़ देता है, या अधिक से अधिक परमात्मा की ओर आकृष्ट होकर उसकी भक्ति की ओर बढ़ता है। यह अवस्था उपासना कांड कहलाती है। अगली अवस्था सिद्धिकांड होती है।

प्रश्न (घ) :—जहाँ महामहीधर लुढ़क जाते थे और अगाध अतल स्पर्शी जल था, वहाँ अब पत्थरों में दबी हुई एक छोटी सी सुशीतल वारिधारा बह रही है, जिससे भारत के विदग्ध जनों के दग्ध हृदय का यथाकथंचित् संताप दूर हो रहा है। जहाँ के महाप्रकाश से दिग्-

दिगन्त उद्भासित हो रहे थे, वहाँ अब एक अन्धकार से घिरा हुआ स्नेह-शून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है जिससे कभी कभी भूभाग प्रकाशित हो रहा है।

उत्तर :—भारतवर्ष की वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा और आचार-विचार सम्बन्धी व्यवस्था बहुत गहन थी, उसने अनेक जातियों को पचा लिया था, इस समय सम्पूर्ण धार्मिक साधन, जिनसे भारतीय अपनी संस्कृति का परिचय पा सकें, नष्ट हो चुके हैं। इस कराल कलिकाल से संतप्त हृदय को केवल राम नाम ही शान्ति देने वाला है। ज्ञान की प्रकाश-शक्ति के स्थान पर अब वही राम नाम हमारे हृदय को आलोकित कर रहा है।

प्रश्न (ङ) :—"जैसे 'अहम्' का वैसे आत्मवाद को खण्डन करके उन्होंने विश्वात्मवाद को ध्वंस नहीं किया; यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की आवश्यकता क्या थी ? इस उपनिषदों के नेति-नेति के व्यतिरेक से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है। यह प्राचीन महर्षियों का कथित सिद्धान्त संसार में प्रचारित हुआ मध्यमा, प्रतिपदा के नाम से कि व्यष्टि रूप में आत्मा के सदृश कुछ नहीं है और शून्य भी नहीं है। तात्पर्य समष्टि रूप में है भी, यही बीच का मार्ग है।

उत्तर :—यह अंश प्रसाद जी के "समाधान" नामक नाटकीय भाग से उद्धृत है और धातुसेन की बलिदान करने के लिये उद्यत ब्राह्मण के प्रति उक्ति है। उसका कहना है कि महात्मा बुद्ध ने अहंकार के अभिमान रूप आत्मा का ही खण्डन किया था, संसार के आत्मतत्त्व का नहीं। यदि आत्मा की सत्ता ही स्वीकार न करते तो दया किसके प्रति दिखानी थी। जिस प्रकार उपनिषदों में उस परमात्मा के विषय में अनेक सिद्धान्त लिखकर पुनः "यह भी नही, यह भी नहीं" कहा गया है, इसी अज्ञेयता और रहस्यमयता को लेकर उन्होंने अनात्मवाद का निरूपण किया है। उन्होंने आत्मा और अनात्मा के वीच का मार्ग सामने रखा, अर्थात् देखने के लिए आत्मा जैसा पदार्थ दिखाई नहीं देता और व्यापक रूप से संसार में प्रमुख तत्त्व वही है।

शकुन्तला नाटक

नाटक की संक्षिप्त कथा:—राजा दुष्यन्त वन में शिकार खेलने गया है, वन के पास जाकर एक मृग का पीछा करता है, पास आकर राजा बाण चलाना ही चाहता है कि सहसा दो ऋषि आकर उसे मृग मारने से रोकते हैं। राजा के तीर उतार लेने पर वे उसे आशीर्वाद देते हैं और आश्रम में आने का निमन्त्रण देते हैं।

राजा रथ को तपोवन की ओर बढ़वाता है। आगे जाकर रथ से उतर पड़ता है, सादे वेश में आश्रम में प्रवेश करता है, उसी समय उसे तीन कन्यायें वृक्ष और पौदे सींचती हुई दिखाई देती हैं। राजा वृक्ष की ओट में खड़ा उनका व्यापार देखता और बातें सुनता रहता है। सहसा एक भौंरा शकुन्तला को तंग करता है, उससे पिण्ड छुड़ाने के लिये वह दुहाई मचाती है। राजा सहसा आगे पहुँच जाता है। सखियाँ उसे शिलापट्ट पर बिठाकर स्वागत-सत्कार करती हैं। राजा बातों ही बातों में शकुन्तला का परिचय तथा उसके जन्म की कथा जान लेता है। इस प्रकार पूर्ण परिचय होते ही सहसा नगरवासी उसे ढूँढते पहुँच जाते हैं। राजा उससे विदा होता है। यह प्रथम अंक की कथा है।

दूसरे अंक में माढव्य राजा के शिकार खेलने से तंग आकर मन ही मन में कोसता है और राजा के आने पर प्रयत्न करके उसे शिकार से रोकना चाहता है। राजा स्वयं भी अनिच्छा होने के कारण उसका कहना मान लेता है। सेनापति के आने पर उसे भी अपना निश्चय सुना देता है। सब को विदा कर राजा माढव्य को शकुन्तला का रूप वर्णन व उसका प्रेम व्यवहार सुनाता है। वह आश्रम में जाने का उपाय सोचता है कि दो ऋषिकुमार यज्ञ में पड़ने वाले विघ्न दूर करने के लिये उसे निमन्त्रण देते हैं। राजा उन्हें विदा ही करता है, तभी नगर से राजमाता का दूत आकर उसे उपवास के उत्सव में सम्मिलित होने का

सन्देश देता है। राजा द्विविधा में पड़कर माढव्य को ही उस कार्य के लिये सेना सहित नगर लौटा देता है।

तीसरे अंक में एक ब्राह्मण-कुमार कुशा लिये प्रवेश करता है और राजा के प्रभाव का वर्णन करता है, इसी समय आकाश-भाषित से शकुन्तला की विरहव्यथा की सूचना मिलती है। उसी समय राजा विरही की सी अवस्था में प्रवेश करता है। अपनी विरह-व्यथा का वर्णन करता हुआ शकुन्तला का पता लगाना चाहता है। बालू में उसके पैरों के चिन्ह देख कर वेतस कुंज की ओर जाता है। शकुन्तला अपनी सखियों सहित उसी कुंज में शिलापट्ट पर लेटी दिखाई देती है। सखियाँ उसकी व्यथा का उपाय करती हुई कारण पूछती हैं। बहुत संकोच के बाद शकुन्तला बताती है कि राजा को उसने जब से देखा है, यह दशा हुई है, शीघ्र कोई उपाय करो अन्यथा जीवन दुर्लभ है। सखियाँ उसकी सराहना करती हुई उपाय सोचती हैं और शकुन्तला को प्रेम-पत्रिका के योग्य छन्द बनाने को कहती हैं। शकुन्तला छन्द बनाकर कमल के पत्ते पर नखों से लिखकर सखियों को सुनाती है, तभी राजा आगे बढ़कर स्वयं पहुँच जाता है। सखियाँ उसका स्वागत करती हैं। प्रियम्वदा राजा से शकुन्तला के सम्मान के बारे में आश्वासन मांगती हैं। राजा के वचन देने पर हरिण के बच्चे को माता से मिलाने के मिस दोनों सखियाँ बाहर चली जाती हैं। शकुन्तला जाने लगती है पर राजा रोक लेता है। वह उसका चुम्बन करना ही चाहता है, तभी नेपथ्य से गौतमी के आने की सूचना मिलती है। राजा वृक्ष की ओट में हो जाता है। तभी गौतमी उसकी कुशल पूछने आती है और साथ ले जाती है। थोड़ी देर में राजा के लिये आश्रम से राक्षस गण से रक्षा की पुकार आती है, राजा उधर ही चला जाता है।

चौथे अंक में विष्कम्भक द्वारा राजा और शकुन्तला के गन्धर्व-विवाह का तथा उसके नगर लौटने का पता लगता है।

दोनों सखियाँ फूल बीन रही हैं, तभी किसी अतिथि का शाप सुनाई देता है कि तू जिसके ध्यान में बैठी है, वह तुझे भूल जायगा। याद

दिलाने पर भी स्मरण न करेगा। सखियाँ दौड़ कर जाती हैं। प्रियंवदा दुर्वासा को मना कर आती है। दोनों कुटी पर पहुँच जाती हैं। उधर आश्रम के भाग में एक कण्वशिष्य समय देखने आता है, तभी प्रियंवदा आकर शकुन्तला के विदा होने की सूचना देती है। उसी समय यह भी पता लगता है कि कण्व को शकुन्तला के गन्धर्व-विवाह का पता लग गया और वे उसे आज ही पति के घर भेज देंगे। इस पर दोनों विदा के मंगल की सामग्री एकत्रित करती हैं। दोनों शकुन्तला के नहा कर नीचे बैठने की सूचना देती हैं। अगले दृश्य में तपस्विनियाँ उसे आशीर्वाद देती हैं। सखियाँ जाकर उसका शृङ्गार करती हैं। उसी समय ऋषि-कुमार सुन्दर वस्त्र और आभूषण लेकर आते हैं। पूछने पर पता लगता है कि ऋषि के प्रभाव से ये वस्त्राभूषण वनदेवियों ने भेंट किए हैं। तभी सखियाँ आभूषण पहनाती हैं और कण्व ऋषि आते हैं। शकुन्तला के प्रणाम करने पर आशीर्वाद देते हैं और अग्नि की परिक्रमा कराते हैं। शारङ्गरव और शारद्वत दोनों मुनि-शिष्य आते हैं, शकुन्तला को उन-के साथ जाने को कहते हैं। शकुन्तला वन के वृक्षों और लताओं तक से विदा माँगती है। पुनः सखियों और पिता से भेंट कर और आशीर्वाद लेकर विदा होती है। कण्व ऋषि उसे उपदेश देकर विदा करते हैं। सब के चले जाने पर ऋषि आश्रम को लौट आते हैं।

पाँचवें अंक में राजा राजकार्य करके भीतर एकान्त में बैठा है, तभी नेपथ्य से गीत सुनाई देता है। राजा विदूषक को रानी के पास भेजता है। इसी समय कंचुकी आकर कण्व ऋषि के शिष्यों के पहुँचने की सूचना देता है। राजा उसे पुरोहित को स्वागत सत्कार करने की आज्ञा सुनाने को भेजता है और आप प्रतिहारी के साथ यज्ञशाला पहुँच जाता है। वैतालिकों की की हुई स्तुति-वन्दना के बाद पुरोहित शकुंतला सहित मुनिशिष्यों को लेकर पहुँचता है। दोनों शिष्य आशीर्वाद देकर मुनि का सन्देश सुनाते हैं। राजा शकुन्तला से विवाह होने में संदेह प्रकट करता है। दोनों शिष्य व गौतमी पर्याप्त उपालम्भ देते हैं। शकुन्तला का घूँघट उठाने पर भी वह नहीं पहचानता। परस्त्री को ग्रहण करने का

पाप नहीं लेना चाहता। इस पर तर्क वितर्क होता है। शकुन्तला अंगूठी दिखाना चाहती है, तभी पता लगता है कि शचीतीर्थ में पानी पीते समय हाथ से निकल गई होगी। अनेक वाद-विवाद के बाद राजा पुरोहित से सम्मति माँगता है। पुरोहित कहता है कि प्रसव तक यह नारी मेरे घर पर रहे; यदि प्रसव में चक्रवर्ती लक्षणों वाला पुत्र उत्पन्न हुआ तो इसे आप ग्रहण करलें, यदि ऐसा न हुआ तो यह पिता के घर चली जायगी। राजा के स्वीकार करने पर सब जाते हैं। थोड़ी देर में पुरोहित सूचना देता है कि अप्सरातीर्थ के पास जाते ही एक ज्योति आकाश से आकर रोती हुई उसको उठा ले गई। तभी सभा विसर्जित हो जाती है।

छठे अंक में कोतवाल एक धीवर को पकड़कर लाता है। उसके पास राजा की अंगूठी पकड़ी जाती है। पूछ-ताछ करने पर कोतवाल अंगूठी लेकर राजा के पास सूचना लेकर जाता है। थोड़ी देर में राजा के पास से कंकण लेकर लौटता है जो कि धीवर को परस्कार रूप में राजा ने दिया था।

उधर अंगूठी पाकर राजा को शकुन्तला की सुधि आजाती है। वह उसके विरह में वसन्तोत्सव मनाना बंद कर देता है। उधर मेनका की भेजी सानुमती आकर बाग में बैठ जाती है। राजा की दशा बुरी है। विदूषक के साथ वह उद्यान में आता है। प्रतिहारी को मंत्री के पास जाकर राजकार्य के कागज पत्र भेजने को कहता है। इधर विदूषक के साथ संवाद में अंगूठी के द्वारा राजा स्मरण आने की बात कहता है। इसी समय एक दासी राजा का बनाया चित्र लेकर आती है। उसे पुनः चित्र लिखने की सामग्री लाने को भेजता है। इसी प्रकार संवाद में दासी सूचना देती है कि रानी वसुमती ने डब्बा छीन लिया। इसी समय मंत्री का पत्र मिलता है जिसमें समाचार लिखा है कि एक सामुद्रिक व्यापारी धनमित्र नामक सेठ नदी में डूबकर मर गया। उसका कोई पुत्र नहीं है, उसका धन राज-भण्डार में आना चाहिये। राजा यह जान कर कि उसकी स्त्री गर्भवती है, आज्ञा देता है कि गर्भ का बालक पिता का अधिकारी होगा। साथ ही वह घोषणा करता है कि नगर में घोषणा

करादो पाप सम्बन्ध के अतिरिक्त दूसरा जो कोई बंधु प्रजा का मर जाय, उसके स्थान पर दुष्यन्त को समझे। इधर राजा पुत्र के अभाव का विचार कर मूर्छित हो जाता है। बड़ी कठिनाई से राजा को होश आता है। तभी पुकार सुनाता है कि बचाओ २ किसी भूत ने मुझे पकड़ लिया। राजा माढव्य का स्वर पहचानकर बचाने दौड़ता है। उसके तीर चढ़ाते ही मातलि जो इन्द्र का सारथी है, प्रकट होकर राजा को इन्द्र का निमंत्रण देता है। राजा स्वीकार कर लेता है।

सातवें अंक में दानवों पर विजय पाकर राजा इन्द्र के रथ से आकाश मार्ग देखता हुआ आता है। मार्ग में हेमकूट पर्वत पर उतर पड़ता है। तभी एक बालक सिंह के बच्चे से खेलता दीखता है।

एक तपस्विनी राजा से सिंह छुड़ाने को कहती है। राजा के कहने से लड़का सिंह को छोड़ देता है। राजा उसका परिचय जानना चाहता है, तभी एक तपस्विनी मिट्टी का खिलौना लाती है। उसका नाम सुनकर पुनः लड़के को चौंकता देखकर राजा कुछ शंकित होता है। तभी गंडे को उठा लेने से तपस्विनियाँ चकित होती हैं। एक शकुन्तला को बुलाती है। राजा लड़के को गोद में ले लेता है। तभी शकुन्तला से मिलन होता है। उसके अनन्तर दोनों पुत्र के साथ कश्यप ऋषि के दर्शन करके घर लौट जाते हैं।

समालोचना—शकुन्तला नाटक संस्कृत साहित्य के सर्वोत्तम नाटकों में माना जाता है। आज कालिदास की प्रतिभा, जो विदेशी भी मान रहे हैं, सो इसी के कारण। इसके हिन्दी में अनुवाद और भी हुए हैं जैसे नेवाज कवि कृत अनवाद जो कि १८वीं शताब्दी में लिखा गया था। राजा लक्ष्मणसिंह का अनुवाद सर्वोत्तम है। इसका गद्य और पद्य बहुत सरस है। श्लोक का अनुवाद पद्य में और गद्य का गद्य में हुआ है। पद्य ब्रजभाषा में गद्य सुन्दर व्यावहारिक खड़ीबोली में है। पद्य की सरसता बहुत ही आकर्षक है। गद्य में यह त्रुटि अवश्य है कि आगरे की बोली के शब्द कहीं २ आ गये हैं। वैसे अनुवाद बहुत सफल है। मूल ग्रन्थ का भाव नष्ट नहीं हुआ है। मूल पद्य के अलंकार अनुवाद में भी आ गये हैं।

कथा--ग्रन्थ की कथावस्तु प्रागैतिहासिक है। महाभारत में राजा दुष्यन्त और सर्वदमन, जिसका नाम प्रजापालक होने के कारण पीछे भरत पड़ गया था, इनकी कथाविस्तार से वर्णित है। नाटक में कवि ने उसमें राजा के धीरोदात्त की रक्षा के लिये कुछ कल्पना से भी काम लिया है। जैसे—महाभारत में तो राजा शकुन्तला को लोकापवाद के भय से जान बूझ कर स्वीकार नहीं करता। आकाशवाणी होने पर ही वह उसे महल में बुलाता है। साथ ही उसमें सर्वदमन का जन्म कण्व के आश्रम में ही होना लिखा है। राजा को इस कलंक से बचाने के लिये कवि ने दुर्वासा के वृत्तान्त और अँगूठी की कल्पना की है। इसी सामंजस्य के लिये सर्वदमन का जन्म भी भरत के आश्रम में कराया है। बाकी उसका विकास स्वाभाविक ढंग से किया है। शकुन्तला की दृष्टि में राजा को निर्दोष सिद्ध करने के लिये सानुमती को उसकी विरह-दशा प्रत्यक्ष दिखाई है। हेमकूट पर्वत पर कश्यप के मुख से दुर्वासा के शाप का वृत्तान्त सुनकर शकुन्तला के हृदय से भी राजा की दोषिता का भार मिटा दिया। इस प्रकार चिर संयम के वृक्ष के पुष्प और फल का एक साथ मिलन कराया है। पहला मिलन कण्व के आश्रम में हुआ, वहाँ पर चंचलता दिखाई गई थी, उस प्रेम में वासना थी, उसका परिणाम दुःख हुआ। अतः पुनर्मिलन में उस प्रकार का उतावलापन न दिखाया।

पात्र--नाटक का प्रधान पात्र दुष्यन्त है। जो नायक है। नायिका शकुन्तला है।

चरित्र-चित्रण--राजा वैसे धीरोदात्त है। धीरगम्भीर है।

नायक--ऋषियों के गौरव को मानता है। उसके कष्ट का ध्यान रखता है। चारित्र्य-बल को मुख्य मानता है। उसे अपने मन की शुद्धि पर पर भी विश्वास है। वह कलाविद् भी है, शकुन्तला का सुन्दर चित्र बनाता है। इसी कारण आधुनिक समोलाकार उसे धीरललित नायक मानते हैं। नाटक शृंगार रस का है। अतः चार प्रकार के नायकों में वह दक्षिण नायक है। नवीन प्रेम के साथ २ दूसरी रानियों के प्रति पहला प्रेम

निभाता है। प्रजापालन उसका धर्म है। इसलिए विरहावस्था में भी उससे असावधान नहीं रहता। अपने किये का उसे पश्चात्ताप है। वह आतुर के रक्षण के लिये सदा सन्नद्ध रहता है। उस दशा में भी माढव्य की रक्षा के लिए तुरन्त उद्यत हो जाता है। धर्मभीरु है। शकुन्तला का अपूर्व रूप देखकर भी उसे सहसा कहने पर भी स्वीकार नहीं करता। पराक्रमी होने पर भी निरभिमानी है। कृतघ्न नहीं है। इन्द्र के शत्रुओं का दमन करने पर भी उसे अपने पराक्रम का फल न मानकर इन्द्र का प्रभाव मानता है, उसके किये सत्कार को अपनी योग्यता से अधिक मानता है। उसे सबकी मर्यादा का ज्ञान है। इस प्रकार राजा का चरित्र वैसा ही आदर्श है, जैसे प्राचीन नाटककार दिखाया करते थे।

शकुन्तला :—नाटक की नायिका शकुन्तला है। यह मुग्धा नायिका है। वन की हरिणियों में पली है। सांसारिक छल और प्रवञ्चना का उसे ज्ञान नहीं। लता, वृक्ष सभी से उसकी आत्मीयता है। वह लोक व्यवहार नहीं जानती, वैसे शिक्षिता है। कविता करना जानती है। लोक-लज्जा से वह दबी हुई है। एकान्त में राजा को पाकर भी स्त्री-सुलभ लज्जा और शील को सहसा नहीं छोड़ सकती। उसका यह कहना कि 'मैं कामपीड़ित होने पर भी कुल-मर्यादा नही तोड़ सकती, मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ' अपने कर्तव्य और कुमारी-व्रत की रक्षा का ध्यान भी है। वह पतिव्रता व सत्य प्रेम वाली है। तभी उसके द्वारा ठुकराई जाने पर भी उसे नहीं कोसती, अपना ही दुर्भाग्य मानती है। इसीलिये पुनर्मिलन के समय उसे कुछ भी कटु वचन नहीं कहती है। संयोग और वियोग दोनों शृङ्गार उसमें बहुत अनुकूल हुए हैं।

विदूषक :—यह राजा का सखा है परन्तु ऐसा चतुर नहीं है जैसे राजा के समीप रहने वाले हुआ करते हैं। इसका विशेष चरित्र नहीं है।

अनुसूया-प्रियम्वदा :—ये दोनों सखियां प्रम से पूर्ण हृदय वाली हैं। लोक-व्यवहार में निपुण हैं चित्र-विद्या जानती हैं। शकुन्तला की सच्ची हितैषिणी हैं।

कण्व :—इनका चरित्र यद्यपि विशेष प्रकाश में नहीं आया, तथापि शकुन्तला की विदाई के समय उनके उद्गार उनके स्निग्ध हृदय को प्रकट करते हैं। यह पद्य इसके साक्षी है :—

> आज शकुन्तला जायगी मन मेरो अकुलात।
> रुकि आँसू गद्गद गिरा, आँखिन कछु न लखात॥
> मोसे वन वासीन जो इतो सतावत मोह।
> तो गेही कैसे सहें, दुहिता प्रथम विछोह॥

पात्रों के चरित्र-विकास का इसमें अविकाश नहीं है। प्राचीन नाटकों में आदर्श रचना पर ध्यान दिया जाता था।

कथोपकथन :—नाटक के संवाद बड़े सजीव हैं। उनमें स्वाभाविकता और सरसता फूट २ कर भरी हुई है। कवि की भावुकता बड़े सुन्दर रूप में व्यक्त हुई है। पात्रों के विचार उसके द्वारा सर्वथा स्पष्ट हो जाते हैं। अपनी पद-मर्यादा, कुलीनता, घनिष्ठता और नाटकीय नियमों के आधार पर संवादों का विधान किया गया है।

रस :—नाटक का प्रधान रस श्रृङ्गार है। उसमें भी संयोग प्रधान है जिसका परिपाक वियोग द्वारा होता है। वियोग श्रृङ्गार तो दोनों प्रेमियों की मनोदशा का मार्मिक चित्र खींचने के लिये बहुत ही पुष्ट है। शकुन्तला इस श्रृङ्गार का आलम्बन है। तपोवन का मुग्ध वातावरण उद्दीपन है। दुष्यन्त और शकुन्तला द्वारा परस्पर मिलन की चेष्टायें अनुभाव हैं, उनकी वियोग-दशायें सात्विक भावों और संचारी भावों की अभिव्यक्ति करती हैं। राजा की वियोग-दशा के पोषण के लिये वसन्त ऋतु का आगमन भी आकस्मिक साधन है।

इसके अतिरिक्त अन्य रसों में वीर, करुण, अद्भुत, रौद्र, शान्त, भयानक और वत्सल सभी रस यथा-स्थान अंग रूप में अच्छे स्पष्ट हुए हैं। बीभत्स का इसमें अभाव है।

उद्देश्य :—भारतीय संस्कृत का चरम लक्ष्य आनन्द से है। ऐहिक जीवन को चिर संघर्ष से निकाल कर शांति की ओर ले जाना

ही उनकी कला का चरम विकास होता है। उनके पात्रों की सृष्टि आदर्श-मयी होती है जो कि उस शांति और आनन्द का वातावरण बनाने में सहायक होती है। कालिदास की रचना में तो आदर्श कूट २ कर भरा है। ऐसा आदर्श किसी और साहित्य में मिलेगा कि :—

केवल पापिन के बिना मम परजा के लोग।
जा जा प्यारे बन्धुकों विधिवस लहें वियोग ॥
गिने नृपति दुष्यन्त को ताही ताकी ठौर।
नगर ढिंढोरा देहु यह कहो कछू मति और ॥

राजा घोषणा करता है 'कि प्रजा का जो भी बंधु मर जाये उसके स्थान वह दुष्यन्त को समझे। जिसका पिता, पुत्र, भाई मरे वे दुष्यन्त को अपना पिता पुत्र या भाई समझ ले, किंतु पाप संबंध के लिये दुष्यन्त नहीं। किसी का पति मर जाय तो दुष्यन्त उसके पति का स्थान नहीं ले सकता। ऐसी आदर्श सृष्टि समाज के सम्मुख उपस्थित करना ही इसका उद्देश्य है। वैसे सामाजिक समस्याओं पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। अपनी इच्छा से लड़के लड़कियों के द्वारा किये गये गन्धर्व विवाह या अनुचित सम्बंधों का परिणाम भी इससे ही स्पष्ट हो जाता है।

शैली :—नाटक की शैली अनुपम है। प्रायः वैदिक रीति बरती गई है जो कि कालिदास की विशेष रीति थी। रस के अनुरूप शब्द योजना है। माधुर्य प्रसाद और ओज तीनों गुण हैं। सात अंक हैं। उनमें भी सूच्य कथावस्तु के लिये विषकंभकों और प्रवेशकों की सृष्टि की गई है। दृश्य, नगर, वन, पर्वत और आश्रम सभी स्थानों के हैं। प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण हुआ है। शकुन्तला के साथ प्रकृति की आत्मीयता, उसकी विदा के समय उनका शोक आकर्षक है। मानस विज्ञान का अनूठा निरूपण है। काव्य की विशेष रूढ़ियों का यथानियम पालन है। ये सभी गुण अनुवाद में भी सुरक्षित हैं। आधुनिक समीक्षा के अनुसार अंतर्द्वन्द्व और चरित्र विकास की सामग्री इसमें नही है। ये बातें आधुनिक युग की देन हैं।

छठे अंक में कोतवाल और उसके सिपाहियों की वृत्ति से पता लगता है कि पुलिस की प्रकृति जिसके लिये वह बदनाम है, आरंभ से ही ऐसी है।

नाटक के कुछ पारिभाषिक शब्द :—

रंग-भूमि :—स्टेज, जहाँ नाटक खेला जाता है।

नेपथ्य :—स्टेज के पिछले भाग में अभिनेताओं के वस्त्र बदलने का स्थान।

विष्कम्भ :—पहले अंक के बाद किसी घटना को जो स्टेज पर दिखाने योग्य न हो, सूचित करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है।

प्रवेशक :—विष्कंभक का ही एक प्रकार। इसमें दो या तीन पात्र होते हैं जो नीच श्रेणी के रहते हैं। छठे अंक के आरंभ में धींवर और सिपाहियों से प्रवेशक बना है।

मुक्ति का रहस्य

प्रश्न :—'मुक्ति का रहस्य' की संक्षिप्त कथा लिखो ?

उत्तर :—आशादेवी उमाशङ्कर को पुकारती है, आने का समय पूछती है, शर्मा जी आने का समय अनिश्चित बताते हैं। सिनेमा जाने के लिए उसी से कह जाते हैं। उसी समय शर्मा का लड़का मनोहर कमरे में आकर कपड़े देखता है, पुनः चला जाता है। उसी समय आशा उसे फिर सिनेमा चलने के लिए बुलाती है, उसे अपने आपको कहने के लिये कहती है। मनोहर कहना स्वीकार नहीं करता। वह माँ का पता पूछता है, कहता है या आप वहीं सब चलो। आशा उसे समझाती है कि मुझे माँ कहो, वह नहीं मानता। तभी डाक्टर त्रिभुवन-नाथ आशा के ये कहने पर भी कि 'शर्मा जी नहीं हैं, अन्दर आ जाता वह आशा को यह डर दिखाकर कि मैं तुम्हारा भेद खोल दूँगा कि तुमने मनोहर की माँ को मुझ से जहर लेकर खिलाया था, अपने वश में करना चाहता है। इसी बात पर धमका कर एक शर्त पर कुछ मना लेता ह कि उसके सतीत्व के बदले में आठ बूँद जहर की आशा को देगा।

आखिर दोनों सिनेमा चले जाते हैं। तभी शर्मा जी और एक वकील बेनीमाधव आते हैं। दोनों कुर्सी निकाल कर बाहर छत पर बैठते हैं। उनकी बातचीत होती है। आशा देवी का प्रसंग आता है। वकील का विचार है कि उससे प्रेम न करो। वह कहते हैं, उसने स्त्री के मरने पर उसकी देख-भाल की है। उसे वे नहीं छोड़ सकते। संसार जब दुःख में सहायता नहीं देता तो उसकी अपेक्षा क्यों की जाय। जब मालूम होता है कि आशा डाक्टर के साथ सिनेमा देखने गई है। वकील फिर बदनाम होने का डर दिखाता है। वह नहीं सुनता। उसी समय उमाशंकर के चाचा काशीनाथ आते हैं। साथ में मुंशी है। इसी आशा के कारण

वह हिसाब के लिए कहते हैं। पढ़ाई का खर्च २०५६३।।≡) बताते हैं। शर्मा जी अपना हिस्सा उसी रुपये के बदले छोड़ने को तैयार हैं। अगले दिन रजिस्ट्री करने का निश्चय होता है। उसी समय आशा सिनेमा से लौट आती है। वह हिस्सा छोड़ने का हाल सुनकर शर्मा से अपने चले जाने का निश्चय करती है परन्तु शर्मा नहीं मानते हैं।

दूसरे अंक में आशा कहीं जाने को तैयार है। तभी डाक्टर आता है। आशा उससे अपना पत्र मंगाती है। वह पहले मना करता है। उसका कहना है कि वह आशा के लिये पहला पुरुष है। उसे अब अपनी समझता है। इसलिए आशा भी डाक्टर को अपना समझे। इतना कह कर पत्र देकर चला जाता है। तभी शर्मा उसे रुकने को कहता है कि अपने रुपये लेकर जाय। उधर मास्टर देवकीनन्दन और मुरारीसिंह मिलने आता है। उसका प्रयोजन है कि वह स्कूल की छुट्टी करके शर्मा को चैयरमैनी के चुनाव में जिताने का प्रयत्न कर रहा है। उसे अपनी वेतनवृद्धि और पदवृद्धि की आशा है। वह उसे फटकारता है। वह जाता है।

डाक्टर आकर सूचना देता है कि वकील ने वोट सेठ को उससे ५००) रुपये लेकर दिया हैं। वह उसे पोलिंग स्टेशन चलने को कहता है। धीरे से डाक्टर से रुपये माँगता है। डाक्टर स्वीकार कर लेने जाता है।

आशा उसे डाक्टर से रुपया लेने को मना करती है। शर्मा के कारण पूछने पर बताती नहीं है। उसी समय एक गिलास में जहर की आठ बूँद डालती है। जगई को बिस्तर बाँध कर ताँगा लाने को कहती है। तभी मनोहर आता है, इधर आशा गिलास पी जाती है। मनोहर से बातें करती हुई तांगे की ओर चलना चाहती है, तभी लड़खड़ा कर गिर जाती है। जगई से पानी सिर पर गिरवाती है। कपड़े भीग जाते हैं। ताँगे वाला जल्दी करता है; तभी डाक्टर आता है। उसकी हालत देखकर समझ जाता है। मनोहर को कोतवाली जाने को कहकर आशा को ताँगे में डालकर अस्पताल ले जाता है। कुछ देर के बाद उमाशंकर

आता है और स्लिप पढ़कर उल्टे पैर अस्पताल चला जाता है। बाद में वकील बेनीमाधव और काशीनाथ प्रवेश करते हैं। काशीनाथ उसके जहर खाने से सन्तुष्ट हैं। डाक्टर से भी पूछा जाता है कि जहर तुमने दिया होगा, तुम पर मुकदमा चलेगा। काशीनाथ डाक्टर को इज्जत का सवाल बताता है। डाक्टर कह देता है कि अपने सगे भतीजे की जायदाद अपने नाम कराली, इससे इज्जत नहीं गई। कहने के लिये सब इज्जत का नाम लेते हैं।

तीसरे अंक में बेनीमाधव आता है और बैठ कर पुनः अपनी मित्रता का हवाला देकर आशा के विषय में बात करता है। इसी विषय में दोनों में झड़प हो जाती है। उमाशंकर उसे सुना देता है कि तुमने दूसरे व्यक्तियों को वोट दिलवाये और सामने आकर मित्रता का नाम लेते हो। वह शर्मा के बँगले के सामने वाली सड़क की मरम्मत पहले कराने को कहता है। परन्तु शर्मा का कहना है कि वह चमारों के मुहल्ले की मरम्मत करायेगा। धीरे २ बहस बढ़ जाती है। अन्त में क्रोध में वकील चला जाता है। इधर आशा जाग उठती है। तभी थोड़ी देर में डाक्टर का प्रवेश होता है। वह उससे अपने किये की क्षमा चाहता है। वह कहती है जब तक उसे शर्मा क्षमा न करदे तब तक वह कुछ नहीं कर सकती। वह शर्मा से सब बात खोलकर कह देगी। साथ ही प्रस्ताव करती है कि दोनों विवाह करले। डाक्टर सहसा सहमत नहीं होता। अब वह शर्मा से डरता है। इधर शर्मा चेयरमैन चुना जा चुका है। मुरारीसिंह अपनी तरक्की की आशा में उसके पास आता है। उत्तर में शर्मा उसे नौकरी से हटाने की प्रतिज्ञा करता है। डाक्टर और देवकीनन्दन मास्टर की भी नहीं सुनता। कुछ देर के बाद आशा आकर उसके न चाहते हुए भी अपना सब रहस्य सुना देती है कि उसने कैसे और क्यों मनोहर की माँ को विष दिया था। अंत में वह क्षमा माँगकर डाक्टर के घर जाना चाहती है। उमाशंकर पिस्तौल लेकर डाक्टर को मारने जाना चाहता है, आशा रोक लेती है। आशा अन्त में चली जाती है। उमाशंकर इस भेद को ही अपनी मुक्ति का रहस्य बताता है।

आलोचना :—यह नाटक बुद्धिवाद की अपेक्षा मानव के सामने आने वाली काम-समस्या को लेकर लिखा गया है। मनुष्य और स्त्री दोनों के आगे—यह समस्या उपस्थित होती है। दोनों का आकर्षण प्राकृतिक है। मिश्र जी के शब्दों में 'स्त्री और पुरुष इस विश्व के दो पहलू हैं, वे एक होते हैं प्रकृति के निश्चित नियमों के अनुसार, प्रकृति की निश्चित प्रणाली की रक्षा और प्रचार के लिये, उसे हम सन्तानोत्पत्ति, प्रजनन या 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' जो मन में आये कह लें। स्त्री और पुरुष के सम्मिलन में 'नूतन सृष्टि' प्रकृति की यही शक्ति या समस्या प्रधान काम करती है। इस सम्बन्ध का सबसे बड़ा आकर्षण तब उत्पन्न होता है, जब स्त्री और पुरुष दोनों प्रजनन शक्ति से भरपूर होते हैं, उस समय वे दोनों साथ २ रहना चाहते हैं। प्रकृति के खिलौने प्रकृति की सर्वव्यायिनी इच्छा शक्तियें अपने आपको भूल जाते हैं, इस भूल जाने की क्रिया को एक सुन्दर नाम या प्रेम या प्रणय दे दिया गया है।" इसी प्रेम को समाज अपनी २ दृष्टि से देखता है। कोई उसे सदाचार और कोई दुराचार के नाम से पुकारता है। इस विषय में उन्हें क्या कहना चाहिये ? या उसे अपनी इच्छा पूर्ण करनी चाहिये। मिश्र जी लिखते हैं इस प्रेम या प्रणय के लिये बड़े २ अनर्थ होते हैं। विवाह के भिन्न रूप बंधन और कर्तव्य की भावनाओं के साथ आत्म-हत्या सा एकांगी स्वार्थ भी। अस्तु, इसी प्रश्न को लेकर यह नाटक लिखा गया है। यद्यपि मिश्र जी ने इसे बुद्धिवाद की विचार-धारा से लिखा था, तथापि उनके लेख के अनुसार ही इस नाटक में नवीन व्याख्या के अनुसार बुद्धिवाद नहीं है। परन्तु यह कहना होगा कि बुद्धिवाद की उनके द्वारा की गई व्याख्या के अनुसार उसकी छाप इस पर अवश्य है। इसमें दिखाया है कि आशा देवी उमाशंकर को प्यार करती है। परन्तु वह अपनी पत्नी को चाहता है। उसके रहते आशा को नहीं अपना सकता। परिणाम यह होता है वह अपने मार्ग के कण्टक उस पत्नी को जहर दे कर मार देना चाहती है। इसके लिये वह डाक्टर से सहायता लेती है। डाक्टर को स्त्री एक आकर्षण मात्र है, हृदय की वासना-पूर्ति का साधन

ही है। वह भी उससे अपनी इच्छा-पूर्ति चाहता है। वैसे उसकी इच्छा पूर्ण नहीं होती। परन्तु ज़हर देकर उसे आशा हो जाती है। परिणाम यह होता है कि ज़हर खिला कर आशा शर्मा की पत्नी को तो मार देती है, पर उसकी कामना तब भी पूर्ण नही होती। शर्मा चाहता है परन्तु डाक्टर के रूप में नही। वह एक निधि के रूप में रक्षा करता है। आशा जो कुछ चाहती है, वह शर्मा से न मिल सका, वह विवाह न कर सका था। इसके बिना आशा की इच्छा पूर्ति नहीं कर सकता था।

अन्त में डाक्टर से आशा को वह वस्तु मिल गई। उमाशंकर उस की दृष्टि मे अब देवता हो गया। क्योंकि जो मानव-हृदय की अनुभूतियों से प्रभावित न हो वह मनुष्य कैसा? वह तो या जड़ कहा जाय या देवता। शर्मा उसे चाहता है, इसका क्या प्रमाण, उससे वरदान या प्रेम का प्रतिदान तो कुछ मिला ही नहीं। इसलिये डाक्टर से उसका सम्पर्क होना स्वाभाविक ही है। रही यह कि बिना विवाह के; सामाजिक मर्यादा को देखते हुए बिना विवाह दो स्त्री-पुरुष एक साथ नही रह सकते इसी कारण शर्मा को लोकापवाद का पात्र होना पड़ा। पर जिस लिये विवाह किया जाता है, वह तो प्रथम ही हो गया। फिर रुकावट क्या रही। वास्तव मे इसी काम-समस्या और प्रजनन कार्य को व्यवस्थित करने के लिये समाज ने विवाह-प्रथा चलाई। उसके लिये यह प्रथा अपने आप खोदी खाई न बन जाय, यह भी देखना है कि जब स्त्री और पुरुष परस्पर प्रणय बन्धन में बँधते हैं तो विवाह होना चाहिये। उसमें बाधा होनी उचित नही। वह आकर्षण स्वाभाविक है। हाँ, डाक्टर वाली मधुकरी रीति को समाज ठीक समझेगा क्योंकि वहाँ प्रेम नही है।

रही समाज की कि वह किसे सदाचार और किसे दुराचार समझे। इसमें यह देखना है कि दूसरे की आलोचना करने वाला स्वयं कितना शुद्ध है। वह हानि का उत्तरदायी नहीं और लाभ का उत्तरदायी बने, उसमें टीकाटिप्पणी करे, यह कहाँ तक उचित है। उसका अधिकार ही क्या है कि दुःख के समय जिसने आँस न बहाए वह सुख के समय

आक्षेप करे। यह समाज पर अत्याचार करे, परन्तु यह उसका स्वभाव हो गया है।

इन्हीं बातों से संघर्ष, सिद्धान्तों की रक्षा करनी आवश्यक है। औरों की आलोचना करनी आसान है, बाकी मित्रता के नाम पर अधिकार जताने वाले भी बहुत हैं, परन्तु सब में स्वार्थ दृष्टि, त्याग का लेश भी नहीं। ऐसे लोगों को कुछ भी कहने का अधिकार नहीं।

इस नाटक द्वारा लेखक ने समाज की मनोवृत्ति भी दिखाई है जिस के कारण वर्गभेद पनप रहा है। धनीवर्ग का दम्भ कि ग़रीबों को मनुष्य भी न समझना, उन्हें मानव के योग्य सुविधाओं से भी वंचित रखना कितना अन्याय है? यह विनाश का चिह्न नहीं? उसी वर्ग के नियमों को सब शिर झुका कर क्यों मान लें। बुद्धि के काँटे पर तोल कर जो खरा उतरे वही अपनाना चाहिए। यही इसका दृष्टिकोण है।

दूसरी ओर एक तथ्य, कि शिक्षक और शिक्षार्थी इनको राजनीति में भाग नहीं लेना चाहिए, इसमें सामने है। सरकारी स्कूलों के अध्यापकों का कर्त्तव्य पढ़ाई का होता है न कि दलबन्दियों में भाग लेना। स्कूलों में छुट्टी कर देना, इससे भारी हानि होती हैं। जगदीश तिवारी का सिद्धान्त कि 'कोई चेयरमैन चुना जाय, हमारा काम पढ़ाना है' ही ठीक हैं।

यह नाटक कला की दृष्टि से नवीनतम है। इसमें केवल तीन अंक हैं। बार बार पर्दे न उठाये गिराये जायें, इसलिये दृश्य भी एक एक ही है। स्थल एक दृश्य में एक ही रहता है। पात्रों की संख्या भी अधिक नहीं है। इससे कथा की दृश्यों और घटनाओं की एकता बनी रहती है। नाटक में स्वाभाविकता और संगति का ध्यान रखा गया है। नाटक-कार ने जो त्रुटि और नाटककारों में बताई है, वह इसमें नहीं रखी है। उनकी सम्मति में उनका प्रयोग इसी में पूरा हुआ है। गीतों का अभाव अस्वाभाविक कथन का अभाव है। कथानक सर्वथा कल्पित परन्तु वर्तमान भारतीय जीवन पर आधारित है। जो प्रवृत्तियाँ इसमें दिखाई हैं, वही हमारे प्रत्यक्ष जीवन में मिलती हैं। चाचा भतीजों का विरोध, बालक का मातृ-प्रेम, माता की मृत्यु पर बालक की दशा, प्रेम के कारण मानसिक

दशा, कर्मचारियों की खुशामदी मनोवृत्ति, अधिकारियों की व धनिकों की स्वार्थपरता सब स्वाभाविक हैं। इसमें किसी चरित्र को आदर्श में रंगने का प्रयत्न नहीं किया है। यथार्थ चित्रण इसकी विशेषता है। परन्तु भाव-भूमि भारतीय ही है। इसकी पुष्टि नाटकके अन्त से ही हो जाती है।

प्रश्न :—नाटक का नाम 'मुक्ति का रहस्य' क्यों रखा गया ?

उत्तर :—आशा का सम्पर्क उमाशंकर के लिये समाज की दृष्टि में और स्वयं उसकी दृष्टि में बंधन है। सभी उससे मुक्ति पाने पर बल देते हैं, परन्तु वह नहीं मानता। परन्तु अन्त में मुक्ति मिलती है, वह भी आशा के कारण। परन्तु उसमें रहस्य निकला, मनोहर की माँ की हत्या तथा डाक्टर से प्रेम। ये दो समस्यायें, इन्हीं के कारण आशा को शर्मा का साथ छोड़ना पड़ा। अतः नाटक का नाम भी 'मुक्ति का रहस्य' ही रख दिया।

पात्र व चरित्र-चित्रण— इसका नायक उमाशंकर है, अच्छे घराने का होने पर भी वह गांधीवादी है, कांग्रेसी है। इसी कारण वह चाचा द्वारा खुशामद से प्राप्त की गई डिप्टी कलेक्टरी को त्याग देता है। लोक-प्रिय है। रचनात्मक कार्यक्रम का पक्षपाती है। 'शिक्षा-विभाग का राज-नीति से सम्बन्ध न हो' इस मत का कट्टर समर्थक है। चापलूसी नहीं चाहता है। पत्नी की मृत्यु के बाद आशा को ही उसने अपने समीप पाया है। उसे वह चाहता है, समाज उसकी निन्दा करता है, वह परवाह नहीं करता, परन्तु उसका प्रेम गम्भीर है, गूढ़ है। उसमें उबाल नहीं है। वह समाज की दुर्बलता जानता है। स्वयं चुनाव के लिये प्रयत्न न करने पर भी वह चेयरमैन चुना गया है। वह अधिकार पाकर कर्तव्य को भूलना नहीं चाहता। इससे लेखक समस्या की गहराई तक पेठता है। धन की शर्मा को लालसा नहीं है। वह आशा के कारण अपना अस्तित्व छोड़ देता है। उदार भी है, प्रेम में त्रुटियां देखता, आशा के अपराध को वह क्षमा कर देता है। उसका चरित्र मानव स्वभाव के अनुकूल ही है।

आशा देवी—यह नवीन सभ्यता में रंगी हुई युवती है। इसका

हृदय प्रेम से भरा हुआ है। अपने प्यारे को पाने के लिये वह अनुचित कार्य भी कर सकती है। उसका हृदय मनोहर से माँ कहलाने के लिये है। वह चाहती है किसी प्रकार उमाशंकर अपनी कहकर पुकारे। शर्मा उसे हृदय से चाहता है, परन्तु उसे वह गूढ़ प्रेम ही नहीं चाहिये। वह इससे अधिक जो कुछ चाहती है, वह उसे नहीं मिलने पाया। उसी आवेश में उसने मनोहर की माँ की हत्या की। जिसके कारण आजीवन पश्चात्ताप में जली। डाक्टर की वासना का शिकार बनना पड़ा। उमा-शंकर के प्रति उसका आकर्षण, प्रणय तब भी कम न हुआ। हाँ, वह अब अपने को उसके योग्य न समझती थी, अतः डाक्टर के साथ ही विवाह कर लिया। उसके ऊपर बाहरी प्रभाव है परन्तु आत्मा पर नहीं। कम से कम शरीर की पवित्रता का अवश्य विचार है। इसी कारण पहले उसे नष्ट नहीं किया। उसका सतीत्व बाजारू न बना। नष्ट होने पर भी उसने डाक्टर से विवाह करके प्राप्त कर लिया।

मनोहर—यह आठ वर्ष का बालक है। उसके हृदय में मातृप्रेम की अगाध सरिता प्रवाहित हो रही है। उसे उसकी मूर्ति प्रतिक्षण दिखाई दिखाई देती है। वह माता की गोदी में जाना चाहता है। उसे पता नहीं माँ के पास कैसे जाया जाय।

वह आशा को तभी कहता है कि जाओ, माँ के पास और मुझे भी ले चलो, आदि। बालमनोविज्ञान का यह बहुत अच्छा उदाहरण है।

डाक्टर त्रिभुवननाथ:—केवल इसका चरित्र ऐसा है जिसका इसमें विकास दिखाया है। यह वासना के कारण बदनाम हो चुका है। शर्मा से इसकी घनिष्ठता है। केवल आशा को हथियाने के लिये गुप्त पत्र दबाये हुए हैं। उसी के बल पर वह आशा को पा भी लेता है। उसके विष पी लेने से इसकी आत्मा बहुत प्रभावित होती है। अपने कुकृत्य के लिये उसे पश्चात्ताप है। यहाँ नारी ही उसे साहस बँधाती है। इसकी एक बात के मित्रता और हितैषिता कार्य में होती है, वाणी में नहीं। बहुत बड़ा तथ्य है, इसने भी उसी के अनुसार कार्य किया है।

मुरारीसिंह:—यह खुशामदी और चापलूस कर्मचारियों का

उदाहरण है। ऐसे व्यक्ति ही अधिकारियों को लक्ष्य-भ्रष्ट कर देते हैं। अपना कार्य न समझना, ठीक काम करने वाले को अधिकारियों की नजर से उतार देना इन्हीं का काम है।

बेनीमाधव :—यह लोगों का प्रतिनिधि है जो सामने मित्र, पीछे छुरी भोंकने वाले शत्रु बन जाते हैं। सामने हितैषी बनना और पीछे बुराई करना इसका काम है। यह वकीलों का उदाहरण है जिनके लिये पैसा ही धर्म कर्म है। धन के मद से अन्धे ये गरीबों को मनुष्य ही नहीं समझते। इनके कारण ही इन बेचारों की दुर्दशा है।

काशीनाथ :—ये उन पूंजी-पतियों के प्रतिनिधि हैं जो पैसे के लिये सब चापलूसी कर सकते हैं। भतीजे के अधिकार दबा सकते हैं। अधिकारियों की दावत कर २ के जी-हजूरी करने में तनिक भी कमी नहीं चाहते। देश-भक्तों की प्रवृत्ति इन्हें फूटी आँख नहीं सुहाती।

बुद्धिवाद क्या है? :—किसी बात को ज्यों का त्यों न मानकर उसकी उपयोगिता के अनुसार स्वीकार करना बुद्धिवाद है। ईश्वर और आत्मा का सम्बन्ध, व्यक्ति और सामाजिक मर्यादा का सम्बन्ध उपयोगिता की कसौटी पर कसकर जो बुद्धि और मस्तिष्क के अनुकूल बैठे, वही स्वीकार करना यही बुद्धिवाद है।

प्रश्न :—मिश्र जी के मत में द्विजेन्द्रलाल राय और प्रसाद जी के नाटकों में क्या दोष है?

उत्तर :—द्विजन्द्रलाल राय ने शेक्सपियर का अन्धानुकरण किया। जिस प्रकार का भावावेश उन्होंने अपने नाटकों में दिखाया है, वह अस्वाभाविक है। जैसे गुलनार का दिलेर से उसी समय प्रेम-भिक्षा मांगना और उसी समय यह कह बैठना कि मैं तुम्हें एक चीज दे सकती हूँ—प्रेम या मौत, एक बेतुकी सी बात है। इस प्रकार की कृत्रिमता का ही हिन्दी नाटककारों ने अनुसरण किया।

प्रसाद जी के नाटकों पर द्विजेन्द्र के नाटकों का ही प्रभाव है। इस कारण स्वगत कथन, लम्बे भाषण और असंगत भावावेश स्थान २ पर भरे पड़े हैं।

बहता पानी

संक्षिप्त कथा

सर्वप्रथम, विद्वत्ता, धर्मनिष्ठा तथा सहृदयता के प्रतीक स्वरूप प्रो० दीनानाथ हमारे सम्मुख आते हैं। इनका परिवार भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल स्वरूप को हमारे सम्मुख रखता है। पाश्चात्य सभ्यता का विषाक्त वातावरण इस परिवार को नहीं छू पाया है। अपने पुत्र की संतानहीनता जब माँ करुणा के नेत्रों को सजल कर देती है, तब दीनानाथ कह उठते हैं—'माँ, देश के समस्त अनाथ बच्चों को मैं अपनी ही संतान समझता हूँ।' संतान की यह दार्शनिक परिभाषा माँ करुणा के लिये अग्नि में घृत का कार्य करती है तथा वे आकुलता के स्वर में बोल उठती है—"कहीं ओस चाटने से किसी की प्यास बुझी है?" दीनानाथ भी इन दिनों कुछ अन्यमनस्क से रहते थे और इसका कारण था डिप्टी रघुनाथप्रसाद का प्रयाग के लिये स्थानान्तरित हो जाना। डिप्टी साहब की दशवर्षीया भोली-भाली बालिका चपला को दीनानाथ अपनी ही पुत्री मानते थे। इस कारण उनका उदास रहना स्वाभाविक है। रघुनाथप्रसाद की पत्नी गायत्री देवी, एक पुत्र श्याम-किशोर तथा दो पुत्रियाँ कमला और चपला हैं। कमला थी तो इनकी पोषिता कन्या किंतु डिप्टी साहब के परिवार के व्यवहार से कमला को सब इन्हीं की पुत्री समझते थे।

निर्धन विद्यार्थी तो सदा ही प्रो० दीनानाथ की कृपा के पात्र हुआ करते थे और ऐसे ही विद्यार्थियों में से एक था—शिवप्रसाद। प्रो० साहब की कृपा से शिवप्रसाद ने उच्च शिक्षा प्राप्त की। यह एक प्रभाव-

शाली युवक था। शिवप्रसाद बनारस के नये डिप्टी कलेक्टर मि० सिंह की पुत्री मृणालिनी का ट्यूटर नियुक्त हुआ। मृणालिनी के प्रेमपाश में आबद्ध होकर यह पाश्चात्य सभ्यता के प्रवाह में वह चुका था। ईसाई होने तथा पाश्चात्य सभ्यता के दास होने के कारण मि० सिंह को मृणालिनी के स्वतंत्र व्यवहार में कोई आपत्ति नही थी। इसी समय प्रो० दीनानाथ को एक अच्छी नौकरी लखनऊ के एक कालिज में मिल गई और वे बनारस से लखनऊ चले गये। यहाँ कुछ तो आय अधिक थी और कुछ ये मितव्ययिता से रहने लगे। इस प्रकार यहाँ दीनानाथ ने एक अपना मकान भी बना लिया। कुछ समय पीछे उन्होंने समाचार पत्रों में देखा कि मृणालिनी तथा शिवप्रसाद का विवाह बनारस में होने वाला है और शिवप्रसाद ने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये ईसाई धर्म भी स्वीकार कर लिया है। उसको ईसाई धर्म में दीक्षित होने से बचाने के लिये दीनानाथ और रघुनाथप्रसाद दोनों पहुँचे। इन्होंने भरसक प्रयत्न किया किंतु निष्फल। लौटते समय दीनानाथ डिप्टी रघुनाथप्रसाद के यहाँ होते हुए लखनऊ आ गये। डिप्टी रघुनाथप्रसाद तथा दीनानाथ के विचारों में अन्तर था। डिप्टी साहब का आदर्श था मुसलमान तथा ईसाइयों की भांति हिन्दुओं की संख्या बढ़ाना। किंतु दीनानाथ इस प्रकार धर्म-परिवर्तन कराये हुए व्यक्तियों को खोटा समझते थे। रघुनाथ प्रसाद कहते थे कि हिन्दू कन्याएँ यदि किसी ईसाई अथवा मुसलमान युवक को अपने प्रणयपाश में बांधकर हिन्दू बना लेती हैं तो इसमें हिंदू-समाज का हित है। किंतु दीनानाथ इसके विरोध में थे।

कुछ समय के पश्चात् मृणालिनी की क्षय रोग से मृत्यु हो गई और और उसकी मृत्यु के ६ मास पश्चात् उसकी माँ का भी देहान्त हो गया। इस प्रकार मि० सिंह तथा उनका जामाता शिवप्रसाद दोनों विधुर हो गये। शिवप्रसाद के जीवन में तो मृणालिनी की मृत्यु से कोई परिवर्तन नहीं हुआ। वह कपटी स्वभाव का व्यक्ति था, और युवतियों को चंगुल में फंसाने में अतिदक्ष था। उसने थियासोफिस्टों का साथ

पकड़ा। वहाँ उसका हिंदू सुन्दरियों से भी सम्पर्क बढ़ा। मृणालिनी की सखी मारगरेट हिंदू समाज के आदर्शों के साथ बड़ी सहानुभूति रखती थी और अपने समाज की परिस्थितियों पर असन्तोप प्रगट करती थी। मि० सिंह तथा शिवप्रसाद दोनों की वासना भरी दृष्टि कुमारी मारगरेट पर रहती थी। परंतु वह इन दोनों में से किसी के प्रणय-सूत्र में नहीं बँधना चाहती थी। कारण यह था कि एक तो अधेड़ और दूसरा निराशा का दान करने वाला था। डिप्टी रघुनाथप्रसाद का परिवार भी इन सब के सम्पर्क में आता रहता था। दीनानाथ तथा गायत्री इस बात के विरोध में थे। वे हिंदू संस्कृति का पतन इसमें स्पष्ट देखते थे। मारगरेट भी हिंदू आदर्शों से प्रभावित थी। मि० सिंह द्वारा आलोचना किये जाने पर एक बार मारगरेट के कहा—"क्षमा कीजियेगा, हम इस देश को बहुत सी बातें सिखला सकते हैं, लेकिन धर्म की शिक्षा नहीं दे सकते।"

शिवप्रसाद के स्वभाव से तो आप परिचित हो ही गये हैं। उसने अपने आडंबरपूर्ण हिन्दी लेखों के द्वारा रघुनाथप्रसाद को प्रभावित कर लिया। वे सोचने लगे कि अब उसे आर्य-समाज में दीक्षित कर लेंगे और चपला के लिये इससे अधिक योग्य वर भी मिलना कठिन है। रघुनाथप्रसाद के घर में उनकी पत्नी गायत्री की नहीं चलती थी। वे अपना मन मसोस कर रह जाती थीं। शिवप्रसाद ने एक बार अपने स्थान पर रघुनाथप्रसाद के परिवार को पार्टी में निमंत्रित किया। इसमें श्यामकिशोर, कमला तथा चपला भी सम्मिलित थे। मारगरेट भी मि० सिंह के साथ थी। इसी समय एक 'स्वतंत्र नारी-समाज' की स्थापना इन लोगों ने की। यह वास्तव में एक प्रकार का क्लब था जिसका उद्देश्य केवल मनोरंजन था और इसके सदस्यों का क्षेत्र भी सीमित था। यह कोई उपयोगी संस्था नहीं थी, किन्तु खेद इस बात का है कि डिप्टी रघुनाथप्रसाद जैसे सुधारक भी ऐसी भूल कर बैठे। वास्तव में उनके अन्दर दूरदर्शिता की कमी हमें प्रत्येक स्थान पर दिखाई देती है।

दीनानाथ अपने नये मकान में रहने लगे थे। करुणादेवी अपनी बृद्धावस्था का ध्यान करके दीनानाथ से दूसरे विवाह के लिये कहती थीं। किन्तु दीनानाथ ने इस बात को स्वीकार न किया। वैसे वे सदा माँ की आज्ञा का पालन करते थे। उनकी ४० वर्ष की अवस्था में उनको पुत्र के दर्शन तो हुए किन्तु उनकी पत्नी केवल १५ दिन के शिशु कृष्णकुमार को छोड़ कर चिर-निद्रा की शान्तिमयी अंक में विश्राम पाने के लिये इस संसार से विदा हुईं। दीनानाथ तो संसार की ओर से उदासीन से हो गये। केवल अपनी माँ की सेवा का ध्यान करके वे पूर्ववत् अपना कार्य करने लगे।

इस समय श्यामकिशोर, कमला तथा चपला क्रमशः २५, २१ तथा १६ वर्ष के हो चुके थे। श्यामकिशोर बी. ए. करने के पश्चात् एल. एल. बी. का प्रथम वर्ष कर चुका था। कमला प्रथम श्रेणी में बी. ए. कर चुकी थी तथा चपला एफ. ए. कर चुकी थी। दीनानाथ और गायत्री देवी की यह इच्छा थी कि इन तीनों का विवाह शीघ्र हो जाना चाहिये। किन्तु रघुनाथप्रसाद चपला के लिये तो शिवप्रसाद को योग्य वर समझे बैठे थे। शिवप्रसाद की चालों का उनको कुछ पता न था। कमला को वे उसकी इच्छानुसार अविवाहित रहने की आज्ञा दे चुके थे। श्यामकिशोर ने यह निश्चय किया था कि जब तक एल. एल. बी. न कर लूँगा, विवाह कदापि न करूँगा। यों तो जल के प्रवाह की भाँति समय के प्रवाह में भी सब कुछ बहता ही रहता है, किन्तु गहराई से देखने पर समस्या थी अत्यंन्त जटिल।

इस 'स्वतंत्र नारी समाज' ने सबको विषम परिस्थितियों में डाल दिया था अथवा यों कहिये कि एक हिन्दू परिवार को ईसाई सभ्यता में डाल कर कहीं का भी न छोड़ा था। मारगरेट श्यामकिशोर से प्रेम करती थी तो श्यामकिशोर कमला की ओर आकृष्ट था। कमला श्यामकिशोर के साथ विवाह होना असंभव समझती थी और दीनानाथ के गुणों से प्रभावित थी। चपला शिवप्रसाद से प्रेम करती थी किन्तु शिवप्रसाद कितनी ही कुमारियों को निराश कर चुका था। उधर मि० सिंह भी

मारगरेट के साथ विवाह करना चाहते थे। रघुनाथप्रसाद की पत्नी गायत्री इस नाटक से अत्यंत दुःखी थी और अपनी संतान का भविष्य उसे बिगड़ा हुआ दिखाई देता था। इसी समय दीनानाथ अपने साले के विवाह में प्रयाग आये थे। दुर्भाग्य तो उसके पीछे पड़ा ही था, उनके तांगे से मोटर टकरा जाने से ऐसी चोट लगी कि स्थानीय सिविल-सर्जन भी उनके जीवन का पूर्ण आश्वसन न दे सका। किन्तु रघुनाथ-प्रसाद के परिवार की सेवाओं ने उनके जीवन की किसी प्रकार रक्षा कर ली और वे कुछ दिन में स्वस्थ हो गये। कमला ने जो सेवा की उस-से उऋण होना दीनानाथ के लिये कठिन था। शिवप्रसाद डाक्टरेट की डिग्री प्राप्त करने अमेरिका चला गया। अब रघुनाथप्रसाद के परिवार में यही विचार हुआ कि चपला का सम्बन्ध दीनानाथ से करना ही उचित रहेगा। दीनानाथ तो विवाह नहीं करना चाहते थे किन्तु माँ के आग्रह को न टाल सके। कमला लखनऊ के महिलाविद्यालय में अध्यापिका हो गई थी। करुणा देवी के आग्रह से वह उन्हीं के पास रहती थी। कृष्णकुमार का बड़े स्नेह से पालन करती थी तथा कुछ समय निकाल कर दीनानाथ से गीता पढ़ती थी। उसके अनाथ होने के विचार ने तथा उसके उच्च आदर्शों ने उसके जीवन को तपस्वी जैसा बना दिया था।

चपला का विवाह दीनानाथ के साथ हो गया। कमला का दुःख दिन पर दिन बढ़ता ही गया। अब वह और भी लगन के साथ शिशु का पालन करती तथा करुणादेवी के कार्य में हाथ बटाती थी। एक बार तो दीनानाथ और चपला का स्नेह बढ़ा और दीनानाथ ने सारी सुख-सामग्री चपला के लिये जुटाई, किन्तु पीछे उन्हें ध्यान आया कि वे अपने कर्तव्य को भूलते जा रहे हैं। अब तो बहते पानी के समान पीछे को लौटना चपला के लिये कठिन था। अनबन रहने लगी। चपला ने बी० ए० भी पास करली। शिवप्रसाद के पत्र भी छिपे रूप में इसके पास आने लगे। कुछ दिन में शिवप्रसाद अमरीका से लौट आया और अपनी कूटनीति द्वारा उसने लखनऊ के कालिज में प्रिंसिपल का पद पा लिया। दीनानाथ से वह ईर्ष्या तो रखता ही था पर ऊपर से बनाये रखता था। वह उनके

कार्य में रुकावटें डालने लगा। चपला शिवप्रसाद के साथ सिनेमा देखने जाती थी और कभी कभी रात्रि को भी वहीं ठहर जाती थी। दीनानाथ ने बिना वेतन के ६ माह की छुट्टी कालिज से ले ली। इसलिये डा० शिवप्रसाद महिला विद्यालय के सेक्रेटरी हो गये। चपला को वहाँ की उपप्रधानाध्यापिका का स्थान मिल गया। यह स्थान वास्तव में कमला को मिलना चाहिये था। उसका कार्यकाल भी अधिक था और उसे अनुभव भी अधिक था। इस अन्याय के विरुद्ध वह विद्यालय के सभापति के पास पहुँची। उसे यह ध्यान न रहा कि अपनी कपटनीति से चपला और शिवप्रसाद ने सब पर प्रभाव जमा रक्खा है और इनसे सब डरते हैं। सचाई को यहाँ कौन पूछेगा। सभापति ने कमला पर ही शिवप्रसाद और चपला का अपमान करने का अभियोग लगाया।

इधर श्यामकिशोर ने भी नवयुवकों का एक दल बनाकर सरकार के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ कर दिया कि वह धार्मिक समारोहों पर प्रतिबंध न लगाये चाहे वे किसी वर्ग के हों। श्यामकिशोर और कमला के बीच पत्र व्यवहार तो होता रहता था किन्तु दोनों ही वासना तृप्ति की अपेक्षा कर्तव्य-पालन का अधिक ध्यान रखते थे। दोनों ही समाज सुधारक थे। किन्तु श्यामकिशोर के मार्ग में वे कठिनाइयाँ नहीं थीं जो कमला के मार्ग में थीं।

कमला जब सभापति के यहाँ से लौटकर अपने कमरे में आई तो वह चिंता के सागर में डूबी हुई थी। चपला उसके पास आई और शिवप्रसाद से समझौता करने के लिये कमला से आग्रह किया। कमला ने दूसरे दिन उत्तर देने को कहकर चपला को तो लौटा दिया, किन्तु थोड़ी देर में मारगरेट उसके पास आई। यह भी शिवप्रसाद की ही दूती थी। इसने कमला से कहा कि तुम एक बार शिवप्रसाद की कृपादृष्टि प्राप्त कर लो तो तुम्हें कोई आपत्ति न रहेगी। यदि ऐसा न करोगी तो डा० साहब कल रजिस्ट्री द्वारा एक पत्र श्यामकिशोर को भेज रहे हैं जिसमें तुम्हें अत्यन्त अपमानित किया गया है। यह पत्र कमला की ओर से डा० साहब को था। "आपने एक बार भी मुझे प्रेमभरी निगाह से

देखा होता तो मैं अपने जीवन को सफल समझती" इसी प्रकार के प्रसंगों से पत्र भरा हुआ था। इस जाली पत्र को देखकर कमला के हृदय में अग्नि दहकने लगी। उसने मारगरेट से कहा—'भेज दो, तुरन्त भेजो'। मारगरेट कुछ अधिक न कह सकी और लौट गई। कमला इस समय उस संकट-पर्वत के ढाल पर खड़ी था कि वायु का एक हल्का झोंका भी उसकी मृत्यु का कारण बन सकता था। कमला मृत्यु से मिलने के लिये इसी प्रकार उत्कण्ठित हो गई जैसे चातकी स्वांति के लिये और कमलिनी सूर्य के लिये होती है। उसने एक पत्र रघुनाथप्रसाद को लिखकर मेज़ पर रख दिया और इसके बाद दीनानाथ को पत्र लिखकर लेटरबक्स में डालने के लिये अपनी जेब में रख लिया और कमरा बन्द करके चल दी।

रात्रि के दस बजे का समय था, गोमती की लहरों ने उदार होकर अपनी शीतलता से कमला के हृदय को सदा के लिये शान्त करके अपनी गोद में उसे सुला लिया। दूसरे दिन सवेरे पता लगने पर सब विद्यालय में एकत्रित हुए। कमला का पत्र पढ़ा गया। उसी समय चपला ने अपने पिता के पास तार दे दिया। कुछ समय के पश्चात् सब आगये और कमला के अपूर्व गुणों का वर्णन कर करके अत्यंत दुख प्रगट करने लगे। दसवीं तिथि के दिन सभी परिचित आगये। दीनानाथ ने कमला के फोटो के साथ उसकी जीवनी समाचार पत्रों में प्रकाशित करा दी थी। मि० सिंह ने समझ लिया कि प्रदर्शिनी में तो मेरी कमलिनी खोई थी और यह वही कमलिनी कमला है। उन्हें बड़ा दुःख हुआ और अपनी लड़की के प्यार की यादगार में वे ईसाई धर्म को त्याग कर आर्यसमाजी बन गये। थोड़ी देर में गंगा किनारे लोगों को यह मालूम हो गया कि मि० सिंह सोलहो आने हिन्दू हैं।

कमला ने जो दीनानाथ को पत्र लिखा था उसमें आधुनिक शिक्षा-पद्धति की कटु आलोचना की थी। उसने यह भी लिखा था—"नागरिक जीवन का मूल्य बढ़ाकर गांवों को उजाड़ो मत।" उसके पत्र को सुनकर सबकी आंखों में आंसू आगये। प्रायश्चित्त के रूप में चपला ने अपने

सारे रेशमी वस्त्र जलाकर समाज सेवा के कार्य को अपनाया। श्याम-किशोर ने कमला के कार्य की पूर्ति करने के लिये जीवन-भर को सेवा-व्रत लिया। मारगरेट ने भी इसी कार्य को अपनाया। यदि कोई व्यक्ति ऐसा था जिस पर कमला के त्याग का प्रभाव न पड़ा हो तो वह था—शिवप्रसाद।

परीक्षा के समीप संस्मरण संकेत

१—प्रो० दीनानाथ तथा डिप्टी रघुनाथप्रसाद की मित्रता तथा एक दूसरे के परिवार में आना जाना।

२—दीनानाथ द्वारा सहायता पाकर शिवप्रसाद का पढ़ना और नये डिप्टी मि० सिंह जो कि ईसाई हो चुके थे उनकी लड़की मृणालिनी से विवाह करना और स्वयं भी ईसाई धर्म में दीक्षित हो जाना।

३—शिवप्रसाद और मि० सिंह दोनों की पत्नियों का देहान्त। श्याम-किशोर कमला तथा चपला का अपने पिता रघुनाथप्रसाद के साथ शिवप्रसाद के यहाँ चायपार्टी में जाना और 'स्वतन्त्र नारी समाज' की स्थापना।

४—दीनानाथ और रघुनाथप्रसाद की पत्नी गायत्री का इस नीति का विरोध करना, तथा बच्चों के शीघ्र विवाह का प्रस्ताव रखना।

५—श्यामकिशोर समाज-सुधारक था और कमला से सच्चा प्रेम रखता था। कमला भी समाज-सेवा का व्रत लिये हुए थी किन्तु शिवप्रसाद और चपला द्वारा मिथ्या दोषारोपण किये जाने पर उसने गोमती के प्रवाह में कूद कर अपनी आत्म-हत्या करली पर अपना मार्ग बदलना स्वीकार न किया।

प्रमुख पात्रों का संक्षिप्त चरित्र-चित्रण

श्यामकिशोर :—यह इस उपन्यास (बहता पानी) का नायक है। दीनानाथ तथा रघुनाथप्रसाद शिवप्रसाद को ईसाई धर्म में दीक्षित होने से न रोक सके। अपने प्रयत्न में असफल रहकर जब दोनों प्रयाग आते हैं तो श्यामकिशोर, चपला, कमला तथा गायत्री सभी ने दीना-नाथ से कुछ दिन ठहरने का आग्रह किया। वे एक दिन के लिए ठहर

गये। यहीं पर हमें अपने नायक के व्यक्तित्व का प्रथम आभास होता है। श्यामकिशोर, दीनानाथ तथा रघुनाथप्रसाद दोनों से कहता है—"क्या आप लोगों पर शिवप्रसाद के ईसाई होने का विशेष प्रभाव पड़ा है? लेकिन आप लोगों के दृष्टिकोण में कुछ ऐसी भिन्नता है कि दोनों व्यक्तियों का एकमत होकर काम करना ही कठिन है।" आपस के कुछ वाद-विवाद के पश्चात् दीनानाथ ने स्वयं कहा—"श्यामकिशोर, तुम्हारे शब्दों में मुझे कुछ सार मालूम होता है।" श्यामकिशोर धर्म के झगड़े को पाखण्ड समझता था; वह मानव-मात्र के प्रति उदार था। इसका परिचय हमें तब मिलता है जब वह यह निश्चय करता है—"वकालत की झूठी प्रतिष्ठा मुझे उस कर्त्तव्य-पालन से विरत नहीं कर सकेगी जो यौवन का शृंगार है।" वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में अपनी हार नहीं मानता। वह एक साहसी युवक है। धार्मिक अधिवेशनों पर सरकार द्वारा प्रतिबन्ध लगाये जाने पर वह अपने नेतृत्व में युवकों को संगठित करता है तथा एक नोटिस निकालता है—"...... आर्यसमाजी कार्य-कर्त्ताओं ने अधिवेशन को ही स्थगित करके बड़ी गलती की है। ...... मैं इस प्रश्न को किसी धार्मिक दृष्टि से नहीं देखता। मेरा निवेदन केवल इतना है कि नागरिकों के उचित अधिकारों पर सरकार को इस तरह आक्रमण न करना चाहिये। नागरिकों की दुर्बलताओं का परिचय पाकर ही सरकार ऐसा करती है। सरकार को इस धारणा को मिटा देने का उत्तरदायित्व युवक नागरिकों ही पर है।...।"

कमला के अतिरिक्त वह किसी अन्य युवती को अपने स्नेह-पाश में नहीं बाँधता। मारगरेट को वह समझाता है—"कुमारी मारगरेट, 'स्वतंत्र-नारी-समाज' की स्थापना में हम लोगों ने बड़ी भूल की; हमने यह नहीं सोचा कि इस संस्था का निर्माण हम अपने लिए कर रहे हैं या जनता के लिए।" अंत में जब कुमारी मारगरेट ने कहा—"कमला के बलिदान की विभीषिका प्रस्तुत करने में मेरा ही प्रमुख भाग है और इसका प्रायश्चित्त मुझे आपसे ही पूछना है।" तब श्यामकिशोर ने उत्तर दिया—"इसका प्रायश्चित्त यही है कि कमला के आदर्श की पूर्ति में लगो। इस

जीवन में मेरा और तुम्हारा मिलना यदि कहीं हो सकता है तो इसी प्रयत्न में।" वह जिस आदर्श को लेकर चला है, अन्त तक उसे सफलता-पूर्वक निभाया है।

दीनानाथ :—ये विद्वान, धर्मनिष्ठ तथा अत्यंत सहृदय व्यक्ति थे। निर्धन विद्यार्थियों की सहायता में ये अपने वेतन का बड़ा भाग व्यय कर देते थे। माता की सदा आज्ञा मानते थे। इनका प्रारंभिक जीवन संतान-हीनता के कारण सुखी नहीं रहा। किन्तु अपने दार्शनिक विचारों के द्वारा ये मन को सान्त्वना दे लेते थे।

ये सनातनधर्म में निष्ठा रखते थे और रघुनाथप्रसाद के बुद्धिमार्ग के विरोधी थे। इनका कहना था—"हिन्दू समाज की सबलता का एकमात्र रहस्य यह रहा है कि उसने मिथ्या पाखण्ड (फैशन) की आराधना से अपने आपको अन्य समाजों की अपेक्षा अधिक बचाया।" धर्म की दृष्टि से, ये युवक तथा युवतियाँ जो अपने यौवन की चंचलता में धर्म परिवर्तन कर लेते हैं, किसी काम के नहीं।

इनका जीवन कष्टमय हो रहा है। ४० वर्ष की अवस्था में यदि पुत्र के दर्शन हुए भी तो उनकी परम साध्वी पत्नी १५ दिन के शिशु को छोड़कर इस संसार से चल बसीं। इसको भी इन्होंने जैसे तैसे सहन किया। अब माता के आग्रह से चपला के साथ इनका विवाह हो गया। अवस्था-भेद के कारण तथा विचारों का साम्य न होने से यह गृहस्थ सुखी न रह सका। चपला के शिवप्रसाद के साथ अधिक सैर करने से इनकी मानसिक स्थिति अत्यंत क्षुभित हो गई। इन्होंने लम्बी छुट्टियाँ ले लीं किन्तु फिर भी शान्ति न मिली। मिलती भी कैसे—इनके आदर्श में और चपला के आदर्श में तो अवनि और आकाश का अन्तर था।

रघुनाथप्रसाद :—ये डिप्टी कलेक्टर थे। इनके विचार आर्य-समाजी थे किन्तु ये अपनी संतान को पाश्चात्य संस्कृति के प्रवाह में बहा ले गये। ये हिन्दू समाज को यह बतलाना चाहते थे कि वे भी

मुसलमानों तथा ईसाइयों की तरह लड़कियों से हिन्दुओं की संख्या शक्ति बढ़ावें।

ये शिवप्रसाद के हिन्दी लेखों से बड़े प्रभावित हुए। शिवप्रसाद के गिरगिट स्वभाव का इन्हें किञ्चित् भी पता न लगा। ये इसी आशा पर कि शिवप्रसाद पुनः आर्यसमाज में ले लिया जायगा, अपनी लड़की चपला का उसके साथ विवाह करने के पक्ष में थे। ये अपनी परिस्थितियों पर काबू नहीं पा सके और अन्त तक मानसिक दुर्बलताओं का शिकार रहे। हाँ, यह अवश्य कहना पड़ेगा कि इन्होंने कमला को अपनी ही लड़की के समान पाला। ये चपला और कमला में कोई भेद नहीं समझते थे।

शिवप्रसाद :—ये आरंभ में एक निर्धन विद्यार्थी के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। प्रो० दीनानाथ ने सहायता देकर इनको उच्च शिक्षा प्राप्त कराई। किन्तु इनके आगे के जीवन में हम इनको पाश्चात्य सभ्यता का कठपुतला ही पाते हैं। ये एक ईसाई डिप्टी ललिताप्रसाद की लड़की कुमारी मृणालिनी के ट्यूटर नियुक्त होते हैं और उसके प्रेम-पाश में बंधकर उससे विवाह भी कर लेते हैं तथा स्वयं भी ईसाई धर्म में दीक्षित हो जाते हैं। ये विलासी प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं। आधुनिक सभ्यता के आवरण में ये अपनी वासनाओं की तृप्ति करने में सफल होते हैं। विवाह के लगभग पांच वर्ष पीछे मृणालिनी की मृत्यु हो जाती है। किन्तु इनके ऊपर अपनी पत्नी की मृत्यु का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ये अनेक कुमारियों को अपने जाल में फंसाने में चतुर सिद्ध हुए। यहाँ तक कि दीनानाथ जैसे पवित्र विचार वाले व्यक्ति की पत्नी होते हुए चपला शिवप्रसाद के चंगुल से न बच सकी। अन्त तक लेखक ने इनकी प्रवृत्ति का बड़ा सुन्दर तथा यथार्थ चित्रण किया है—कमला की तेरहवीं समाप्त होने के दूसरे दिन जब दीनानाथ ने सबको कमला का पत्र पढ़कर सुनाया तो सबकी आँखों से अश्रुधारा बह रही थी और डा० शिवप्रसाद ताँगे वाले से चिढ़कर कह रहे थे—"क्यों देर करते हो जी,

जल्दी चलो।" क्या कमला के त्याग ने उनमें भी कोई परिवर्तन उत्पन्न किया था? नहीं।

मि० सिंह :—ये डिप्टी कलेक्टर थे। एक नीच जाति की लड़की के साथ विवाह करने के हेतु ये ईसाई बन गये थे। चरित्र तो इनका यहीं से विलासिता-पूर्ण था। अपनी पत्नी की मृत्यु के पश्चात् ये मारगरेट की ओर आकर्षित हुए किन्तु इनकी वृद्धावस्था थी इस कारण ये उनके प्रेम-पात्र न बन सके। इनके दो लड़कियाँ थीं। एक तो मृणालिनी जिसका विवाह शिवप्रसाद से हुआ था और दूसरी मेरी कमलिनी जो दो वर्ष की अवस्था में प्रदर्शिनी में खो गई थी। यही लड़की डिप्टी रघुनाथप्रसाद ने पाली और उसका नाम कमला हुआ। कमला की मृत्यु पर जब उसकी जीवनी दीनानाथ ने पत्रों में प्रकाशित कराई तब मि० सिंह ने पहिचाना कि यह वही मेरी पुत्री मेरी कमलिनी है। कमला के बलिदान का इन पर ऐसा प्रभाव हुआ कि ये पुनः हिन्दू धर्म में दीक्षित हो गये।

कमला—यह इस उपन्यास की नायिका है। इसका चरित्र आरंभ से ही आदर्शवाद को लेकर चलता है। एक पत्र इसने दीनानाथ को अपना पितृव्य मानकर लिखा—"संक्षेप्त में, मेरे सामने प्रश्न यह है कि मैं बाबूजी के ऋण से किस तरह उऋण होऊँ?.........मैं समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन किस मार्ग पर चलकर कर सकूँगी?" कमला को दीनानाथ की विद्वत्ता में बड़ी श्रद्धा थी।

इसने लखनऊ के महिला-विद्यालय में अध्यापिका का कार्य इसलिये आरंभ किया था कि कुछ समाज सेवा कर सके। स्वभाव से यह बचपन से ही लज्जावती थी और इसी संकोच के कारण यह श्यामकिशोर को अपना प्रियतम मानते हुए भी प्रियतम न बना सकी। कमला को ईश्वर ने बुद्धि तथा त्याग की शक्ति दी थी। यदि जीवन के आरम्भ से ही दुर्भाग्य ने उसका पीछा न किया होता तो शायद उसकी बुद्धि विकसित होकर और त्यागशीलता फलमयी होकर उसके यश का कारण बनती।

डा० शिवप्रसाद के सहयोग से जब चपला महिला-विद्यालय की वाइस प्रिंसिपल बन गयी तब इन दोनों का कुचक्र कमला के ऊपर चलने

लगा। इस पद के लिये सच्ची अधिकारिणी तो कमला थी। कमला ने विद्यालय के सभापति के यहाँ शिवप्रसाद तथा चपला की उच्छृङ्खलता की शिकायत की। किन्तु फल उलटा हुआ। सभापति ने कमला पर ही अपमान करने का आरोप लगाया। शिवप्रसाद ने एक जाली पत्र बनाकर वह पत्र श्यामकिशोर के पास भेजने की धमकी मारगरेट द्वारा दिलायी। कमला अपनी इस परिस्थिति में विचार करने लगी—इस विषैले वातावरण में मैं कैसे जी सकूँगी? और जीकर भी जीवन का कौन-सा उपयोग? उसने एक पत्र रघुनाथप्रसाद को तथा दूसरा दीनानाथ को लिखा। कमरा बंद करके चल दी और रात्रि के दस बजे गोमती की गोद में महा-निद्रा में विलीन हो गई। कमला का बलिदान आधुनिक विलासी समाज के प्रति एक चुनौती है।

मारगरेट—यह एक ईसाई कुमारी है। परन्तु हिन्दू समाज के आदर्शों के प्रति इसकी सच्ची सहानुभूति है। जब मि० सिंह ने कुमारी मारगरेट से प्रेम-याचना की तब उसने उत्तर दिया—"मि० सिंह, आपने अपना प्यार मुझ पर केंद्रित करके अच्छा नहीं किया। मैंने तो अपना यह जीवन अभागे हिन्दुओं की सेवा के लिये अर्पित कर दिया है। संसार की उच्चतम सभ्यता की अधिपति यह जाति आजकल आत्म-विश्वास से इतनी रहित हो गई है कि यह अपने गुणों ही को अवगुण समझने लगी है। ।"

शिवप्रसाद के चंगुल में आकर मारगरेट ने कमला के विरुद्ध जो कुछ किया वह उसकी अन्तरात्मा की प्रेरणा के विरुद्ध था। अंत में कमला के बलिदान का उस पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह प्रायश्चित्त के लिये श्यामकिशोर से पूछने लगी। श्यामकिशोर की आज्ञा के अनुसार वह कमला के आदर्श की पूर्ति में उसका सहयोग देने लगी।

चपला—चपला के अंदर विचार-शक्ति तो पर्याप्त मात्रा में थी, किन्तु यह शिवप्रसाद के चंगुल में आकर पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित हो गई। शिवप्रसाद जिस प्रकार अन्य अनेक कुमारियों को निराश कर चुका था वही व्यवहार उसने चपला के साथ किया। चपला की प्रतिहिंसा

की भावना एक बार जाग उठी। किन्तु उसे ऐसी चोट लगी थी कि इतने ऊँचे चढ़ने में वह असमर्थ हो गई। पीछे उसका विवाह दीनानाथ के साथ हो गया। यहां भी उसे शिवप्रसाद के जाल में अनायास ही फँसना पड़ा। उसने कमला के प्रति उचित व्यवहार नहीं किया। कमला के बलिदान का प्रभाव अवश्य उस पर इतना गहरा पड़ा कि उसने कमला की तेरहवीं से अगले दिन अपने सारे रेशमी वस्त्र जला दिये और कमला के आदर्श की ओर प्रवृत्त हुई।

अन्य पात्रों का साधारण परिचय

शिवराम—यह दीनानाथ का नौकर था। भगवान का भक्त था।

रामकरन—यह रघुनाथप्रसाद का नौकर था। एक मुसलमान स्त्री को यह भगाकर ले आया था।

कप्तान हेनरी—ये मारगरेट के पिता तथा हिन्दूधर्म में श्रद्धा रखने वाले थे।

कृष्णाकुमार—दीनानाथ का पुत्र।

करुणा देवी—दीनानाथ की अत्यंत धर्मपरायणा माता।

मृणालिनी—मि० सिंह की पुत्री तथा शिवप्रसाद की पत्नी।

रमदेइया—रघुनाथप्रसाद की नौकरानी। यह एक पतिव्रता स्त्री थी।

गायत्री—रघुनाथप्रसाद की पत्नी। ये धर्मपरायणा स्त्री थीं।

प्रश्न १ :—वस्तु-योजना, चरित्र-चित्रण, भाषा, भाव तथा शैली की दृष्टि से 'बहता पानी' की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये।

उत्तर :—यह एक समस्या-मूलक सामाजिक उपन्यास है। कथानक का सम्बन्ध एक उच्चवर्ग के शिक्षित परिवार से है। आरम्भ से अन्त तक वस्तु-योजना वर्तमान समाज की एक गहनतम समस्या से ओत-प्रोत है। आधुनिक शिक्षा के प्रभाव तथा शुद्धि के वर्तमान

स्वरूप की तीखी आलोचना इस उपन्यास में की गई है। अपने को बड़ा समझने वाले तथा सुखी समझने वालों का आन्तरिक जीवन कितना कोलाहलमय तथा घृणित होता है, इसका दिग्दर्शन हमें इस उपन्यास में होता है। कथा का प्रवाह भी कहीं टूटता हुआ नहीं दिखाई देता। वर्तमान नवशिक्षित युवक तथा युवतियों के मनोवेगों का वर्णन बड़े कलात्मक ढंग से हुआ है।

आज के उपन्यासों में रूढ़िवादिता अथवा वार्तालाप के अन्य बन्धनों के लिये स्थान नहीं रहा। पात्र खुले रूप से आलोचना-प्रत्यालोचना करने में सर्वथा स्वतंत्र हैं। प्रगतिशील लेखक का यह उपन्यास प्रगतिवादिता का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। पात्रों के गुण, दोष तथा स्वभाव के अनुकूल ही चरित्रों का विकास स्वाभाविक रीति से होता गया है। कमला का पालन-पोषण जिस दम्पति ने अपनी पुत्री के समान ही किया हो, भला उनको कमला माता पिता से भी बढ़कर क्यों न माने। कमला रघुनाथ प्रसाद के ऋण से उऋण होने से लिये अपने जीवन का महानतम सुख भी त्यागने को तय्यार है। इस प्रश्न को कमला ने प्रो० दीनानाथ के सम्मुख अनेक बार पत्र द्वारा प्रस्तुत किया है। अन्य पात्रों के चरित्रों को भी अन्त तक लेखक ने, उनके स्वाभावानुकूल ही निभाया है। शिवप्रसाद एक ऐसा युवक है जो पाश्चात्य संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित हो चुका है, और उसके हृदय में सच्चे प्रेम के लिये कोई स्थान नहीं है। वह अनेक कुमारियों को अपने प्रेम-पाश में आबद्ध करके उनको निराशा का दान तो देता रहा है, किन्तु कमला के बलिदान से भी उसमें कोई परिवर्तन उत्पन्न नहीं होता। कमला की तेरहवीं से अगले दिन, जब सब की आँखों से अविरल अश्रुधारा बहती दिखाई दे रही है, तब शिवप्रसाद तांगे वाले से कहता है—"क्यों देर करते हो जी, जल्दी चलो।" लेखक ने निम्न-वर्ग का भी मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण करके एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। रमदेइया, रामकरण तथा शिवप्रसाद को भी लेखक ने उपेक्षणीय नहीं समझा है। हाँ, यह अवश्य कहना पड़ेगा कि मारगरेट के पिता

कप्तान हैनरी के चरित्र का समुचित विकास नहीं हो पाया है। कप्तान हेनरी अपनी पुत्री को हिन्दू आदर्शों के प्रति श्रद्धा का विरोध नहीं करता, इसीलिये स्वाभावतः उसके प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है और उसे हम कई बार अपने सम्मुख आता हुआ देखना चाहते हैं। किन्तु वह तो केवल एक दो बार हमारे सम्मुख आकर कहीं खो सा जाता है और उसका कोई सन्देश हम नहीं पाते। अच्छा होता यदि लेखक ने उसकी मृत्यु ही करा दी होती। अन्य सभी पात्रों में कमला का आदर्श चरित्र आज के नारी-समाज के लिये अत्यन्त शिक्षाप्रद तथा अनुकरणीय है।

पुरुष पात्रों में दीनानाथ का चरित्र हमारे सम्मुख एक ऐसे व्यक्ति को खड़ा करता है जो उदार, सहनशील तथा धर्मनिष्ठ होने के कारण आज के पतित समाज में उचित आदर नहीं पाता। सब प्रकार से योग्य होते हुये भी विपरीत वातावरण के कारण दीनानाथ कालिज के प्रिंसिपल नहीं हो पाते, यद्यपि अधिकार सब प्रकार से उन्हीं का है। शिवप्रसाद अपनी कूट नीति से इस स्थान को पा लेता है। इस उपन्यास में केवल श्यामकिशोर का चरित्र ऐसा है कि उसके साहस के सम्मुख विपरीत परिस्थितियाँ टिकने नहीं पातीं। सरकार के विरुद्ध उठाये हुये आन्दोलन में उसे पूर्ण सफलता मिली—स्वयं मुसलमानों ने प्रार्थना-पत्र दिया कि मसजिद के सामने बाजा बजने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है।

इस उपन्यास की भाषा सरल, स्वाभाविक तथा भाव-व्यंजना की दृष्टि से प्रौढ़ है। कठिन शब्दों की भरमार नहीं है तथा भाषा पात्रों के अनुकूल है। इससे उपन्यास की रोचकता बढ़ती है। मुहावरों का प्रयोग भी हुआ है पर इतना नहीं कि जिसकी बलात् भरमार से पाठक ऊब जाय। उपन्यास में आदि से अन्त तक, आधुनिक शिक्षा तथा पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से जो दुष्परिणाम सम्भव हैं, उनके विरोध का भाव व्याप्त है।

इस उपन्यास में विश्लेषणात्मक तथा अभिनेयात्मक दोनों शैलियों

का समुचित प्रयोग किया गया है। विश्लेषणात्मक शैली में लेखक ने उसी उद्देश्य का प्रतिपादन किया है जो उसने कथोपकथन के द्वारा प्रस्तुत किया। यह साम्य, उपन्यास को रोचक तथा सफल बनाने में विशेष सहायक हुआ है। कथोपकथन में इतनी सजीवता तथा स्वाभाविकता है कि पात्रों का आना जाना विचार-प्रवाह में बाधक नहीं होता। पत्रात्मक शैली का निर्वाह लेखक ने अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया है।

ऐसे उपन्यास अधिकांश में रचयिता के समसामयिक समाज के चित्र होते हैं, अतः समय की छाया उन पर स्वयं ही पड़ी रहती है।

प्रश्न २ :—"शिवप्रसाद के पतन में भारतीय आदर्शों का पतन हुआ है।" इस उक्ति से आप कहाँ तक सहमत हैं? युक्तियुक्त उदाहरणों द्वारा अपने कथन की पुष्टि कीजिए।

उत्तर :—प्रो० दीनानाथ का सहयोग पाकर शिवप्रसाद का उच्च शिक्षा प्राप्त करना, पाठकों के मन में यह उत्कंठा पैदा करता है कि यह युवक भी उदारहृदय, धर्मनिष्ठ तथा समाज-हितैषी होना चाहिए। उसके ईसाई धर्म में दीक्षित होने की बात सुनकर प्रो० दीनानाथ तथा डिप्टी रघुनाथप्रसाद दोनों बनारस आकर प्रयत्न करते हैं, किन्तु निष्फल।

शिवप्रसाद ने अनेक स्थलों पर भारतीय आदर्शों को ठुकरा कर हिंदू संस्कृति के प्रति अत्याचार किया। जब प्रो० दीनानाथ को भारी चोट लगी और उन्हें अस्पताल की शरण लेनी पड़ी, तब रघुनाथप्रसाद का सारा परिवार उनकी सेवा में तत्पर रहता था। उसी समय शिवप्रसाद कमला से बात-चीत का प्रसंग बड़ी निश्चिन्तता से छेड़े हुए हैं, मानों कहीं कुछ हुआ ही नहीं। मृणालिनी की मृत्यु के पश्चात् तो ये अपने अविवाहित जीवन में ही वासना-तृप्ति का सुन्दरतम साधन खोजने में तत्पर रहते थे। इन्होंने थियोसोफिस्टों का साथ इसीलिए पकड़ा था कि वहाँ हिंदू सुन्दरियों से सम्पर्क बढ़ाकर चित्त तथा आँखों की प्यास को शांत करने का एक नया मार्ग उन्हें मिल गया। चपला ने इस युवक को अपना जीवन-सर्वस्व समझा किन्तु शिवप्रसाद तो पाश्चात्य सभ्यता से

पूर्णतः प्रभावित था। अनेक युवतियों को अपने प्रेम-पाश में आबद्ध करके निराश कर चुका था। यही दशा चपला की भी हुई।

शिवप्रसाद का चरित्र इतना दूषित था कि चपला का विवाह दीनानाथ के साथ हो जाने पर भी वह अमरीका से आकर उसे अपने मनोरंजन का साधन बनाना चाहता है। परन्तु यह जो कुछ करता था, आधुनिक सभ्यता के आवरण में। आज के युग में दूसरों को धोखा देना चतुराई कहलाती है। केवल इसलिए कि अमरीका से लौटते ही ईसाइयों ने उन्हें किसी कालिज का प्रिंसिपल नहीं बनाया, वे पुनः आर्य-समाज में दीक्षित हो गए और लखनऊ के कालिज में प्रिंसिपल बन गये। इसी कालिज में प्रो० दीनानाथ थे और वास्तव में यह पद उन्हें ही मिलना चाहिए था। किंतु कपट के संसार में सत्य का आदर कहाँ। दीनानाथ शिवप्रसाद के गुरु रह चुके थे। परन्तु आज हम अपने विद्यार्थियों में गुरुभक्ति कहाँ पाते हैं? गुरुद्रोही तो अनेक मिल जाएँगे। इन्हीं में से एक शिवप्रसाद भी हैं।

शिवप्रसाद के चरित्र की हेयता उस समय पराकाष्ठा को पहुँचती है जब कमला के बलिदान का भी उस पर हम कोई प्रभाव नहीं देखते। कमला की तेरहवीं से अगले दिन जब सबकी आँखों में आँसू थे, शिव प्रसाद तांगेवाले से कह रहे थे—'क्यों देर करते हो जी, जल्दी चलो।' कमला के त्याग से उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

———

चित्रलेखा

प्रश्न १ :—चित्रलेखा नामक उपन्यास में "चित्रलेखा" का क्या स्थान है ?

अथवा

"चित्रलेखा ही "चित्रलेखा" उपन्यास की केन्द्र-विन्दु है" इस उक्ति से आप कहाँ तक सहमत हैं ? अपने कथन की पुष्टि सतर्क कीजिए ?

(२००५)

उत्तर :—सत्य तो यह है कि 'चित्रलेखा' नामक उपन्यास का प्रासाद ही पाप और पुण्य के अन्तर्द्वन्द्व की पृष्ठ-भूमि पर निर्मित है; जो मूर्तरूप में चित्रलेखा नामक नर्त्तकी है। यह उसी का व्यक्तित्व है जो प्रस्तुत उपन्यास के सम्पूर्ण उपकरणों को एकता के सत्र में बांध कर पाप और पुण्य का निर्णय देता है। पाप क्या है ? और पुण्य क्या ? इस वस्तु का समाधान चित्रलेखा ही करती है। उसने अपने जीवन के दो हैं १—बीजगुप्त, २—कुमारगिरि। इन क्षेत्रों में विचरण करके वह लेखक क्षेत्र चुने के उद्देश्य की पूर्ति करती है। उसे यदि लेखक की कला माना जाय तो अत्युक्ति न होगी।

उपन्यास के आरंभ में "पाप क्या है" का प्रस्ताव उठाकर लेखक ने इसका समाधान चित्रलेखा के जीवन के दो विशिष्ट अङ्गों 'बीजगुप्त' और 'कुमारगिरि' से किया है। प्रस्ताव के बाद झट चित्रलेखा का वर्णन प्रारंभ हो जाता है। वह सर्वप्रथम बीजगुप्त के "मानसिक हलचल" का कारण बनती है। श्वेतांक जैसे ब्रह्मचारी को अपनी सौंदर्य की अग्नि पर मोम जैसा पिघला देती है। वह मृत्युञ्जय तथा उसकी पुत्री यशोधरा पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ देती है। बीजगुप्त के जीवन को कुछ काल के लिए मरुस्थल भी वही बनाती है। दूसरी ओर कुमार-

गिरि जैसे संयमी, अजित तथा योगी पुरुष को पतन के नारकीय गड्ढे में गिरा देना भी उसी की सहज सुन्दरता का व्यक्तित्व है। यह वह पात्रा है, जो राज दरबार से लेकर योगी-यती सभी की नस-नस में मादकता का इन्जेकशन लगाती है। दूसरे शब्दों में यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यह उसी का सर्वव्यापी व्यक्तित्व है जो उपन्यास के सभी पात्रों से सम्पर्क रखता है। इसको छोड़कर किसी भी अन्य पात्र का ऐसा व्यक्तित्व नहीं; जो सभी पात्रों को समान रूप से स्पर्श करे।

उद्देश्य के दृष्टिकोण से यह उसी का व्यक्तित्व है जो पाप और पुण्य की परिभाषा का वास्तविक उत्तर रत्नाम्बर के मुख से निकलवाया है। यह उसी का चरित्र है जो विलासी बीजगुप्त के चरित्र को त्याग में तपा कर निर्मल बना देता है। यह उसी का व्यक्तित्व है जो महलों में त्याग तथा आश्रमों में भ्रष्टाचार करवा सकता है।

इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध है कि चित्रलेखा का व्यक्तित्व उसके नाम से लिखे गए उपन्यास में सर्वप्रधान है। उसके समान इस उपन्यास में ऐसा कोई भी सर्वव्यापी पात्र नहीं; जिसका संबन्ध प्रत्येक प्रमुख पात्र से है। कथानक की दृष्टि से उसी की कथा भी प्रधान है। उसी की कहानी की समाप्ति पर उपन्यास भी समाप्त हो गया है। उद्देश्य के दृष्टिकोण से तो वही एक ऐसी कसौटी है, जिस पर लेखक ने अपने उद्देश्य "पाप क्या है ?" की परख की है।

अतः सिद्ध है कि चित्रलेखा उपन्यास में चित्रलेखा ही केन्द्र-विन्दु है।

प्रश्न २ :—चित्रलेखा उपन्यास का प्रासाद यथार्थ की पृष्ठभूमि पर निर्मित है; इसमें भारतीय आदर्श के प्रति आग्रह नहीं।" इस कथन की आलोचना युक्ति-युक्त कीजिए।

अथवा

"कुमारगिरि के पतन में भारतीय आदर्शों का पतन हुआ है" इस

उक्ति से आप कहाँ तक सहमत हैं ? तर्क युक्त एवं युक्ति-युक्त उदाहरणों द्वारा अपने कथन की पुष्टि कीजिए। (२००६)

उत्तर :—"कुमारगिरि के पथ-भ्रष्ट होने (पतन) में भारतीय आदर्शों का पतन हुआ है।" इस कथन से मैं पूर्णतया सहमत हूँ। इसका तर्क-युक्त प्रमाण यह है कि हम अपनी भारतीय संस्कृति में त्याग, तपस्या को सर्वदा उच्च स्थान देते रहे हैं। हम त्यागियों, तपस्वियों, ऋषियों तथा मुनियों को सर्वदा अपनी संस्कृति के आदर्श मानते रहे हैं। हम सर्वदा से यह विश्वास करते आये हैं कि ये ऋषि, मुनि, योगी तपस्वी लोग इस सांसारिकता से विरक्त होकर अपने चिन्तन एवं मनन द्वारा हमारी संस्कृति, समाज तथा राष्ट्र को उन्नत करते हैं ; यथा महर्षि व्यास, पतंजलि, भरद्वाज, गौतम अथवा स्वामीशंकराचार्य, रामानुजाचार्य प्रभृति ने अपना सर्वस्व त्याग करके हमारी संस्कृति के उत्थान में योग दिया। उन्होंने अपना सब कुछ बलिदान करके हमारे राष्ट्र को चेतना दी। यही कारण है कि हम उनके इस आदर्श को सर्वदा से पूजते आये हैं और अनन्त-युगों तक पूजते रहेंगे।

दूसरी ओर जब चित्रलेखा नामक उपन्यास में वैसा ही योगी, तपस्वी तथा साधना में रत श्री कुमारगिरि का पतन और वह भी बुरी तरह पतन पाते हैं; तो हमारे हृदय पर ठेस पहुँचती है। वह एक पहुँचा हुआ योगी था; तत्त्व-दर्शी था। उसके योग से रत्नागिरि जैसे आचार्य प्रभावित हैं। नित्य आश्रम पर रहने वाला विशालदेव उन्हें श्रद्धा और भक्ति की दृष्टि से देखता है। चन्द्रगुप्त के दरबार में वह अग्नि-शिखा उत्पन्न करके अपने सच्चे यौगिक-पथ का परिचय देता है। चाणक्य जसा प्रकाण्ड पंडित उससे हार मान लेता है। जब हम उसी सत्यनिष्ठ, योगी कुमारगिरि को लेखक की लेखनी द्वारा चित्रलेखा की मादकता में डूबते देखते हैं तो मन व्यथित हो जाता है। बार-बार तरस तो इस बात पर आता है कि जो योगी चित्रलेखा के बार-बार अनुनय करने पर भी अपनी साधना में विघ्न के भय से अपने आश्रम में स्थान नहीं देना

चाहता है; वही योगी चित्र-लेखा के मदभरे नयनों का शिकार हो जाता है और अपने प्रेम को प्रकट करने में संकोच नहीं करता। उसकी संयम-शक्ति तब देखने में आती है जब वह चित्रलेखा को बाहुपाश में बांध लेता है परन्तु चित्रलेखा द्वारा "आप मार्ग-च्युत हो रहे हैं" सुनते ही झट पृथक् हो जाता है और अपने कुविचारों के लिए क्षमा-याचना करता है। यहाँ एक मनोवैज्ञानिक सत्य को नहीं भूलना चाहिए कि एक व्यक्ति सुन्दरी से दूर रह कर वासनाओं से वंचित रह सकता है; बातें करके भी पथ से च्युत नहीं हो सकता परन्तु आलिंगन-पाश में उष्ण श्वासों से युक्त रमणी को पकड़ कर पुनः छोड़ देना एक बड़ी कठिन वस्तु है; इसे तो मैं कुछ असम्भव भी मानूँगा। एक व्यक्ति भोजन के लिए बैठने से पहले उपवास कर सकता है अथवा भरपेट खा कर पुनः उपवास की सोच सकता है परन्तु हाथ पैर धोकर और ग्रास मुँह के पास ले जाकर उसे छोड़ देना कोई हँसी-मजाक नहीं। यही दशा कुमारगिरि की है। धन्य है उस योगी को; परन्तु इससे आगे की घटनाएँ तो हमारे हृदय पर पत्थर रख देती हैं। वही योगी अब कामुक हो जाता है; वह झूठ बोलता है "तुम समझती हो कि यहाँ से लौटने पर जब तुम बीजगुप्त के पास जाओगी तो वह तुम्हें स्वीकार कर लेगा? अब वह बीजगुप्त यशोधरा के साथ, वैवाहिक-जीवन का आनन्द ले रहा है।" अपने तर्कों द्वारा इस झूठ को सत्य प्रमाणित कर देता है और कह उठता है "मेरी प्राणेश्वरी, आज तुम्हारे यौवन के अथाह सागर में डूबने आया हूँ" चित्रलेखा भी "तो फिर ऐसा ही हो" करके योगी से लिपट जाती है।

हा! हतभाग्य विचारा सत्य-पथ का पथिक, हमारी भारतीय संस्कृति का आदर्श योगी गिर जाता है; वह भ्रष्ट हो जाता है और वह भी बुरी तरह, एक नर्तकी द्वारा।

इस प्रकार श्री भगवतीचरण वर्मा ने अपने उपन्यास 'चित्रलेखा' में यथार्थ के रंगमंच पर कुमारगिरि का पतन दिखा कर हमारी भारतीय आदर्श-भावना का पतन दिखाया है।

प्रश्न ३ :—"चित्रलेखा" का लेखक पूर्ण भाग्यवादी है।" इस उक्ति से आप कहाँ तक सहमत हैं?

अथवा

"मनुष्य अपना स्वामी नहीं है; वह परिस्थितियों का दास है—विवश है। वह कर्त्ता नहीं केवल साधन है।" को दृष्टि-कोण में रखते हुए चित्र-लेखा उपन्यास की आलोचना कीजिए।

उत्तर :—सत्य तो यह है कि लेखक ने "पाप क्या है?" प्रश्न उठाकर उसका उत्तर इन्हीं शब्दों में दिया है। यह उक्ति चित्रलेखा उपन्यास का निष्कर्ष है; जिसे उपन्यास के अन्तिम पृष्ठ पर रत्नाम्बर के मुख से कहलवाया गया है।

जब हम इस उक्ति को दृष्टि-कोण में रखते हुए चित्रलेखा उपन्यास की प्रमुख घटनाओं तथा पात्रों आदि पर विचार करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि इस उपन्यास के महान से महान तथा तुच्छ से तुच्छ सभी पात्र परिस्थितियों के हैं; कोई कर्त्ता नहीं अपितु साधन है। उदाहरणार्थ चाहे किसी भी पात्र को लिया जा सकता है। चित्रलेखा, जो उपन्यास का केन्द्र-बिन्दु है; वह स्वयं भी परिस्थितियों की दासी है। पहले वह ब्राह्मण विधवा थी, संयम करती थी परन्तु अचानक उसके यौवन की लहरों से खेलने के लिए कृष्णादित्य आया और खेल कर चल बसा। अब परिस्थिति गंभीर थी; गर्भ रह गया था; घर से निकाली गई। पेट के लिए नर्त्तकी बनी; वहाँ भी संयम प्रारम्भ किया परन्तु एक बार प्रज्वलित की हुई अग्नि आहुति मांग रही थी। वह बीजगुप्त के फेर में पड़ी। पुनः सौंदर्य और विलास की भावना से वह उसे छोड़ कर कुमारगिरि के पास आई परन्तु संतोष कहाँ? वहाँ भी इच्छापूर्ति करने पर पुनः अपने घर लौटी; आदि। उसके जीवन की सारी घटनाएँ यह बतलाती है कि उसने जो कुछ किया; परिस्थितियों के वशीभूत होकर किया। उसका उसमें कुछ भी वश न था।

दूसरी ओर महान योगी कुमारगिरि को लीजिए। भला वह विचारा

कब चाहता था कि पथ-भ्रष्ट हो, कब चाहता था कि उसकी साधना में बाधा पड़े। अरे! वह विचारा तो बार-बार चन्द्रलेखा को अपने आश्रम में रखने तक से सहमत न होता, परन्तु हाय रे परिस्थिति! नीच परिस्थिति!! तूने उसे भी भ्रष्ट किया; योग से पतित किया।

इसी प्रकार सभी पात्रों की दशा है। कोई भी पात्र चित्रलेखा उपन्यास का स्वतंत्र नहीं। सभी परिस्थितियों के वशीभूत हो कर कार्य करते हैं; वे कार्य के साधन हैं; कर्त्ता नहीं। तभी तो लेखक ने यह सिद्ध कर दिया है कि पाप कोई वस्तु नहीं—"हम केवल वह करते हैं, जो हमें करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में जीवन का दूसरा नाम विवशता है जो अज्ञात से प्रेरित होकर कर्मान्वित हो रहा है। इस प्रकार इसे स्पष्ट ही भाग्यवाद का सहारा लिया गया है। जब कोई पात्र स्वतंत्र नहीं; उनके कर्म-ज्ञान तथा साधना आदि सभी परिस्थितियों से प्रेरित हैं फिर वे परिस्थितियों के भाग्य-विधाता नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार श्री भगवतीचरण वर्मा पूर्ण भाग्यवादी हैं। उनके मतानुसार मानव-जगत यद्यपि अपने को बीजगुप्त, चित्रलेखा तथा कुमारीगिरि की भाँति सम्पन्न, शक्तिशाली और आत्म-विश्वासी मानता है परन्तु परिस्थितियों के सामने सभी अशक्त हैं; विवश हैं।

मानव परिस्थितियों का दास है और परिस्थितियाँ नियति की। अतः मानव भाग्य अथवा नियति का दासानुदास है।

प्रश्न ४:—उपन्यास कला की दृष्टि से चित्रलेखा उपन्यास की आलोचना कीजिए? (परीक्षोपयोगी)

अथवा

कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, भाषा, शैली तथा उद्देश्य के दृष्टि-कोण से आलोचना कीजिए।

अथवा

श्री भगवतीचरण वर्मा का "चित्रलेखा" नामक उपन्यास किस कोटि का है? उसकी सफलता तथा असफलता पर सम्यग् विवेचना कीजिए।

उत्तर—चित्रलेखा नामक उपन्यास एक "समस्या-मूलक उपन्यास" है। इसका मुख्य विषय समस्या का विश्लेषण है न कि घटनाओं का

कथा-वस्तु वर्णन। समस्या प्रधान तथा कथा गौण है पुनरपि च लेखक ने कथा ही में अपने विचारों को वेष्टित करके मनोवैज्ञानिक तत्वों का विश्लेषण किया है। जीवन की एक छोटी से छोटी भल भी कवि की लेखनी के नोक पर आई है, जिस पर हम अपने दैनिक जीवन में ध्यान नही देते।

अतः कथा-वस्तु का अंश थोड़ा है और मनोवैज्ञानिक विश्लेपण अधिक। कथा कौतूहल-वर्धक नही; फिर भी रोचक है। रोचकता प्रायः कथोपकथन द्वारा सम्पन्न हुई है। घटनाओं का कोई ऐतिहासिक महत्व नहीं; पुनरपि च कथानक का वातावरण ऐतिहासिक है। इसमें चन्द्रगुप्त-मौर्य के शासन-काल का वैभवशाली वर्णन है। लेखक ने कथानक का वातावरण बड़ा ही उपयुक्त चुना है क्योंकि ऐसे ही धन-धान्यपूर्ण वातावरण में "पाप क्या है?" जैसे दार्शनिक सिद्धान्तों पर विचार किया जा सकता है। जब जनता भूखी रहेगी; रोटी कपड़े को तरसेगी; उस समय भला उसे ऐसे विषयों पर विचार का अवकाश कहाँ?

अतः यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि कवि ने अपने इन समस्या-मूलक-दार्शनिक उपन्यास की कथावस्तु का वातावरण बड़े ही सुन्दर स्थल से लिया है; इसमें स्वाभाविकता सहज सम्पन्न हुई है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'चित्रलेखा' उपन्यास को कोई महत्व नहीं दिया जा सकता। इसके सभी पात्र परिस्थितियों के दास हैं; वे साधन

चरित्र-चित्रण हैं, कर्ता नही। ऐसी दशा में उनका चरित्र कैसा हो सकता है? यह तो हम पहले ही कल्पना कर बैठते हैं। सत्य तो यह है कि कवि (उपन्यासकार) ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए पात्रों को परिस्थितियों की कठपुतली बना दिया है। इस उपन्यास में कोई भी ऐसा पात्र नहीं, जो संघर्ष के थपेड़े में अपने पथ से भ्रष्ट न हुआ हो। कुमारगिरि योगी और विरक्त होते हुए भी

'वासना का कीड़ा' है। वीजगुप्त चित्रलेखा का अनन्य प्रेमी होते हुए भी अपने सुख की इच्छा से यशोधरा पर आसक्त हो जाता है और विवाह के लिये तैयार हो जाता है, यहाँ उसे केवल एक दूसरी परिस्थिति ही उसकी मनोकामना में बाधक होती है और वह अपने विवाह का प्रस्ताव न करके श्वेतांक के विवाह का प्रस्ताव रख देता है। चित्रलेखा, वीजगुप्त से प्यार करती हुई भी कुमारगिरि के आश्रम में केवल भोग की लालसा में जाती है। मृत्युञ्जय महान एवं वैभवशाली होते हुए भी महालोभी है। यशोधरा का चरित्र तो कुछ अस्वाभाविक सा हो गया है। क्या वह इतनी भोली है जो विवाह योग्य होती हुई भी और अपने को बीजगुप्त द्वारा तिरस्कृत हुई जानकर भी एक चार साल की बच्ची सी बात करती है! हमें तो उसके यौवन की दृष्टि से उसकी शान्ति-प्रियता और भाव-शून्यता वहुत कुछ अस्वाभाविक प्रतीत होती है। ऐसी ही दशा विशालदेव की है; वह सब कुछ जानते हुए भी कुछ नहीं जानता।

रत्नाम्बर, परिस्थितियों से दूर हैं अतः चक्कर में नही आए। अपने शिष्यों के अनुभव एवं अपने ज्ञान का समन्वय करके समस्या को सुलझाने में सफल हैं। उनको महात्मा मानने में कोई आक्षेप नहीं। पुनरपि च उनका चरित्र पूर्ण रूप से हमारे सामने नहीं आ पाया है जिससे उनके विषय को कोई स्थिर मत दिया जा सके।

कथोपकथन—कथोपकथन की दृष्टि से उपन्यासकार सफल हुआ है। इसके द्वारा उसने ऐसी गति उत्पन्न कर दी है कि कथावस्तु में कौतुहल का अभाव नहीं अखरता। वास्तव में कथोपकथन ही इस उपन्यास का प्राण है; यही वह अमोघ शस्त्र है जिसने लेखक के हाथ में विजय-पताका दी है; ध्यान इस बात का रखा गया है कि पात्र कहीं वक्तृता न झाड़ने लग जायँ। जहाँ कहीं लेखक ने कथोपकथन को लम्बा बनाया है; वहाँ उसने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन आनन्द और अनुराग के रंग में रंगने के लिए किया है। चित्रलेखा का एक चुभता हुआ व्यंग लीजिए "प्रकाश पर लुब्ध पतंग को अन्धकार का प्रणाम है।" अब कुमारगिरि को स्वाभाविक अनुरागमय उत्तर देखिये "तुम्हारे कवित्व की कर्कशता पर

उन्माद का आवरण है; तुम्हारे विप को सौन्दर्य छिपाये हुए है।" सत्य तो यह है कि कवि ने कथोपकथन में अप्रत्याशित सफलता पाई है; यह इसी बात का प्रमाण है कि उसे बार-बार उपन्यास के पृष्ठों पर अपना मुँह खोलने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

उपन्यास की भाषा में सारल्य का महत्ता है परन्तु विषय के अनुसार भाषा यदि कुछ क्लिष्ट भी हो जाय; तो उसे भाषा की असफलता नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत उपन्यास समस्या-मूलक है और समस्याएँ भाषा के गूढ़त्व में ही प्रतिपादित होती हैं। इसके अतिरिक्त इस उपन्यास के सभी पात्र उच्च-वर्ग तथा शिक्षित-समुदाय के हैं। अतः उनकी भाषा में परिमार्जन आवश्यक है। इस प्रकार इन दोनों दृष्टिकोणों से कवि की भाषा शुद्ध साहित्यिक होनी चाहिए थी; जिसे कवि ने निस्संकोच अपनाया है। इसे हम पात्रों के अनुरूप कहें तो उपयुक्त हैं। कुमारगिरि का एक तत्व-पूर्ण जीव और ब्रह्म का विश्लेषण लीजिए :—

भाषा

"ईश्वर! ईश्वर और मनुष्य में कोई भेद नहीं। भेद केवल बाह्य है—सांसारिक है। माया और ब्रह्म के संयोग को ही ममत्व कहते हैं और माया वास्तव में ब्रह्म का अंश होते हुए भी बाह्य दृष्टि से उससे पृथक् है।"

लेखक ने अपने उद्देश्य के अनुरूप ही शैली को भी रखा है। उसका विषय मनोविज्ञान और दर्शन की समस्या लेकर चला है; अतः उसकी शैली भी विवेचनात्मक है परन्तु लेखक ने अपने कवि—हृदय से उसे आकर्षक, सजीव तथा कवित्वपूर्ण परिधान में लपेटकर पाठक के समक्ष रखा है जिससे पाठक आनन्द में ओत-प्रोत हुआ उसकी समस्या पर विचार करता है। कहीं कहीं लेखक अपनी भावुकता के प्रवाह में बह गया है; वहाँ उसकी शैली भावात्मक हो गई है।

शैली

लेखक इस उपन्यास के परिधान में एक महान् उद्देश्य लेकर हमारे

सामने आया है। उसका अभीष्ट है, कि इस विश्व में कोई बुरा, भला, उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट नहीं ! ये सभी रूप परिस्थिति के हैं। पाप पुण्य कोई वस्तु मानव के लिये नहीं हो सकती, क्योंकि उसे वही करना पड़ता है जो परिस्थितियाँ कराती हैं। फिर पाप और पुण्य कैसा? "पाप तो केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है।" मनुष्य अपना स्वामी नहीं है, वह परिस्थितियों का दास है—विवश है। वह कर्ता नहीं, केवल साधन है, मनुष्य में ममत्व प्रधान है......कोई भी संसार में अपनी इच्छानुसार यह काम न करेगा जिसमें दुःख मिले......संसार में इसीलिए पापी को एक परिभाषा नहीं हो सकती......हम न तो पाप करते हैं और न पुण्य; हम केवल वह करते हैं, जो हमें करना पड़ता है।"

उद्देश्य

यही नहीं; लेखक अपने इस उद्देश्य की पूर्ति पर गर्व नहीं करता; वह रत्नाम्बर के मुख से कहलवाता है "यह मेरा मत है, तुम लोग इससे सहमत हो या न हो, मैं तुम्हें बाध्य नहीं करता और न कर सकता हूँ ....।"

यदि हम इसके पर्दे में देखें तो कवि स्वयं रत्नाम्बर के रूप में खड़ा हुआ दृष्टिगोचर होता है। रत्नाम्बर का चरित्र भगवतीप्रसाद वर्मा का अपना चरित्र है। उन्होंने श्वेतांक और विशालदेव के रूप में पाठकों को देखा है और अन्त में पाठकों को शिक्षा देते हुए दिखाई पड़ते हैं। कला की दृष्टि से यहाँ पर कवि गिर गया है। उपन्यास की महत्ता, उसकी अन्तिम पृष्ठ पर व्याख्या से नहीं बढ़ती। उसने तो हमें (पाठकों को) निरा मूर्ख ही समझ रखा है। क्या जिस बात का निर्णय कवि ने किया है, इसका सुन्दर निर्णय पाठक नहीं कर सकता था? निर्णय करना कलाकार का कार्य नहीं; वह पाठक का कार्य है। कलाकार का अधिकार चित्र-निर्माण तक ही सीमित है; आगे नहीं।

इस दृष्टि से भगवती बाबू कुछ अनधिकार चेष्टा करते दिखाई

पड़ते हैं परन्तु यह तो निर्विवाद सत्य है कि वह अपने उद्देश्य की पूर्ति में पूर्णतया सफल हैं।

प्रश्न ५ :—निम्नाङ्कित पात्रों का चरित्र-चित्रण कीजिए।
१. चित्रलेखा, २. बीजगुप्त, ३. कुमारगिरि, ४ श्वेतांक। (परीक्षोपयोगी)

उत्तर :—

चित्रलेखा

चित्रलेखा एक असाधारण सुन्दरी है। इसके सौंदर्य में वह मादकता है जो कुमारगिरि जैसे योगी और विरक्त को मस्ती के संसार में लाती है। श्वेतांक जैसा भोला ब्रह्मचारी उसके सौंदर्य के जाल में फँस जाता है; बीजगुप्त जैसा महान सामंत भी उसके सौंदर्य में जी भरकर डुबकी लगाना चाहता है।

संयम और कुसंयम का उसके जीवन में अद्‌भुत मिश्रण है। वह विधवा थी; संयम किया परन्तु उसे कृष्णादित्य ने तोड़ा, पुनः संयम किया जिसे बीजगुप्त के सौंदर्य और शब्द-माधुर्य ने असंयम में परिवर्तित किया।

वह सच्ची कलाकार है; कला का अनादर वह अपना अनादर समझती है यथा; मृत्युञ्जय के उत्सव में जब कुमारगिरि आता है तो संगीत बन्द कर देने पर वह अत्यन्त क्रुद्ध हो उठती है। उसके विचार से कुमारगिरि के स्वागत में नृत्य-कला का बन्द करा देना कला का अपमान करना है।

उसका सौंदर्य समाज की वस्तु है; "व्यक्ति को स्थान नहीं" वह असाधारण नर्तकी है; 'भरी सभा में जब वह ईमन की गति पर थिरक उठती है तो ऐसा ज्ञात होता है; मानो नृत्य-कला ही साकार हो गई हो।

उसका व्यक्तित्व कला और दर्शन का सुन्दर समन्वय है। उसकी विद्वत्ता के आगे चाणक्य और कुमारगिरि जैसे योगी और दार्शनिक पराजित हो जाते हैं।

विदुषी एवं दार्शनिक होते हुए भी उसमें स्थिरता की भारी कमी है। वह बीजगुप्त जैसे प्रेमी को छोड़कर भोग की लालसा में कुमारगिरि की शिष्या बनती है। एक भ्रष्टा स्त्री जो कुछ कर सकती है; उससे कहीं अधिक चित्रलेखा कर सकती है। उसने अपनी भोग-लिप्सा की वेदी पर अपने सहज प्रेमी बीजगुप्त के सुखमय जीवन का बलिदान किया है।

गर्व एवं आत्मसम्मान दोनों ही उसके व्यक्तित्व के अनिवार्य अंग हैं। वह कुमारगिरि जैसे योगी को भी अपनी सम्मान-रक्षा में "प्रकाश पर लुब्ध पतंग को अंधकार का प्रणाम है" कह बैठती है। इसके चरित्र में एक मनोवैज्ञानिक सत्य है जब तक मनुष्य का अनुभव ठोकरों से नहीं होता; वह अधूरा रहता है। चित्रलेखा भी अपने जीवन भर भोग को ठोकरें खाकर अन्त में प्रेम की वास्तविक परिभाषा बन जाती है। सब कुछ करने के पश्चात् वह बीजगुप्त के साथ प्रेम के वशीभूत भिखारिन बन जाती है।

चित्रलेखा का चरित्र अनातोले फ्रांस की थामा से बहुत कुछ साम्य रखता है; यद्यपि लेखक इसे स्वीकार नही करता। अन्तर केवल इतना है कि थामा का वातावरण पाश्चात्य है और चित्रलेखा का भारतीय।

बीजगुप्त श्री वर्मा का अमर पात्र है। यदि हम बीजगुप्त को भगवतीचरण वर्मा का अपना व्यक्तित्व मान लें तो कोई अन्तर नही पड़ता।

बीजगुप्त

बीजगुप्त के कथनोपकथन में श्रीवर्मा की अपनी वाणी बोलती है। बीजगुप्त की कथा में, सुख में और वेदना में वर्मा की अपनी अनुभूति है। यही इस उपन्यास का एक-मात्र ऐसा पात्र है जिसकी सहानुभूति हम आदि से अन्त तक नहीं छोड़ते।

वह एक दीप्तिमान, सामन्त है। अवस्था के दृष्टिकोण से अभी वह केवल २५ वर्ष का नवयुवक है। उसमें अध्ययन और अनुभव का सामञ्जस्य है। वह अपनी छोटी अवस्था में अपने गुरु रत्नाम्बर के साथ देश के विभिन्न भागों का भ्रमण कर चुका है। यही कारण है कि उसमें

हिमालय सी अचलता है, स्थिरता है तथा पाटलिपुत्र के सामंतों में उसका एक विशेष स्थान है।

वह एक विनम्र, मृदुल तथा सरल प्रकृति का व्यक्ति है। उसमें अभिमान नही। वह श्वेतांक जैसे छात्र को अपने भाई के रूप में अपनाता है।

वह कला का प्रेमी है। चित्रलेखा की कला ही उसकी ओर उसे अधिक आकर्षित करती है।

वह दूरदर्शी तथा दार्शनिक व्यक्ति है। जब चित्रलेखा अपने व्यक्ति को न मान कर समाज की वस्तु मानती है तो वह उसे वहीं परास्त कर देता है, "व्यक्ति से समुदाय का भाग बनता है व्यक्ति को वर्जित करके समुदाय का भाग बनना अपना अपमान करना है।" वह अर्धनिशा में छलकता हुआ मदिरा पात्र अधरों से लगाता हुआ भी यही पूछता है, "जानती हो जीवन का सुख क्या है?"

वह एक सच्चा व्यक्ति है। उसके विचार में छिपकर चोरी करने से खुलकर डकैती करना अच्छा है। वह भरी सभा में निस्संकोच चित्रलेखा को अपनी पत्नी स्वीकार कर लेता है। श्वेतांक के चौंकने पर भी वह शांत भाव से अपना, मदिरा का तथा चित्रलेखा का सम्बन्ध स्पष्ट कर देता है; छिपाता नहीं।

वह एक सच्चा प्रेमी है। प्रेम की परिभाषा को समझता है। वह सौंदर्य और शरीर के प्रेम को प्रेम नहीं विलास समझता है। उसके दृष्टिकोण से "एक दूसरे से प्रगाढ़ सहानुभूति और एक दूसरे के अस्तित्व को एक कर देना ही प्रेम है।" "प्रेम का सम्बंध आत्मा से है; शरीर से नहीं" इस प्रकार वह प्रेम को एक पवित्र रूप देता है। वासना से पृथक् होकर वह आध्यात्मिक धरातल पर पहुँचता है। यशोधरा का चन्द्रमा सा सौंदर्य भी उसके प्रेम को विचलित नहीं कर पाता। अंत में प्रेम की वेदी पर अपने सभी वैभव, सुखादि का बलिदान करके भिखारी बन जाता है।

वह मानव-हृदय का पारखी है। मनोविज्ञान का श्रेष्ठतम अनुभव रखता है। चित्रलेखा और कुमारगिरि के प्रथम मिलन एवं बात-चीत ही में भविष्य के नग्न-भूत को पहचान जाता है।

वह एक उदार, गंभीर तथा विशाल हृदय का व्यक्ति है। श्वेतांक के विनय पर वह अपना धन ही नहीं अपितु सामंत पदवी भी दे डालता है। उसके हृदय में दूसरों के प्रति परोपकार की भावना है। वह दो प्राणियों—श्वेतांक और यशोधरा के सुख के लिए अपना सारा सुख बलिदान करता है।

"बीजगुप्त देवता है, संसार में वे त्याग की प्रतिमूर्ति हैं; उनका हृदय विशाल है।"

कुमारगिरि

चित्रलेखा के शब्दों में "कुमारगिरि योगी हैं और उनमें शक्ति है। उनका सत्य और ईश्वर दोनों ही कल्पना-जनित थे; पर साथ ही साथ मनुष्य में इतनी उत्कृष्ट कल्पना का होना भी असम्भव है। कुमारगिरि में सृजन की शक्ति है।"

महाप्रभु, रत्नाम्बर के शब्दों में "कुमारगिरि योगी है; उसका दावा है कि उसने संसार की समस्त वासनाओं पर विजय पा ली है। संसार से उसको विरक्ति है और अपने मतानुसार उसने सुख को भी जान लिया है; उसमें तेज है और प्रताप है; उसमें शारीरिक बल है और आत्मिक शक्ति है। जैसा कि लोगों का कहना है, उसने ममत्व को वशीभूत कर लिया है। कुमारगिरि युवा है पर यौवन और विराग से मिलकर उसमें एक अलौकिक शक्ति उत्पन्न कर दी है। संयम उसका साधन है और स्वर्ग उसका लक्ष्य।"

सत्य तो यह है कि कुमारगिरि एक महान् तत्त्वदर्शी, योगी, विरक्त तथा इन्द्रियजित् व्यक्ति है। वह संसार के वैभव और योग-विलास से दूर उपवन की एकान्त भूमि में तपस्वी है।

उसकी शरीर-तपस्या में तप है। उसकी आत्मिक शक्ति गहन-चिन्तन से परिपुष्ट हुई है; तभी तो चन्द्रगुप्त के दरबार में उसकी श्रेष्ठता सभी स्वीकार कर लेते हैं; चाणक्य भी हार मान लेता है।

उसमें अनुभव-हीनता एक बड़ी दुर्बलता है। स्त्री को माया और

अन्धकार समझता है और इसी के आकर्षण से उसका पतन होता है।

वह अपने संयम पर घमंड करता है। विशाल देव से अपनी कुटिया को पाप से रिक्त बतलाता है।

पुनरपि च "अति संघर्षण करे जो कोई; अनल प्रकट चंदन ते होई" वाली, तुलसी की उक्ति सत्य हो जाती है। ऐसे महान् योगी क संघर्ष एक विलासिनी नर्त्तकी से होता है। संयम और योग के द्वन्द्व में संयम पराजित होता है। विचारा योगी हिमालय की चोटी से नारकीय कुंड में गिर पड़ता है। वह भी बुरी तरह; नर्त्तकी उसके जले पर और भी नमक छिड़कती है "वासना के कीड़े! तुम प्रेम क्या जानो।" वास्तव में यहाँ हम योगी की अनुभव-हीनता को पाते हैं, वह उन्मादवश भोग ही को प्रेम समझ बैठता है।

कुमारगिरि के चरित्र का ऐसा पतन, श्री वर्मा ने बीजगुप्त के चरित्र को उठाने के लिए किया है। वे यथार्थवादी हैं; उन्हें अकर्मण्यता से गहरी चिढ़ है; उसी चिढ़ के पोषण में हम यहाँ योगी का भीषण पतन पाते हैं, इसमें हमारी भारतीयता के प्रति अन्याय हुआ है।

एक अध्ययनरत ब्रह्मचारी, जिसके जीवन का २५ वाँ वर्ष चल रहा है, चित्रलेखा उपन्यास का सूत्रधार है। इतनी बड़ी कथा को समस्या का रूप देना श्वेतांक की ही जिज्ञासु-प्रवृत्ति है। वह यौवन-सागर की लहरों से अनजान युवक, पवित्र एवं मृदुल वातावरण से पुष्ट अचानक बीजगुप्त के विलासी क्षेत्र में आता है; वह अनुभव के दानों का लालची पक्षी, विलास की जाल में पैर रख देता है।

श्वेतांक

वह अनुभव-हीन है। उसके गुरु रत्नाम्बर ने उसे उसके क्षेत्र का परिचय दिया था। उसका स्वामी और सखा बीजगुप्त भी उसे समझाता है "तुम्हें कर्तव्याकर्तव्य का विचार करना पड़ेगा। इच्छाये प्रबल रूप धारण करके तुम्हें सतावेंगी, तुम्हें उनका दमन करना पड़ेगा।

वह स्पष्टवादी है। चित्रलेखा के प्रति अपने पिघलते हुए प्रेम को

एक अक्षम्य अपराध मानता है। बहुत समझाने पर भी वह दंड चाहता हैं। जब बीजगुप्त पूछता है "यदि चित्रलेखा तुम्हें आत्म-समर्पण कर देती तो क्या करते?" वह झट उत्तर देता है, "तो मैं स्वामी के साथ गुरुतर अपराध कर देता।"

वह कृतज्ञता को मानने वाला व्यक्ति है। अपने प्रथम प्रेम को प्रफुल्लित हुए देखकर जब वह बीजगुप्त से यशोधरा के पिता से विवाह-प्रस्ताव के लिए कहता है और उसे जब यह ज्ञात होता है कि बीजगुप्त स्वयं उससे विवाह करना चाहता है तथा उसके इस बात पर क्रोधित है तो वह रो पड़ता है "नहीं नहीं स्वामी! मैं कितना पापी हूँ। मैं जाता हू। मैंने आपके जीवन को नष्ट किया है।"

सत्य तो यह है कि श्वेतांक ही चित्रलेखा उपन्यास का एक जीवित मनुष्य है।

वह सब के सम्मान का पात्र है। इस उपन्यास के सभी पात्रों में वही एक पात्र है जिसका सभी आदर करते हैं।

वह हृदय से विशाल है; परन्तु धन से हीन। उसकी धनहीनता के कारण मृत्युञ्जय उससे अपनी पुत्री का विवाह नहीं करना चाहता था।

वह परिस्थितियों का जितने अंश में दास हैं; उतने ही अंशों में स्वामी भी। जब उसे अपनी भूल ज्ञात होती हैं; झट संभल जाता हैं। यह उसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

प्रश्न ६ :—निम्नांकित अवतरणों की व्याख्या संदर्भ सहित कीजिये :—

(क) "केवल इतनी सी बात थी?" बीजगुप्त हँस पड़ा। चित्रलेखा! तुमने बहुत बड़ी भूल की है, तुमने मुझे समझने में भ्रम किया। तुम मुझसे क्षमा मांगती हो? प्रेम स्वयं त्याग है, विस्मृति है, तन्मयता है। प्रेम के प्रांगण में कोई अपराध नहीं होता फिर क्षमा कैसी? फिर भी तुम यदि कहलाना ही चाहती हो, तो मैं कहे देता हूँ—मैं तुम्हें क्षमा करता हूं। (२००४)

(ख) "चित्रलेखा ! तुम भूलती हो। प्रेम का सम्बन्ध आत्मा से है, प्रकृति से नहीं। जिस वस्तु का प्रकृति से सम्बन्ध है, वह वासना है क्योंकि वासना का सम्बन्ध वाह्य से है। वासना का लक्ष्य वह शरीर है, जिस पर प्रकृति ने कृपा करके उसको सुन्दर बनाया है। प्रेम आत्मा से होता है, शरीर से नहीं। परिवर्त्तन प्रकृति का नियम है; आत्मा का नहीं। आत्मा का सम्बन्ध अमर है।" (२००५)

(ग) "वासना के कीड़े ! तुम प्रेम क्या जानो ? तुम अपने लिए जीवित हो—महत्व ही तुम्हारा केन्द्र है—तुम प्रेम करना क्या जानो ? प्रेम बलिदान है, आत्मत्याग है, ममत्व का विस्मरण है। तुम्हारी तपस्या और तुम्हारा ज्ञान—तुम्हारी साधना और तुम्हारी आराधना—यह सब भ्रम है; सत्य से कोसों दूर है। तुम अपनी तुष्ट्रि के लिये गृहस्थाश्रम की बाधाओं से कायरता पूर्वक सन्यासी का ढोंग लेकर विश्व को धोखा देते हुए मुख मोड़ सकते हो। तुम अपनी वासना की तुष्टि के लिए मुझे धोखा दे सकते हो—फिर भी तुम प्रेम की दुहाई देते हो।" (२००६)

(घ) "अनुराग की दासी नर्तकी ने विराग के स्वामी योगी का सामना किया। क्रांति और शांति का मुकाबला था। जीवन और मुक्ति में होड़ थी; कुमारगिरि ने अविचलित भाव में उत्तर दिया "पर सत्य एक है; वास्तविक का ज्ञान है। मार्ग वही ठीक है; जिससे शांति तथा सुख मिल सके।" (२००३)

उत्तर :—(क) प्रस्तुत अवतरण श्री भगवतीचरण वर्मा कृत 'चित्रलेखा' नामक उपन्यास के बाइसवें परिच्छेद से लिया गया है। बीजगुप्त जब भिखारी रूप में घर से निकल पड़ा, चित्रलेखा उसे अपने घर अनुनय पूर्वक लेगई तथा अपने कुकर्मों पर पश्चात्ताप करते हुए क्षमा-याचना की। उस समय बीजगुप्त ने उसे क्षमा करते हुए कहा :—

चित्रलेखा ! तुम्हारी यह सब से बड़ी भूल थी। वास्तव में तुमने मेरे वास्तविक रूप को न देखा और प्रेम की वास्तविकता न समझ सकी।

यदि तुम मुझे और प्रेम को वास्तविक रूप में समझी होती, तो स्वयं ही क्षमा न मांगती। अरे! प्रेम का तो आँगन ऐसा विचित्र है; जिसमें जीवनभर खेलते रहने पर भी कोई अपराध होता ही नहीं। जिस प्रकार त्याग में, भूल में और लवलीनता में कोई अपराध नहीं होता; उसी प्रकार प्रेम के क्षेत्र में भी अपराध नाम नहीं आता क्योंकि यह इन तीनों तत्वों से मिलकर बना है। अतः तुम्हें क्षमा मांगने की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि तुम सब कुछ करते हुए भी हमारे प्रेम के क्षेत्र में खेलती रही हो। फिर भी यदि तुम मेरे मुँह से क्षमा सुनकर तृप्त होना चाहती हो तो मैं तुम्हें मुँह से कहकर भी क्षमा करता हूं। यों तो मेरा हृदय क्षमा की आवश्यकता समझता ही नहीं; क्योंकि जब तुमने कोई अपराध ही नहीं किया फिर क्षमा कैसी?

(ख) प्रस्तुत अवतरण श्री भगवतीचरण वर्मा कृत "चित्रलेखा" उपन्यास के आठवें परिच्छेद से लिया गया है। चित्रलेखा ने जब प्रेम की परिभाषा बतलाते समय सामन्त बीजगुप्त से कहा, "प्रकृति का नियम परिवर्त्तन है, प्रेम उसी प्रकृति का एक भाव है। प्रकृति का नियम प्रेम पर भी लागू हो सकता है" बीजगुप्त इसे सुनने में असमर्थ था, क्योंकि वह प्रेम को प्रकृति से संबन्धित नहीं मानता था। अतः उसने उत्तर दिया :—

चित्रलेखा! तुम्हारा यह कहना भ्रम-पूर्ण है। प्रेम, प्रकृति से सम्बन्ध नहीं रखता अर्थात् प्रकृति के नित्य परिवर्त्तन के साथ वह बदलने वाली वस्तु नहीं है। उसका सीधा संबंध आत्मा से है। जिस प्रकार आत्मा अमर है; शरीर के नष्ट होने पर नष्ट नहीं होता उसी प्रकार प्रेम भी अमर है उसका संपर्क आत्मा ही से है, शरीर से नहीं। जिसे तुम परिवर्त्तनशील मानती हो, वह शरीर से संबंध रखने वाली वासना है; जो शरीर की बाहरी सुन्दरता पर ही स्थित है। इस प्रकार वासना और प्रेम में बहुत अन्तर है। प्रेम अमरता का सूचक तथा वासना शारीरिक सौंदर्य के साथ नष्ट हो जाने वाली है। अर्थात् तू जिसे प्रेम कहती है; वह प्रेम नहीं; वह तो वासना है। प्रेम तो अमरता की मूर्ति

और वासना से बहुत ऊँची वस्तु का नाम है।

(ग) प्रस्तुत अवतरण श्री भगवतीचरण वर्मा कृत चित्रलेखा नामक उपन्यास के बीसवें परिच्छेद से उद्धृत किया गया है। कुमारगिरि बीजगुप्त का विवाह यशोधरा से हो जाने की असत्य सूचना देकर चित्रलेखा से संभोग करके पथ-भ्रष्ट होचुका था। परन्तु जब इस असत्य का पता चित्रलेखा को लगा; वह लाल हो गई, उसमें घृणा, क्षोभ और ग्लानि भर आई। इसी समय जब कुमारगिरि ने प्रेम के नाम पर अपनी वासना की तृप्तिहेतु "आओ रानी! आओ" कहकर चित्रलेखा को बुलाया तो चित्रलेखा डपट कर बोली :—

"तुम वासना के कीड़े हो अर्थात् भोगी हो। तुम क्या जानों कि प्रेम किसे कहते हैं? तुम नीच और स्वार्थी हो; तुम्हें केवल अपनी प्रसन्नता चाहिये; चाहे दूसरे भले ही कष्ट पावें। इस दशा में प्रेम करना तुम्हारी शक्ति के बाहर है। अरे! प्रेम तो वह वस्तु है जिसके लिये अपना जीवन तक बलिदान करना पड़ता है, अपना त्याग करना पड़ता है तथा अपने सभी सुखों को छोड़ना पड़ता है एवं उसमें अपनेपन को अथवा अपने स्वार्थ को सर्वदा के लिए भूल जाना पड़ता है। तुम यह जो तपस्या कर रहे हो, ईश की वन्दना करते हो, योग की कठिन साधना द्वारा ज्ञान की प्राप्ति चाहते हो; यह सभी दिखावा है; दूसरों को धोखा देने के लिये है और वास्तविकता से परे है। अरे! तुम तो केवल अपनी प्रसन्नता के लिये दाम्पत्य जीवन से विमुख हुए हो। क्योंकि जिस वस्तु का त्याग करके तपोवन में आए हो; वह वस्तु (वासना) तो तुम ने छोड़ी ही नहीं। तुम ने इसीलिये तो मुझे धोखा देकर अपनी वासना का शिकार बनाए हो। इतनी नीचता होते हुए; इतनी वासना की आसक्ति होते हुए भी तुम "प्रेम! प्रेम!" चिल्लाते हो? यह सब व्यर्थ है, झूठ है और छलावा है।"

(घ) प्रस्तुत अवतरण 'चित्रलेखा' उपन्यास के चतुर्थ परिच्छेद से उद्धृत किया गया है। इसके लेखक बाबू भगवतीचरण वर्मा हैं। जिस समय रात्रि को बीजगुप्त तथा चन्द्रलेखा योगी कुमारगिरि के आश्रम में

शरण लेने गये; उस समय चन्द्रलेखा और कुमारगिरि में सत्य और असत्य मार्ग पर परस्पर विवाद उठा। चन्द्रलेखा ने योगी का उत्तर बड़ी ही तर्कपूर्ण युक्ति से दिया। इस पर लेखक यहाँ अपनी ओर से दोनों वैषम्य का चित्रण करता है :—

वह नर्तकी चित्रलेखा जो अनुरक्ति की दासी थी; सांसारिकता में फँसी हुई थी; उस ने विरक्त योगी कुमारगिरि; जो सांसारिकता को त्याग चुका था; के भावों (सिद्धांतों) का प्रतिवाद किया। वह जीवन की हलचल में विश्वास रखती थी और योगी शांति में। इस प्रकार यह दोनों का विवाद क्रान्ति और शान्ति का था। नर्तकी जीवन में विश्वास करती थी; और योगी मुक्ति में। अतः यह जीवन और मुक्ति का संघर्ष था। परन्तु कुमारगिरि स्थिर बुद्धि होकर उत्तर दिये कि तथ्य का ज्ञान ही सत्य है। जिसके द्वारा शांति और सुख मिल सके; वही सन्मार्ग है।

चित्रलेखा : संक्षिप्तकथा

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में राजधानी पाटलिपुत्र के निकट ही महाप्रभु रत्नाम्बर का आश्रम था। रत्नाम्बर के दो शिष्य थे—श्वेतांक और विशालदेव। श्वेतांक क्षत्रीय था तथा विशालदेव ब्राह्मण। एक दिन श्वेतांबर ने गुरु (रत्नाम्बर) से पूछा, "पाप क्या है ?" गुरु (रत्नाम्वर) ने कहा, "यह वस्तु अध्ययन से नहीं अपितु अनुभव द्वारा जानी जा सकती है। यदि तुम दोनों—श्वेतांक और विशालदेव—इसे जानना चाहो तो एक वर्ष के लिए इस नगर के दो व्यक्तियों के पास जा कर रहना होगा। उनमें एक है भोगी वीरगुप्त दूसरा है योगी कुमारगिरि।" यह सुनकर दोनों शिष्य गुरु के चरणों में गिरकर जिज्ञासामय दृष्टि से देखने लगे तथा अनुभव के अथाह सागर में बहने के लिए तैयार हो गए। रत्नांबर इससे बहुत प्रसन्न हुए तथा दूसरे दिन श्वेतांक को बीजगुप्त की सेवा में तथा विशालदेव को कुमारगिरि की शिष्यता में लगाकर स्वयं तपस्या में लग गए। बीजगुप्त हृदय का विशाल व्यक्ति था तथा स्वयं भी रत्नागिरि का शिष्य रह चुका था। अतः गुरु की

आज्ञानुसार श्वेतांक को अपने गुरुभाई तथा सेवक दोनों रूप से प्रेमभाव रखने लगा। वह सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का एक सामन्त था; यद्यपि उसकी अवस्था अभी केवल पच्चीस वर्ष की थी। उसका प्रेम एक नर्तकी चन्द्रलेखा से हो गया था। वह उसे अपनी पत्नी रूप में स्वीकार करना चाहता था। चन्द्रलेखा भी बीजगुप्त के प्रेम में पगी हुई थी; दोनों नित्य सायंकाल मदिरा पान करते तथा रात्रि को चन्द्रगुप्त श्वेतांग द्वारा उसे उसके घर पहुँचवा दिया करता। इस प्रकार यह प्रेम यद्यपि विधिवत् न था; तथापि दोनों का प्रेम सत्य की धारा में बहने लगा। लोग उन्हें वासनाओं के दास समझने लगे।

चित्रलेखा पाटलिपुत्र की अद्वितीय सुन्दर नर्त्तकी है। परन्तु उसकी भी एक कहानी है। वह ब्राह्मण-विधवा है जो अठारह वर्ष में सौभाग्य-हीना हो जाती है। यौवन की मस्ती में कृष्णगुप्त नामक वर्णशंकर युवक से प्रेम हो जाता है; गर्भ रह जाने के कारण दोनों घर से बाहर निकाल दिये जाते हैं। परन्तु अभाग्यवश कृष्णगुप्त की मृत्यु हो जाती हैं; कुछ दिनों बाद बच्चा भी मर जाता है। "रह गई चित्रलेखा, उसे एक नर्त्तकी ने अपने यहाँ आश्रय दिया।" अब वह नर्त्तकी थी परन्तु वेश्या नही। बीजगुप्त का कड़ा विरोध करके वह पहले-पहल प्रेमदान नही देती है परन्तु प्रेम एक स्वाभाविक वस्तु है; वह हो ही गया। अब दोनों—चित्रलेखा तथा बीजगुप्त—प्रेम-मन्दिर के पुजारी हैं। श्वेतांक इन्हीं दोनों प्रेम-पुजारियों का सेवक, सखा तथा गुरुभाई सब कुछ है।

दूसरी ओर विशालगुप्त अपने नये गुरु में श्रद्धा तथा विश्वास रखता है। उसके दृष्टिकोण से कुमारगिरि वासनाओं पर विजय पा चुका था; उसे संयम और नियम में विश्वास था। विशालगुप्त ऐसे गुरु को पाकर धन्य हो गया है।

आगे चलकर दोनों विरोधी धाराओं का संघर्ष होता है। भोग और योग की टक्कर होती है; पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व चल पड़ता है। एक दिन चन्द्रगुप्त अपने दरबार में दर्शन पर तर्क करने के लिए सभी सामंतों, पंडितों तथा योगियों को बुलाता है। वहाँ चाणक्य तथा कुमार-

गिरि का वाद-विवाद चलता है। चाणक्य हार जाता है; कुमारगिरि विजयी होकर भी चित्रलेखा से हार जाते हैं। विजयमुकुट चित्रलेखा के सिर पर रखा जाता है। चित्रलेखा उस मुकुट को कुमारगिरि को पहना देती है तथा दरबार में ठुमक कर नाच पड़ती है। कुमारगिरि स्तम्भित रह जाते हैं तथा हर्ष, शोक; जय, पराजय दोनों को साथ लिये आश्रम चले आते हैं।

'यहीं से "परिस्थितियों का चक्र तेजी से घूम रहा है; उसी चक्र के फ़ेर में ये दोनों—कुमारगिरि तथा चित्रलेखा—पड़ जाते हैं।" चित्रलेखा विलास के लोभ में बीजगुप्त की ओर से तटस्थ तथा कुमारगिरि के निकट होती जा रही है। बीजगुप्त इस कारण उदास-सा रहने लगता है। इस बीच पाटलिपुत्र के एक वयोवृद्ध सामंत मृत्युञ्जय अपनी पुत्री यशोधरा के जन्मोत्सव पर बीरगुप्त, चन्द्रलेखा, कुमारगिरि आदि को आमंत्रित कर के बीजगुप्त से अपनी पुत्री के विवाह का प्रस्ताव करते हैं। बीजगुप्त चित्रलेखा को अपनी पत्नी बताकर प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है। चन्द्रलेखा और कुमारगिरि बीजगुप्त को विवाह कर लेनें के लिए बल देते हैं। इन दोनों का विचार है कि बीजगुप्त का विवाह यशोधरा से हो जाने पर विलास-मार्ग की रुकावट जाती रहेगी परन्तु बीजगुप्त विवाह सदैव के लिए अस्वीकार करके अपने घर चला आता है।

अब कुमारगिरि व चित्रलेखा मिल जाते हैं परन्तु दोनों अपनी अपनी ढोंग बनाये हुए हैं। प्रेम होते हुए भी अपने प्रेम की बार्तालाप तथा क्रिया नहीं कर पाते। बीजगुप्त दोनों की इस मैत्री पर बड़ा दुःखित होता है तथा काशी में मन बहलाने के लिए आ जाता है; साथ ही श्वेतांक, तथा मृत्युञ्जय भी काशी आते हैं।

बीजगुप्त पाटलिपुत्र छोड़कर काशी इसलिए आया है कि चन्द्रलेखा के प्रति प्रेम-भाव को पाल सके तथा नगर के लोग चन्द्रलेखा और बीजगुप्त पर उनके प्रेम छूटने पर हँसी न उड़ा सके परन्तु साथ में यशोधरा और मृतुञ्जय का रहना उसे खल उठा। इधर यशोधरा और श्वेतांक

एक दूसरे के बहुत निकट आ गए हैं, दोनों एक दूसरे पर मोहित हो चले हैं। इस प्रकार उसके मन का अन्तर्द्वन्द्व और भी तीव्र हो उठता है; वह बेचैन हो जाता है। अन्ततः इस अशान्ति से छुटकारा पाने के लिए यशोधरा से विवाह करने का निश्चय मन ही मन कर लेता है। सभी काशी से पाटलिपुत्र वापिस आ जाते हैं।

दूसरी ओर कुमारगिरि और चित्रलेखा दूसरे शब्दों में योगी और नर्तकी प्रेम की एक ही नाव पर चढ़कर भी अभी अपने अपने ढोंग बनाए हुए हैं। मन दोनों का डिग चुका है परन्त अब नर्तकी कुछ उदास सी रहती है। यह देख कुमारगुप्त नर्तकी को बीजगुप्त और यशोधरा की शादी की झूठी बात सुनाकर उसे आत्म-समर्पण को बाध्य कर देता दोनों रात्रि को भोग करते हैं। इस प्रकार कुमारगिरि जैसा योगी का बुरी तरह पतन हो जाता है। रही चन्द्रलेखा : सो बात की वास्तविकता को जानकर कुमारगिरि से घृणा करने लगती है; उसे झूठा, पापी, स्वार्थी तथा घृणित समझकर छोड़ देती है और पुनः अपने घर पर आ जाती है। उसे अपने किये पर पछतावा है। अतः अब बीजगुप्त के यहाँ नहीं जाती।

इधर काशी से लौटने पर श्वेतांक यशोधरा के साथ विवाह करना चाहा और इस प्रस्ताव को बीजगुप्त द्वारा उसके पिता मृत्युञ्जय के पास रखने की इच्छा प्रकट थी। इस पर बीजगुप्त क्रोधित हो उठा। क्योंकि वह स्वयं अपना विवाह यशोधरा से करने के लिए निश्चय कर चुका था। एतदर्थ श्वेतांक को बुरा भला कह कर वह अपने विवाह का प्रस्ताव लेकर मृत्युञ्जय के आया; परन्तु रास्ते ही में उसका हृदय त्याग, दान तथा परोपकार से भर गया। श्वेतांक को डांटकर पछताने लगा और मृत्युञ्जय से श्वेतांक तथा यशोधरा के परिणय का प्रस्ताव रख दिया। मृत्युञ्जय श्वेतांक को निर्धन समझकर इस प्रस्ताव को अस्वीकृत किया। इस पर बीजगुप्त अपनी सारी सम्पदा तथा सामन्त की पदवी देने का प्रण करके दोनों के विवाह की स्वीकृति मृत्युञ्जय से ले ली। ऐसा ही हुआ; बीजगुप्त ने सम्राट के पास जाकर अपना सामंत पद श्वेतांकको दिलवाया तथा समस्त वैभव उसे देकर उसका विवाह धूमधाम से किया, परन्तु उसी रात को

नगर छोड़कर भिखारी वेश में निकल पड़ा। नगर के बाहर होते ही चित्रलेखा उससे मिली और अपनी सम्पित देकर लौटाना चाही परन्तु वह अस्वीकार कर दिया।

अन्ततः चित्रलेखा की क्षमा प्रार्थना पर वह उसके घर गया। परन्तु दूसरे ही दिन प्रातः की लाली में वे दोनों प्रेम के लाल इस विश्व के विभव को लात कर भिखारी रूप में निकल पड़े।

इधर एक वर्ष की अवधि समाप्त हुई। श्वेतांक तथा विशालदेव गुरु की आज्ञानुसार उसी निश्चित स्थान पर पहुँच कर रत्नाम्बर से मिलते हैं। आज देखो पाप, पुण्य का अनुभव लेकर गुरु-चरणों में झुके हुए हैं। विचित्रता तो इस बात की है कि दोनों शिष्यों के दृष्टिकोणों में महान अन्तर है। श्वेतांक बीजगुप्त को त्यागी-देवता तथा परोपकार की मूर्ति मानते हुए कुमारगिरि को स्वार्थी, घृणित एवं पापी समझता है। दूसरी ओर विशालदेव बीजगुप्त को विलासी, कामी तथा पाप की प्रतिमूर्ति समझता है और कुमारगिरि को महान योगी, समर्थ तथा अजित मनता है।

महाप्रभु-रत्नाम्बर के मुख पर एक स्मित-रेखा झलक जाती है और निष्कर्ष बताते "कि विश्व में न तो पाप है और न पुण्य। मानव परिस्थितियों का दास है; स्वतंत्र नहीं फिर पाप-पुण्य कैसा ? अतः मेरा मत है कि "हम न पाप करते हैं और न पुण्य; केवल वह करते हैं जो हमें करना पड़ता है" यही मेरी अन्तिम शिक्षा है। तुम्हें आशीर्वाद है।" बस, यही उपन्यास का अन्त है।

परीक्षा से पाँच मिनट पूर्व

१—रत्नाम्बर के दो शिष्यों—श्वेतांक तथा विशालदेव, में से श्वेतांक का गुरु से "पाप क्या है" का प्रश्न करना।

२—रत्नाम्बर श्वेतांक को क्षत्रिय होने के कारण अपने योगी शिष्य सामंत बीजगुप्त की सेवा में तथा विशालदेव को ब्राह्मण होने के कारण योगी कुमारगिरि की शिष्यता में रखवा देना।

३—बीजगुप्त और चित्रलेखा का अवैध पति-पत्नी प्रेम; श्वेतांक का उन दोनों को स्वामी तथा स्वामिनी के रूप में देखना।

४—विशालदेव का कुमारगिरि के प्रति आस्था तथा स्वयं भी योग-साधना मे रत हो जाना।

५—चन्द्रगुप्त के दरबार में कुमारगिरि की चाणक्य के ऊपर महान विजय तथा चित्रलेखा जैसी नर्तकी से महान पराजय। कुमारगिरि और चित्रलेखा का मन ही मन प्रेम अंकुरित होना।

६—वयोवृद्धसामन्त मृत्युञ्जय का अपनी पुत्री यशोधरा की वर्षगांठ पर बीजगुप्त, कुमारगिरि, चित्रलेखा आदि को आमन्त्रित करना तथा बीजगुप्त से विवाह प्रस्ताव परन्तु बीजगुप्त का प्रस्ताव अस्वीकार कर देना।

७—कुमारगिरि और चित्रलेखा के बढ़ते हुए प्रेम को देख बीजगुप्त का श्वेतांक, यशोधरा तथा मृत्युञ्जय सहित काशी जाना।

८—कुमारगिरि का झूठ बोल कर चित्रलेखा से विलास करना, चित्रलेखा का घृणा-भाव लिए अपने घर पुनः आ जाना।

९—बीजगुप्त आदि का काशी से वापिस आना तथा यशोधरा, श्वेतांक का विवाह सम्पन्न होना। बीजगुप्त का भिखारी रूप में गृहत्याग; नगर के बाहर चित्रलेखा का मिलना और सदैव के लिए दोनों का प्रेम भिखारी बन जाना।

१०—एक वर्ष की समाप्ति पर श्वेतांक व विशालदेव का गुरु रत्नाम्बर से मिलना। "पाप कुछ नहीं; मानव परिस्थियों का दास है।"

विसर्जन

आलोचक की दृष्टि में

श्री मोहनलाल महतो वियोगी का 'विसर्जन' शुद्ध साहित्यिक सामग्री होते हुए भी नवीन ढंग का एक सामाजिक और व्यवहारिक उपन्यास है। प्रस्तुत उपन्यास में दो पहलू एक ही साथ दिखलाई पड़ते हैं—एक प्रेम-मय जीवन, दूसरा त्याग-प्रधान जीवन। किशोर इन दोनों ही पहलुओं के वीच की दीवार के समान है जो अटल होते हुए भी दोनों ओर झाँक रही है।

उपन्यास प्रायः दो श्रेणियों में से ही हुआ करते हैं—एक तो स्वाभाविक और सच्चे जीवन की झाँकी दिखलाने वाला, दूसरे समाज के सम्मुख कुछ आदर्श-जीवन की झाँकी रखने वाला। साहित्यिकों ने इन्हीं दो श्रेणियों को 'यथार्थवाद' और 'आदर्शवाद' नाम दे दिये। प्रस्तुत उपन्यास में ठोस यथार्थवाद एवं आंशिक आदर्श की पुट है। इन दोनों का ही सामञ्जस्य उन्होंने उसी कुशलता से किया है जिस कुशलता से प्रेम और त्याग के दो विभिन्न तत्त्वों का सम्मिश्रण किया है। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि कुशल लेखक स्पष्ट है। उसके सामने तो जो कुछ है वही रख देना जीवन का सत्य समझता है। वे अपनी भूमिका में स्वयं कहते हैं—

"मैं अपने को उन पुण्यवान लेखकों में नहीं गिनता जिनकी कमनीय कल्पना किसी लज्जावती नव-वधू की तरह वन्द किवाड़ के छोटे से छेद से साँस रोककर—निर्जन दोपहरी में चुपचाप झाँका करती है। खुलकर खेलना ही मेरे जीवन का वेगवान आग्रह रहा है।"

अपने यथार्थ की सूचना वे अपने इन शब्दों से और भी स्पष्ट कर देते हैं—"मैं अपनी अच्छाइयों और बुराइयों से लिपटा हुआ अपनी अपूर्णता को दृष्टि में रखकर जब लिखने वैठता हूँ तो किसी ऐसे "अति

मानवीय-चरित्र" की कल्पना भी नहीं पाता जो मनुस्मृति के दृष्टिकोण से पवित्र हो, सही हो, स्तुत्य हो और आदर्शवाद का प्रतीक हो।"

फिर भी उन्होंने ब्रह्मचारी और किशोर को बनाने में कुछ आदर्शवादी शैली को काम में लिया है। हम मानते हैं कि इन दोनों पात्रों का चरित्र "अति मानवीय-चरित्र" नहीं तो उसके कुछ निकट अवश्य है।

पात्रों के चरित्र के विकास में और स्थानों पर तो लेखक ने बहुत ध्यान रक्खा है। वास्तव में चरित्र का विकास (अच्छाई की ओर या बुराई की ओर) पात्र की प्रकृति के और वातावरण के अनुकूल ही तो रहता है। विमल रईस घराने का व्यक्ति है उसको त्याग का उपदेश एक दम नहीं लुभा सका। वह गिरता-पड़ता ही उस लक्ष्य की ओर बढ़ता है। बेला के जीवन में आनन्द (सांसारिक परिभाषा में) ही आनन्द प्रधान है। उसे भी नवोदित सभ्यता का शिकार होना ही चाहिए। सेन तो दुष्ट है उसे सभ्यता आदि का कुछ पता नहीं परन्तु वह तो मिथ्या ढोंग-प्रदर्शन के द्वारा अपना उल्लू सीधा करना चाहता है। हरिहरसिंह को अहंकार क्यों न हो—वह तो दारोगा था। उसकी बू शेष रहनी ही चाहिए—हाँ पुत्र भी दुर्लभ ही है—पर यह उस अक्ल के अन्धे को बाद में पता चलता है—जो नितान्त स्वाभाविक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पात्रों के चरित्र की दृष्टि से यह उपन्यास बहुत ही उच्चकोटि का ठहरता है। चरित्र स्वाभाविक है—इसीलिए उनका महत्व है।

कथानक, जैसा कि हम कई स्थानों पर लिख चुके हैं, दो प्रकार के होते हैं। तथ्य-निरूपण एवं घटना-वैचित्र्य। आज के युग में घटना-वैचित्र्य का तो कोई स्थान नहीं है। जो कुछ भी कहा जाय किसी तथ्य को लेकर कहा जाय अन्यथा वह समाज के काम भी क्या आयेगा। प्रस्तुत उपन्यास का कथानक बिल्कुल सामयिक और स्पष्ट है। आज के युग में पूँजीपतियों का राज्य है। मजदूरवर्ग शोषित हो रहे हैं। यदि हम अपने ही पैरों पर खड़े होकर उनकी रक्षा न कर सके तो वे हमारा सर्वनाश करने में कुछ भी न छोड़ेंगे! इधर हमारा समाज इतना पतित हो रहा है कि हम बात २ में रूस और इंगलैण्ड की नकल करने के लिए

दौड़ते हैं। हमें आता जाता कुछ नहीं पर व्यर्थ का पांडित्य-प्रदर्शन करके हम सम्मान पाना चाहते हैं। अहंकार हमारे में इस कदर कूट-कूट कर भरा पड़ा है कि जो वस्तु अब हमारी नहीं रही, उसे भी अब हम हमारी समझ कर उसके बारे में शान दिखाना पसन्द करते हैं। लड़कियों की उच्च शिक्षा का अर्थ भी समाज का पतन ही निकल रहा है—आदि बातों का इसमें निरूपण है। सभी विषयों पर बहुत ही गंभीर विचार किया गया है—और तब लिखा गया है।

भाषा की दृष्टि से भी यह उपन्यास साहित्यिक व व्यवहारिक दोनों ही श्रेणियों में रखा जा सकता है। भाषा शुद्ध साहित्यिक तो नहीं है परन्तु पात्रों के अनुरूप अवश्य चलती है। हरिहरसिंह क्रोधावेश में या दारोगापन की शेखी में चाहे जैसे बोल जाते हैं। यही हाल मिस्टर सेन और चटर्जी का है। हाँ, ब्रह्मचारी जी तथा किशोर अवश्य शुद्ध भाषा बोलते हैं—इसीसे ऐसा प्रकट होता है कि ये सब पात्रों के अनुरूप ही प्रयोग चल रहे हैं।

कथोपकथन बहुत ही सुंदर और युक्ति-युक्त हैं। इसका कारण एक तो यह हैं कि सारे ही पात्रों में किसी न किसी रूप में ज्ञान का अंश विद्यमान हैं। सभी पात्रों की तर्कना-शक्ति प्रबल हैं (यदि यह तर्कना शक्ति एक ही रूप में प्रबल होती तो संभवतः उसमें अस्वाभाविकता सी आ जाती, परंतु यह भिन्न २ रूप में परिष्कृत हुई है। इसलिए स्वाभाविक ही है) हरिहरसिंह और किशोर का वार्तालाप दूसरे ही ढंग से होता है तो किशोर और ब्रह्मचारी जी का दूसरे ही ढंग से। दोनों ही प्रकार के वार्तालापों में अन्तर है इससे मालूम होता हैं कि कथोपकथन बहुत ही रोचक हैं। एक से ही तर्क और एक सी बातें सुनते २ पाठक ऊब जाते हैं। परन्तु यहाँ ऐसा नहीं होने पाया।

अब हम उसके उद्देश्य की—उपन्यासकार के लक्ष्य की ओर दृष्टिपात करते हैं। वैसे तो कथानक का भाग ठीक तरह पढ़ने वालों के समझ में यह भली प्रकार से आ गया होगा कि लेखक चाहता क्या हैं। उसने यह उपन्यास लिखा ही क्यों ? किंतु कथानक पर विचार करने के पश्चात्

भी उसके उद्देश्य की सफलता एवं असफलता रह ही जाती हैं। इसलिए इस पर विचार करना नितान्त आवश्यक ही प्रतीत होता है।

यह तो हम पहिले ही कह चुके हैं कि इस उपन्यास में दो पहलुओं पर एक ही साथ विचार किया गया है (जिन्हें लेखक तत्त्वों के नाम से अपनी भूमिका में लिख गया है) अब उन पहलुओं को मिलाकर एक बनाने में, उनका एकीकरण करने में लेखक को सफलता मिली हैं, यह हम कह सकते हैं। एक ओर वेला का विलासमय जीवन हैं—किशोर भी उससे संबंधित हैं। परन्तु किशोर का जीवन तो त्याग और तपस्या से भरा पड़ा हैं। इसीलिए उसे बीच की दीवार कहा गया हैं। इधर वेला भी अपने कृत्रिम जीवन को छोड़कर उससे—मृतक किशोर से—अपना संबंध स्थापित करती है। उस समय वह वेलारानी या मिस वेला चित्र-लेखा या मुक्ति का रहस्य की आशादेवी के समान अपने सच्चे साथी की पहिचान करती है और अत्यन्त हीनावस्था में भी उसे अपना रहने में तनिक भी संकोच नही करता है। यह इस वेला का भारतीय दृष्टि-कोण है।

किशोर त्यागी, विरागी सभी कुछ है किंतु उसके भी तो आखिर हृदय है ही। और इस समय उसको (वेलाको) अपनी बना लेने में भी तो कोई उसके संयम की क्षति तो नही होती। यह तो उसकी उदारता ही समझी जायेगी जो वह उसे अपनी स्वीकार कर लेता है। फिर देर क्या रही "दो विरोधी तत्त्वों" के सम्मिश्रण में! कुछ तुम चलो, कुछ हम चलें! दोनों के ही सरकने से मुलाक़ात संभव है। यहाँ तो किशोर को केवल अपनी स्वीकृति देनी पड़ी है और सारा प्रयत्न और त्याग तो वेला का ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह उपन्यास कथानक, कथोपकथन, भाषा एवं अपनी उद्देश्यपूर्ति सभी दृष्टिकोणों को ध्यान में रखते हुए बहुत ही सुंदर बन पड़ा है। विशेष रूप से तो यह एक युग की माँग को पूरा करता है—जिसे हम देख रहे हैं—सुन रहे हैं—उसी विषय पर कार्यारूढ़ होने का यह एक संदेश देती है।

विसर्जन के पात्रों का चरित्र-चित्रण :—श्री मोहनलाल महतो का उपन्यास 'विसर्जन'—बहुत ही स्वस्थ एक सामयिक विचारधारा का पोषक है। वह आज के युग की वस्तु है। उक्त उपन्यास में पात्रों के चरित्र का विकास इसी उद्देश्य से हो पाया है कि वह एक युग की सीमा बना लें—उस युग से बाहर न जाने पावें। वैसे तो इसमें १५ से ऊपर पात्र होंगे किन्तु उपन्यास के उद्देश्य-पूर्ति के लिए जितनों का विवेचन यहाँ पर्याप्त होगा हम उनका ही विवरण देंगे। सबसे पहले कुछ गौण फिर साधारण और फिर विशेप पात्रों के चरित्र की व्याख्या क्रमशः करेंगे।

सुखमनदास एक मिल-मालिक हैं। इस युग में पूंजीपति होना ही चरित्र की निकृष्टता सूचित कर देता है। आप हैं भी उसी श्रेणी के जिस श्रेणी के आजकल के कतिपय पूंजीपति हैं। अपना काम बनाने के लिए धूर्तता, झूठ, मिथ्या, दर्प एवं स्वार्थ का सहारा इन्होंने स्थान स्थान पर लिया है। इन्हें ऐसा पक्का विश्वास है कि पूंजी के बल पर मनुष्य चाहे जो कुछ करा सकता है। चालबाजी से ये विमल को फंसा लेते हैं। बेला तो मानों सेठ साहब के दरबार की नर्तकी हो। उसे तो ये अपने साथ श्रीनगर ले जायेंगे, विलायत ले जायेंगे। इस वृद्धावस्था में भी ये ऐश्वर्यप्रिय एवं विलासी जीव हैं। यह धन की करामात है।

सेनगुप्ता इनकी मिल के मैनेजर हैं। आप भी अभागे हिन्दुस्तान में विलायती ठाठ लाना चाहते हैं। वह ठाठ जो यूरोप की आत्मा को खा गया। आप भी सेठ जी की भाँति रक्तशोषक हैं और मजदूरों से—जिनके बल पर आपकी कुर्सी टिकी हुई है, शान टिकी हुई है—आप घृणा करते हैं। यह इनकी नवोदित सभ्यता है। मजदूरों को गालियाँ देकर आप अपनी इज्जत समझते हैं—"मैं सत्तूखोरों की शकल भी नहीं देखना चाहता......तुम लोग खानदानी कुली ...मजदूर हो" इनका यह अहंकार बेला से हाथ मिलाते समय धृष्टता के रूप में सम्मुख आता है जब वे हाथ मिलाते समय

उनकी हथेली को अपनी अँगुली से खरोंच कर अपनी सभ्यता का परिचय देते हैं।

जगरूप आत्माभिमानी मजदूर है। गालियाँ क्यों सहेगा, वह स्पष्टवादी युवक है—"आप बहुत आगे बढ़ रहे हैं। हम ने नौकरी की है तो आप भी नौकर हैं! अपनी प्रतिष्ठा के लिए हम जान भी दे सकते हैं।" इन्हीं शब्दों की प्रतिज्ञा के आधार पर वह मजदूर का संगठन करता है और जगरूप, क्रांतिकारी लेनिन या फरमीन के समान हमारे सामने आता है। जिन्होंने जन-शक्ति के आधार पर रूस और मेक्सिको के तख्ते उलट दिए।

विमल के साथी मि० आजाद और रमेश आदि पूंजीपतियों के दलाल हैं। जो मजदूरों के होकर (दिखावे में) पूंजीपतियों से रिश्वत पाते हैं और उन्हें गलत रास्ते पर ले जाते हैं। रूस का ढोल पीटकर अपनी शान दिखाते हैं—भीतर से रुपये पाकर अपनी बहिन की शादी में लगाते हैं। नेता बनना जैसा कि आजकल पेशा हो गया है—उसी के समान ये महानुभाव हमारे सामने आते हैं। मि० आजाद तो समय बे-समय रूस की सितार छेड़ते ही रहते हैं। उन्हें आता-जाता कुछ नहीं—राजनीतिक ज्ञान से कोरे हैं परन्तु फिर भी शान दिखाना तो कभी नहीं भूलते। आप बेला पर भी लट्टू हो रहे हैं! इस प्रकार ये निम्न श्रेणी के चरित्र के व्यक्ति विमल का साथ करके उसे भी बहका देते हैं—ये धूर्त हैं!

कमला किशोर की माँ है। यह बड़ी सती साध्वी स्त्री है। पहिले पहल तो यह हमारे सामने एक रूढ़िवादी महिला की ही भाँति आती है—उसी दारोगापने पर "एम० ए० पास करके लड़के आवारों की बस्ती में क्यों चले जाते हैं—उन्हें तो दारोगा लाट होना चाहिए।" किन्तु बाद में उसका ज्ञान, उसकी सहनशक्ति और दृढ़ता पतिप्रेम और वात्सल्य को प्रकाशित कर देते हैं। वह अनुपम धैर्यवान विदुषी है जो किशोर के और पति के न रहते हुए भी आश्रम में काम करती है। वह वीराङ्गना है—घर की तलाशी लेने आए हुए दारोगा को वह फटकारती

है—"मैं हट नहीं सकती, यह घर मेरा है—जो जी चाहे करें...परवा नहीं, मैं दुर्घटना से नहीं डरती।"

वात्सल्य और पतिप्रेम तो इतने लिपटे हुए हैं कि वह दोनों को ही सुखी देखना चाहती है। चाहे दारोगा कैसा ही हो, उसका पति है—उसका प्राणाधार है, उसके विना उसका कल्याण नहीं—यह बात वह अच्छी तरह समझती है। —"इस समय, देखते नहीं आग बरस रही है? कहाँ जारहे हो?" अंत में वह धूप में जाते हुए पति की ओर एक कारुणिक दृष्टि से देखती हुई अन्दर चली जाती है—वह किशोर से कहती है—"बेटा, उनकी चर्चा क्यों करते हो? वे हम से दुखी होकर ही चले गए, न जाने कौन-सा अपराध हम से हुआ!" पुत्र किशोर से तो उसका प्यार और भी परिष्कृत रूप में प्रगटित होता है—"भगवान मेरे लाल की रक्षा करो, उसे जीवन में पूरी सफलता प्रदान करो—वह कहीं भी रहे, कुछ भी करे!" वह तो उसके (किशोर के) साथियों से भी पुत्रवत् समझ कर ही व्यवहार करती है। अंत में तो उसका पागल हृदय "मैं कहाँ हूँ? किशोर कहाँ हैं....किशोर किशोर..." चिल्लाती है—उसका वात्सल्य, पतिप्रेम और धैर्य तथा ज्ञान सभी सराहनीय हैं।

विमल किशोर का सहपाठी है। इसका चरित्र पहिले पानी की तरह बहकर फिर चट्टान के सदृश जम जाता है। छात्रावस्था में रईस घराने का होने के कारण चंचल है—और निश्चिंत है। "हमारे जीवन का पहला उद्देश्य है खूब बन-ठन कर "गर्ल्स-स्कूल" के सामने जो सड़क है उस पर संध्या समय चहलकदमी करना" "दुनिया जाय जहन्नुम में हमें क्या परवाह पड़ी है।" किशोर के कहने से वह ब्रह्मचारी जी में विश्वास रखने लगता है—परन्तु उतनी तन्मयता से नहीं। वह रईस है उसे अपने कपड़ों का अधिक ध्यान रहता है। "गुरुदेव, सारे कपड़े गंदे हो गए—आप भी कहाँ ठहरे—हे भगवान।" विमल में ज्ञान भी है और ज्ञान के साथ तर्क भी। हरिहरसिंह को वह आश्रम में समझाते समय बहुत ऊँची बातें कह गया है "देखिए सुख और आनन्द में भेद है—सुख तो बाह्य साधनों से प्राप्त किया जाता है और आनन्द का केन्द्र

है हमारा अन्तर ।" "बिना पागल बने चरम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती बाबू साहब ।"

पर इतना होते हुए भी वह अपने लक्ष्य से डिग जाता है। आश्रम छोड़कर नेता बन जाता है और रिश्वत खाता है—यहाँ उसके चरित्र में विषमता आजाती है—आश्रम को वह अपना नहीं समझता, गुरुदेव की विचार-धारा भी उसे प्रिय नहीं लगती—अब तो उसे कूट-नीति, छल-कपट और विश्वासघात के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं पड़ता। पर अंत में सत्य की ही विजय होती है। उसे गुरु जी के सम्मुख अपनी नीचता प्रगट करने में लज्जा नहीं आई, यहाँ वह स्पष्टवादी एवं हृदय का सच्चा हो आता है। अब उसकी विचार-धारा स्पष्ट एवं दृढ़ है - जो गर्ल्स-स्कूल के सामने घूमने में आनन्द समझा करता था वह बेला को "बहिन बेला" कहते हुए तनिक भी न सकुचाया—इस प्रकार उसका प्रेम पवित्र प्रेम व्यापकता लिए हुए हमारे सामने आता है। सुबह का भूला साँझ को घर आ जावे तो वह भूला नहीं कहाया करता।

मि० चटर्जी बेला के विलायती बाप हैं। आप भी इंगलैंड हो आए हैं—मानों सारे ही तीर्थों का पर्व लूट लाए हों। बात २ में आप इंगलैंड की सभ्यता की सराहना करके, भारतीय संस्कृति को लात मारते हैं। परिचय भी आप अंग्रेजी ढंग से ही कराते हैं—"आप हैं मिस्टर सेन—कई कम्पनियों के डाइरेक्टर और खुलना के सेन चौधरी इस्टेट के मालिक!" मिलने का भी आपको वहीं का तरीका पसन्द है—"यह हिन्दुस्तानी तरीका है, बिलकुल भद्दा और जंगली, विलायत में मुलाकात के लिए समय पहिले से ही तैय कर लिया जाता है।" मुलाकात जितनी देर विलायत में होती है, उतनी ही देर यहाँ हो सकती है—"छः छः घण्टे बन्द कमरे में...कुमारी के साथ.. ऐसा तो विलायत में भी नहीं होता।"

आप चाहते हैं कि मेरी लड़की बेला किसी लखपति या करोड़पति से शादी करे—चाहे वह कैसा ही हो— रुपयों को यह प्रधानता देते हैं। नीचे खानदान के लोग इन्हें पसन्द नहीं चाहे वे कितने ही कार्य

करके दिखा दें। इन्हीं रुपयों के कारण—स्वार्थ के कारण बेला को पहिले तो सेन को सौंप देते हैं फिर सुखमनदास को। कितने निकृष्ट व्यक्ति हैं सेठों की खुशामद करते हैं--और स्वार्थवश अर्थ अनर्थ कुछ नहीं देखते। प्रान्तीयता की भी पुट है—पर संभवतः वह भी चापलूसी का ही दूसरे ढंग का तीर हो.. "और बेला ये अपने बंगाल के भी तो हैं" ये पक्के धूर्त हैं। सेठ सुखमनदास को प्रसन्न करने के लिए सेन को गालियाँ निकाल देते हैं "डेम सेन, मैं यह पसन्द नहीं करता.... अब कोठी पर कदम रखते ही उसका कान पकड़कर बाहर निकाल देना पीटर।"

बेला के तर्कों से उनके ज्ञानचक्षु एक बार खुलते हैं--"अब मेरी नैया किनारे पहुँच रही है--अतीत मेरा था, भविष्य तेरा बेटी।" इसके अतिरिक्त वे किशोर की पैरवी भी करते हैं। पर फिर भी वे अन्त तक बिल्कुल साफ़ नहीं हो पाए--रहे वैसे ही।

मिस्टर सेन रईस घराने के व्यक्ति हैं और बेला पर आसक्त है—आप चाहते हैं कि बेला विवाह कर ले। आप भी नवोदित सभ्यता के पुजारी हैं—जाने से पहिले समस्त लोगों की अनुमति लेना सभ्यता में है यह किशोर क्या जाने—तभी तो उसे सुनना पड़ा--"बिल्कुल असभ्य! क्या उसकी तबियत कुछ खराब है!"

आप ऐश्वर्य-सम्पन्न व्यक्ति हैं--फैसी कार में घूमते फिरते हैं और मौज उड़ाते हैं—वह मौज जिससे मौत अच्छी होती है! आप-की विलासिता के चिन्ह आपके मुँह पर ही परिलक्षित हो रहे हैं। ये पक्के धूर्त हैं। एक बार बेला से अनबन हो जाती है--पर फिर भी ये तो पतंगे की भाँति चक्कर लगाते हैं। और बेला के मिलने पर बनावटी रूदन करके बोलते हैं—"मनस्ताप के मारे उस दिन में आत्महत्या कर लेता—मैं सचमुच पीता हूँ तो अनर्थ कर बैठता हूँ...अब मैं इस संसार में रहकर क्या करूँगा, मैंने तुम्हारा जी दुखाया है रानी!" "उस पाप का, अपराध का प्रायश्चित किए बिना मुझे चैन नहीं, मैं तुम्हारी मूर्ति को हृदय में धारण करके संसार से विदा होऊँगा।"

वास्तव में क्या उसका प्रेम इस श्रेणी का है ! वह तो सिनेमा-घर मे बैठे २ बड़े गंदे विचारों में बह रहा है--वह प्रेम है या वासना ? "छोकरी है तो बहुत ही सुन्दर पर छँटी हुई है वह कोई पर्दे में रहती है, उल्लू की तरह बाते कर रहे हो ? चलो कल तुम्हारी बगल में ही उसे बैठा दूँ ! अब वह धीरे २ मेरे जाल में फँस रही है ! एक बार फँसी न कि उबरना कठिन हो जायेगा ।" बात थी भी यों ही पर परमात्मा की कृपा से वह इधर उधर उड़कर बच गई ।

मिस्टर सेन प्रतिदिन उसके घर पर आते हैं और उस कुमारी बालिका से छः छः घण्टे बन्द कमरे में बातें करते हैं यह उनकी सभ्यता एवं चरित्र का एक नमूना है ।

यही नहीं आप आत्माभिमानी एवं अहंकारी भी एक ही नंबर के हैं, मानापमान का आपको बहुत ध्यान रहता है । कहाँ अपमान हो गया और कहाँ मान ये आप तुरंत पहिचानते हैं । यह नीच वृत्ति का बिगडेल धनवान युवक बेला को भ्रष्ट कर देता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि इसके चरित्र में सिवाय बुराई के भलाई का एक अंश मात्र भी तो नहीं दिखाई पड़ता । वह झूठा, विश्वासघाती, धूर्त एवं विलासी है । मनसा, वाचा तथा कर्मणा तीनों से ही अशुद्ध है ।

ब्रह्मचारी जी :—अपूर्व ज्ञान के भंडार हैं । ये वास्तव में सच्चे साधु अपना कर्तव्य पालन करने वाले पूज्य महात्मा तथा उद्धारक हैं । आज के समय को ऐसे ही सच्चे साधुओं की आवश्यकता है । जिनका ज्ञान अपूर्व हो, अद्भुत हो—जो दूसरों को कुछ दे सके—उनका ज्ञान समय समय पर किशोर का मार्ग-दर्शन करता है । वे एक अद्भुत प्रेरणा देते हैं । "भीतर को उत्सुकता जब मर जाती है तब मनुष्य की मानसिक बाढ़ वहीं रुक कर मृतप्राय हो जाती है । हमें बच्चों की तरह उत्सुक रहना चाहिए । मानसिक जड़ता हमें प्रतिक्षण मृत्यु की ओर खींचती है ।" "जिस वस्तु को हमारी विवेक बुद्धि स्वीकार नहीं करती उसमें बलात् हम चिपके भी नहीं रह सकते—आवश्यकता इस बात की है कि तुम संसार के सत्य रूप को देखो, सुनो और जानों ।"

ज्ञान के साथ उनके तर्क अकाट्य एवं पुष्ट हैं। पूँजीपतियों के प्रति क्रांति के उग्र विचारक किशोर को वे क्या ही सुंदर उक्ति कहते हैं—"असाध्य रोग तो रोगी के प्राण लेगा ही फिर तुम लंबी बीमारी से ऊब कर ऐसे रोगी का गला घोंटकर या उसे विष देकर अपने सिर हत्या का पाप क्यों लादना पसन्द करते हो बेटा। वह रोगी तो असाध्य है और मरेगा ही, कुछ देर और प्रतीक्षा करो, वह मरने ही वाला है।"

"कछुवे की पीठ को ही कच्छप नहीं कहा जा सकता, वह भले ही कच्छप का एक अंश हो पर कच्छप का मूलरूप तो उस कठोर ढकन के नीचे छिपा रहता है। इसी प्रकार आश्रम कच्छप की पीठ है जो उसकी आत्म-रक्षा के उपयोग में आती है। तुम लोगों का गंभीर कर्तव्य तो... ...."

"शिक्षा-प्रचार, ग्राम सुधार सभी लक्ष्य के निमित्त मात्र हैं। कठोर उद्देश्य तो दूसरा ही है।"

ये महात्मा अद्वितीय विचारक हैं। आवेश में आकर चाहे जो कुछ कर डालना इन्हें पसन्द नहीं। पक्के शांतिवादी हैं—मज़दूरों को, क्रुद्ध मजदूरों को वे उसी प्रकार का उपदेश देते हैं—"भाई शांति किसी भी बात को शांत-बुद्धि से समझना चाहिए। आँखें बंद करके दौड़ कर चलने वाला ही प्रायः गिरता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये मजदूरों के उद्धार का उपाय अपनी शांतिवादी प्रकृति में ही खोजना चाहते हैं। आप हमेशा सही व साफ मार्ग का अनुसरण करना अधिक पसंद करते हैं। जीवन को उन्होंने भली प्रकार समझा है वे जानते हैं कि "अपने अस्तित्व के लिए सांस सांस पर संघर्ष करना पड़ता है—यही प्रकृति की प्रेरणा है—इससे हम बच नहीं सकते।"

"सहयोग की बात थोथी ही नहीं मूर्खतापूर्ण है।" महात्मा जी किशोर के बहते हुए जीवन को एक किनारे लगा देते हैं उपकार की, सेवा की, निम्नवर्ग की रक्षा की उनमें कितनी भावनाएँ हैं। वे शहर के सुसज्जित मकान छोड़कर एक अंधेरी गली में, गंदी गली में मकान लेते

हैं और मजदूरों की सही दशा का अवलोकन करते हैं। वे भी तो हमारे भाई ही हैं वे कैसे उसमें रहते हैं और हम क्यों नहीं रह पाते? वास्तव में उनके सादे जीवन की कैसी अपूर्व झाँकी दिखाई पड़ती है।

ब्रह्मचारी जी सच्चे त्यागी हैं। सही त्याग के अर्थ में उन्होंने सुख छोड़े हैं और दु.खों को अपनाया है। धन ऐश्वर्य आदि सभी के लात मार दी है। आश्रम के लिए रुपयों की मोटी रकम लेना वे पसन्द नहीं करते–रुपये वास्तव में पथ-भ्रष्ट कर डालते हैं। उनका रोना स्वाभाविक सत्य की सूचना देता है।

अपने व्यक्तित्व से प्रभावित करने की उनमें शक्ति है। विमल एक वार उनसे पृथक् हो जाता है, पर क्या अलग रह सकता था, ये महात्मा स्वयं उसी के मुँह से उसके पापों की कहानी सुनने को उसके घर जाते हैं। और उसका दिया हुआ पत्र उसी से पढ़ाते है। कितनी दूरदर्शिता है— मनोविज्ञान को जानने वाले हैं। ऐसी स्थिति तक पहुँचे हुए विमल को फिर रास्ते पर ले आना क्या साधारण कार्य है। यह उनके व्यक्तित्व की विशेषता है।

उनका हृदय शुद्ध है—कमला को वे अपनी बहिन समझते है और किशोर तथा विमल को पुत्र। "दीदी तुम आश्रम में हो। मैं तुम्हारा सेवक और भाई आनन्द। किशोर सकुशल है दीदी।"

किशोर के जेल चले जाने पर उनको धक्का अवश्य लगा—पर अनुपम धैर्यवान ने अपना मार्ग तो नहीं बदला, ध्येय तो नहीं छोड़ा। उनकी दृढ़ता कितनी गंभीर और गहन है।

उनके हृदय में क्रांति के भी कुछ विचार है। समाज के अंगों की दुर्दशा तो नहीं देखी जाती—आखिर कब तक सहन किया जा सकता है। पर उनकी क्रांति स्पष्ट होते हुए भी बुद्धिमता लिए हुए है—"अन्याय सहन करने वालों को भी गोली मार देनी चाहिए क्योंकि उसी की गद्दारी नीति के चलते अन्याय को आश्रय मिलता है और निरपराध चक्की में

पीसे जाते हैं। अत्याचार करने वालों से भयानक अपराधी तो वे हैं जो अत्याचार सहन करके अत्याचारी की हिम्मत बढ़ाते हैं।"

हरिहरसिंह :—किशोर के पिता हैं। ये अपने दारोगापन की लाटशाही के कारण ही थाने से अलग कर दिये गए हैं और अब घर पर तथा घरवालों पर अपना रोब जमाते हैं। दारोगापन छुट गया परन्तु साहबी ठाठ अभी नहीं छुटा—जब किशोर अपना सामान लेकर घर पहुँचता है तो आप क्या शान से फरमाते हैं—"बाबू साहब क्या स्टेशन के कुलियों ने हड़ताल करदी है या आपका सामान छूना भी उन्होंने अपमान समझा ?" रूढ़िवादी एक ही हैं—रूढ़ि ? धर्म और दारोगापन दोनों ही प्रगट करती हैं—"...आखिर गांव वाले क्या कहते होंगे, शहर में जाकर लड़का तीन कौड़ी का हो गया, यह एक दिन अपने साथ मुझे भी ले डूबेगा। जूते पहिने ही घर के भीतर चला गया बिल्कुल नालायक।"

कहने का तात्पर्य यह है कि दारोगापन छुट गया परन्तु वह अभिमान अभी शेष ही है जो दारोगा के रहता है—महात्मा की निंदा करते हुए आप अपनी शान दिखाते हैं—"वह कोई पक्का धूर्त है, धूर्त। जब मैं दारोगा था तब ऐसे धूर्तों को थाने में बन्द करके ठोका करता था...मैं पुलिस-विभाग में काम कर चुका हूँ मैं चोर और भले आदमी की पहिचान रखता हूँ—रंगे हुए सियारों को मैं तुरंत पहिचान जान जाता हूँ।...मैं कोई मूर्ख हूं ? मैंने २० साल दारोगा की कुर्सी पर..." "मैं जानता हूं कि तुम किस पथ का अनुसरण कर रहे हो मैं तुम्हें और तुम्हारे नालायक ब्रह्मचारी को जेल की हवा खिला दूँगा। बस याद रक्खो मैं क़ानून के सामने पुत्र, मित्र किसी की भी परवाह नहीं करता।" उन्हें उस कुर्सी की याद बहुत व्यग्र कर देती है—"मैंने अठारह साल तक दारोगागिरी की है—मैं तुम जैसे छोकरों को समझने में भूल करूँगा—अफसोस है कि मैं अपनी कुर्सी पर नहीं रहा, नहीं तो अपनी ही कलम के जोर से तुम्हें किये का फल चखा देता।"

दारोगागिरी ने आपको चापलूसी भी खूब सिखला दी है। डिप्टी

मेजिस्ट्रेट का लड़का विमल उनके घर पर आ जाए और वे कुछ आव-भगत न करें—ऐसा तो उन्होंने सीखा ही नहीं—उन्होंने तो चापलूसी की ही रोटियाँ खाई हैं। – "बैठिए कहिए हम गरीब की झोंपड़ी पर आने का कष्ट कैसे उठाया?...मैं तो मिश्रा साब से मिल चुका हूं, ऐसे आफीसर के दर्शन बहुत दिनों के बाद उस दिन हुए थे। किशोर खड़े क्या देखते हो अपने मित्र के लिए आराम की व्यवस्था करो...एक रात भी तो विश्राम कर लीजिए किशोर तो आपका..."

उधर कानून को आपने इस तरह हाथ में ले रक्खा है मानों उनका हृदय बिल्कुल निष्पक्ष होकर केवल 'कानून' को ही अपनाना जानता हो—दारोगा से बात करते समय भी आप अपनी यह कानून-प्रियता प्रगट किये बिना न रह सके—"मैं कानून के सामने पुत्र, मित्र को नहीं पहचानता। यह देखिये "पुलिस मेनुएल" में क्या लिखा है? हम पुलिस-विभाग के सदस्य हैं, हमें अपने विभाग के अधिकारों को काम में लाना चाहिए। इन आवारों छोकरा को बड़े घर की हवा खिलाई जाय।"

साहब, आश्रम देखने के लिए पधारते हैं—और वहाँ के लोगों के सादे जीवन पर दृष्टिपात करते हैं तो भौंचक्के हो जाते हैं। ये त्याग से बड़ा धन समझते हैं। जब विमल ने एक ऐसे प्रोफेसर साहब का परिचय दिया जो हजार रुपये माहवार कमाने वाला था और अब आश्रम में झाड़ू लगा रहा था—तो उनके अश्चर्य और दंभ का पारावार न रहा—"हजार रुपये मासिक? यह प्रोफेसर कहीं पागल तो नहीं है।" तुम लोगों ने यह कौनसा तमाशा खड़ा किया है, सुख को लात मारकर स्वेच्छा से गरीबी को अपनाना कहाँ की समझदारी है। इतना पढ़ लिखकर आप को सरकारी उच्चपद और सम्मान प्राप्त करना चाहिए न कि झाड़ू लगाना, व जूठे बर्तन मॉजना।" उनकी समझ में पढ़ना लिखना सभी सरकारी पद प्राप्ति के लिए होता है—झाड़ू लगाने में अपने जूठे बर्तन माँजने में सम्मान का नाश कहाँ हो जाता है—यह बात उनकी समझ में नहीं आ सकती है।

प्रत्येक वस्तु को, प्रत्येक मनुष्य को वे संदेह की दृष्टि से देखते हैं। यह उनके दरोगापन की प्रवृत्ति है। अच्छी पुस्तकें उन्हें बुरी लगती हैं—अच्छे आदमी उन्हें बुरे लगते हैं। कोई कहाँ तक उनकी विशेषता गिनाए! और सब से बड़ा अनर्थ तो इनके द्वारा पुत्र-हत्या का होता है। इस खूँखार भेड़िये ने अपने पुत्र किशोर की जान ले ली—कानून के लिए नहीं केवल यह दिखलाने के लिए कि मै दारोगा था और आज भी मेरी सरकार में बातें मानी जाती हैं।' बस केवल यह दिखलाने के लिए ही यह दारोगा से मिला करता था—उच्च अधिकारियों के नाम पत्र लिखा करता था और अपनी सफाई—अपनी राजभक्ति 'अपने पुत्र का नाम भी उन्हीं गुण्डों में' लिखकर दिखलाया करता था। अंत में किशोर को जेल जाना पड़ा।

'होश में आता है इंशा ठोकरे खाने के बाद' वाली उक्ति के अनुसार बाद में तो इन्हें भी होश आया कि वे क्या कर बैठे। फिर अपने कर्मो को वापिस खींचने के अभिप्राय से दारोगा से मिले परन्तु अबकी बार तो 'सेर को दो सेर' मिला। उसने इनकी एक भी न सुनी—तब इन्हें होश आया। और वात्सल्य की एक रेखा इनके मुख पर नृत्य करने लगी—बड़ी धूम में बिना सोचे विचारे ये किशोर को छुड़ाने का प्रयत्न करते रहे परन्तु सफलता न मिली। अन्त में इन्हे परिताप इतना हुआ कि अपने से भी ग्लानि हो गई—जेल में किशोर से मिलने गए—जवाब मिला—जवाब दिया—"जी अब तो कोई मतलब नहीं—कोई नहीं अब तो कोई नहीं .. रहा . ।" करुणा की धारा बह निकली।

किशोर :—उपन्यास का नायक है। इसके चरित्र में भी ब्रह्मचारी जी के समान महान् दृढ़ता है। उपन्यास का वीर नायक बहुत-सी विशेषताओं से भरा-पूरा है। जो गुण उसके गुरु जी में है—वे तो सर्वदा ही इसमें व्याप्त हैं। किशोर चिंतक है—विचारक है—उसे भय रहता है कि यदि संसार में रहा तो कुछ खो बैठेगा। वह इस संसार से ऊपर उठने का प्रयत्न करता है—"मैं अपने को समझ नहीं पाता,

एकाएक मेरे अन्तर का धरातल बदल गया, मैं स्वयं हैरान हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि मैं पागल हो जाऊँगा। पता नही जीवन-नैया किसी घाट लगेगी भी या मँझधार में ही डूब जायगी। मैं पर-पीड़क स्वभाव का व्यक्ति नहीं हूँ—आत्म-पीड़न ही मैं पसन्द करता हूँ।"

किशोर सत्यवक्ता है। मिथ्या चीज उसे बिल्कुल ही पसन्द नहीं, चाहे उसमें उसका अपमान ही क्यों न हो। सत्य के सामने वह अपने माँ-बाप या मित्र का भी ध्यान नही रखता। उसने अपनी माँ से साफ कह दिया—"तो मैं ही जज के सामने यह स्वीकार करलूँ कि यह चीज मेरी है। मैंने ही उसे छिपाकर···" किशोर का परिचय बेला मि० सेन से कराती है और उसको जमींदार बतला देती है। किशोर को यह वस्तु असह्य हो जाती है। एक जमींदार सुनकर वह प्रसन्न नहीं होता—वह जो कुछ है बस, वही रहना चाहता है, इससे आगे कुछ नहीं—उसकी कहने की इच्छा हुई कि—"उसके पिता कभी एक बदनाम दारोगा थे जिनकी नौकरी, थाने में से एक भयानक वस्तु बरामद होने के कारण, गई।" वह संकोचवश नहीं—बेला के सम्मानवश इस सत्य को प्रकट न कर सका।

उसका जीवन बहुत ही सादा तथा अनुकरणीय है। उसके जीवन में दारोगापने की बू तनिकमात्र भी नहीं है। अपना सामान उठाकर वह अपने आप चलता है और पिता के पूछने पर सही उत्तर देता है—"मैं कुली को क्यों कष्ट दूँ? जबकि मैं स्वयं एक कुली हूँ और मेरा बिस्तर भी इतना भारी नहीं है कि मैं उसे उठा न सकूँ।" इसके अतिरिक्त वह धूप में पैदल ही फिरा करता है और अपने देशवासियों की सहायता के लिए भरसक प्रयत्न करता है।

उसका जीवन संयम से परिपूर्ण है। बेला उसकी होते हुए भी उसे वह नहीं चाहता है। यदि वह बेला से प्रेम करके अपने को मि० सेन जैसे श्रेणी के पात्रों में रख लेता तो क्या उसमें चरित्र का विकास इस प्रकार संभव हो सकता था? उसका चरित्र आगे चलकर एक इसी संयम के कारण विकसित हुआ है। बेला उसे बहुत चाहती है परन्तु यदि वह

भी भावनाओं की आँधी में आकर इस प्रकार अपने को झोंक देता तो क्या ब्रह्मचारी जी की दीक्षा का उस पर असर होता ?

उसके विचार दृढ़ एवं परिपक्व हैं—उद्देश्य-रहित जीना उसे पसन्द ही नहीं है—मानव-जन्म यों ही तो नहीं होता, उसे तो कुछ-न-कुछ करके दिखलाना चाहिए—"आखिर हमें करना क्या चाहिए, यह सोचो। हम क्यों जीवित रहना चाहते हैं—अगर उद्देश्य-हीन जोना ही संसार का लक्ष्य है तो मैं कहूँगा कि अब प्रलय सिर पर है।"

किशोर गुरु-भक्त है। अपने गुरु की सेवा करना—उसके आदेशों के अनुसार कार्य करना—अपने जीवन को उसी दिशा की ओर ढालना ही उसे प्रिय है। वह कभी अपने गुरु से तर्क भी करता है तो समझने के लिए ही—झगड़ने के लिए नहीं। अपने गुरु की निंदा या अपमान वह सुनकर दुःखित होता है और यहाँ तक कि एक दो बार तो वह अपने पिता को कुछ प्रत्युत्तर भी देने का प्रयास करता है किन्तु इस डर से कि उसके चरित्र मे पितृद्रोह जैसी कोई वस्तु न आने पावे—वह स्पष्ट मुँह-तोड़ उत्तर देना भी नही चाहता।

वह पितृ-भक्त भी तो है। अपने पिता से झगड़ा करना उसे अच्छा नहीं लगता। कैसा भी है आखिर है तो उसका पिता ही। इसलिए वह कहता है—"आप मेरे देवता हैं—मैं जानता हूँ कि आप जो कुछ कहेंगे मेरे हित के लिए ही—पर ब्रह्मचारी जी के सम्बन्ध में आपने संस्कार-वश जो कुछ सोच लिया है उसके संशोधन की आवश्यकता मैं समझता हूँ।" यहाँ उसका पितृ-प्रेम उसके सत्य एवं निर्भीकता से कितना लिपटा हुआ है।

पितृ-प्रेम के साथ २ मातृ-प्रेम भी उसी मात्रा में स्पष्ट है। माता को वह पूज्या के रूप में ही देखता है। जब हरिहरसिंह घर छोड़कर चल देते हैं—कभी किशोर और कभी कमला बीमार होते है उस समय इन दोनों माँ-बेटों की बातों से अद्भुत वात्सल्य की धारा फूटती है—"माँ, तुम चिंता न करो, पिताजी आ जायेंगे।' आता है दारोगा—किशोर को गिरफ्तार करने के लिए—उस समय कमला उन्हें रोकती है।

किशोर कहता है—"मेरे रहते इनका हाथ अपने शरीर पर लगाओगी—तुम हट जाओ माँ—रे यह तुम्हें हो क्या गया है।"

किशोर के जीवन में कर्म प्रधान है। वह कर्मशील है। जो भी आदेश मिले—उसी के अनुसार वह अपने को कामों में जुड़ा लेता है। गाँव में आकर भी वह शांत नहीं बैठता। अपने गाँव की हालत समझने और उसमें सुधार करने के प्रयत्न वह बराबर करता चलता है। उसके जीवन में कर्म का बहुत महत्व है। कड़ी धूप में भी वह चल सकता है—गंदे मकान में भी वह रह सकता है—गाँवों और मजदूरों से उसे स्वाभाविक स्नेह हो गया है। "यही बात है दिनेश, गाँव वाले हमसे निराश हो गए हैं—हमने उन्हें लगातार ठगा है—उनके हृदय में आशा और विश्वास का सचार करना होगा।" मजदूर की सेवा भी वह प्रयत्नशील होकर करता है। उसका त्याग अपूर्व है। विमल आश्रय के लिए उसको रुपये देती है। वह कहता है—"मैं इतनी बड़ी रकम को संभाल कर कहाँ रक्खूँगा...मुझे जीवित पिशाच बनाने का उपक्रम मत करो...मैं उस रकम का अधिकारी नहीं हूँ।"

वह क्रांतिकारी निडर युवक है। मौत की उसे परवाह नहीं मृत्यु के लिए तो वह लालायित रहता है। मृत्यु का परवाना लेकर आने वाले को वह प्रसन्नता से रहता है—"सत्य कहते हो कि मुझे परसों फाँसी हो जायेगी—विश्वास तो नहीं होता? आप धोखा तो नहीं दे रहे हैं।" वह मृत्यु से डरता तो बिना खून किये ही खून का अपराध क्यों स्वीकार कर लेता।

वह स्पष्टवादी है। और प्रेम की भावना, जो मानव हृदय में सर्वदा पाई जाती है—उसके हृदय में भी विद्यमान है। मरते समय वह बेला को अपनी स्वीकार कर लेता है। त्याग और प्रेम का अद्भुत सामञ्जस्य कितनी गंभीरता लिए हुए है।

बेला :—मिस्टर चटर्जी की लड़की है। यह भी नवोदित सभ्यता में रँगी हुई है और उसके पिता ने उसके जीवन का प्रवाह विलायती ढङ्ग से आरंभ किया है। यह सुसाइटी से अधिक प्रेम करती है—

व्यक्ति से नहीं। यही नवोदित सभ्यता का एक स्वरूप है। "सुसाइटी में रह कर ही तो कोई सभ्य बन सकता है वह मध्यकालीन सभ्यता अब कहाँ रही जिसकी पुनरावृत्ति तुम अपने जीवन में करना चाहते हो किशोर!"

व्यक्ति से वह प्रेम नहीं कर पाती—यहाँ वह अदृढ़ हो जाती है। अर्थात् कभी किसी से प्रेम कभी किसी से प्रेम करना जानती है। यह भी संभवतः नवोदित सभ्यता ही हो। किशोर से प्रेम करती है पर अंत में कह देती है—"मैं तुम्हें मनुष्य समझती थी पर देहातीपन का गंदा भार लादे तुम दूसरे ही रूप में मेरे सामने स्पष्ट हुए। मि० सेन से प्रेम करती है—पर कह देती है—"याद रक्खो, सताई हुई बिल्ली भी कुत्ते का मुँह नोंच लेती है।" इसी प्रकार सेठ सुखमनदास पर आकर्षित होकर उसे वासनाओं में कीड़े और कुत्ते आदि सम्बोधनों से अलंकृत करती है। इससे यही पता चलता है कि उसने अभी तक प्रेम तत्व को समझा नहीं है।

वह झूठ बोलने में तनिक भी संकोच नहीं करती। किशोर को वह जमींदार का पुत्र बतलाती है और जब किशोर उसे ब्रह्मचारी जी के पास ले जाने के लिए आता है तो वह सिरदर्द का बहाना कर लेती है—हालाँकि उसे मि० सेन के साथ उस समय सिनेमा जाना था। वह स्पष्ट न कह कर झूठ बोलती है।

उसके जीवन में संयम नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। वह शराब पीती है—उसे तो विलायती दृष्टिकोण से असंयम नहीं कह सकते परन्तु दिन-रात सेन के पास रहना—यहाँ तक कि गंदे जंगल में उससे मिलने की प्रतिज्ञा करना आदि वस्तुएँ—उससे असंयम की ही द्योतक हैं।

पढ़ी-लिखी होने के कारण उसमें ज्ञान भी है। चाहे वह अपनी तर्कों से किशोर जैसे शिक्षितों को परास्त नहीं कर सकी हो परन्तु उसका ज्ञान और तर्क भी बुरा नहीं कहा जा सकता—"विचारों के चरम विकास को ही वैराग्य या विराग कहा जा सकता है—हो सकता है कि परिभाषा गढ़ने वाले ने कहीं फाँक छोड़ दी हो पर मैं इसी परिभाषा को मानती हूँ।"

यदि इसी प्रकार के विचारों को अपने जीवन में लाने का वह प्रयत्न करती तो संभवतः किशोर की वह हालत न होने पाती और न उसकी

ही अवस्था में यों चढ़ाव-उतार आते परन्तु रहना तो था उसे विलायती ठाठ से—ढंग से। अपने पिता की भाँति प्रत्येक बात में विलायती दृष्टिकोण वह अलग न कर सकी। फलतः वह अपने पिता को भी सीधा प्रत्युत्तर देने में तनिक भी नहीं हिचकी—"इस समय मैं दरवाजा नहीं खोलूँगी।......हाँ हाँ तुम हो पप्पा...मैं तुमसे ही कह रही हूँ—इस समय मुझे सोने दो मैं दरवाजा नहीं खोल सकती।" मि० सेन को तो मानों वह अपनी विचारधारा ही दे रही हो—"कमाओ खाओ और मौज उड़ावो का सिद्धान्त आज यूरोप में प्रचलित है—क्या आप वहाँ के जीवन को या प्रेम को संदेह की दृष्टि से देख सकते हैं?" "विवाह की अत्यन्त आवश्यकता जीवन में कभी पड़ ही नही सकती। यदि भावुकता के झोंके में आकर हम ऐसी गलती कर बैठें तो इससे बढ़कर दूसरी मूर्खता और हो ही क्या सकती है?"

ये सारी ही बातें इसके पाश्चात्य ज्ञान की सूचना स्पष्ट दे रही हैं परन्तु दुख है कि इसके प्रेम का परिणाम इसे हाथों-हाथ मिलता गया। फिर भी यह अपनी हरकतों से बाज नहीं आई। अपने पिता को तो यह कुछ समझती ही नहीं। उसे तो डराना चाहती है—धमकाना चाहती है। "राशनकार्ड में से मेरा भी नाम हटा दो—मैं भी पैसे देकर अलग भोजन बनाऊँगी—पप्पा का दिमाग फिर गया—मै ऐसी असभ्यता सहन नही कर सकती।" "आपने उस दुष्ट पीटर से कुछ कहा है।" आदि बातें उसकी दुष्ट प्रकृति की ही सूचना देती हैं।

परन्तु धीरे २ उसकी आँखें खुलती हैं और भारतीय मार्ग उसको कुछ दिखलाई पड़ता है। कहना न होगा कि इसका सारा श्रेय विमल को ही तो है। उसी ने इस बेला रानी को बेला बहिन कह कर इसके बहते हुए जीवन को दूसरी ही दिशा की ओर प्रवाहित कर दिया।

यहाँ से इसका चरित्र ऊपर उठने लगता है। भोगी कुत्तों से इसे घृणा हो जाती है और यह अपने को कुछ सुधारने का प्रयत्न करती है। इसका प्रेम सुसाइटी का प्रेम न रह कर व्यापक प्रेम—दीन दुखियों का प्रेम हो जाता है और यही अपने पिता की कुछ आँखें खोलती है।

सांसारिक वस्तुओं से इसे घृणा हो जाती है—"पप्पा समाज से केवल दो-चार सौ तरह के कपड़ों के नाम—सौ दो सौ तरह के सेण्ट, साबुन, लिपस्टिक के नाम पचास, सौ तरह के गहनों के नाम ही आज तक सीखती रही। मैंने सीखा अपने को सर्वश्रेष्ठ और दूसरों को महान तुच्छ समझना।" "आश्रम में अपनी अपवित्र छाया डाल कर उसे गंदा न करूंगी" आदि।

फिर तो वह बेला माँ और बेला बहिन हो जाती है। समभाव से सब को देखना चाहती है—"मेरे पिता, एक बार पिता की तरह सोचो तो उन अभागे पुत्रों के प्रति तुम्हारा भी कुछ कर्तव्य है या नहीं।" वह विमल-भैया के पास अस्पताल में मिलने के लिए जाती है—उसका चरित्र का विकास किस द्रुत-गति से हो रहा है—यह देखने की ही वस्तु है।

अंत में तो मानों यह सारे ही पापों को अपने आत्म-विसर्जन—आत्म-त्याग के द्वारा धो लेती है। उसका चिर-मित्र—(चिर-साथी कहना ही अब अधिक उपयुक्त होगा) जेल में है। वह उसे छुड़ाने के लिए अपने पिता से प्रार्थना करती है—पर उसके पिता भी उसे छुड़ा नहीं सकते। वह उससे मिलने के लिए जेल में जाती है और अपना पति स्वीकार करके उसके चरण छूती है। विसर्जन कितना गहन है। मरते हुए को भी अपना पति मानना भारतीय संस्कृति का परिचय देता है। "मैं तुम्हारी कहला कर तुम्हारे चरण-चिह्नों को अपने आँचल से छिपाये रहूँगी। बोलो मेरे देवता! तुम्हारी स्वीकृति ही काफी है इस पवित्र अनुष्ठान के साक्षी सर्वव्यापी प्रभु हैं।"

पिपासा

प्रश्न १ :—"पिपासा" किस प्रकार का उपन्यास है ? लेखक के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए उसकी सफलता पर विचार कीजिए।

उत्तर :—'पिपासा' एक दुखान्त सामाजिक उपन्यास है। इसमें लेखक की दृष्टि समाज की उस निर्बल प्रवृत्ति की ओर गई है; जिसके वशीभूत हम अपने मनोभावों को गुप्त रखते हैं। परस्पर प्रेम करते हैं परन्तु बहुत दूर तक न तो स्वयं प्रकट करते हैं और न कहीं प्रकट होने देना चाहते हैं। परन्तु इसका परिणाम बड़ा भयावह होता है, भयंकर निकलता है। इसी वस्तु को पाठकों के सामने रखना तथा उसके विरुद्ध पग बढ़ाने के लिए प्रेरित करना लेखक का उद्देश्य है।

उद्देश्य की सफलता पर विचार करने के लिए हमे तीन प्रमुख उपकरणों पर ध्यान देना होगा :—

१—वह इस आत्म-गोपन प्रवृति को ठीक ठीक हमारे सामने रख सका है या नहीं।

२—उपकरण जुटाने में कहीं उसने अस्वाभाविकता से तो कार्य नही लिया है।

३—उसका निष्कर्ष हमारे हृदय पर प्रभाव डालता है या नहीं ?

उपरोक्त आवश्यक तत्वों को दृष्टिकोण में रखते हुए जब हम 'पिपासा' पर सम्यग् दृष्टि डालते हैं तो ज्ञात होता है कि :—

१—लेखक ने अपने वर्ण्य-विषय आत्म-गोपन को सहज रूप में व्यक्त किया है। उपन्यास में जितने भी प्रमुख पात्र हैं, सभी अपने भावों को गुप्त रखते हैं। कमल-नयन शकुन्तला के प्रेम में मग्न है परन्तु इसे प्रकट नहीं होने देता। नरेन्द्र के हृदय में कमल-नयन और शकुन्तला के प्रति विद्रोहात्मक भाव हैं; वह जानता है कि शकुन्तला कमल-नयन से अत्यधिक प्रेम-भाव रखती है परन्तु अपने इस मनोभाव को व्यक्त नही

कर पाता, यद्यपि इसके लिए वह कठिन कष्ट सहन करता है।

२—लेखक ने इस मनोवैज्ञानिक तत्व के निरूपण में जिन उपकरणों का सहारा लिया है; प्रायः सभी उपकरण स्वाभाविक हैं। उनमें किसी ऐसे तत्व का समावेश नहीं है; जिसे हम मनोवैज्ञानिकता के दृष्टिकोण से अस्वाभाविक कह सकें। एक सौंदर्यपूर्ण रमणी द्वारा "ऐ मास्टर साहब, अच्छी तरह पढ़ाइएगा" जैसी वाणी सुनकर प्रेम का अंकुरित हो जाना भी स्वाभाविक है। अपनी स्त्री को दूसरे पुरुष से सम्बन्ध देखकर क्रोधित हो उठना भी स्वाभाविक ही है। सारांश यह कि कवि के जुटाए गए उपकरण प्रायः सभी स्वाभाविक हैं।

३—इस प्रकार स्वाभाविक रीति से परिपुष्ट कहानी हमारे हृदय पर प्रभाव डालने में समर्थ हुई है। कथानक के एक एक शब्द हृदय पर हथौड़े की सी चोट करते हैं। शकुन्तला का यह कथन कि "मैं तो खैर पागल हो गई हूं; पर तुम क्यों रोते हो" कितना मर्मस्पर्शी है। इसे तो पढ़ते ही बनता है। अथवा "देखो शकुन! मैं नरेन्द्र कैसे हो सकता हूँ" कितनी स्वाभाविक उक्ति है। कमला बाबू का "वाह! नौकरी की क्या बात है।" वाला वाक्य तो मानो हृदय को तौल कर कहा गया है।

अन्त में हम देखते हैं कि सारी कहानी हमें इस ओर आकर्षित करती है कि भावों का गोपन जीवन और मृत्यु की समस्या बन सकता है। यह समाज का एक अतीव दुर्बल अंग है। कमल-नयन अपने भावों को गुप्त रखकर जीवन-भर कष्ट झेलता है; नरेन्द्र यदि अपने भावों को गुप्त न रखकर स्पष्ट कर लिया होता तो सम्भवतः शकुन्तला जीवित बच जाती और वह स्वयं भी पागल नहीं होता। शकुन्तला यदि अपने मनोभावों को नरेन्द्र से स्पष्ट कर देती तो नरेन्द्र का जीवन रहस्यमय नहीं बनता तथा स्वयं भी सुखित रहतीं। परन्तु उन्होंने अपने भावों को छिपाया; समाज के भय से उन्होंने अपने वैयक्तिक प्रेम-भाव को छिपाकर जीवन को भयंकर बनाया। शकुन्तला छटपटाती हुई अपने स्वप्नों का संसार लिये ही चलबसी; नरेन्द्र पागल हुआ और कमल-नयन जीवनभर कभी सुख की नींद न ले सका।

सारांश यह कि लेखक जिस उद्देश्य से इस उपन्यास की सृष्टि की है; उसमें सफल हुआ है। उसने परिणाम का निष्कर्ष पाठकों के ऊपर छोड़कर अपनी कला की उत्तमता का परिचय दिया है।

प्रश्न २ :—कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, भाषा और शैली को दृष्टिकोण से 'पिपासा' की आलोचना कीजिए।

कथावस्तु :—'पिपासा' उपन्यास की कथावस्तु सहज सम्पन्न हुई है। इसमें किसी अस्वाभाविक अथवा अप्रासंगिक कथा का वर्णन नहीं। घटनाओं का क्रम धाराप्रवाहिक है। कथा के एक सूत्र से दूसरे सूत्र की सृष्टि स्वतः होती गई है; मनोवैज्ञानिक तत्वों में कहीं कृत्रिमता नहीं आने पाई है परन्तु उपन्यास के उत्तरार्ध में लेखक शकुन्तला की मृत्यु का सम्वाद कुछ विचित्र ढंग से दिया है। कमल-नयन के जेल जाने और लौटकर आने के बीच की कड़ी पुष्ट नहीं। इसके अतिरिक्त कमल-नयन को, जेल से लौटने पर, शकुन्तला की मृत्यु का अचानक आभास होना और उसका उस पर कुछ भी आश्चर्य न करना तथा नरेन्द्र के प्रति सहानुभूति तक प्रकट न करना इत्यादि कथानक के अंश कुछ ऐसे ढीले पड़ गए हैं; जिन्हें सफलता के दृष्टिकोण से लेखक की निर्बलता ही कहेंगे। साथ ही साथ कमल-नयन शकुन्तला को हृदय से प्रेम करता हुआ भी उसकी मृत्यु पर उसके लिए दो शब्द भी नहीं कहता। यह बात पाठक को खटक जाती है। जिस प्रकार लेखक ने उसके मुँह से नरेन्द्र के लिए बहुत कुछ कहलवाया है; उसे रुला भी दिया है, उसी प्रकार शकुन्तला के प्रेम की स्मृति में भी यदि एक नहीं तो आधा परिच्छेद ही अथवा दो वाक्य भी उसके मुँह से कहलवा दिये होते तो पाठकों को संतोष हो जाता। यह कमी एक बहुत बड़ी कमी है है; लेखक ने जिस प्रेम के आधार पर इतना लम्बा उपन्यास रच डाला है; उसी प्रेम की स्मृति में दो शब्द भो न कहलवाना उसकी सहृदयता के प्रति लांछन है। यह कमी पाठकों को अंधकार और निर्ममता के सागर में छोड़ देती है।

इसके अतिरिक्त लेखक ने अपनी कथावस्तु में कमलनयन के

आदर्श भाई, भाभी एवं बच्चों का स्वभाव वर्णन भी समावेश किया है; परन्तु इस वर्णन का उपयोग उपन्यास की आधिकारिक वस्तु में नहीं किया। फिर इतने लम्बे चित्रण की क्या आवश्यकता थी ? जब उस वस्तु की कोई उपयोगिता ही नहीं; फिर पुस्तक का कलेवर बढ़ाकर पाठकों का समय नष्ट करने का क्यों प्रयास किया गया। सारांश यह कि कथावस्तु के दृष्टिकोण से लेखक निर्वाह करने में असफल रहा है; उसका कथा-वितान ढीला है। पुनरपि च वस्तु-चयन और उसको स्वाभाविकता देने में लेखक खूब सफल हुआ है।

चरित्र-चित्रण :—चरित्र-चित्रण की दृष्टि से पिपासा का महत्व अधिक है। पात्रों के चरित्र स्वाभाविक हैं जो मनोविज्ञान के सहारे चित्रित हुए हैं। अस्वाभाविकता का नाम तक नहीं। चरित्र को विकास देने में भी कवि सफल है। इसके सभी पात्र परिस्थितियों के विधाता है; दास नहीं। सच तो यह है कि यह उपन्यास चरित्र-प्रधान है। चरित्र के निर्माण से ही लेखक अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफल है; उसका उद्देश्य चरित्र का ही एक प्रमुख अंग है। सभी प्रमुख पात्र आत्म-गोपन स्वभाव को लेकर चलते है। नरेन्द्र अपना मनोभाव अपनी पत्नी के प्रति भी व्यक्त नहीं कर पाता। वही दशा उसकी स्त्री शकुन्तला की है। वह कमलनयन से प्रेम करती है परन्तु चोरी से, छिपा करके। इस भाव को अपने पति (नरेन्द्र) से मरते दम तक छिपाती है। कमल-नयन नरेन्द्र का मित्र है, सहपाठी है परन्तु वह भी अपनी बात स्पष्ट नही कर पाता। इस प्रकार एक भ्रम, संशय और क्षोभ का वाता-वरण बन जाता है। हमारे आज के समाज में ऐसी प्रवृत्ति का बड़ा ही महत्व है।

कथनोपकथन :—कथनोपकथन के शब्द बड़े ही मार्मिक है परन्तु जब हम उनकी विस्तीर्णता पर विचार करते है तो लेखक को सफल मानने में सन्देह हो जाता है। उसमें कथनोपकथन के इतने लम्बे लम्बे चित्र हैं, जिन्हें किसी वक्ता का लिखित व्याख्यान मानने

में हमें कोई आपत्ति नहीं। कहीं कहीं तो पूर्ण परिच्छेद ही कथनोपकथन में लग गया है। उदाहरणार्थ ग्यारहवाँ परिच्छेद लिया जा सकता है जिसे स्वयं लेखक भी "प्लेटफार्म पर देने योग्य व्याख्यान" स्वीकार करता है। अन्त का उपसंहार क्या है? केवल शकुन्तला का पत्र। इससे स्पष्ट होता है कि लेखक में औपन्यासिक कला का अभाव है; उसने अपने भावों को व्यक्त करने के लिए कहीं लम्बा लम्बा व्याख्यान दिया है; कहीं पाँच पाँच पृष्ठ तक का पत्र। सारांश यह कि कथनोपकथन की दृष्टि से लेखक असफल है।

भाषा :— इस उपन्यास की भाषा चलती हुई है। अंग्रेजी और उर्दू शब्दों की भरमार है जिसे हम बुरा नहीं कह सकते क्योंकि उपन्यास जिस वातावरण का द्योतक है; वह वातावरण ही ऐसा है। अतः ऐसे शब्दों में प्रयोग से स्वभाविकता ही आई है। नरेन्द्र मुंसिफ है, कमलनयन बी० ए० पास नव युवक और कमलाकांत मुहरिर है। सारांश यह कि उपन्यास का वातावरण कोर्ट (कचहरी) अथवा न्यायालय से घिरा हुआ है। इस वातावरण में ऐसे शब्दों का प्रयोग स्वाभाविकता में सहायक हुआ है। ग्राम्य भाषा का प्रयोग नहीं; शेष शुद्ध साहित्यिक भाषा है; कहीं कहीं पर प्रान्तीयता के शब्दों की झलक अवश्य है; वह भी वातावरण के दृष्टिकोण से ठीक ही है।

शैली :—लेखक ने इस उपन्यास में 'भावात्मक' शैली का प्रयोग किया है जो उसके उद्देश्य के अनुरूप ही है। आत्म-गोपन स्वभाव स्वयं ही भावुकता के सहारे चलता है। इस उपन्यास के प्रायः सभी पात्र भावुक हैं; यथार्थ नहीं। आज के युग में यमुना जैसी भाभी और कमलाकांत जैसे भाई तथा नरेन्द्र जैसा मित्र असम्भव तो नहीं परन्तु दुर्लभ अवश्य है। वास्तव में इस उपन्यास का ताना-बाना ही भावना के रंगमंच पर बुना गया है। यही कारण है कि लेखक भावुकता-वश ही कथोपकथन को कहीं कहीं व्याख्यान का रूप दे गया है। कुछ भी हो, वातावरण और उद्देश्य के दृष्टिकोण से लेखक की शैली बहुत उत्तम है।

उद्देश्य —देखिये प्रश्नोत्तर १।

प्रश्न ३ :—'पिपासा' उपन्यास के नाम की सार्थकता पर विचार करते हुए इसके उद्देश्य की उपयोगिता पर अपना युक्ति-युक्त मत दीजिए।

उत्तर :—'पिपासा' शब्द का अर्थ ही है तृषा, प्यास। इस अर्थ को दृष्टिकोण में रखकर जब हम 'पिपासा' उपन्यास के पृष्ठों पर दृष्टि डालते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि यह नाम 'शकुन्तला' की वाणी से प्रस्फुटित हुआ है। शकुन्तला इस उपन्यास की केन्द्र बिन्दु है; इस उपन्यास के आदि में हमे उसकी मधुर चितवन मिलती है अथवा उसकी चितवन से ही इस उपन्यास की सृष्टि हुई है और उसी का पटाक्षेप इस उपन्यास का पटाक्षेप है। दूसरे शब्दों में शकुन्तला की कहानी ही इस उपन्यास की कहानी है उसी के नाम से इसका प्रारम्भ होता है और उसी के नाम पर इस का अंत भी हो जाता है। परन्तु शकुन्तला का व्यक्तित्व इस उपन्यास में उतना विकसित नहीं हुआ; जितना उसकी प्रेम-भावना। वास्तव में उसकी प्रेम-भावना का आधुनिकता के पट पर यथार्थ चित्रण ही इस उपन्यास का आधार है, भित्ति है। उसकी प्रेम-भावना में एक अमिट प्यास है; वह कमलनयन से प्रेम करती है और जीवन-भर उसके प्रेम से तृप्त होने की आशा लगाए रहती है परन्तु यह प्रेम-भावना भी विचित्र है; वह अपने भावों को खोलकर नहीं कह पाती। यही दशा उसके पति की है; वह शकुन्तला के प्रेम का पुजारी है; वह उसके भावों का प्यासा है। वह चाहता है कि शकुन्तला मुझसे अधिक कमलनयन को प्यार न करे परन्तु वह भी इस भाव को स्पष्ट नहीं कह पाता। परिणाम यह होता है कि नरेन्द्र को शकुन्तला के प्रेम और भावों के मधु की प्यास जीवन-भर बनी रहती है और शकुंतला के जीवन का अणु अणु कमलनयन के प्रेम का प्यासा है। यही दशा कमलनयन की है; उसके हृदय में शकुन्तला के प्रति अमिट प्यास है; वह अपने विवाहादि कार्य को भी छोड़ देता है। परन्तु प्यास किसी की भी पूरी नहीं हो पाती। न तो नरेन्द्र अपने शुष्क तथा संदिग्ध हृदय की प्यास बुझा

पाता है और न शकुन्तला ही। वह विचारी तो 'प्यास प्यास' रटती ही मर जाती है। जैसा कि उसने अपने अंतिम पत्र में लिखा है—"जीवन का अणु अणु तो प्यास से भरा है। वे इस प्यास में कलुष खोजते हैं किंतु मैं तो इसे स्वास्थ्य का एक चिह्न मानती हूँ।"

सारांश यह कि इस उपन्यास के प्रायः सभी पात्र अपनी कामनाओं की प्यास लिये ही रह जाते हैं; किसी की प्यास पूरी नहीं होती। अतः इस पुस्तक का 'पिपासा' नाम हमें शब्द-प्रतिशब्द सार्थक प्रतीत होता है।

इस नाम के साथ ही लेखक का उद्देश्य भी छिपा हुआ है। इसी के वहाने उसने हमारे समाज की आत्म-गोपन प्रवृत्ति को धिक्कारा है। वह पर्दे की ओट से कहता है—"क्या तुम्हारी यही सभ्यता है? क्या तुम्हारा यही सामाजिक बंधन है जिसमें अनेकों अपनी अमिट प्यास लिये इस दुनिया से कूच कर देते हैं? अरे निष्ठुर समाज! क्या तू अपने नाम पर व्यक्ति का वलिदान नहीं खाता?"

तात्पर्य यह कि इस गोपन प्रवृत्ति का परिणाम महाभयंकर है जैसा कि लेखक ने स्वयं लिखा है "ऐसे आत्म-गोपन का आज के समाज और आज की सभ्यता में वड़ा महत्त्व है। किंतु इसकी स्थिति कितनी चिन्त्य है और इसके दुष्परिणाम कितने भयंकर, यह विचारणीय है। आज के व्यक्ति की आवश्यकताएँ उसकी सर्वथा व्यक्तिगत नहीं हैं।"

निस्सन्देह लेखक का, इसके पीछे, एक महान् दृष्टिकोण है। वह इस आत्म गोपन स्वभाव के प्रति शत-प्रतिशत क्रांति चाहता है, क्योंकि आजकल की परिस्थिति में "आत्म-गोपन की नीति न तो व्यक्ति के लिए हितकर है और न समाज के लिए।" परन्तु साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इस आत्म-गोपन को समाज और सभ्यता से निकाल देना भी उतना हितकर नहीं हो सकता जितना लेखक ने कल्पना किया है। कल्पना का संसार बहुत कुछ अन्धकारमय रहता है। यदि आज हमारे समाज से इस प्रवृत्ति को हटा दिया जाय तो छुटे रूप में व्यभिचार की प्रवृत्ति को सहारा मिलेगा। फिर तो भारतीय समाज भी पाश्चत्य समाज की भांति सड़क पर चलते हुए स्त्री पुरुष को "Kiss me sweet

and twenty" अर्थात् "आओ प्यार भरे बीसों चुम्बनों से मुझे जड़ दो" कह उठेगा, क्योंकि वहाँ पर ही इस आत्म-गोपन प्रवृत्ति को मुक्ति मिल सकती है।

इस प्रकार जहाँ तक मेरा व्यक्तिगत मत है, मैं कभी भी लेखक के उद्देश्य पर सम्मति नहीं दे सकता। आत्म-गोपन हमारे चरित्र को यदि बनाता नहीं तो कम से कम उतना बिगड़ता भी नहीं है। इस प्रवृत्ति को मुक्त कर देने का अर्थ होगा, छुटे रूप में व्यभिचार की सम्मति देना।

हो सकता है; लेखक को चरित्र की उच्चता से बहुत दूर तक वासना का जीवन ही पसन्द हो परंतु हमें तो अपने चरित्र की वेदी पर वासना तो क्या वस्तु है; प्राणों की भी वलि चढ़ाने में गौरव का अनुभव होता है। यही हमारी भारतीयता है; पाश्चात्य की तीखी चमक में हम अपनी मधुर आत्मा को लुप्त करना नहीं चाहते। अतः लेखक का उद्देश्य हमारी भारतीयता के प्रति विद्रोह है; हम इसे स्वीकार नहीं कर सकते।

प्रश्न ४ :—निम्नांकित पात्रों का चरित्र-चित्रण कीजिए।

(अ) नरेन्द्र, शकुन्तला, कमलनयन—(परीक्षोपयोगी)

(ब) यमुना, कमलाकांत।

उत्तर :—

नरेन्द्र :—एक आदर्श मित्र है। वह भाग्य-वश मुंसिफ जैसा अच्छा पद पा गया है; वह एक न्यायाधीश है परंतु अपने दीन मित्र कमलनयन को भूला नहीं प्रत्युत उसका सत्कार करता है; अपनी शक्ति के अनुसार उसकी सेवा भी करता है। उसने उसे ३०) मासिक पर अपने अनुज सुरेन्द्र के लिए ट्यूटर केवल स्वार्थवश नहीं रखा है; प्रत्युत वह इसी बहाने अपनी मित्रता का ऋण चुकाना चाहता है। यही नहीं; वह जानता है कि कमलनयन कवि है मुझसे, व्यर्थ पुरस्कार नहीं लेगा, फिर किस प्रकार उसकी निर्धनता में सेवा की जाय? बहुत कुछ सोच समझ कर वह कवि-सम्मेलन का आयोजन करता है। सच तो

यह है कि कवि-सम्मेलन के बहाने ही कमल की कुछ सेवा करना चहाता है। वह जानता है कि कमलनयन की कविता उत्तम होगी, फिर उसे 'इक्यावन रुपये' का पुरस्कार भेंट किया जायगा। परन्तु जब उसे यह ज्ञात होता है कि वह अपनी कविता ही नहीं सुनाएगा; तो बड़ा दुःखित होता है। उसकी बेकारी देखकर वह उसे जार्ज टाउन कालेज में अध्यापक नियुक्त कराने का सतत् प्रयास करता है।

दूसरी ओर वह एक सच्चा न्यायी है: वह न्याय के मामले में कानून के आगे किसी की नहीं सुनता। उसकी स्त्री स्वयं बहस करती है परन्तु जब तक वह उसको बहस से संतोष लाभ नहीं कर पाता; तब तक अपनी न्याय की लेखनी नहीं चलाता।

वह टेनिस का अच्छा खिलाड़ी है। हम प्रायः उसको टेनिस खेलने जाते हुए पाते हैं।

आत्म-गोपन उसके चरित्र की सब से बड़ी निर्बलता है। इसी पात्र के लिए लेखक से आमुख पृष्ठ पर लिखा है कि "इसका एक प्रमुख पात्र घृणा के संबन्ध में भी यही नीति रखता है"। निस्सन्देह नरेन्द्र एक महात्मा है; त्यागी है; अविच्छिन्न प्रेम की प्राप्ति हेतु अपने आप का बलि चढ़ाने तक को तैयार रहता है। वह अपनी पत्नी को प्रसन्न रखने के लिए अपने मनोभावों को गुप्त रखता है। वह नहीं चाहता कि अपने घृणात्मक भावों से प्रिया का हृदय दुखाये। उसकी प्रिया भले ही, कुकर्म करे परन्तु, वह अपने प्रेम की मात्रा बढ़ा कर उसके कलंक को धो डालना चाहता है। प्रिया का कमलनयन से अनुचित प्रेमालिंगन देखकर, वह क्रोधित हो उठता है और रिवाल्वर से मार डालना चाहता है; परन्तु आदर्शवादिता का स्मरण करके भाव बदल देता है और रो पड़ता है। जब शकुन्तला बुलाती है, तो जाता तो है परन्तु जाने से पहले सुरेन्द्र से कह देता है "कह दो वह (अपने लिए) मर गया, चाहो तो उसकी लाश उठाने चल सकती हो" सत्य तो यह है कि वह जिस प्रकार किसी अन्य स्त्री से प्रेम न करके एक पत्नी-व्रत का नियम पालता था; उसी प्रकार वह अपनी स्त्री से भी चाहता था। इसलिए वह एक दिन शकुन्तला से

प्रश्न कर बैठा "अच्छा शकुन ! मेरे शरीर पर हाथ रखकर मेरी शपथ लेकर, आज मुझे बतला दो कि तुम्हारे हृदय में उस कमलनयन के लिए अधिक आदर है या मेरे लिए। बस एक यही बात मैं जान लेना चाहता हूँ।" परन्तु यह प्रश्न कितना भयावह था ! शकुन्तला संतोषप्रद उत्तर न दे सकी। उसने कहा "ओह ! यह तुम क्या पूछते हो ? यह भी क्या मेरे कहने की बात है।"

वह एक आदर्श पत्नी-परायण व्यक्ति है। शकुन्तला के उद्गार लीजिए, "तुम मुझसे घृणा की चरम कर्कशता से क्यों नहीं पेश आते ? ऐसे निष्कपट, ऐसे दुर्लंघ्य, ऐसे पत्नी-परायण तुम क्यों हो मेरे स्वामी !"

नरेन्द्र की पत्नी-परायणता यहीं समाप्त नहीं होती; उसकी व्यथा उसकी मृत्यु के बाद देखने में आती है। वह कमल-नयन को उसकी मृत्यु का विष-बीज जानकर कितना व्यथित है। उससे कितनी घृणा करता है। यह तब देखने में आती है; जब वह कमल-नयन के जेल से लौटने पर उसके ऊपर थूक देता है और कहता है—"तुम्हें धिक्कार है।"

कुछ भी हो ! उसका यह घृणा-भाव, जिसे उसने गुप्त रखा, ही उसके जीवन की विभीषिका का कारण है। अन्त में उसके निर्मल-चरित्र और उदार-भावना, आदर्श-पत्नी परायणता के प्रति शकुन्तला के भावों को कहते हुए इस विषय को समाप्त करता हूँ।

"जिस सीमा तक मनुष्य स्त्री को चाहता है, वे उससे भी परे हैं। आह ! उनके उत्सर्ग की थाह नहीं है। मैं बराबर यही सोचा करती हूं। × × मेरा वियोग वे कैसे सहन कर सकेंगे ? लेकिन मैं क्या कर सकती हूँ और कोई क्या कर सकता है ?"

शकुन्तला :—पिपासा उपन्यास की केन्द्र-बिन्दु है। उसी के हर्षोल्लास तथा दुःख, चिन्ता आदि से अन्य समस्त पात्र प्रभावित हैं। वास्तव में शकुन्तला ही श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी के उद्देश्य की जीवित-पात्रा है। उसी के स्वरों में कवि ने भी अपना स्वर मिलाया है। एक उदाहरण देखिये—"मनुष्य की इच्छा कोई चीज नहीं है, यदि समाज का स्वार्थ

उसके विरुद्ध है।" यहाँ स्पष्ट ही लेखक ने शकुन्तला के स्वरों से अपना स्वर मिला कर आधुनिक समाज और शिष्टाचार में गोपन-भाव के प्रति हुँकारा भी है।

शकुन्तला एक ऐसा नारी है जो समाज में परिवर्त्तन चाहती है। वह चाहती है कि यदि पुरुषों को अपने मित्रों से मिलने तथा प्रेम करने का अधिकार है तो स्त्रियों को भी वे ही अधिकार मिलने चाहिए। यदि कोई स्त्री ऐसा करती है तो उसका पति इस प्रेम में कालुष्य क्यों ढूँढता है। वह कहती है "क्या ससार मे कोई ऐसा भी पुरुष है, या हो सकता है, जिसने किसी एक स्त्री को छोड़कर दूसरी की ओर कभी आँख उठाकर न देखा हो? × × तुम अपना मित्र बना सकते हो; किन्तु मैं यदि किसी कवि को अपना मित्र मानती हूँ, उसका आदर करती हूँ, या मानलो कि मैं उस पर भक्ति भी रखती हूँ तो मै कुलटा हूँ। पतित हूँ !!छिः!!""

वह अपने इसी दृष्टिकोण को लेकर अपना जीवन-माप करना चाहती है; परन्तु पति के प्रच्छन्न रूप से घृणात्मक भाव और खुले रूप से प्रेम-सुधा की वर्षा; दोनों के वैषम्य एवं कृतिमता पर विचार करती हुई मृत्यु का आवाहन करती है। वह चाहती है कि उसके कमल-नयन के प्रति अनुचित प्रेम-व्यवहार पर उसका पति कटु आलोचना करे और वह अपने जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण को पति के समक्ष रख सके। परन्तु उसका पति आलोचना के स्थान पर और भी प्रेम बढ़ा देता है जिससे वह मन ही मन चिन्तित और दुःखित होने लगती है। वह अपने गुप्त प्रेम को अपने पति से कह देने का अवसर नहीं पाती। जैसा कि उसने अपने पत्र में लिखा है—"यदि वे इतना जान सकते कि मैं क्या हूँ और मैंने जीवन को क्या समझा है, जीवन को देखने का मेरा कौन-सा दृष्टिकोण है, तो मै बड़े सुख के साथ मरती।"

सच तो यह है कि शकुन्तला ही "पिपासा" उपन्यास की एक मात्र वह वस्तु है, उपकरण है; जिसके सहारे कवि का उद्देश्य पूरा हुआ है। लेखक के दृष्टिकोण से शकुन्तला एक आदर्श भावों वाली नारी है।

'पिपासा' उपन्यास में यह कमलनयन का ही व्यक्तित्व है जिसने कई असम्बन्धित घटनाओं को एकता के सूत्र में बाँधा है। कवि-सम्मेलन, कानपुर के मजदूरों के साथ कार्य, रामलाल मज़दूर तथा उसकी पुत्री की कथा, कमलाकान्त और यमुना का सहज प्रेम-भाव तथा बच्चों की दुनियाँ का चित्र आदि अनेक कथा-वस्तुओं को प्रासङ्गिक कथा-वस्तु बना देने का श्रेय कमलनयन ही को है। वास्तव में पिपासा उपन्यास के प्रत्येक शब्द में उसका व्यक्तित्व प्रतिफलन हुआ है।

कमलनयन

वह सच्चा और कृतज्ञ-व्यक्ति है। शकुन्तला को हृदय से प्रेम करते हुए भी अपने मित्र के अपकार के भय से उसका साथ छोड़ कर कानपुर चला जाता है। जेल जाता है; परन्तु अपने मित्र के साथ अपकार नहीं करता।

हम कमलनयन को उपन्यास के प्रारम्भ में जिस प्रकार भावुक, समाजवादी तथा कवि-हृदय पाते हैं; उसी रूप में अन्त में भी पाते हैं। परिस्थितियाँ आती हैं; उससे टकरा कर हार जाती हैं। परन्तु वह अपने शुद्ध, आर्जव पथ से नहीं हटता। वह प्रांत का प्रमुख कवि है; नवयुवक है; अनायास ही शकुन्तला के मद-भरे अधर-पल्लवों को देख उसके प्रेम-पाश में अपने को बन्दी मान लेता है। शकुन्तला के यौवन की अभिनव शोभा और पद-संचालन का मदिर भाव, शरमाया हुआ चटुल हास इत्यादि उस बिचारे के जीवन के लिए तपस्या का रूप दे देते हैं।

कमलनयन एक स्वाभिमानी व्यक्ति है; वह अपने दुःखमय जीवन पर किसी की शाब्दिक सहानुभूति नहीं चाहता। उसका दृष्टिकोण है—"हम दुःखी हैं और आप से यदि हमारे दुःखों का शमन नहीं होता तो आप हमारे दुःखों का मज़ाक क्यों उड़ाते हैं? × × जिस किसी को हमारे साथ सहानुभूति हो, वह हमीं सा होकर रहे। × × उसकी मौखिक सहानुभूति तो हमारे मनोरंजन ही का विषय रहेगी।"

कमलनयन का अधिकतर चरित्र भारतवर्ष की परतंत्रता-युग से सम्पर्क रखता है। उस समय जैसे अन्य नेताओं के हृदय में विदेशी सरकार के प्रति घृणा थी; वैसी ही उसके हृदय में भी घृणा भरी थी।

यही कारण है कि वह अपनी भाभी से भी इस विषय पर एक लम्बा चौड़ा व्याख्यान दे देता है।

उसमें भी एक सामाजिक आदर्श है, जिसे लेखक के शब्दों में महान् त्रुटि कह सकते हैं। वह शकुन्तला के प्रति अपने प्रेम को बहुत दूर तक गुप्त रखता है। यदि उसने इसे स्पष्ट कर दिया होता तो सबका कल्याण सम्भव था।

यमुना — हमारे भारतीय समाज की आदर्श गृहिणी है। वह अपने देवर को कलियुगी भाभियों की भाँति बुरी दृष्टि से नहीं देखती। वह हृदय से चाहती है—उसका देवर कमलनयन, कुल में कमल की भाँति ही रहे। उसके विवाह के लिए पति से आग्रह करती है तथा उसके लिए कभी कभी व्यवसाय आदि की भी बातें सोचती है।

वह अपने पति कमलाकान्त को देवता-रूप में मानती है। यद्यपि अब उसकी अवस्था ढल चुकी है तथापि पति की सेवा नित्य नियम बाँध कर करती है। उसके भाव बड़े मृदुल हैं। वह अपने यौवन के दिन की स्मृति में अपनी प्रौढ़ावस्था को सस्नेह काट रही है।

कमलाकान्त — प्रयाग लोअर कोर्ट के एक एडवोकेट के मुहर्रिर हैं। वे अपने नियम के बड़े पाबन्द हैं। नित्य गंगास्नान करके सात साढ़े सात बजे तक घर लौट आना उनकी दैनिक-चर्या है।

वे स्वभाव ही से धार्मिक हैं। अपना नित्य-कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व डायरी पर "श्री गंगा जी सदा सहाय" लिखते हैं। इस प्रकार उनके पास अनेकों पाकेट-बुक हैं जिसमें केवल "श्री गंगा जी सदा सहाय" लिखा हुआ है।

वकील के यहाँ आप नित्य ठीक समय से जाते हैं; कभी ऐसा अवसर नहीं देते जिससे वकील आपको बुलावे। इस प्रकार आपकी निष्ठा और सरल भाव से वकील अत्यधिक प्रसन्न हैं और आपके छोटे भाई कमलनयन को वकालत पढ़ाने की भी सम्मति देता है।

घर पर आपकी स्त्री यमुना देवी की मूर्ति है। उसे आप हृदय से प्यार करते हैं और यमुना भी अपने पतिव्रत धर्म में कहीं भी कालुष्य नहीं आने देती।

अब वे प्रौढ़ावस्था में पहुँच चुके हैं; अपने अनुज कमलनयन का विवाह करना चाहते हैं परन्तु अभाग्यवश कमलनयन कानपुर के मजदूरों के साथ कार्य करने पर जेल भेज दिया जाता है।

पिपासा : संक्षिप्त कथा :

प्रथम परिच्छेद :—कमलनयन अपने सहपाठी मित्र मुंसिफ नरेन्द्र के घर पर आया हुआ है। दोनों मित्र मिलकर चाय पी रहे हैं। दूसरी ओर से नरेन्द्र की पत्नी शकुन्तला का आना होता है। शकुन्तला बड़ी सुन्दर है; उसके नयनों में मद विह्वलता तथा अधर-पल्लव में चटुल हास है। वह कमलनयन को "वन्दे" कहकर नमस्कार करती है। नरेन्द्र दोनों का परिचय कराते हैं। शकुन्तला कमलनयन का परिचय पाकर बड़ी प्रसन्न होती है तथा उसके कवि-जीवन पर मोहित हो जाती है।

द्वितीय परिच्छेद :—रात्रि को लगभग ६ बजे कमलनयन अपने मित्र नरेन्द्र के घर से अपने घर लौटता है। उसकी भाभी यमुना प्रतीक्षा में बैठी हुई है। उसको आया देखकर उसे खाना परोसती है तथा स्वयं भी खाने के लिए बैठ जाती है। कमलनयन केवल दो रोटी खाकर उठने लगता है। उसकी भाभी उसे कसम दिलाकर और भी खाने के लिए आग्रह करती है तथा बीच-बीच में उसके विवाह तथा व्यवसाय के लिए चर्चा चलाती है।

तृतीय परिच्छेद :—रात्रि को नरेन्द्र बाबू मुकदमों के कागज-पत्र देखने में लगे थे। शकुन्तला उनकी सन् २८ की डायरी देख रही थी। डायरी पढ़ने से उसे ज्ञात हुआ कि "उनकी डायरी के पृष्ठ उनकी आत्मा के सच्चे प्रतिबिम्ब हैं"। उन्होंने उसके पाने में दुष्यन्त से कम पीड़ा नहीं पाई। उसके पाने के लिये वे साहित्यिक समारोहों का आयोजन

करते थे। अतः वह प्रसन्न होकर पुनः साहित्यिक समारोह के आयोजन के लिए नरेन्द्र के पास चली।

चतुर्थ परिच्छेद :—नरेन्द्र एक मुकदमे की उलझन में था। बात यह थी शारदाविनोद नाम का कोई व्यक्ति १२५) में महाजन के पास अपनी स्त्री के आभूषण गिरवी रख गया था। महाजन ने उसका सूद ८०) लगाकर उस आभूषण को वेच दिया। अब शारदाविनोद ने अदालत में विनय की। इसमें किस को डिग्री दी जाय? यह नरेन्द्र नहीं सोच पाते थे। शकुन्तला ने इस पर बहस करके शारदाविनोद को डिग्री दिला दी और मेहनताने में "कवि-सम्मेलन" के लिए पति से स्वीकृति ली।

पंचम परिच्छेद :—कमलनयन अपने भतीजे चुन्नू, मुन्नू को टंडन-पार्क में घुमाने के लिए आया है। वह बी० ए० पास है परन्तु नौकरी के अभाव में उसका जीवन अस्त-व्यस्त हो गया है। भाव उसके बड़े ऊँचे हैं; प्रांत के कवियों का प्रतिनिधि है।

षष्ठ परिच्छेद :—शकुन्तला की योजना के अनुसार कवि-सम्मेलन हो रहा है। बड़ी भीड़ है। सभी कमलनयन की कविता सुनने को उत्सुक हैं परन्तु कमलनयन अपनी तबीयत की खराबी बताकर कविता नहीं पढ़ते हैं। लोग उदास हो जाते हैं; शकुन्तला कमलनयन को बुलाती है तथा उसकी तबीयत की खराबी पर व्यंग कसते हुए खेद प्रगट करती है। नरेन्द्र भी कमलनयन की इस दशा पर दुःखित होकर कहता है कि तुम्हारे ही लिए यह सम्मेलन का ढोंग रचा गया था कि तुम्हें तुम्हारी कविता पर इक्यावन रुपये का पुरस्कार दिया जाय परन्तु तुमने यह समय भी खो दिया। कमलनयन बातचीत के बाद अपने घर लौट आता है।

सप्तम परिच्छेद :—कमलनयन के भाई कमलाकांत एक एडवोकेट के मुहर्रिर हैं। उनका कमलनयन पर प्रगाढ़ स्नेह है। अब वे वृद्ध हो चले हैं। नित्य नियम से गंगा-स्नान तथा धर्माचार उनके जीवन का आवश्यक अंग है। कमलनयन अपने भाई के पुत्रों—चुन्ना और मुन्ना

के खिलाने का भार अपने ऊपर लिया है।

अष्टम परिच्छेद :—कमलनयन को नरेन्द्र तथा शकुन्तला की ओर से एक पत्र मिला है जिसमें उसके भाई सुरेन्द्र की ट्यूशन के लिए ३०) वेतन भी लिखा हुआ है। यह पढ़कर कमल अत्यन्त प्रसन्न है और नरेन्द्र के घर जाने की तैयारी कर रहा है।

नवम परिच्छेद :—कमल-नयन सुरेन्द्र को पढ़ाने के लिए नरेन्द्र के बंगले पर आया हुआ है। इसी बीच शकुन्तला टेनिस खेल पर नरेन्द्र के साथ बंगले पर आती है और कमल-नयन को "ए मास्टर साहब अच्छी तरह पढ़ाइएगा" कहकर मुसकराती है। पुनः सभी चाय पीने बैठते हैं। शकुन्तला कमल की संकोचशीलता को लेकर बड़ा व्यंग्य करती है परन्तु जब कमल अपने अभाव की व्याख्या करता है तो सभी दंग रह जाते हैं। शकुन्तला इससे बड़ी प्रभावित होती है और हर प्रकार से सेवा करने का भाव प्रगट करती है।

दशम परिच्छेद :—कमलनयन की अभाव वाली व्याख्या से शकुन्तला का चित्त अस्थिर हो गया है। वह ८ बजे तक चारपाई पर लेटी लेटी सोचती रहती है। पुनः नरेन्द्र की वार्तालाप से उसे कुछ स्फूर्ति मिलती है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद :—कमलनयन ट्यूशन पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ। एक दिन चार बजे बड़ी अनूठी कविता लिखी और अपनी भाभी से भी इसकी चर्चा कर दी। भाभी ने कहा—"कविता पेट नहीं भर सकती।" परन्तु पीछे उसकी भाभी (यमुना) को अपने इस कथन पर पश्चात्ताप हुआ; उसने बात पलटकर उसके विवाह की बात छेड़ दी। इस पर समाजवादी विचार लिए हुए कमलनयन ने लम्बी चौड़ी वक्तृता दी, परन्तु भाभी के मजाक के आगे वह निष्फल रहा। अतः ट्यूशन पर चल दिया।

बारहवाँ परिच्छेद :—नरेन्द्र बाबू मुंसिफ होते हुए स्थानीय हाईस्कूल के मैनेजिंग कमेटी के सभापति हैं। वह कमलनयन की

आर्थिक परिस्थिति को देखकर उसे स्कूल में अध्यापक रखना चाहते थे, परन्तु भटनागर नामक व्यक्ति द्वारा अड़चन आने पर ऐसा नहीं कर सके। शकुन्तला इसे जानकर बहुत दु:खित हुई और उस दिन मन कुण्ठित होने के कारण दोनों ही प्रसन्नतापूर्वक भोजन न कर सके।

तेरहवाँ परिच्छेद :—कमला बाबू और कमलनयन दोनों ही घर पर नहीं हैं; चुन्नू मुन्नू अपनी माता से नया कोट बनवाने के लिए झगड़ा करके रो रहे हैं। तब तक कमलनयन आ जाता है और दोनों को कोट बनवाने की सान्त्वना देकर चुप करा देता है।

चौदहवाँ परिच्छेद :—रात्रि को यमुना कमला बाबू की सेवा में पहुँची। दोनों को अपने यौवन के बीते दिन याद आये। फिर दोनों पति पत्नी कमलनयनके विवाह पर बात-चीत करने लगे। कमला बाबू ने निश्चय किया कि अब उसका विवाह अवश्य कर देना चाहिये। जब उन्होंनेपत्नी द्वारा उसके ३० रुपये वेतन मिलने की बात सुनी तो आनन्द-विभोर होकर कह उठे "वाह नौकरी की क्या बात है।"

पन्द्रहवाँ परिच्छेद :—कई महीने बाद शकुन्तला अचानक जुकाम के कारण अस्वस्थ हो गई है। नरेन्द्र, कमलनयन और हाईस्कूल के हेडमास्टर सरोजमोहन चटर्जी तथा शकुन्तला चारों दिल बहलाव के लिए कोटपीस का ताश खेल रहे हैं। कमल का ध्यान शकुन्तला की अस्वस्थता की ओर है; अतः उसका मन नहीं लग रहा है। इसी बीच उसे रामलाल नामक मजदूर की बेटी की मृत्यु-घटना का स्मरण आ जाता है। वह चौंक पड़ता है और खेल बंद करा देता है। नरेन्द्र और चटर्जी टेनिस खेलने चले जाते हैं। नरेन्द्र कमल से कहता है "तुम तो बैठोगे न।" कमल ने उत्तर दिया—"बैठा रहूँगा।"

सत्रहवाँ परिच्छेद :—शकुन्तला और कमलनयन एकान्त में कुछ देर बैठे रहे। जब दोनों की आँखें मिलीं तो कमलनयन ने बाहर जाकर बैठना चाहा परन्तु शकुन्तला ने रोक लिया और एक नोटों का बण्डल

देकर बोली "इसे लेते जाओ।" दोनों एक दूसरे के प्रेम में खोने लगे। उस समय कमलनयन ने अपने को पहिचाना और कहा "तुम पागल हो रही हो"। प्रेम के मारे कमल के नेत्रों में आँसू आगए। वह बाहर जाना चाहता था। शकुन्तला ने कहा "मैं तो खैर! पागल हो गई हूँ। तुम क्यों रोते हो?" बात बड़ी विचित्र थी। कमल ने फिर समझाया "देखो शकुन! मैं नरेन्द्र कैसे हो सकता हूँ" परन्तु बात बहुत बढ़ चली थी। शकुन्तला हृदय से कमल को प्यार करना चाहती थी। कमलनयन ने उससे माफी माँगना चाहा, परन्तु शकुन्तला अपने कोमल हाथों को उसके मुँह पर रखकर बोली "बस आगे बढ़ने की आवश्यकता नहीं।" हाथों का स्पर्श पाते ही कमल रोमांचित हो गया।

अठारहवाँ परिच्छेद :—कमलनयन केवल शकुन्तला का हाथ ही चूमकर शान्त नहीं हुआ अपितु अपनी लालसा का एक पग और बढ़ा दिया और उसका वक्ष एक अनंग वल्लरी में एकाकार हो उठा तथा अपने उष्ण श्वासों सहित शकुन्तला के कल कपोलों का चुम्बन लेते हुए बोल उठा "बस न।" इसी बीच किसी की पग-ध्वनि सुनाई दी। शकुन्तला ने चिक उठाकर देखा तो मूर्छित होकर गिर पड़ी। रंग बदल गया। कमल एक दैनिक पत्र से हवा करने लगा; जब होश आया तो शकुन्तला ने कहा "वही थे।" कमलमयन इससे और भी चौंक पड़ा और नरेन्द्र के प्रति इस विश्वासघात पर चिन्तित हो गया।

उन्नीसवाँ परिच्छेद :—नरेन्द्र इस प्रेम-लीला को चिक की आड़ में खड़ा खड़ा देख रहा था। उस की रक्त खौल गया और रिवाल्वर निकालकर दोनों की हत्या करनी चाहा परन्तु कमल की निर्दोषिता पर दया आ गई और वह रो पड़ा। इसी बीच सुरेन्द्र ने कहा कि भाभी बुला रही हैं। वह शकुन्तला के पास आया और भाव बदलकर उसका स्वास्थ्य पूछने लगा। उसने प्रयास यह किया कि शकुन्तला को उसके मनोभाव का पता न चल सके परन्तु बात ही बात में बात आ गई और शकुन्तला ने पूछा "सच सच बतलाओ, क्या तुमने मेरे व्यवहार

में गलती पाई है ?" नरेन्द्र इस पर खड़ा हो गया और "मैं नहीं जानता शकुन ! इसका निर्णय तुम स्वयं करो" कहते २ बाहर हो गया।

बीसवाँ परिच्छेद :—दूसरी ओर जब कमलनयन घर पहुँचा तो अपनी इस चारित्रिक पराजय पर पछताने लगा और चिन्ता में डूब गया। इसी समय उसके भाई कमलाकांत ने बुलाकर उससे उसके विवाह पर सम्मति लेनी चाही; वह कुछ भी न बोल सका। उसकी भाभी ने सारी बात संभाल ली। वह वहाँ से चला आया और चिन्ता में मग्न हो गया।

इक्कीसवाँ परिच्छेद :—रात को कमलनयन सो नही सका। तरह तरह की तर्क वितर्क शकुन्तला और नरेन्द्र के विषय में करता रहा। वह अपनी भूल का भी विश्लेषण कर रहा था, तथा समाज की इस मौन रहने वाली प्रवृत्ति के प्रति भी विद्रोहात्मक भाव जग उठे। इसी प्रकार की अनेकों बातें वह सोचता रहा।

बाईसवाँ परिच्छेद :—शकुन्तला दिनोदिन अस्वस्थ होती जा रही है। वह खाना खा लेती है तथा नरेन्द्र को प्रसन्न रखने के लिये कभी कभी हँसती, मुस्कराती भी है परन्तु वास्तविकता तो यह है कि वह खिन्न, उदास तथा अस्वस्थ रहती है। नरेन्द्र के हृदय में अंतर्द्वन्द्व चल रहा है। वह बार २ शकुन्तला को प्रसन्न रखने का प्रयास करता है परन्तु उसके मन में समा गया है कि शकुन्तला कमलनयन को प्यार करती है।

तेईसवाँ परिच्छेद :—शकुन्तला का स्वास्थ्य कुछ कुछ सुधरा हुआ है। रविवार का दिन है। आज नरेन्द्र शकुन्तला को लेकर सिनेमा जाना चाहता है परन्तु सिनेमा दुःखांत होने के कारण डाक्टर के मना करने से रुक जाता है। इसी बीच वह सुरेन्द्र तथा शकुन्तला से कमल-नयन के कानपुर जाने का समाचार भी पाता है। वह उसको आवारा निर्देश करता हुआ बहुत कुछ बुरा कह जाता है। शकुन्तला उसका प्रति-वाद कर देती है। फिर नरेन्द्र अपनी बात की पुष्टि करता है और शकुन्तला की परीक्षा के लिये "अच्छा शकुन ! मेरे शरीर पर हाथ रख कर मेरी शपथ लेकर बताओ कि तुम्हारे हृदय में कमल के लिये अधिक आदर है या मेरे लिये" पूछ बैठता है। शकुन्तला विकल कण्ठ से कहती

है—"ओह ! यह तुम पूछते क्या हो ? यह भी क्या मेरे कहने की बात है।" अंतिम शब्द कहते २ वह मूर्छित हो जाती है। डाक्टर दवा देता है। प्रातः वह कुछ स्वस्थ होती है। इसी बीच कमलनयन एक कार से आता है और अपने कानपुर के मजदूरों में काम करने पर वारण्ट की सूचना देते हुए जाना चाहता है। साथ ही कहता है— "गलतियाँ मनुष्य से होती हैं। मुझ से भी हो सकती है परन्तु आपको इतना विश्वास रखना चाहिए कि मैं आपकी आत्मीयता कभी भुला नहीं सकता" नरेन्द्र लज्जा से पानी-पानी हो जाता है और कमलनयन को शकुन्तला से मिलने का आग्रह करता है परन्तु कमल वारण्ट के भय से कार में बैठकर चल देता है।

चौबीसवाँ परिच्छेद :—कमलनयन ६ महीने की जेल से जब छूट कर आया, तब तक शकुन्तला मर चुकी थी। वह सर्वप्रथम अपने घर न जाकर नरेन्द्र के बंगले पर पहुँचा। नरेन्द्र मिलने से पहले नूरजहाँ नामक वेश्या को बुलाकर शकुन्तला के रूप में अपने पास बिठाता हुआ कमलनयन का स्वागत करता है। सभी चाय पीते हैं। नरेन्द्र कमल से कहता है "क्यों कवि जी ! हा ! हा ! चुम्बन करो न शकुन्तला को।" कहते कहते पागल हो जाता है और पिस्टल से हत्या करना चाहता है परन्तु कमल उसे पकड़ कर उसकी रक्षा करता है और उपदेश देता है। नरेन्द्र सीमा त्याग कर उस पर थूक कर कहता है"—तुम्हें धिक्कार है।"

उपसंहार :—कमलनयन जब घर पहुँचता है तो उसके सिरहाने शकुन्तला का पत्र पड़ा हुआ है जिसे वह मरने से पहले लिख गई थी। पत्र बहुत लम्बा लिखा है जिसका सार यह है—"जिस सीमा तक मनुष्य स्त्री से प्रेम करता है वे (नरेन्द्र) उससे भी परे हैं। उनके उत्सर्ग की थाह नही है। × × मेरा वियोग वह कैसे सहन करेंगे ! लेकिन मैं क्या कर सकती हूँ। मेरा जीवन प्यास से भरा है। वे इस प्यास में कलुष खोजते हैं किन्तु मैं तो इसे स्वास्थ्य का चिह्न समझती हूँ × × × यदि वे जान पाते मैं क्या हूँ × × मेरा जीवन के प्रति कौन दृष्टिकोण है × × लेकिन मनुष्य की इच्छा कोई चीज नही है। यदि समाज का स्वार्थ उसके विरुद्ध है। जो हो ! उफ़ !! मैं उन्हें तुम्हारे हाथ सौंपती हूँ।"

——:०:——

तृतीय प्रश्न-पत्र

परीक्षोपयोगी दृष्टिकोण

पाठ्य क्रम | प्रस्तुत प्रश्न पत्र का प्रमुख विषय "हिन्दी साहित्य का इतिहास, भाषा तथा देवनागरी लिपि का संक्षिप्त इतिहास" है। इसकी पाठ्य पुस्तकें निम्नांकित निर्धारित की गई हैं:—

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल)

२—भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न (जयचन्द्र विद्यालंकार)

३—हिन्दी भाषा और लिपि (धीरेन्द्र वर्मा)

४— नागरी अंक और अक्षर (गौरीशंकर हीराचन्द ओझा)

प्रश्न और प्राश्निक | प्राश्निक उपरोक्त पुस्तकों के ही आधार पर प्रश्न करेगा। पुनरपि च यह सर्वदा ध्यान में रखा जाय कि इतिहास अपने पृष्ठों का पुनर्वार करता है; अथवा इतिहास अपने आपको दोहराता है। उपरोक्त नियम के आधार पर हमें यह कहने का अधिकार है कि प्राश्निक प्रायः गत वर्षों में आए हुए प्रश्नों को ही उलट पलट कर परीक्षा में दिया करता है। परीक्षा मे आए हुए प्रश्न किसी न किसी रूप में पुनः अवश्य आते हैं। इसी बात को दृष्टि कोण में रखते हुए प्रस्तुत प्रदर्शक में प्रश्न किए गए हैं। अतः परीक्षार्थियों को चाहिये कि इस प्रदर्शक में दिए गए प्रश्नों तथा उत्तरों पर पूर्ण ध्यान दें। हम विश्वास-पूर्वक कह सकते हैं कि प्राश्निक उन्ही प्रश्नों की शब्दावली परिवर्तन करके प्रश्न करेगा। प्रश्नों को किसी अन्य स्थान से नहीं ले सकता।

विषय और अंक | विषय और अङ्क के दृष्टिकोण से जब हम गत वर्षों मे आए हुए प्रश्नों पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि प्राश्निक प्रायः निम्न प्रकार विषय और अङ्कों का क्रम रखता है :—

विषय	अङ्क
हिन्दी साहित्य का इतिहास	७०
देवनागरी लिपि का इतिहास	३०
योग	१००

अङ्कों की दृष्टि से पुस्तकों की महत्ता | परीक्षा में आने वाले प्रश्नों एवं अङ्कों को दृष्टि कोण में रखकर जब हम पाठ्य-पुस्तकों पर विचार करते हैं ज्ञात होता है कि हिन्दी-साहित्य का इतिहास सभी पुस्तकों में अपनी अधिक विशेषता एवं महत्ता रखता है। यदि किसी परीक्षार्थी को हिन्दी-साहित्य का इतिहास भली प्रकार समझ में आ गया है, तो इसका अर्थ यह है कि इस प्रश्न-पत्र के १०० अङ्कों का वह अधिकारी है, परन्तु सम्पूर्ण इतिहास के पृष्ठों और पूरे कवियों आदि पर अपना पूरा अधिकार रखना बहुत कुछ कठिन है। अतः हमने इस प्रदर्शक में साहित्य के इतिहास पूरा सारांश प्रश्न और उत्तरों के रूप में दे दिया है। अतः मैं परीक्षार्थियों से यह अपील करना चाहूँगा कि इस प्रदर्शक में दिए गए 'इतिहास खण्ड' पर पूरा अधिकार रखे।

शेष ३० अङ्कों के प्रश्न 'हिन्दी भाषा और लिपि' तथा 'नागरी अङ्क

और अक्षर' नामक पुस्तकों से आते हैं, परन्तु परीक्षार्थियों के लिये यह अनिवार्य नहीं कि वे इन दोनों पुस्तकों का अध्ययन करें। दोनों में से किसी एक का अध्ययन परीक्षा के लिए उचित है

पुनरपि च मैं निम्नांकित पुस्तकों को परीक्षोपयोगी मानता हूँ:—

(१) हिन्दी साहित्य का इतिहास——७०

(२) हिन्दी भाषा और लिपि——३०

१००

मुझे पूर्ण विश्वास है कि ये दोनों पुस्तकों का अध्ययन ही उत्तीर्ण करने की कुञ्जी है। पाठ्य-क्रम में निर्धारित शेष दो पुस्तकों को सहर्ष छोड़ा जा सकता है।

प्रस्तुत प्रदर्शक में इसी दृष्टिकोण से प्रश्नोत्तरों का क्रम रखा गया है।

प्रश्न पत्र की शैली | प्राश्निक कुल मिलाकर प्राय १० प्रश्न करता है, जिसमें से ७ प्रश्न 'हिन्दी साहित्य के इतिहास तथा ३ प्रश्न 'हिन्दी भाषा और लिपि' के सम्बन्ध में होता है। परन्तु इन दशों प्रश्नों का उत्तर देना अनिवार्य नहीं। अपितु केवल किन्हीं पाँच प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक होता है, जिसमें भाषा और लिपि से किए गए प्रश्नों में से एक अनिवार्य।

अतः छात्रों को चाहिए, सर्व प्रथम अनिवार्य प्रश्न का उत्तर दें। तत्पश्चात किन्ही चार उत्तम समय का ध्यान रखते हुए लिखें। 'प्रश्न-पत्र करने पर एक बार पढ़ लेना और तदनुसार उत्तर देना ही योग्य परीक्षार्थी का कर्त्तव्य होता है।" इस वाक्य को सदैव दृष्टिकोण में रखा जावे।

हिन्दी साहित्य का इतिहास

प्रश्न १ :—हिन्दी साहित्य का इतिहास किन किन मुख्य कालों में विभक्त किया जाता है? प्रत्येक काल के सर्वश्रेष्ठ कवि का संक्षिप्त परिचय दीजिए तथा उसकी मुख्य विशेषताएं भी बताइये?

उत्तर : – साहित्य समाज का दर्पण है, इस उक्ति के अनुसार समाज की परिस्थितियों का प्रभाव साहित्य पर अवश्य पड़ता है। चूंकि समाज की स्थिति कभी स्थिर नहीं रहती, अतएव साहित्य में भी यथा समय परिवर्तन होते रहते हैं। समाज में जिस समय जो भावना प्रधान-रूप से प्रचलित होती है, साहित्य भी उसी धारा से प्रभावित रहता है। इस नियम के अनुसार हिंदी के विशाल साहित्य में प्रधानतया चार धाराएँ दिखाई पड़ती हैं। हिन्दी साहित्य का रचनाकाल लगभग एक हजार वर्ष है। इस का प्रारंभ संवत् १०५० से माना जाता है। संवत् १०५० से लेकर आज सं० २००८ तक हम हिन्दी साहित्य को निम्न-लेखित चार भागों में बांट सकते हैं—

(१) वीरगाथा काल—सं० १०५० से १३७५ तक,
(२) भक्ति काल— सं० १३७५ से १७०० तक,
(३) रीति काल— सं० १७०० से १९०० तक,
(४) गद्य काल— सं० १९०० से आज तक,

वीरगाथा काल :—सं० १०५० का समय भारतवर्ष पर यवनों के आक्रमण का समय था। राजपूतों के यवनों के साथ युद्ध, घरेलू झगड़े, परस्पर फूट द्वारा द्वेष और शत्रुता की वृद्धि, इन सब के कारण वातावरण अशान्त हो चुका था। राजाओं के आश्रय में रहने वाले चारण या भाट (खुशामद करने वाले कवि) अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा स्वरूप वीर-गाथाएँ लिखने लगे, जिस के कारण इस काल का नाम वीरगाथा

काल (अथवा चारणकाल) पड़ गया। इस काल में मुख्यतया चन्द्र-बरदाई का लिखा हुआ 'पृथ्वीराज रासो' ही प्रसिद्ध है, यद्यपि इसकी प्रामाणिकता पर भी कुछ आचार्य संदेह प्रकट करते हैं।

भक्ति-काल :—संवत् १३७५ के समय यवनों की प्रगति ने भारत-वासियों का उत्साह तोड़ डाला। अत्याचारों से पीड़ित हिन्दू जनता रक्षा के लिये जब अपने राजाओं से निराश हो गई और उधर मन्दिरों की मूर्तियों को टूटता हुआ एवं धार्मिक ग्रंथों को जलता हुआ देखकर जब वह आर्य सभ्यता के विनाश से उन्मत्त होकर चीख उठी। जब उसे चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा दिखाई पड़ने लगा, तो उसका ध्यान स्वाभाविक ही ईश्वर की ओर गया। वह सर्वशक्तिमान से कष्ट निवारण की प्रार्थना करने लगी। भक्ति के इस वातावरण ने हिंदी में धार्मिक साहित्य को जन्म दिया।

इस भक्ति-काल में दो धाराएँ प्रबल रूप से बहीं। (१) "निर्गुणधारा" (२) "सगुण धारा"। "निर्गुणधारा" में ईश्वर को निराकार मानकर संत कवियों ने ज्ञान की चर्चा की और जाति-पाँति का भेद दूर करके एकेश्वरवाद को स्थापित किया। मूर्तिपूजा आदि को आडंबर कह कर उनका खंडन किया। इस धारा में कुछ तो भारतीय परंपरा से प्रभावित केवल रूखे सूखे ज्ञान की चर्चा करने वाले कबीर आदि हुए, जिन्हें "ज्ञान-मार्गी" भी कहते हैं और दूसरे कुछ सूफीवाद से प्रभावित होकर प्रेम की पीर का राग अलापने वाले जायसी आदि महाकवि हुए, जिन्हें "प्रेममार्गी" कहा जाता है।

"सगुणधारा" में ईश्वर को साकार मान कर उपासना करने वाले भक्त कवि हुए। उनमें भी कुछ सूरदास और मीरा आदि कवियों ने "कृष्ण भक्ति शाखा" को अपनाया और कृष्ण के लोकरंजक रूप का सरस वर्णन किया। इसके अतिरिक्त तुलसीदास आदि ने समाज की आवश्यकता के अनुसार "रामभक्ति शाखा" को स्वीकार किया और राम के लोक-रक्षक रूप का आदर्श जनता में प्रदर्शित किया।

रीतिकाल :—भक्ति-काल के भक्त-कवियों ने जिस शृंगार को ईश्वर पूजा में साधन मानकर अपनाया था, वही शृंगार रीतिकाल में साध्य बन गया। सं० १६०० तक समस्त भारतवर्ष यवनों के आधीन हो चुका था। हिंदू जनता ने विवश होकर विदेशियों का शासन स्वीकार कर लिया था। यह शांति का युग था, अतः विलास की मात्रा बढ़ने लगीः। युद्धों और संघर्षों से उकताए हुए राजा महाराजाओं ने अपने दरबारी कवियों से राधाकृष्ण की आड़ में विलासी नर-नारियों की कामुक चेष्टाओं को सुन सुन कर खूब मौज उड़ाई। बिहारी और देव आदि कवियों ने शृंगार रस के बड़े ही सुन्दर, सरस एवं अनूठे उदाहरण उपस्थित किये। कहीं कहीं भूषण आदि कुछ इने गिने कवियों की वीर रस की कविता भी इसी समय सुनाई पड़ी। इसके अतिरिक्त इस काल ने हिंदी के महान् आचार्यों को भी जन्म दिया, जिन्होंने लक्षण-ग्रंथों अथवा रीति-ग्रंथों (वे ग्रंथ, जिनमें रस, अलंकार, कवियों, नायक, नायिका आदि के लक्षण भेद और उदाहरण आदि दिये गए हों) की रचना करके हिंदी साहित्य में खटकने वाले एक महान् अभाव की पूर्ति की।

गद्यकाल :—आधुनिक काल को गद्यकाल कहते हैं। यद्यपि पद्य लिखने वाले महाकवियों की आज भी कमी नहीं है, तथापि काल का नामकरण करते हुए उस काल में बहने वाली प्रबल धारा को ही दृष्टि में रखा जाता है, आधुनिक काल में वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रधानता से कथा, कहानी, नाटक, उपन्यास आत्मचरित्र, निबंध और आलोचना आदि का ही जोर दिखाई पड़ता है। कविता और गीतों की संख्या आज अपेक्षाकृत बहुत कम है। इसी प्रकार एकमात्र भूषण कवि के होने से रीति काल को वीरकाल कभी नहीं कहा जा सकता। अस्तु, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अंग्रेजों की दासता से दुःखी भारत-माता का चित्र अपनी कविता में अंकित करके शृंगार कविता के स्थान पर राष्ट्रीय-धारा को जन्म दिया। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खड़ी बोली को गद्य, पद्य दोनों की भाषा बनाकर व्याकरण के नियमों से उसे नियंत्रित और परिष्कृत किया। अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त के अतिरिक्त

हिंदी साहित्य में छायावाद के प्रवर्तक जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, महादेवी वर्मा आदि अनेक कवि इस काल में चमके, जिन्होंने हिन्दी साहित्य को "साकेत" "प्रियप्रवास" और "कामायनी" जैसे अनमोल उपहार भेंट किये। आज कविता छायावाद, व रहस्यवाद से भी आगे निकल कर प्रगतिवाद की ओर बढ़ रही है। जिसमें भारत का मजदूर, किसान, निर्धन अपनी वास्तविक दुर्दशा में चित्रित किया गया है। (कवि-परिचय के लिये तत्संबंधी प्रश्न आगे पढ़िये)

प्रश्न २ :—हिन्दी साहित्य के वीर गाथा काल की विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।

उत्तर :—

विशेषताएँ :—वीरगाथाएँ कवियों के आश्रय दाताओं की प्रशंसाओं से भरी पड़ी हैं। युद्ध के लिए राजा को उत्साहित करना उनके रूप तथा पराक्रम का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन सर्वत्र देखने को मिलता है।

२—वीर रस के साथ साथ इस काल में शृङ्गार रस की चाशनी भी मिलती है। प्रायः प्रत्येक युद्ध का कारण तात्कालिक परिस्थितियों को न मान कर एक सुन्दरी को ही माना गया है। इस बहाने कवियों को शृंगार रस के वर्णन करने का अवसर भी मिल गया है।

३—काव्यों में इतिहास की उपेक्षा की गई है। सभी ग्रन्थों में प्रामाणिक घटनाओं का अभाव है। काव्यत्व ने इतिहास को छिपा लिया है।

४—वीर रस भी नाम मात्र का है। अधिकतर वर्णन केवल सैनिकों की चेष्टाओं या युद्धों की घटनाओं तक ही सीमित हैं। उत्साह या वीरता का संचार करा देने वाली रचनाओं के न होने के कारण उत्कृष्ट वीर काव्यों में इनकी गणना नहीं हो सकती।

५—इस समय दो भाषाएँ हो प्रचलित थीं। एक अपभ्रंश से मिलता हुआ राजस्थानी का वह रूप जिसे 'डिंगल' कहते हैं और दूसरा अपभ्रंश-

मिश्रित ब्रजभाषा का वह रूप जिसे 'पिंगल' कहते हैं। इन काव्यों में भाषा की स्थिरता कहीं नहीं दिखाई देती।

६—छन्दों में विविधता अवश्य देखने को मिलती है। दूहा, तोमर, तोटक, गाथा, आर्या आदि छन्दों के अतिरिक्त वीर रस के छप्पय भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

प्रश्न ३ :—पृथ्वीराज रासो के प्रामाणिक या कल्पित होने में क्या क्या युक्तियाँ हैं ? सप्रमाण अपने विचार प्रकट करो ?

उत्तर :—चन्द्र बरदाई लिखित "पृथ्वीराज रासो" के विषय में बड़ा वाद-विवाद फैला हुआ है। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा आदि इसे बिल्कुल अप्रामाणिक और जाली घोषित करते हैं तो दूसरी ओर मोहन-लाल विष्णुलाल पाँड्या इसे ऐतिहासिक सिद्ध करते हैं। दोनों की युक्तियों का सार निम्नलिखित है :—

ओझा जी का मत :— (१) रासो में वर्णित घटनाएँ, सामन्तों के नाम आदि अशुद्ध हैं। यहाँ तक कि पृथ्वीराज की माता का नाम 'कर्पूर देवी' था, किंतु रासोकार ने 'कमला' लिखा है, इसलिए यह असत्य प्रतीत होता है।

२—रासो में दिये गए संवत् इतिहास के साथ नहीं खाते। युद्धों की तिथियाँ काल्पनिक हैं। शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के आक्रमण की इतिहास प्रसिद्ध घटना का समय भी ठीक नहीं दिया गया। भला एक राजदरबारी कवि के लिए ऐसी त्रुटि क्या संभव है।

३—रासो की भाषा में अरबी-फारसी के शब्द मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट विदित होता है कि यह ग्रंथ मुसलमानों के भारत में आने के बहुत समय पश्चात् लिखा गया, पृथ्वीराज के सम-काल में इसकी रचना नहीं हुई।

४—पृथ्वीराज के दरबारी कवि जयानक ने संस्कृत में जो एक प्रामा-णिक ग्रंथ लिखा है, उसमें कहीं भी चंद्र कवि का वर्णन नहीं किया,

जिससे मालूम होता है कि पृथ्वीराज की राजसभा में चंद्रवरदाई नाम का कोई कवि था ही नहीं।

पांड्या जी का मत :—(१) रासो में नाम के परिवर्तनों को देख कर उसे एकदम अनैतिहासिक नहीं कहना चाहिये। स्त्रियों के नाम प्रायः विवाह के पश्चात् बदल जाते हैं, इसलिये 'कमला' और 'कपूर देवी' दोनों ही नाम संगत माने जा सकते हैं। इन गुप्त बातों का पता राजा के एक घनिष्ठ मित्र-कवि चंद्र को हो सकता है, जो अन्य इतिहास लिखने वालों के लिये असंभव है।

२—रासो के संवतों में इतिहास के साथ प्रायः ६० वर्ष का ही अंतर है और यह अंतर स्वयं चंद्रबरदाई ने स्वीकार भी कर लिया है— "एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनंद" यहाँ अनंद का अर्थ ६० वर्ष किया गया है। नंदवंशीय राजाओं के ६० वर्ष तक किए राज्य को स्वाभिमानी कवि चंद्र ने अपने संवत् में गिना ही नहीं था। अतः अंतर स्पष्ट और स्वाभाविक है।

३ रासो की भाषा में अरबी-फारसी के शब्द आते अवश्य हैं, किंतु १० प्रतिशत। इसके अतिरिक्त यह भी सर्वविदित है कि गौरी से २०० वर्ष पूर्व महमूद गजनवी भारत में आया था। तभी से यवनों का सम्पर्क भारत से होता ही रहा, ऐसी अवस्था में १० प्रतिशत विदेशी शब्दों का आ जाना कोई आश्चर्य जनक नहीं अतः रासो की प्राचीनता पर कोई आघात नहीं पहुँचता।

४—'जयानक' ने पृथ्वीराज की सभा में चन्द्र नाम के किसी भी हिन्दी कवि का उल्लेख नहीं किया, इससे तो यही लोकोक्ति सिद्ध होती है कि "एक विद्वान् दूसरे विद्वान् को देख कर ईर्ष्या से जल जाता है।" कदाचित् जयानक ने भी इस सुलभ दुर्बलता के कारण द्वेषवश चन्द्र का नाम न लिया हो।

५ रासो में युद्धों के वर्णन, घटनाएँ, मंत्रियों की छोटी से छोटी गोष्ठियों का वर्णन ऐसी स्पष्टता और वास्तविकता से किया गया है, कि चन्द्र जैसे पृथ्वीराज के अंतरंग मित्र द्वारा ही इस ग्रन्थ का लिखा जाना

उपयुक्त जान पड़ता है।

६—यदि यह किसी अर्वाचीन कवि का लिखा हुआ होता, तो वह इस ढाई हजार पद्यों के महाग्रंथ पर अपना नाम न लिख कर किसी और का नाम कैसे लिखता ?

आचार्य शुक्ल इस विवाद में अधिक ओझा जी के मत का समर्थन करते हैं। इनका विचार है कि यदि यह किसी समकालीन कवि का लिखा हुआ होता तो तिथियाँ, नाम, घटनाएँ कभी अशुद्ध न होतीं। किंतु रायबहादुर श्यामसुन्दरदास जी चन्द्र बरदाई का पृथ्वीराज की सभा में होना और अपने आश्रयदाता की प्रशंसा छन्दों में लिखना स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि समय समय पर रासो में परिवर्तन और परिवर्द्धन अवश्य होते रहे, जिस के कारण भाषा स्थिर न रह सकी।

प्रश्न ४ :—भक्तिकाल का प्रारंभ किन परिस्थितियों में हुआ, यह बताकर निर्गुणधारा की ज्ञानाश्रयी शाखा के गुण-दोषों का विवेचन करो ?

उत्तर :—

भक्ति काल का जन्म :—जब मनुष्य चारों ओर से निराश हो जाता है तो उसे केवल ईश्वर का ही ध्यान आता है। भारतीय जनता जब यवनों के अत्याचारों से पीड़ित होकर कराह रही थी और उस समय उसका रक्षक जब कोई भी नहीं था। राजपूत राजा या तो यवनों की आधीनता स्वीकार कर चुके थे अथवा इतने निर्बल हो चुके थे कि विदेशियों की सबल सेनाओं का मुकाबला करने में असमर्थ थे, ऐसे भयंकर समय में हिन्दू जनता ने 'निबल के बल राम' को पुकारा, जिससे भक्तिधारा आरंभ हुई। सूरदास, तुलसीदास और मीरा आदि ने आध्यात्मिक संदेश सुनाकर दुःखी जनता के संतप्त हृदय को शान्ति प्रदान की।

दूसरा कारण था धर्म का विकृत रूप, जिसके द्वारा हठयोगी, नाथ-

पंथी, सिद्ध कापालिक जनता को भ्रम में डाल कर पाखंड और आडंबर फैला रहे थे। धर्म में वासना, ढोंग का बोलवाला था। धर्म की हानि के इस भयंकर समय में धर्म-रक्षकों और समाज-सुधारकों का उत्पन्न होना आवश्यक और स्वाभाविक था। सो उस समय कबीर आदि संत कवियों ने एवं तुलसी आदि सगुण कवियों ने फिर से भारत में निश्छल धर्म का व्यावहारिक रूप उपस्थित किया।

तीसरा कारण यह भी कहा जा सकता है कि वीरगाथा-काल का साहित्य जनता से असंबंधित होने से केवल राज-समाज की वस्तु बना हुआ था। कवि जनता का प्रतिनिधि होता है, इसलिए साहित्य में एक आवश्यक परिवर्तन हुआ और कवि राजदरबारों को छोड़ कर जन-समाज में आ गए।

उपर्युक्त कारणों से हिन्दी का दूसरा युग भक्तिकाल के नाम से आरंभ हुआ जिसका समय १३७५ से १७०० तक माना गया है।

निर्गुणधारा और कबीर :—भक्ति-काल में दो धाराएं चलीं एक "निर्गुणधारा" और दूसरी "सगुणधारा"। निर्गुणधारा, जिसमें ईश्वर को निराकार मानकर उपासना करने का ज्ञान-मार्ग प्रदर्शित किया गया, सर्वप्रथम आरंभ हुई। इसका भी विशेष कारण था; क्योंकि जनता के सामने जब देवमन्दिर ढाए गए, मूर्तियों तोड़ी गईं, धार्मिक ग्रन्थ जलाए गए, तो धर्मभीरु जनता इन आघातों को सहन न कर सकी। पहले तो उसे ईश्वर के अस्तित्व पर संदेह हुआ, जो ऐसी भीषण अवस्था में प्रायः दुखी पुरुषों को स्वाभाविक ही हुआ करता है, परन्तु यह नास्तिकता क्षणभंगुर थी। संकटों से आक्रांत होकर हिन्दू जनता को जब अपने राजाओं और आश्रयदाताओं पर विश्वास न रहा, तो निराशा के घने अंधकार में केवल एक ही सहारा था जो उसे कुछ आश्वासन दे सकता था और वह था ईश्वर-भक्ति का। किन्तु मन्दिर के देवताओं पर अब वह शीघ्र विश्वास न कर सकी, उसके विदेशी शासक भी तो मूर्तिखंडक थे। ऐसी परिस्थितियों में सगुणधारा के स्थान पर पहले निर्गुणधारा का आरंभ होना ही स्वाभाविक था। ठीक ऐसे समय में जब कि भारत को

एक महान् सुधारक, क्रांतिकारी उपदेशक और कर्मण्य कवि की आवश्यकता थी, जनता के सामने कबीर का जन्म हुआ।

(१) कबीर ने देखा आज यहाँ राजनीतिक और धार्मिक दशा बिगड़ चुकी है, वहाँ सामाजिक अवस्था भी भीषण हो रही है। हिन्दू यवनों से त्रस्त हैं। यवन बादशाहों के शान्ति-कार्य निष्फल हो रहे हैं। सर्वत्र सन्देह, शंका, घृणा और द्वेष फैला हुआ है। हिन्दू मूर्ति को पूजने वाले हैं तो यवन मूर्ति के खंडक हैं। ऐसी अवस्था में यदि इन दो जातियों को संभाला न गया, तो निश्चय ही भारत का सर्वनाश हो जायगा। कबीर शिक्षित तो थे ही नहीं जो शास्त्रों के प्रमाणों को खोजते। फिर ब्राह्मण, मुल्ला इन्हीं शास्त्रों के द्वारा ही तो इतना पाखंड और भ्रमजाल फैला रहे थे, जिनका खंडन करना कबीर को आवश्यक था। इसलिए उसने वेद और कुरान, मंदिर और मस्जिद, माला और तसबीह, काबा और काशी सब की निन्दा की। अचानक उसे सत्संग से वेदांत का अद्वैतवाद सुनाई पड़ा, जिसमें निराकार ईश्वर का ज्ञान करने के लिए मार्ग प्रदर्शित किया गया था। बस, फिर क्या था। हिन्दू धर्म में भी उसे निर्गुण ईश्वर का स्वरूप मिल गया, यवन भी एकेश्वरवादी थे, अतः कबीर ने इस सत्य को स्पष्ट रूप से प्रचारित करने और समाज के कुसंस्कारों, भ्रमजाल एवं आडंबर को नष्ट भ्रष्ट करने का बीड़ा उठाया और इस प्रकार वह निर्गुणधारा में ज्ञान-मार्गी शाखा के प्रवर्तक बने।

(२) कबीर के विचार में मन्दिर, मस्जिद लोगों में भेद-भाव फैलाने के मूल कारण थे, अतः उसने इनका खण्डन बड़े कड़े शब्दों में किया। प्रमाण ढूंढने की भी आवश्यकता न समझी। सत्य के खोजी स्पष्टवक्ता को इसकी आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि—

"तू कहता कागद की लेखी। मैं कहता आँखन की देखी॥"

भला आँखन देखी बात के लिये भी प्रमाण की आवश्यकता हुआ करती है? जब ईश्वर एक है तो उसकी सन्तानों में भेद कैसा। "काबा फिर कासी भया, राम भया रहीम" के सिद्धांत को मान कर उसने हिन्दू मुसलमान दोनों को फटकारा— "अरे इन दोउन राह न पाई।"

(३) कबीर को समाज में फैले आडम्बर से बड़ी चिढ़ थी। उसने हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा का बड़े व्यंगपूर्ण वचनों में खण्डन किया।

१—पत्थर पूजे हरि मिले तो मैं पूजौं पहार।
ताते यह चाकी भली पीस खाय संसार॥

२—"मुंड मुंडाय हरि मिले सब कोइ लेह मुंडाय।
बार बार के मूंडते भेड़ न वैकुण्ठ जाय॥"

आदि अनेक वचन उपस्थित किए जा सकते हैं जिनमें कबीर की स्पष्ट-वादिता और निर्भीकता झलकती है। आपने मुसलमानों पर भी मार्मिक चोट की हैं। उनके मांस-भक्षण की खिल्ली उड़ाते हुए एक स्थान पर कबीर ने कहा है—

"बकरी पाती खात है ताकी काढ़ी खाल।
जो बकरी को खात हैं ताको कौन हवाल॥

(४) निर्गुण धारा के सभी सन्तों ने जाति-पाति का बन्धन स्वीकार नहीं किया। रामनन्द जी तो कबीर के गुरु थे, बड़े उदार प्रकृति के वैष्णव थे। उनकी संगति के प्रभाव से कबीर ने निम्नकोटि की दलित जातियों का उद्धार किया और उपासना क्षेत्र में सबको समानाधिकार देते हुए कहा—

"जाति पाँति पूछे नहीं कोई।
हरि को भजे सो हरि का होई॥"

(५) कबीर का आध्यात्मवाद—(क) कबीर ने निर्गुण ईश्वर की उपासना को स्वीकार किया था और ज्ञानमार्ग का प्रचार किया था। कबीर राम का उपासक था किन्तु उसका राम दशरथपुत्र राम न था। यद्यपि उसके कई वचन भक्ति विषयक मिलते अवश्य हैं, जैसे—

"कहे कबीर पुकारि के भक्ति करो तजि धर्म"

एवं रामानन्द की सगुण उपासना का प्रभाव भी उस पर पड़ा होगा—ऐसा भी सन्देह हो सकता है, जिसके कारण कहीं-कहीं इसके निर्गुणवाद में सगुणवाद के दर्शन हो जाते हैं। सगुणवादियों की तरह कबीर ने ईश्वर का सम्बोधन भी हरि, राम, गोविन्द आदि नामों से किया है।

इसके अतिरिक्त अनपढ़ होने एवं सत्संगी जीव होने के कारण भी इस पर नाना प्रदेशों एवं अनेक विद्वानों का प्रभाव यथासमय अगर पड़ा तो भी कुछ आश्चर्य नहीं। इन सब बातों से इस की अस्थिरता अवश्य झलकती ही थी, इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। कबीर राम की परिभाषा करते समय कहता है—

१—"जाके मुख माथा नहीं; नाहीं रूप कुरूप।
पुहुपवास से पातरा, सोई तत्व अनूप॥"

२—"तेरा साई तुझ में जाग सके तो जाग।"

(ख) कबीर ने माया को आत्मा और परमात्मा के मिलन में बाधक माना है। कबीर माया के प्रभाव को महान् स्वीकार करता है—"माया महा ठगिनी मैं जानीं।" कबीर के सिद्धांत के अनुसार माया कंचन और कामिनी का ही नाम है।

(ग) रहस्यवाद में कबीर का नाम सर्वप्रथम गिना जाता है। कबीर ने हठयोग की रूखी-सूखी चर्चा के साथ-साथ रहस्यवाद के सुन्दर उदाहरण भी दिए हैं। समस्त संसार में परमात्मा की सत्ता को मान करके उसके मिलने की बेचैन हो जाना तथा अन्त में तल्लीन हो जाने का नाम रहस्यवाद है।" कबीर का निम्नलिखित दोहा रहस्यवाद का स्पष्ट द्योतक है—

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, भीतर बाहर पानी।
टूटा कुम्भ जल जल में समाना इह तत कथ्यो गियानी॥"

इसके अतिरिक्त कबीर ने प्रियतम को पुरुष मानकर अपने को वहू रूप में अभिव्यक्त किया है। ऐसे पदों में कबीर की दीनता; नम्रता और आत्म-समर्पण की भावना देखने योग्य है। कबीर प्रियतम की लाली देखने को बड़े उत्सुक थे; किन्तु जब देखा, तो स्वयं उसकी लाली में लाल हो गए।

"लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मै गई मै भी हो गई लाल॥"

(घ) कबीर ने कहीं कही पर रहस्यमयी (सान्ध्य) भाषा का प्रयोग भी किया है। अटपटी वाणी में उलटवांसियां भी लिखी हैं जैसे "बरसे कंबल भीगे पानी" आदि। कहीं कहीं सूफीवाद और हठयोग की चर्चा

भी झलकती है किन्तु यह सब कबीर ने दूसरों को प्रभावित करने के लिये ही लिखा है। किसी के मत को खण्डन करने, शास्त्रार्थ में विपक्षियों को हराने और अपने अनुयायियों को प्रसन्न करने के लिए उस मत का परिज्ञान कर लेना आवश्यक होता है। कहीं २ तो कबीर ने गर्वोक्तियों से भी काम लिया है जो कि कबीर जैसे नवीन मार्गदर्शक, कठोर समाज-सुधारक स्वयं तीक्ष्ण आलोचक और क्रांतिकारी उपदेशक के लिए स्वाभाविक जान पड़ता है।

(५) निगुर्णधारा में सभी कवियों ने गुरु-महिमा पर ज़ोर दिया है। कबीर ने तो गुरु को ईश्वर से भी ऊँचा उठा दिया है।

"हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर।"

प्रश्न ६ :—तुलसीदास जी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि क्यों माने जाते हैं। इनका 'रामचरित-मानस' क्यों हिन्दी की महान रचना समझी जाती है? यह बताते हुए सिद्ध करो कि वे भारतीय जनता के प्रतिनिधि और असाम्प्रदायिक समाज-सुधारक थे?

उत्तर :—(१) हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ महान् कलाकार यद्यपि गण्डयोग के अशुभ नक्षत्र में उत्पन्न हुआ, तथापि देश को अनमोल रत्नों से भर गया। माता पिता से परित्यक्त शिशु ने दुरवस्था से अपना शैशव बिताया। वैवाहिक जीवन में भौतिक विलास में डूब कर सहसा पत्नी की फटकार से समय पर संभल गया। इस प्रकार उसका सच्चा गुरु धर्मपत्नी सिद्ध हुई जिसने तुलसी को तुलसीदास बना डाला। मर्यादा-पालन का पाठ अपनी पत्नी से सीख कर तुलसी ने राम को मर्यादा-पुरुषोत्तम बना डाला।

(२) तुलसीदास ने १२ ग्रन्थ लिखे जिनमें विनयपत्रिका, रामचरित मानस, गीतावलि, दोहावलि आदि अत्यंत प्रसिद्ध हैं। तुलसीदास 'मानस' के द्वारा भारत के ही नहीं संसार के अमर कलाकार बन गए। हिन्दी साहित्य का तुलसीदास को यदि 'शेक्सपियर' भी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

(३) भक्तिकाल हिन्दी-साहित्य की दृष्टि से 'स्वर्णकाल' होने पर भी राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुओं का 'पूर्णपराजय काल' कहा जाएगा। भारतीय सभ्यता के नाश से जनता हताश और चिन्तित थी। यवन-शासकों तथा कबीर, जायसी जैसे साहित्यिकों के प्रयत्न जनता में संशय की दृष्टि से देखे जाते थे। सूरदास के वालकृष्ण ने निराश जनता का क्षण भर के लिये मनोरंजन तो अवश्य किया; परंतु क्षणिक मन-बहलाव से जीवन के संकट नहीं टल ज ते। यथार्थ स्थिति तो ज्यों की त्यों ही थी। वही अत्याचार, बलात्कार, और चीत्कार थे जिनका रोकना हिन्दू शासकों के वस का रोग न था। वे सब 'कोउ नृप होउ हमें का हानि' का पाठ पढ़कर जाति-रक्षा से निश्चिंत हो परवशता को चुपचाप स्वीकार किए हुए थे। वातावरण शान्त था। शांत कैसे न होता जब संघर्ष, जीवन और शक्ति के चिन्ह ही नहीं थे, वह शांति मुरदा जाति की थी या श्मशान की थी।

खोए स्वाभिमान को और नष्ट हुए जातीय गौरव को लौटाने की आवश्यकता थी। मुरलीधर और माखनचोर कृष्ण की वाललीलाए जाति की समस्या को हल न कर सकती थीं। उसके लिये तो धनुर्धारी, नीतिनिष्णात, धर्मरक्षक, महाप्रतापी और अन्याय के शत्रु आदर्श महा-पुरुष भगवान् राम की आवश्यकता थी। जिससे जाति में नवजीवन और उत्साह का संचार हो सके। तुलसी ने समय और परिस्थिति को देख 'रामायण' के कथानक हो चुना। रावण के अमानुपिक अत्याचारों के पीछे महाकवि के यवनों के घोर दुर्व्यवहार का सांकेतिक परिचय दिया। और राम को लोकरक्षक रूप में चित्रित करके हिन्दू संस्कृति का आदर्श जनता के सामने रखा। भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व तुलसी से पूर्व किसी ने न किया था। तुलसी ने अपनी लेखनी से वह कार्य किया जो अकवर की तलवार न कर सकी। रामायण हिन्दू जनता के लिए शक्ति का आदि स्रोत सिद्ध हुई।

(४) तुलसी को हिन्दू राज्य का पोपक सिद्ध करने वाले बड़ी भूल करते हैं। तुलसी 'राम-राज्य' चाहते थे। और 'राम-राज्य' चाहने वाले

गांधी जी को किसी ने साम्प्रदायिक नहीं कहा। 'राम-राज्य' का अर्थ आदर्श राज्य से है—हिंदू राज्य से नहीं

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवस नरक अधिकारी॥"

(५) तुलसी जहाँ दूरदर्शी राजनीतिज्ञ थे वहाँ एक धार्मिक नेता और समाज-सुधारक भी थे। वर्णव्यवस्था को नष्ट होते देख आपने कड़े शब्दों में ढोंगी योगियों और सिद्धों की आलोचना की। काशी के संस्कृत विद्वानों की निंदा करने पर भी आपने जनता के हित के लिये अपनी पुस्तकें हिन्दी में ही लिखीं। आपकी उदार वर्णव्यवस्था के विचारों में राम द्वारा भीलनी के झूठे बेरों के खाने की कथा भी आ जाती है जिससे बढ़कर साम्यवाद का उदाहरण और क्या हो सकता है। किंतु तुलसीदास क्रांति में विश्वास न रखकर सुधार के पक्ष-पाती थे क्योंकि निर्बल जाति के लिये यही एकमात्र उपाय लाभप्रद था। रामायण की कथा को शिव जी द्वारा कहलवाकर और राम द्वारा शिव प्रशंसा करा कर तुलसी ने चिरकालीन शिव और वैष्णव के विरोध को बड़ी कुशलता से दूर कर दिया।

(६) यद्यपि तुलसी ने रचना करते समय अपनी कला को 'स्वांतः-सुखाय' कहा है परन्तु सच्चे कवि देश के प्रतिनिधि होते हैं और उनकी आत्मा देश की आत्मा होती है। अतः तुलसीदास की 'स्वांतःसुखाय' की कल्पना—यथार्थ में 'लोकहिताय' ही सिद्ध होती है।

(७) संकीर्णता से दूर रहकर तुलसी ने धर्म की उदार व्याख्या की है। सगुण उपासक होने पर भी तुलसी स्पष्ट स्वीकार करते हैं-"सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा।" ज्ञान और भक्ति विशेष अन्तर न देखते हुए भी वह ज्ञान को कुछ कठिन और कृपाण की धारा ही बतलाते हैं। तुलसी ने राम को वाल्मीकि की तरह नर न मानकर नारायण माना है जो "विधि हरि शंभु नचावन हारा" है। सेवक स्वामी भाव से भक्ति करते हुए तुलसी के अनन्य उपासक हैं—

सियाराम मय सबजुग जानी ।
करौं प्रणाम जोरि जुग पानी ।।

(८) राम चरित मानस :—(क) जहाँ "मानस" राजनीति, समाज सुधार और धर्म की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण सिद्ध हो चुका है (ऊपर) वहाँ साहित्य की दृष्टि से भी यह अद्वितीय और अद्भुत रचना है। इससे बढ़कर और क्या विशेषता हो सकती है कि राम-कथा को तुलसी ने इसमें जिस पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया हैं; उस तक पहुँचने का साहस आज तक किसी ने भी नहीं किया। केशव ने दुःसाहस किया तो मुँह की खाई। यह वह रचना है जिसे क्या विद्वान् और क्या अनपढ़ नरनारी जो भी पढ़ता है आनंद लूटता है। सचमुच मिसरी की डली है; जिसे जहाँ से चखो, मीठी लगेगी।

(ख) तुलसी ने 'मानस' की रचना 'नाना पुराण निगमागम' आदि अनेक धर्मशास्त्रों के आधार पर की है। इस में गीता की निष्कर्म भावना, बौद्धों की अहिंसा, वैष्णवों का प्रेम, शैवों का वैराग्य, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और पारिवारिक समस्याएँ सब कुछ वर्णित हैं। दशरथ जैसे आदर्श पिता, राम जैसे आदर्श राजा और पुत्र और पति, सीता जैसी आदर्श पत्नी, लक्ष्मण और भरत जैसे सेवक, और सुग्रीव जैसा मित्र साहित्य में अन्यत्र कहीं न मिलेंगे।

सीता महारानी होने पर भी 'निज कर घर परिचर्या करहिं' का आदर्श स्थापित करती है।

(ग) कुछ आलोचक 'ढोर, गंवार, शूद्र, पशु, नारी' की दुहाई देकर तुलसी को नारी विनिन्दक समझने की भूल करते हैं। किंतु यह उक्ति सागर की व्यक्तिगत है, तुलसी का सिद्धांत वाक्य कदापि नहीं। कौशल्या, सुमित्रा, सीता, मन्दोदरी आदि आदर्श सती नारियों का प्रशंसक कवि कैसे नारी विरोधी हो सकता है।

(घ) प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से मानस के अनेकों संवाद कैकेयी-मंथरा, लक्ष्मण-परशुराम, हनुमान रावण संवाद—बड़े ही अपूर्व आकर्षक

बन पड़े हैं। जीवन की सर्वांगीण व्याख्या समस्त रसों, छन्दों, अलंकारों का यथास्थान प्रयोग बड़ा ही सुन्दर हुआ है। कथा-प्रवाह अटूट और मधुर है। अनेक सुन्दर स्थलों में कवि की कल्पना का चमत्कार देखते बनता है। लक्ष्मण-मूर्च्छा, राम-वनगमन, दशरथ-मृत्यु और भरत-मिलाप के अतिरिक्त सीता-हरण के समय राम-विलाप की ये पंक्तियां हृदय को मोह लेती हैं :—

"हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी ।
तुम देखी सीता मृगनैनी ?"

(६) तुलसी ने अपने पूर्व साहित्य की सभी शैलियों को अपनाया है। कबीर की दोहा-पद्धति, सूरदास की गीत-पद्धति, जायसी की दोहा-चौपाई पद्धति, चन्द्रबरदाई की प्रबन्ध-काव्य-शैली, विद्यापति की पदावली आदि समस्त शैलियों का चरम विकास तुलसी की सर्वांगीणता को स्पष्टतया सिद्ध कर देता है।

(१०) सूरदास ने केवल ब्रजभाषा में माधुर्य भरा था। तुलसी ने ब्रज और अवधी दोनों में अपना अधिकार प्रदर्शित किया।

प्रश्न १० :—'सूर सूर तुलसी ससी उडुगस केशवदास' की समीक्षा करो ?

अथवा

रीति काल के सर्वोत्कृष्ट आचार्य कवि केशव की कृतियों का परिचय देते हुए साहित्य में उसका स्थान निर्धारित करो ?

उत्तर :—हिन्दी के तीन सर्वश्रेष्ठ कलाकारों में सूरदास और तुलसीदास के पश्चात् केशवदास का नाम लिया जाता है। केशव ओड़छा नरेश इन्द्रजीतसिंह की राजसभा में रहते थे। इनका घराना संस्कृत के प्रकांड पंडितों के लिए प्रसिद्ध था। सर्वप्रथम आपने ही हिन्दी ग्रन्थ लिखे। आपकी लिखी रचनाओं में 'रामचन्द्रिका', रसिकप्रिया 'कविप्रिया' मुख्य हैं। कुछ आलोचक केशव के स्थान पर महाकवि जायसी का नाम लेते हैं क्योंकि केशव को आचार्य की दृष्टि से तो सफल समझा जाता है परन्तु महाकवि की दृष्टि से नहीं।

१—'रामचन्द्रिका' में कथा टूट टूट कर चलती है जो प्रबन्ध-काव्य के लिए महान् दोष समझा गया है।

२—केशव में तुलसी जैसा कवि-हृदय नहीं था अतः मार्मिक स्थलों पर तो कवि ने दृष्टिपात ही नही किया। व्यर्थ की बातों से कूड़ा-करकट इकट्ठा किया गया है।

३—भाषा इतनी कठिन, दुरूह और क्लिष्ट है कि केशव को 'कठिन काव्य को प्रेत' कहा गया है। सरसता में यह भी एक बाधा मानी जाती है।

४—अलंकारों को काव्य का साधन न मानकर साध्य मान लिया है जिससे सौंदर्य उत्पन्न नहीं हो सका। उलटा राम को उल्लू आदि की उपमा देकर अनर्थ कर डाला है।

५—छन्दों को विविधता और उक्तिवैचित्र्य रसास्वाद में बाधक हो गया है।

६—संवाद अवश्य अच्छे बन पड़े हैं, मगर उनका कथा में संघटन उपयुक्त नहीं हो सका, जिससे वे उखड़े पुखड़े से लगते हैं।

७—रामभक्ति का उपहासजनक रूप में वर्णन आचार्यत्व की छाप डालने का रोग, भक्तिभाव की हीनता, बाह्य सौंदर्य पर ध्यान एवं कृत्रिम भाषा ये हैं वे दोष, जिनके कारण केशव को महाकवि नहीं कहा जा सकता है।

केशव केसन अस करी जस अरी हूँ न कराहिँ।
चंद्रवदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहिँ॥

आदि वचनों से केशव की रसिकता और सहृदयता अवश्य टपकती है। परन्तु थे वे यथार्थ में आचार्य। उनमें मस्तिष्क ही प्रधान था, हृदय नहीं। हिन्दी साहित्य में 'कविप्रिया, रसिकप्रिया' लिखकर सर्व-प्रथम केशव ने ही रस और अलंकारों की सूक्ष्म 'विवेचना' की। आचार्य शुक्ल कहते हैं कि तुलसी और सूर जैसी साहित्यिक काव्यकुशलता केशव में भले न हो, किंतु आचार्य के नाते वह हिन्दी में महत्त्वपूर्ण कार्य कर गये हैं।"

प्रश्न११ :—रीतिकाल का आरंभ कैसे हुआ ? यह बताकर स्पष्ट करो कि रीतिकाल के हिन्दी आचार्य कवियों का महत्व किस दृष्टि से अधिक है आचार्य की दृष्टि से अथवा कवि की दृष्टि से ?

अथवा

"इन रीति-ग्रन्थों के कर्ता भावुक सहृदय और निपुण थे। उनका उद्देश्य कविता करना था न कि शास्त्रीय काव्यांगों का शास्त्रीय ढंग पर विवेचना करना।" शुक्ल जी की इस उक्ति की आलोचना करो ?

उत्तर :—(१) रीतिकाल की उत्पत्ति का कारण भक्तिकालीन शृङ्गार था, जो वैष्णव कवियों ने ईश्वरोपासना में साधन माना था। रीतिकाल में वही साध्य बन गया।

२—राजनीतिक शांति ने विलासी वातावरण को उत्पन्न किया। राजा महाराजाओं ने स्वार्थी बन अपने अंतःपुर में रंगरलियाँ मनानी शुरू की। युद्धों से थक जाने पर सैनिक प्रायः विलास को ही पसंद करते हैं।

३—भक्तिकाल के जब कवि राजदरबार में आए, उनकी प्रशंसा के लिए राधा और कृष्ण की आड़ लेकर कामुकता का पूर्ण वर्णन करके खूब धन प्राप्ति करने लगे। भूषण ने वीर रस की भी कविता की।

४—अपना पांडित्य प्रदर्शन करने के लिए प्रायः सब ने संस्कृत की प्राचीन परम्परा (रीति) के अनुसार लक्षण ग्रंथ लिखे जिनमें नायक नायिका के भेद, अलंकार और रस निरूपण एवं नखशिख वर्णन किया गया–यह रीति चूँकि इस काल के सभी कवियों ने अपनाई अतः इस काल को रीतिकाल कहा गया।

५—इस काल में अलंकारों और रीति को ही काव्य की आत्मा माना गया। रस की उपेक्षा की गई है जिससे कला पक्ष का चमत्कार तो इनकी कविता में आ गया परन्तु भावपक्ष बड़ा शिथिल हो गया।

६—इस काल के कवि व्यावहारिक जीवन से दूर चले गए। कला को जीवन के लिये मानने का सिद्धांत भुला दिया गया। सामाजिक समस्याओं से दूर रह कर इन कवियों ने कविता को एकांगी बना दिया।

(७) प्रकृति-वर्णन का अभाव रीतिकाल में खटकता है। प्रकृति को उद्दीपन के रूप में ही देखा गया है आलंबन के रूप में नहीं।

(८) कवित्तों में वीररस, सवयों में शृङ्गाररस के साथ दोहों की छटा बिहारी सतसई में खूब चमक उठी है। भाषा में सुधार की ओर ध्यान नहीं दिया गया। ब्रज की माधुरी और लालित्य नष्ट हो गये।

(९) इस काल के कवियों ने आचार्य बनने का जो अभिनय किया उससे ये किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त न कर सके। सिवाय राजा जसवन्तसिंह को छोड़ (जिन्होंने 'भाषा भूषण' लिखा) अन्य किसी ने भी काव्यांगों की समीक्षा शुद्ध रूप से नहीं की। उनका ध्येय कविता करना ही रहा न कि शास्त्रीय ढंग से काव्यांगों की मीमांसा करना। उनके लक्षण प्रायः अशुद्ध और उदाहरण अस्पष्ट हैं। एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण देने के लालच में दोनों ही संकुचित और अपर्याप्त सिद्ध हुए हैं।

(१०) लक्षण ग्रंथों में केवल संस्कृत आचार्यों की नक्ल की गई, जिससे मौलिकता का अभाव रहा। पद्य में लिखने से रीतिग्रन्थ यथापेक्ष सफलता पूर्वक न लिखे जा सके। कितना अच्छा होता अगर रीति-कालीन कवि केवल कवि ही रहते और आचार्य बनने की विफल चेष्टा न करते। आचार्यत्व की दृष्टि से कवि प्रायः असफल हैं और आचार्य बनने की लालसा में इन्होंने कविता में हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क पक्ष का सहारा लेकर काव्य के सौंदर्य का भी सत्यानाश कर डाला है। तथापि हम इन्हें कवि तो अवश्यमेव कह सकते हैं।

प्रश्न १२ :—रीतिकाल का सर्वश्रेष्ठ कवि कौन है ? अपना मत युक्तियुक्त लिखो ?

अथवा

बिहारी और देव की तुलनात्मक आलोचना करो ?

उत्तर :—

बिहारी और देव—(१) मिश्र बंधुओं ने देव को रीतिकाल का सर्वश्रेष्ठ कवि माना है परन्तु लाला भगवानदास दीन आदि विद्वानों ने

बिहारी को। देव के पक्षपातियों का कहना है कि उसने ७२ ग्रन्थों की रचना की है और बिहारी ने केवल एक की। परन्तु देखा जाए तो अनेक ग्रन्थ लिखने से कोई महाकवि नहीं बन जाता। फिर देव ने तो दो-चार पुस्तकों की सामग्री लेकर और कुछ नवीन जोड़ कर एक नये ग्रंथ की सृष्टि कर दी है जो उपहासजनक है, जैसे 'सुख-सागर-तरंग' है।

(२) देव ने अनेक छन्दों का प्रयोग अवश्य किया है परन्तु छन्दोज्ञान कवि के लिये साधन है साध्य नहीं। इसके अतिरिक्त बिहारी के दोहों के सामने देव के छंद फीके पड़ जाते हैं कहा भी है—

"सतसैया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर।
देखन में छोटे लगैं घाव करैं गंभीर॥"

(३) देव आचार्य भी थे और बिहारी केवल कवि। यह सत्य है, किंतु कवि के लिये आचार्य होना प्रायः घातक ही सिद्ध हुआ है। फिर शुक्ल जी देव को असफल आचार्य मानते हैं। अतः सिद्ध है कि यद्यपि देव का प्रकृति-वर्णन, मानवीय स्वभाव, नायिकाभेद और संयोग शृङ्गार के उदाहरण बड़े ही आकर्षक बन पड़े हैं एवं संगीत शास्त्रज्ञ होने के अतिरिक्त देव ने घनाक्षरी कवित्तों में प्रसिद्धि भी पाई है, तथापि बिहारी का स्थान ले सकने में वह असमर्थ ही रहे हैं। अलंकारों की अनावश्यक लालसा ने उनके काव्य-सौंदर्य को घटा दिया।

बिहारी सतसई—(१) एक ही रचना करके रीतिकाल का महाकवि बल्कि सर्वश्रेष्ठ कवि कहलाना ही पुस्तक के महत्व बतलाने के लिये पर्याप्त युक्त है।

(२) 'बिहारी सतसई' की बीसियों टीकायें हो चुकी हैं जिनसे पता चलता है कि बिहारी के एक-एक दोहे में कवि की कल्पनाशक्ति का कितना चमत्कार छिपा हुआ है।

(३) हिन्दी-साहित्य की किसी भी पुस्तक का अनुवाद इतनी अधिक भाषाओं में अभी तक नहीं हुआ जितनी भाषाओं में 'बिहारी सतसई' का हो चुका है।

(४) बिहारी ने लक्षण-ग्रन्थ न लिखकर अलंकार, नायिका आदि के

उदाहरण ऐसे सुन्दर दिए हैं जिसके कारण रीति कवियों में बिहारी की गणना सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में की जा सकती है।

(५) बिहारी ने छोटे से दोहे में गंभीर अर्थ की सुन्दर छटा दिखाकर गागर में सागर को ही भर दिया है। निम्नलिखित उनके दोहों की विशेषताएँ हैं।

क—हावभाव और अनुभाव :—

नासा मोरि न चाह कै करो कका की सौंह।
कांटे सी कसकैति हिय, गड़ी कटीली भौंह॥"

ख—सूक्ति—कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय।
उहि खाएं बौराह, उहि पाएं ही बौराय॥

घ—भक्ति—मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय।
जा तन की भाहिं परै स्याम हरित द्युति होय॥

ङ—शब्दालंकारव्यंजना—चिर जीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर।
को घटिये वृषभानुजा वै हलधर को वीर॥

च—देशभक्ति—स्वारथ सुकृत न श्रमवृथा, देखु विहंग विचार।
बाज, पराए पानि पर, तू पंछीहि न मार॥

छ—वियोग श्रृङ्गार—इन दुखिया अखियान को सुख सिरज्यों ही नाहिं।
देखै बने न देखते बिन देखै अकुलाहिं॥

ज—कल्पना—करौ कुवतु जगु कुटिलता तजौं न दीन दयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय, बसत त्रिभंगी लाल॥ आदि

(६) गणित, विज्ञान, मनोज्ञान, अर्थालंकार, संयोगश्रृंगार, नीति, वैराग्य, आदि अनेक विषयों को बड़े ही सौन्दर्य भरे ढङ्ग से बिहारी ने दोहों में भर दिया है। अन्य संस्कृत कवियों से भाव चोरी करने पर भी उन्हें मौलिक बना देना बिहारी का ही कार्य है।

(७) जयसिंह को 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु...' कह कर विलासिता से छुड़ा देने वाले कवि को श्रृंगार का मुवारक कहना सभ्यता से मुंह फेरना है।

प्रश्न १३ :—भूषण की कविता वीररस की असांप्रदायिक भावनाओं से भरी हुई है। सप्रमाण सिद्ध करो ?

उत्तर :—(१) जिस प्रकार अकबर के समय समस्त राजपूतों के अपराधी हो जाने पर केवल प्रताप ने राजपूती आन को जीवित रखा था। वैसे रीतिकाल में अन्य कवियों के शृंगारप्रिय हो जाने पर भूषण ने केवल वीर रस की कविता लिखी।

(२) भावज के ताने से स्वाभिमानी भूषण ने चोट खाकर निराश और निर्वल जाति में देश-गौरव और साहस की ज्वाला भर दी।

(३) शिवाजी या छत्रसाल की प्रशंसा खुशामद न होकर जातिरक्षक, देशहितैषी वीरों का अभिनन्दन मात्र ही है।

(४) 'शिवराज भूषण' का महत्त्व अलंकार ग्रंथ के नाते न होकर एक वीर काव्य की दृष्टि से अधिक है। इसमें भूषण कवि ने अलंकारों के लक्षण लिखकर शिवा जी संबन्धी ओजस्वी कवित्त लिखे हैं।

(५) भावानुकूल भाषा को कठोर और ओजस्वी बनाने के लिए कवि ने शब्दों को काफ़ी तोड़ा मरोड़ा है।

(६) भूषण को मुस्लिम विरोधी कहना न्याय-संगत नहीं है। एक तो भूषण के आश्रयदाता शिवा जी उदार प्रकृति के महापुरुष थे, जिन्होंने अपहृत मुस्लिम बाला से विवाह के प्रस्ताव उपस्थित होने पर उसे 'माता' तक कह दिया था और कभी मस्जिदों के गिराने की आज्ञा नहीं दी। दूसरे "हुमायूं" की प्रशंसा करके भूषण ने सिद्ध कर दिया कि वह अत्याचारी का विरोधी है—मुसलमानों का नहीं।

प्रश्न १४ :—हिन्दी (खड़ीबोली) गद्य का क्रमिक विकास लिखते हुए ईसाइयों द्वारा हिन्दी-सेवा पर भी प्रकाश डालो ?

अथवा

अधुनिक हिन्दी गद्य शैली के निर्माण में 'फोर्ट विलियम कालिज' से कहाँ तक सहायता मिली ? इस सम्बन्ध में 'गद्य के चार लेखकों' का भी परिचय दीजिए ?

उत्तर :—यद्यपि आधुनिक काल से ही गद्यकाल का आरंभ माना जाता है तथापि गद्य के चिन्ह बहुत पहले देखने को मिल जाते हैं। हिन्दी पुस्तकों की खोज करते हुए सबसे पहले राजस्थानी भाषा में लिखे पृथ्वीराज के दानपात्रों में कुछ गद्य मिलता है। इसके पश्चात् संवत १४०७ के लगभग हठयोग की कुछ पुस्तकें भी गोरखनाथ या उसके शिष्यों द्वारा लिखी गई बतलाई जाती हैं। फिर पर्याप्त समय के अनन्तर १७ वीं शताब्दी में गोस्वामी गोकुलनाथ के लिखे हुए तीन ग्रन्थ मिलते हैं (१) चौरासी वैष्णवन की वार्ता, (२) दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, (३) वनयात्रा। इनकी भाषा अव्यवस्थित और असाहित्यिक ब्रजभाषा है। तदुपरांत नाभादास का लिखा हुआ 'अष्टयाम' एवं बैकुण्ठमणि की लिखी हुई दो पुस्तकें—'वैशाख माहात्म्य' और 'अगहन माहात्म्य' नाम से मिलती हैं। इनका रचना-काल १६८० है। इसी काल में कुछ संस्कृत पुस्तकों की टीकाएं भी की गईं जिनका कोई महत्व नहीं है।

अकबर के समय गंग कवि ने सर्वप्रथम खड़ीबोली गद्य में 'चन्द छंद बरनन की महिमा' की। इसके पश्चात् रामप्रसाद निरंजनी का 'योगवासिष्ठ' खड़ीबोली गद्य का परिष्कृत नमूना कहा जा सकता है। १८१८ में दौलतराम ने 'जैन पद्मपुराण' का अनुवाद किया। सदासुख लाल और इंशाअल्ला खाँ ने क्रमशः 'सुखसागर' तथा 'रानी केतकी की कहानी' लिखकर गद्य की सर्वप्रथम शुद्ध रूप से प्रतिष्ठा की। उस समय अंग्रेजों को देशी भाषाएं सीखने के लिए कलकत्ता 'फोर्ट विलियम कालिज' की स्थापना की गई और जान गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से सदलमिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' एवं लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' लिखा। ये चारों लेखक १८६० के लगभग हुए। इनमें लल्लूलाल ने भागवत के दशमस्कन्द का अनुवाद प्रेमसागर के नाम से किया। इनकी भाषा में उर्दू शब्दों का पूर्ण बहिष्कार किया है। ब्रजभाषा की पुट तथा कथावाचकी ढंग से वाक्यों में अन्त्यानुप्रास का प्रयोग किया गया है। सदल मिश्र की भाषा इनसे भिन्न परन्तु व्यावहारिक भाषा है, यद्यपि उनकी

भाषा में भी कहीं कहीं विहारी और पूर्वी हिन्दी का संमिश्रण अवश्य देखा जा सकता है। इन्शाअल्ला खाँ ने ठेठ हिन्दी में लिखने की प्रतिज्ञा करके गंवारू (ब्रज), भाखा (संस्कृत-मिश्रित हिन्दी) तथा विदेशी (फारसी, उर्दू) भाषा से रहित रचना करने की यथासम्भव चेष्टा तो की है परन्तु मुसलमान होने के नाते उर्दू, फारसी का प्रयोग आपसे छूट नहीं सका। हाँ, सदासुखलाल की भाषा अवश्य अपेक्षाकृत परिष्कृत है। सबसे पहले लिखना भी इन्होंने आरम्भ किया है अतः वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रथम लेखक हम इनको मान सकते हैं।

ईसाइयों का धर्म-प्रचार :—हिन्दी गद्य की प्रतिष्ठा १८६० में हो जाने पर भी १९१४ तक हिन्दी गद्य का कोई साहित्यिक ग्रन्थ नहीं मिलता। इस ५५ वर्ष के समय में ईसाइयों के धर्म-प्रचार की आड़ में हिन्दी को जो प्रोत्साहन मिला, वह लाभकारी ही रहा। इन पादरी लोगों ने जनता में प्रचार करने के लिए ग्रामीण शब्दों का प्रयोग तो किया, परन्तु विदेशी शब्दों से हिन्दी को सदैव बचाये रखा, जिससे उर्दू-मिश्रित हिन्दी का विरोध आगे किया गया। इन्होंने खंडन-मंडन पर पुस्तकें लिखीं। मिर्ज़ापुर आदि कई स्थानों में अपने अड्डे बनाए, प्रेस खोले और "बाईबल" के अनुवाद छापे। १८६० के लगभग आगरे में एक 'स्कूल बुक सोसाइटी' खोली जिसने स्कूलों के लिए पाठ्य-ग्रन्थ लिखवाने की व्यवस्था की। इस तरह ईसाइयों द्वारा भाषा के गद्य लिखने में स्थिरता का लाभ अवश्य हो गया।

जब अंग्रेजों ने उर्दू को कचहरी की भाषा मानकर सर सैय्यद अहमद खाँ के प्रयत्नों से प्रभावित होकर शिक्षा का माध्यम भी, उसी को स्वीकार करने का विचार किया। उसी समय राजा शिवप्रसाद शिक्षा-इन्स्पैक्टर नियुक्त हुए और काफी कठिनता के पश्चात् उन्होंने हिन्दी को शिक्षा में स्थान दिलाया। स्वयं ही उन्होंने हिंदी-गद्य में सुन्दर पुस्तकें लिखी जैसे 'राजा भोज का सपना' और 'मानव धर्मसार' आदि। मगर आगे चलकर वह उर्दू मिश्रित हिंदी के पक्षपाती बनकर उर्दू शब्दों का अत्यंत प्रयोग करने लगे, जिसके विरोध में राजा लक्ष्मणसिंह ने 'संस्कृतमय-

हिंदी' का प्रचार किया और १६१६ में 'शकुन्तला' नाटक का अनुवाद उसी प्रौढ़ भाषा में किया।

ठीक इसी समय स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी शास्त्रार्थ करने आरंभ किए और गुजराती होने पर भी हिन्दी (आर्य) भाषा में अनेक ग्रन्थ लिखे सत्यार्थ प्रकाश आदि। आर्य-समाज की स्थापना से पंजाब, उत्तर प्रदेश आदि में, हिन्दी का जोर बढ़ गया। इनसे पहले 'राजा राम-मोहन राय' भी बंगाल में ईसाई मत का खण्डन कर रहे थे। इस धार्मिक वाद-विवाद में हिंदी गद्य का रूप खूब निखर उठा परन्तु प्रश्न था शैली का। शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की उर्दू मिश्रित तथा राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृत मिश्रित हिन्दी का विवाद जब चल ही रहा था कि बाबू हरिश्चन्द्र सचमुच 'भारतेंदु' बन कर हिन्दी साहित्य के निर्मल आकाश में उदय हुए। जिन्होंने मध्यम मार्ग अपना कर समस्त उलझन को समाप्त किया और सरल, सर्वस्वीकृत शैली पर हिन्दी गद्य का निर्माण किया। यहीं से आधुनिक काल का प्रारम्भ माना जाता है, इसके चार भाग हैं—

(१) **भारतेन्दु युग :**—जिसमें हरिश्चन्द्र और उनके साथी हुए, १६२५ से १६५० तक।

(२) **द्विवेदी युग :**—जिसमें महावीरप्रसाद द्विवेदी हुए, १६५० से १६७५ तक।

(३) **प्रसाद युग :**—जिसमें नाटककार प्रसाद, उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हुए, १६०५ से २०००।

(४) **प्रगतिवाद युग :**—आज चल रहा है।

प्रश्न (१५) :—भारतेन्दु की हिन्दी सेवाओं का उल्लेख करते हुए द्विवेदी युग की मुख्य मुख्य विशेषताओं पर भी प्रकाश डालो ?

उत्तर :—(१) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सर्वप्रथम हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने का जो दृढ़ निश्चय किया, इस कारण उन्हें 'युग पुरुष' कहना कोई अत्युक्ति न होगा।

(२) १७ वर्ष की अवस्था में जगन्नाथ पुरी की यात्रा करते समय बंगाल के उन्नत साहित्य को देखकर भारतेंदु के हृदय को हिंदी साहित्य के कोष को पूर्ण करने की प्रेरणा मिली। अपनी सम्पत्ति इसी कार्य में लगा कर उन्होंने एक आदर्श स्थापित किया। सत्रह वर्ष की अल्प आयु में उन्होंने कुल मिलाकर १७५ ग्रन्थों का सम्पादन किया।

(३) हिन्दी गद्य की अनिश्चित शैलियों में समन्वय स्थापित करके शिवप्रसाद और लक्ष्मणसिंह के विवाद का अन्त किया।

(४) पद्य के लिए खड़ीबोली को न अपना कर ब्रजभाषा को चुना और उस विकृत रूप को परिष्कृत, कोमल, सरल और लालित्यपूर्ण बनाया।

(५) भाषा निर्माण के पश्चात् भाव परिवर्तन किया। रीतिकालीन शृंगारी कवियों को भारत माता का दर्शन कराकर देश की दुर्दशा से परिचित किया तथा राष्ट्रीय कविता की नींव रखी।

(६) हिन्दी नाटकों का साहित्यिक रूप से सृजन करके एक महान् अभाव की पूर्ति की। साथ ही रंगमंच स्थापित करके स्वयं अभिनय कला का प्रदर्शन भी किया। भारतेन्दु ने नाटकों में प्राचीन और नवीन दोनों शैलियों का सुन्दर समन्वय किया।

(७) साहित्य में हास्य और व्यंग्य का प्रचार करके गद्य के सभी अंगों पर स्वयं तथा अन्य साहित्यकारों द्वारा अनेक पुस्तकें—कहानी, उपन्यास, निबंध आलोचना आदि विषयों पर लिखाईं। पं० अम्बिकादत्त, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और श्रीनिवास दास आदि विद्वानों का एक मण्डल तैयार कर दिया।

(८) पत्र पत्रिकाएं, स्कूल, क्लब आदि खोलकर भी हिंदी को उन्नत किया।

(९) भारतेंदु की दो शैलियां थीं—प्रधानतया वह भावावेश की शैली को ही अपना कर सरल शब्दों तथा छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग करते थे। कभी-कभी 'तथ्य-निरूपण' की शैली में गम्भीर विषय लेते समय उनकी भाषा भी संस्कृत गर्भित हो जाती थी।

द्विवेदी युग—

(१) भारतेन्दु युग से प्रोत्साहित होकर नवयुवक साहित्यक बड़े वेग से हिंदी क्षेत्र में आने लगे थे। उन नए नए चाव में भाषा की शिथिलता को रोकने के लिए द्विवेदी जी ने 'व्याकरण' बनाकर भाषा को नियंत्रित किया।

(२) खड़ीबोली को ही गद्य-पद्य दोनों की भाषा बनाने का सफल तथा प्रशंसनीय प्रयत्न किया। स्वयं खड़ीबोली में कविता करके तथा 'मैथिली शरण' गु। आदि अनेक महाकवियों को प्रोत्साहन देकर आप उन्हें साहित्यिक-क्षेत्र में घसीट लाए।

(३) 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन करके उसकी सहायता से आलोचना का मार्ग प्रशस्त किया। अनेक निबन्ध ग्रन्थ भी सम्पादित किए।

(४) इस युग में मौलिक नाटकों के स्थान पर अनुवादकों की परम्परा चली पारसी कम्पनियों के असाहित्यिक नाटक भी दिखाई दिए।

(५) काव्य में शृङ्गार का बहिष्कार करके 'इतिवृत्तात्मक कविता' का प्रचार किया।

(६) उपन्यासों की बाढ़ ने लोगों को हिन्दी की ओर खींचा। विशेषतया 'चन्द्रकांता' को पढ़ने के लिए लाखों मनुष्यों ने हिन्दी पढ़ी।

(७) द्विवेदो जी सरल भाषा के पक्षपाती थे। मेहमान बनकर आए हुए विदेशी शब्दों को निकालना उन्हें अनुचित लगा। कठिन विषय को सरल भाषा में साधारण रीति से समझाना उनकी विलक्षण विशेषता थी।

प्रश्न १६ :—हिन्दी नाटकों का विकास हिन्दी में कैसे हुआ; यह बताकर प्रसाद के नाटकों की विशेपताएँ बताओ ?

उत्तर :—यद्यपि भारतेन्दु के पिता को 'नहुष' नाटक और उनके अन्य नाटक मिलते अवश्य हैं। तथापि उनमें नाटकीय तत्वों के अभाव से भारतेन्दु से ही इनका आरंभ माना जाता है। सं० १९२५ में 'विद्यासुन्दर' इनका प्रथम नाटक था। १९३० में 'वैदिकी हिंसा हिंसा

न भवति' लिखा। सत्य हरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस आदि १७ नाटकों की रचना करके उन्हें साहित्यिक और रंगमंचीय दृष्टि से सफल बनाया। भरत वाक्य, प्रस्तावना आदि प्राचीन नाट्य शैली के साथ साथ गीत और दुःखांत नाटकों की सृष्टि भी की। गद्य के लिए खड़ीबोली और पद्य के लिए ब्रजभाषा का प्रयोग किया। अनेक अन्य नाटककारों को भी प्रोत्साहन दिया। श्रीनिवासदास ने 'संयोगिता-स्वयंवर' आदि चार नाटक लिखे। प्रताप नारायण मिश्र और अंबिकादत्त व्यास ने 'गोसंकट' नामक नाटक लिखे। भारतेन्दु के पश्चात् सफल रंगमंचानुकूल नाटककारों में राधाकृष्ण दास का नाम आता है। इसके लिखे 'महाराणा प्रतापसिंह' और 'महारानी पद्मावती' बहुत प्रसिद्ध हैं।

द्विवेदी युग में अनुवादों का जोर रहा। पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' ने 'उत्तररामचरित' और 'महावीरचरित' का सफल अनुवाद किया। ला० सीताराम बी० ए० ने लगभग सभी संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किए। शैक्सपियर और द्विजेंद्रलाल राय के बंगला नाटकों का भी अनुवाद इस युग में किया गया। पूर्ण का 'चन्द्रकला भानुकुमार' एक मौलिक नाटक कहा जा सकता है। उधर पारसी कंपनियों में राधेश्याम कथावाचक आदि महानुभावों के कुछ नाटक अवश्य मिलते हैं, जिनका साहित्यिक दृष्टि से मूल्य कुछ भी नहीं।

हिन्दी में मौलिक ऐतिहासिक नाटक लिखकर जयशंकर प्रसाद ने नवीन युग आरम्भ किया। (इनका पूर्ण परिचय प्रश्न २४ में) इनके अतिरिक्त गोविंदवल्लभ 'पंत' के नाटक बड़े महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। श्रीवास्तव के प्रहसनों की भी कुछ दिनों के लिए धूम मची थी। आजकल तो 'एकांकी' लिखने के भी सफल प्रयत्न हो रहे हैं। हिन्दी पश्चिम के पूर्ण प्रभाव में आ चुकी है। दुःखांत नाटक भी लिखे गए हैं। प्रसिद्ध नाटककारों में सेठ गोविंददास, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, डा० रामकुमार, उपेंद्रनाथ अश्क आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रश्न १७ :—उपन्यास कला के विकास पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल की आलोचना-विषयक हिंदी सेवाओं का वर्णन करो।

उत्तर :—(१) हिन्दी में उपन्यासों का आरम्भ आधुनिक काल से हुआ। 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी का छोटा परंतु सर्वप्रथम उपन्यास कहा जा सकता है। भारतेन्दु युग में ला० श्रीनिवासदास ने 'परीक्षागुरु' उपन्यास लिखा और अंबिकादत्त व्यास ने 'आश्चर्य वृत्तान्त'। भट्ट जी के लिखे दो छोटे छोटे उपन्यास 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान एक सुजान' बड़े ही आकर्षक थे।

(२) द्विवेदीयुग तो उपन्यासों का युग है। देवकीनंदन खत्री ने 'चन्द्रकांता' लिखकर अमर यश प्राप्त किया। गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यासों की भी काफ़ी धूम मची। इसी समय किशोरीलाल गोस्वामी ने 'अंगूठी का नगीना', 'लखनऊ की कब्र' आदि अनेक जासूसी, शृंगार और सामाजिक उपन्जास लिख कर हिंदी प्रचार में सहयोग दिया।

(३) फिर अयोध्यासिंह उपाध्याय के दो उन्यास मिलते हैं—'अध-खिला फूल' और 'ठेठ हिन्दी का ठाठ'। ये उपन्यास भावों की दृष्टि से शिथिल परन्तु भाषा की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं।

(४) उपन्यासों में मौलिकता, साहित्यिकता और समाज-सुधार की भावना से पूर्ण रचनाएं करके प्रेमचन्द ने एक नवयुग का निर्माण किया। भाषा सरल मुहावरेदार और विदेशी शब्दों से संयुक्त व्यवहारिक बन गई। राजनीति और समाज-सुधार के भावों से कुछ आदर्शवाद भी उनमें आगया। प्रेमचन्द ने प्रेमाश्रम निर्मला, गोदान, सेवासदन, रंगभूमि आदि अनेक उपन्यास लिखे। आपके साथ सुदर्शन, भगवतीचरण वर्मा, जैनेन्द्रकुमार और विश्वंभरनाथ 'कौशिक' आदि ने भी इसी ढंग से यथार्थ-आदर्श के समन्वय से कई सुन्दर उपन्यास लिखे। (प्रेमचन्द के लिये देखो प्रश्न नं० २५)।

(५) जयशंकर प्रसाद ने भी 'तितली' और 'कंकाल' दो उपन्यास लिखे, परन्तु भाषा क्लिष्ट होने के कारण वे सर्वप्रिय न बन सके। शैली के दृष्टिकोण से वे अवश्य सफल कहे जा सकते हैं।

(६) आज उपन्यास कला नवीन धारा में वह रही है। वेचन शर्मा उग्र, वृन्दावनलाल वर्मा, अज्ञेय, आदि जैसे लेखक मनोविज्ञान, क्रांति

जीवन की दार्शनिक विवेचना आदि गंभीर परन्तु मौलिक विषयों को लेकर बड़ी ही मनोहर रचनाएँ प्रस्तत कर रहे हैं।

आचार्य शुक्ल और आलोचना

(१) आलोचना का युग भारतेन्दु युग से प्रारंभ होता है। 'प्रेमघन' ने संयोगिता स्वयंवर नाटक की आलोचना दान और प्रशंसा के मौलिक सिद्धान्तों को आधार मानकर प्रस्तुत की थी।

(२) द्विवेदी जी ने भापा के आधार पर 'सरस्वती' पत्रिका में अनेक आलोचनात्मक निबंध लिखे थे। सीताराम द्वारा अनुवादित संस्कृत नाटकों की आलोचना के अतिरिक्त 'नैषध चरित्र चर्चा' और 'विक्रमांक देव-चर्चा' आदि पुस्तकें लिख कर संस्कृत कवियों से भी हिन्दी जगत को परिचित कराया। भावपक्ष की वजाय कलापक्ष पर आप अधिक ध्यान देते थे।

(३) मिश्र बन्धुओं ने 'हिन्दी नव रत्न' तथा 'मिश्र बंधु विनोद' जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखकर हिंदी साहित्य पर अतीत उपकार किया।

(४) पद्मसिंह शर्मा और ला० भगवानदास दीन ने देव को बिहारी से नीचा गिराने की धुन में क्रमशः 'बिहारी सतसई' तथा 'बिहारी और देव' नामक ग्रंथ लिखे। इन रचनाओं में पक्षपात की गंध स्पष्ट आती है।

(५) मौलिक और निष्पक्ष आलोचना का मार्ग सर्वप्रथम श्री शुक्ल जी ने ही उपस्थित किया और साहित्य के भाव तथा कला दोनों पक्षों द्वारा सूक्ष्म विवेचना करके सच्ची समालोचना का आदर्श हिन्दी क्षेत्र में रखा। उनका संकल्प था कि आलोचना साहित्य की बाधा नहीं बल्कि सहायक है। अतः साहित्यिकों को निरुत्साहित करने के स्थान पर उनकी मौलिक भावनाओं को आधार मानकर मीठी भापा में साहित्य की विवेचना करना तथा उन्हें निर्मल साहित्य लिखने को प्रोत्साहित करना ही शुक्ल जी का उद्देश्य रहा।

(६) प्राचीन पुस्तकों को रस-सिद्धान्त की चर्चा करते हुए उनका मत था कि 'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' का सिद्धांत इतना उदार है कि इस विश्व के साहित्य की परख इस कसौटी पर कर सकते हैं।

(७) उन्होंने तुलसी, सूर और विशेषतया जायसी की जो निष्पक्ष आलोचना की है तथा जायसी को अज्ञानांधकार से निकाल कर हिन्दी के तीन सर्वश्रेष्ठ कलाकारों में जो स्थान दिलाया है वह निस्संदेह न्याय-युक्त है।

(८) हिन्दी साहित्य का इतिहास उनकी एक अमर रचना है। इसके अतिरिक्त 'काव्य में रहस्यवाद' लिख कर उन्होंने छायावाद-रहस्यवाद की ऐसी स्पष्ट व्याख्या की कि तथाकथित छायावादी-रहस्यवादी कवि दुम दबा कर भाग खड़े हुए और जो वास्तव में कुछ सामर्थ्य रखते थे, वही टिक सके।

प्रश्न १८ :—हिन्दी साहित्य में प्रचलित काव्य-धाराओं का क्रमिक परिचय दीजिये।

अथवा

छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद और हालावाद पर नोट लिखो।

उत्तर :—(१) आधुनिक काल में, भारतेंदु युग में राष्ट्रीयधारा का प्रारंभ हुआ। क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होती है। इस नियम से रीतिकालीन शृंगारी कविता जब सीमा से बाहर हो गई तो उस अव्याव-हारिक कविता का विरोध भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया। भारतमाता की दीन दुर्दशा, प्राचीन की स्मृति और समाजसुधार की भावना ही इनका मुख्य लक्ष्य रहा। 'श्रीधर पाठक' ने—

'निज भाषा बोलहु, लिखहु, पढ़हु, गुनहु सब लोग'

का सन्देश दिया। प्रायः काव्य की भाषा ब्रज तथा गद्य की भाषा इस युग में खड़ीबोली रही। परन्तु राष्ट्रीयधारा के साथ साथ भारतेंदु के 'सुन्दरी तिलक' आदि रचनाओं मे पुरानी शृंगार-शैली के भी दर्शन होते हैं। 'जगन्नाथ रत्नाकर' ने भी इस दिशा में भारतेन्दु का अनुकरण किया।

(२) रीतिकाल की पूर्ण प्रतिक्रिया द्विवेदी युग में हुई। महावीर प्रसाद ने ब्रज के स्थान पर खड़ीबोली को गद्य-पद्य की भाषा बनाया और

शृंगारहीन, नीरस परन्तु समाज-सुधार, भारत गौरवगान आदि से पूर्ण 'इतिवृत्तात्मक कविता' का प्रचार किया। मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्या-सिंह उपाध्याय इसी श्रेणी के कवि हैं।

(३) नीरस व शुष्क इतिवृत्तात्मक कविता के विरोध स्वरूप 'प्रसाद युग' में छायावादी कविता का प्रचार हुआ। छायावाद वह भावना है जिसमें प्रकृति को सजीव मानकर उसमें मानवीय भावनाओं का आरोप कर दिया जाए तथा जीवन के साथ उसका एकात्म संबंध स्थापित हो जाए। प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी छायावादी महल के चार सुन्दर स्तम्भ कहे जा सकते हैं।

प्रसाद ने 'कामायनी' में तथा पंत ने तो सर्वत्र ही छायावाद का प्रतिनिधित्व किया। 'छाया' कविता में पंत छाया से कहता है—

"ओ सखी, बाँह खोल कर हम तुम गले लगा लें प्राण।
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में हो जाएं द्रुत अंतर्धान॥"

(४) छायावाद रहस्यवाद की सीढ़ी है। एक में कवि आत्मा के दर्शन करता है दूसरे में परमात्मा के। एक के लिए संसार सुन्दर होता है दूसरे के लिए असत्। संसार में परमात्मा की झलक देखकर उसकी प्राप्ति के लिए बेचैन हो जाना और अन्त में तल्लीन हो जाने का नाम "रहस्यवाद' है। इसमें तीन अवस्थाएं होती हैं।

(१) जिज्ञासा—जब कवि यह जानने की चेष्टा करे कि—
'नभ के परदे के पीछे करता है कौन इशारे ?'

(२) ज्ञान—कवि को उस अज्ञात का ज्ञान हो जाय, 'तू रूप है किरण में, तू गंध है सुमन में'।

(३) मिलन—जब आत्मा परमात्मा में भेद न रहे 'तू तू न रहा, मैं मैं न रहा'। अथवा 'तू मेरा चाँद मैं तेरी चाँदनी।'

(४) हालावाद का आरंभ बच्चन ने किया है। प्रकृति के लावण्य पर मुग्ध होकर मदिरा के प्याले तथा साकी की अदाओं पर सर्वस्व लुटाकर 'उस पार' के आमंत्रण से विमुख हो जाने का नाम 'हालावाद' है—

'इस पार प्रिये तुम हो मधु है
उस पार न जाने क्या होगा।'

यौवन, मस्ती, सौंदर्य और प्रेम के संसार में रह कर संसार की कटु आलोचनाओं से कान बंद करके बच्चन कितना स्पष्ट और कितना सत्य कह गया है—

"क्या किया मैंने नहीं जो कर चुका संसार अब तक ?
वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी ?"

प्रश्न २२ :—'निराला सचमुच निराला है' इस उक्ति को सिद्ध करते हुए उसके विद्रोही व्यक्तित्व एवं दार्शनिक रहस्यवादी भावनाओं पर प्रकाश डालो ?

उत्तर :—हिन्दी-साहित्य में निराला जी का स्थान सबसे अलग है। वह सब कवियों से निराले हैं। क्या भाव, क्या शैली, क्या भाषा और क्या छंद सभी दिशाओं में कवि 'निराला' सिद्ध हुआ है। उनकी कविता इसी निरालेपन से अति कठिन और दुर्बोध भी हो गई है। इसीलिए कुछ आलोचक इन्हें 'आधुनिक काल का केशव' समझने लगे हैं। किंतु निराला को केशव बनाने वाले निराला के साथ एवं निराला की कविता के साथ अन्याय करते प्रतीत होते हैं। कहाँ केशव की रस-हीन कविता और कहाँ निराला के उच्च रहस्यवादी भाव कहाँ आचार्य केशव का विस्तृत विचारमय थोथा आलोचना क्षेत्र और कहाँ बीहड़ जंगलों से गुजरती हुई पहाड़ी नदी जैसी निराला की गहन गंभीर कविता। कहाँ हृदय और कहाँ मस्तिष्क।

केशव ने तो अलंकारों के जाल में पड़कर और रूढ़ि पर चलने के कारण अपनी कविता को कठिन ही नहीं असुन्दर और नीरस बना डाला। इधर निराला ने स्वछंद वातावरण से प्रभावित होकर ऊँचे दार्शनिक भावनाओं से मुक्तक छंदों में कविता करने से अपने को गंभीरता एवं दुरूह कर डाला। केशव की कविता से हिंदी-साहित्य को कुछ भी लाभ नहीं हुआ, किंतु निराला ने 'स्वच्छंद कविता' का नया

मार्ग प्रदर्शित किया है। यह दोष निराला का नहीं, निराला को न समझने वाले कच्चे समालोचकों का ही है।

कवि के निरालेपन को समझने के लिए उसके महान् व्यक्तित्व, गंभीर दार्शनिक सिद्धांत, ऊँची कल्पनाएँ, गूढ़-विचार, प्रौढ़ भाषा और विचित्र शैली का ज्ञान प्राप्त करना पहले आवश्यक है। इस पर भी निराला जी छंदों के फेर में नहीं पड़े, जिसके कारण यदि सामान्य पाठकों को कुछ कठिनता का अनुभव हो भी सकी तो क्या आश्चर्य है। निराला की कविता में निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

(१) **दार्शनिकता** :—निराला ने बंगला, अंग्रेजी और संस्कृत का गहन अध्ययन किया है। स्वामी विवेकानंद और परमहंस रामकृष्ण का प्रभाव भी काफी पड़ा है जिससे वेदांत दर्शन की छाप आप के जीवन में ही नही बल्कि कविता पर भी स्पष्ट लक्षित होती है। अक्खड़ स्वभाव और संतों जैसा एकांत तपस्यामय जीवन व्यतीत करने से तथा पत्नी-पुत्री के निधन से भी निराला निर्वेदभावना की ओर झुक गए। जिसका परिणाम निकला, निराला की रहस्यवादी कविता। आत्मा और परमात्मा के सम्बंध का वर्णन प्रकृति के प्रतीकों द्वारा कितना सुंदर और स्पष्ट वर्णन किया है—

"तुम तुंग हिमालय श्रृङ्ग और मै चंचल गति सुरसरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मैं कांत कामिनी कविता॥"

दार्शनिक के लिए वैराग्य की भावना आवश्यक है। कवि भी संसार के मोह बंधन को तोड़ने की इच्छा से कह उठता है—"देख चुका जो जो आए थे चले गए।" कवि की यह उदासीनता उसे परमात्मा की ओर प्रवृत्त करती है, जिसका रूप कवि को विस्मय में डाल देता है—

'तुम हो अखिल विश्व में,
या यह अखिल विश्व है तुम में ?'

(२) **करुणा** :—चिंतन-प्रधान दार्शनिकता ने कवि को एक दम रूखा और कठोर नहीं होने दिया। उनका चिंतन और दर्शन बिल्कुल

नवीन और निराला है। मानव मात्र के साथ प्रेम, सहानुभूति और दया का पाठ निराला यहाँ से ही सीखा है। विवेकानंद के प्रभाव से इसकी दार्शनिकता निष्कर्मण्य नहीं है बल्कि करुणा से मधुर और कोमल बन गई है। संसार को पालने वाले भारतवर्ष की अन्नभण्डार से पूर्ण स्वर्ण-भूमि पर जब निराला ने एक भिक्षुक को झोली फैलाए आता देखा तो पुकार उठा—

'वह आता
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।'

इसी प्रकार 'विधवा' कविता भी निराला की करुण भावनाओं का ज्वलन्त उदाहरण कही जा सकती है।

(३) छायावादी कवियों में भी महत्वपूर्ण स्थान पाने के कारण निराला की कविता में प्रकृति के सुन्दर चित्र दिखाई पड़ते हैं। 'जुही की कली' हो या 'सांध्य सुन्दरी' प्रकृति का नवीन और निराले ढंग से वर्णन पढ़कर पाठक चकित हो जाता है।

(४) निराला वर्तमान भारत की दुर्दशा से निराश होकर स्वर्णिम अतीत काल का आह्वान करता है—

'कठिन शृंखला बजा बजा कर
गाता हूं अतीत के गाने ।।'

'शिवाजी का पत्र' एवं 'यमुना' नामक कविताएँ कवि के अतीत प्रेम को प्रकट करती हैं।

(१) विद्रोही भावना :—निराला की कविता में एक विशेष महत्व रखती है इस प्रकार यह 'जनकवि' अधिक दिखाई पड़ते हैं। संसार की विषमताओं को देखकर सहसा क्रांति के पुजारी बन निराला जी शक्ति माता को पुकारते हैं—

एक बार बस और नाच तू श्यामा !
सामान सभी तैयार,
कितने तुझ को असुर चाहिये, कितने तुझ को हार।

पीडितों और शोषितों की करुणाजनक दुरवस्था का चिन्तन करते

हुए कवि उन्हें प्रोत्साहन देता है, क्रांति के लिए उकसाता है। यह वह सहन नहीं कर सकता कि दीन हीन नर तो अशिक्षित रहें, और धनी बड़े आराम से अपनी हवेलियों में बैठा गुलछर्रे उड़ाये—नहीं कदापि नहीं—

'आज अमीरों की हवेली
किसानों की बनेगी पाठशाला।'

पूंजीपतियों को खुली चेतावनी देते हुए निराला जी आगे कहते हैं—

"भेद कुल खुल जाए वह सूरत हमारे दिल में है।
देश को मिल जाय जो पूंजी तुम्हारे मिल में है॥"

राष्ट्रीयता स्वतंत्रता संग्राम के अवसर पर भी आपने कुछ कविताएं पंडित जवाहरलाल नेहरू विषयक लिखी हैं।

(६) **कलापक्ष** :—निराला की दुर्बोधता में एक यह भी विशेष कारण है कि निराला ने परंपरागत छन्दों का प्रयोग न करके मात्रा, वर्णहीन नवीन मुक्तक छन्दों का प्रयोग किया है। ये छन्द सर्वथा निराले हैं। निराला जी का विचार है कि मुक्ति मनुष्य और कविता दोनों के लिए आवश्यक और हितकर है। छन्दों से मुक्ति दिलाने से कविता की हानि कभी नही हो सकती। बाग की बंधी प्रकृति से जंगल की विकसित और निर्बन्ध प्रकृति का सौंदर्य अधिक आकर्षक होता है। यद्यपि कुछ आलोचकों ने पहले इनको 'रबड़ छन्दों' का नाम देकर इनका उपहास उड़ाने की चेष्टा की थी, किन्तु वे अधिक देर तक निराला के महान् व्यक्तित्व के आगे टिक न सके। आज इन्हीं मुक्तक छंदों का प्रचार बढ़ रहा है।

प्रश्न २३ :—'महादेवी आधुनिक जगत की मीरा हैं' इसकी विवेचना करते हुए उसकी वेदना-पूर्ण रहस्यवादी भावना पर प्रकाश डालो?

उत्तर :—महादेवी का व्यक्तित्व संसार भर में एक मात्र विलक्षण तथा आदर्श है। ऊँचे घराने में उत्पन्न होकर, माता द्वारा भक्ति रस से भरे मीरा के गीत सुनकर, संस्कृत में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करके

वर्मा ने एकांत जीवन को ही पसन्द किया और 'प्रयाग महिला विद्यापीठ' में आचार्या के पद पर स्थिर होकर सेवा भावना द्वारा अपने हृदय को शांति पहुँचाई।

वर्मा की गणना छायावाद के चार स्तंभों में की जाती है। प्रसाद ने भावना, निराला के मुक्तक छन्द, पंत ने कोमलता और महादेवी ने अन्तर्वेदना द्वारा छायावादी साहित्य को चमत्कृत किया। वर्मा ने पद्य के साथ गद्य में अद्वितीय स्थान प्राप्त किया। आप एकमात्र हिन्दी साहित्य की रहस्यवादिनी कवयित्री भी हैं। आपकी कविता निर्दोष और निश्छल अकृत्रिम वनकुसुम के समान आह्लादक है। वेदना और करुणा की मात्रा इतनी अधिक है कि गीतों के रस के साथ २ टीस उठ कर उसे और भी मोहक बना देती है। इसी वेदना की अधिकता से और माधुर्य उपासना के कारण कुछ आलोचक आपको वर्तमान युग की 'मीरा' भी कहते हैं।

आधुनिक मीरा :—मीरा ने भक्ति काल में जिस माधुर्य भाव से पूर्ण वेदना की पदावली लिखी और गाई थी, उसी पीड़ा का प्रवाह आधुनिक युग में वर्मा की कविता में देखने को मिलता है। मीरा और महादेवी में निम्नलिखित समानताएं पाई जाती हैं—

(क) दोनों का जन्म उच्च घराने में हुआ। मीरा की भांति महादेवी का जन्म भले घराने में न हुआ हो, किन्तु सम्पन्न परिवार में वह भी निश्चित वातावरण में अवश्य पली हैं।

(ख) वेदना की मात्रा दोनों मे लक्षित होती है। मीरा अपने गिरिधर के वियोग में दीवानी हो गई है और लोकलाज भी खो डाली है। उसके इस रोग की औषधि किसी के हाथ में नहीं है—'मीरा की प्रभु पीर मिटे जब वैद्य सांवलिया होय।' इस प्रकार सांवलिया के विरह में वह दिन-रात आंसू बहाती फिरती है।

"अंसुवन जल सींचि-सींचि प्रम बेलि बोई।"

उधर महादेवी का भी अपने 'निष्ठुर प्रियतम' के बिना वही हाल हो

रहा है। वह भी दीपशिखा सी तिल-तिल जल रही है और आँसुओं के हार पिरो रही है—यहाँ तक कि—

"उस सोने के सपने को देखे कितने युग बीते।
आँखों के कोष हुए हैं आँसू बरसा कर रीते॥"

अश्रुमाला दोनों ने पिरोई है।

(ग) आत्म-समर्पण दोनों ने किया है। मीरा ने तो घर, वार, लोक-लाज, पति, धन-दौलत, राज्य सब कुछ त्याग कर और अनेक कष्टों को उठाने पर भी हृदय में उसी 'सांवलिया' को अपना पति समझ लिया है। "मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।" की रट लगाती हुई मीरा अपने देवर से स्पष्ट कह देती है कि मैंने तो—

"सांवरिया वर पाया"।

उधर महादेवी भी अपना सर्वस्व प्रियतम के चरणों में लुटा कर उसकी दासी वन चुकी है—

"शून्य मंदिर में वनूंगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी।"

(घ) दोनों ही अपने प्रिय की प्रेमिकाएं वनकर उसको रिझाने के लिये उत्सुक दिखाई पड़ती हैं। मीरा तो यहाँ तक कह देती है—

"म्हाने चाकर राखो जी,
चाकर रहसूं, वाग लगासूं, नित उठि दरसन पासूं।"

इसके अतिरिक्त 'कुसम की साढ़ी' पहन कर वह और उस वाग में एक वारी (खिड़की) रख कर वह अपने प्रिय को लुभाने का उपक्रम करती है।

इधर महादेवी भी अपने 'निर्णय' के व्यवहार से तंग हो उठती है और अपने हृदय से बार-बार यही प्रश्न करती है—

"प्रिय क्यों आता इस पार नहीं,
शशि के दर्पण में देख देख,
मैंने सुलझाए तिमिर केश,
युग युग से करती आती मैं,
हूं क्या अभिनव शृंगार नहीं?"

अन्तर—किन्तु कुछ अन्तर भी दोनों में है। पहला तो यह है कि मीरा जहाँ सगुण उपासिका है वहाँ महादेवी निर्गुण के ही रूप की प्रेयसी है। मीरा के लिए मंदिर और पूजा की आवश्यकता है, परन्तु वर्मा तो कहती है—

" क्या पूजा क्या अर्चन रे,
उस असीम का सुन्दर मंदिर मेरा लघुतम जीवन रे।"

दूसरा अन्तर है कि मीरा महादेवी जैसी शिक्षित न थी। महादेवी एक प्रशस्त और महान् कलाकारों की श्रेणी में है जिसका महा-कवित्व साहित्यिक आलोचना की कसौटी पर पूरा उतरता है। किंतु मीरा तो केवल भक्त थी, भक्ति के आवेश में उसके मुख से जो कुछ निकला वह कविता बन गई। आलोचना की अग्नि में हम मीरा की कविता को नही तपा सकते। (तीसरा) मीरा की वेदना अधिक स्पष्ट है, वह लोक-लाज को दूर करके सबको सुना कर 'सांवरिया' को वरण करने को उद्यत है, परंतु महादेवी अधिक लज्जाशील, मौन और गंभीर है। (चौथा) महादेवी एक सफल रहस्यवादिनो कवयित्री है, किंतु सगुणवादी होने के कारण मीरा की कविता में शुद्ध रहस्यवाद के दर्शन कदापि नही हो सकते, भले ही हम उसे 'रहस्योद्भाविनो' क्यों न मान लें। अंत में यह भी स्पष्ट लक्षित होता है कि मीरा अपने ध्येय को जैसे कैसे पूरा करने में सफल हो गई। मंदिरों में घुंघरू बाँध कर नृत्य भी करती रही, परंतु महादेवी को तो एक भिक्षुणी बनने की साधना भी पूरी न हो सकी।

कल्पनाकाव्य विशेषताएं—

(१) दुःखवाद—महादेवी की कविता में एक महत्वपूर्ण विशेषता है। वर्मा पीड़ा को चाहती है क्योंकि वह उसके प्रियतम की देन है।

"तुझको पीड़ा में ढूँढा तुझ में ढूँढूँगी पीड़ा॥"

जिस पीड़ा ने उसे प्रियतम तक पहुँचा दिया हो, उसे छोड़ देना भी कृतघ्नता होगी। कैसा विलक्षण किंतु अकारण तर्क उपस्थित किया गया। फिर प्रिय-मिलन में तो तृप्ति है, अवसान है, भला विरह की कामना क्यों न की जाए, जिसमें अतृप्ति है—एक अभाव है। वर्मा अभाव चाहती है, अतृप्ति चाहती है—

मेरे छोटे जीवन में देना न तृप्ति का कणभार।
रहने दो प्यासी आँखें, भरतीं आँखों के सागर॥

(१) प्रकृति-प्रेम का होना प्रत्येक छायावादी कवि के लिए तो अनिवार्य-सा है। महादेवी ने भी प्रकृति में मानवी चेतना देखकर बड़े सुंदर रूपकों का प्रयोग किया है। उनकी 'सान्ध्य-गान' कविता छायावाद का उत्कृष्ट उदाहरण है। हृदय की अन्तर्वेदना प्रकृति के रमणीय उपमानों द्वारा अत्यंत विशद रूप से व्यक्त की गई है—

"सजनी ! मैं उतनी करुण हूँ करुण जितनी रात।
सजनी मैं उतनी सजल, जितनी सजल बरसात॥"

(३) रहस्यवाद—वर्मा उस "अज्ञात" की ओर जिज्ञासा भरे शब्दों में कहती है "तव दृगों को खोलता फिर कौन ?" किन्तु झट उसे ध्यान हो जाता है कि वह अपने प्रियतम से भिन्न नहीं है। 'तुम हो विधु के विंव और मैं मुग्धा रश्मि अजान।' अन्त में विरह की रात मिलन का प्रभात बन गई। महादेवी वंदिनी होकर भी वंधनों की स्वामिनी बन गई और तव कह उठी—

"वीन भी हूँ मै तुम्हारी रागिनी भी हूँ।"

प्रश्न २४ :—प्रसाद की नाट्यकला पर प्रकाश डालो।

उत्तर :— हिन्दी-साहित्य में नाटकों का युग भारतेंदु से ही प्रारंभ होता है। उनके नाटकों में प्राचीन और नवीन शैलियों का संमिश्रण किया गया है। कोई निश्चित मार्ग स्थिर नहीं किया गया। उनके नाटकों का विषय भी समाज-सुधार या धर्म ही रहा है जिनमें हास्य और व्यंग्य की मात्रा अधिक है। उसके पश्चात् द्विवेदी युग में नाटकों की प्रगति नहीं हो पाई। कुछ अनुवाद अवश्य मिलते हैं किन्तु अधिक ज़ोर पारसी कंपनियों के असाहित्यिक नाटकों का ही रहा है। हिन्दी-साहित्य में ऊँचे स्तर के साहित्यिक नाटकों का सृजन करके प्रसाद ने नवयुग निर्माण किया। और हिन्दी के 'रवीन्द्र' माने जाने लगे।

(१) प्रसाद के समय भारत की दशा शोचनीय थी, अतः अतीत के उज्ज्वल इतिहास की ओर ही प्रसाद का ध्यान गया जहाँ से कुछ उद्बो-

धन या आश्वासन मिल सकता था। किन्तु अतीत में भी मुगल-काल को न लेकर हर्ष से पहले का समय ही प्रसाद ने चुना क्योंकि इस काल में जहाँ परस्पर संघर्षों का जोर रहा वहाँ हिन्दुओं का स्वर्ण-काल भी इसको माना गया। प्रसाद के समकालीन भारत के लिए यह समय कुछ शिक्षा-प्रद भी सिद्ध हुआ। मुगलकाल में भारत की पराजय प्रसाद की दृष्टि में खटकने वाली वस्तु थी।

(२) प्रसाद के नाटक प्रायः ऐतिहासिक हैं। किंतु इतिहास में यथा-स्थान परिवर्तन लाकर नाटकों को समयानुकूल बना देने की प्रसाद ने चेष्टा की है। 'जनमेजय के नागयज्ञ' से लेकर हर्ष के समय का पूरा विवरण सर्वप्रथम प्रसाद ने ही उपस्थित किया है। एवं 'नाग जाति' को एक मनुष्य जाति बता कर इतिहास में नवीन खोज का भी दर्शन कराया।

(३) अंतर्द्वन्द्व प्रसाद के नाटकों में विशेषतया उल्लेखनीय है। प्रसाद से पहले इसका अभाव था। प्रसाद ने द्वन्द्व के साथ र आन्तरिक संघर्ष दिखला कर नाटकों में प्राण डाल दिए हैं। संघर्ष दिखलाने के लिये प्रसाद ने नाटकों का विषय भी 'संधियुगों' से चुना है। जैसे 'चन्द्रगुप्त' में मौर्यवंश का उदय और नन्दवंश का पतन काल मिलता है।

(४) चरित्र-चित्रण प्रसाद के नाटक घटना-प्रधान न रहकर चरित्र-प्रधान बन पड़े हैं। सभी प्रकार के पात्रों का चरित्र बड़ी कुशलता और सजीवता से अंकित किया गया है। राज्य-श्री, 'विशाख', स्कन्दगुप्त, आदि का चरित्र आदर्श मानवों का चरित्र है।

(५) नारी-महिमा द्वारा प्रसाद के नाटक और भी प्रगतिशील जान पड़ते हैं। नारी को त्याग और बलिदान की मूर्ति बना कर भी उसे पुरुष की सच्ची सहधर्मिणी बनाया है।

(६) प्रसाद का महाकवित्व उनके नाटकों में भी देखने को मिलता है। उनके गद्य में भी एक तरह का संगीत सुनाई पड़ता है। उनके गीत कवित्व-कला के अच्छे नमूने हैं।

(७) प्रसाद ने रूढ़ि का विरोध करते हुए विषय शैली और नाटक विधान आदि सब दृष्टि से नाटकों को नवीन एवं मौलिक बनाने की चेष्टा की है। भारतेन्दु-कालीन प्रस्तावना भरत-वाक्य लिखने की विधि को प्रसाद ने त्याग दिया है। हां, कहीं २ लम्बे स्वगत कथन अवश्य आ गये हैं। भाषा भी कठिन है। कुछ दृश्य भी अभिनय के अनुकूल नहीं हैं। तथापि प्रसाद के नाटकों का महत्व इन दोषों से कुछ कम नहीं हुआ। यदि प्रसाद के विचार से आदर्श रंगमंच, आदर्श अभिनेता और दर्शक हों तो उनके नाटकों का अभिनय सहज में हो सकता है। 'स्कन्द गुप्त' और 'कामना' नाटकों का सफल अभिनय कई बार हो भी चुका है।

प्रश्न २५:—मुंशी प्रेमचन्द को उपन्यास-सम्राट क्यों कहा जाता है। उनकी कला की विशद विवेचना करते हुए उनके ग्रन्थों का पूर्ण परिचय दो ?

उत्तर १—प्रेमचन्द से पूर्व तीन प्रकार के उपन्यास थे। एक जासूसी उपन्यास दूसरे 'चन्द्रकान्ता' आदि तिलिस्मी अय्यारी उपन्यास एवं तीसरे शृंगारी उपन्यास। इन घटनात्मक उपन्यासों से समाज का कुछ संबंध न था। कुछ बंगला और अंग्रेजी के अनुवाद अवश्य साहित्यिक दृष्टिकोण से अच्छे कहे जा सकते हैं किन्तु वे अपनी वस्तु न होने से हिन्दी समाज में खटकने लगे थे। हिन्दी में इस कमी को पूरा करने के लिए प्रेमचन्द उर्दू से हिन्दी क्षेत्र में उतरे। इनके सामाजिक और राजनैतिक उपन्यासों ने राष्ट्र के गांवों का सच्चा प्रतिनिधित्व किया। जिसके कारण ग्रामजीवन के चित्रकार, साम्यवाद के सन्देश अनेक उपाधियों से आप याद किये जाने लगे।

(२) आपका जन्म निर्धन परिवार में हुआ था। शिक्षा प्राप्त करने में आपको आर्थिक संकट का कड़ा सामना करना पड़ा। देहाती और सादापन जीवन बिताने के कारण आपको ग्रामीण लोगों का परिचय प्राप्त हुआ। आप गोरखपुर में "डिप्टी इंस्पैक्टप आफ़ स्कूल" बन गए थे कि महात्मा गांधी जी का व्याख्यान सुनकर नौकरी ही छोड़ दी।

आप पर गांधी जी का प्रभाव अधिक रूप से पड़ा दिखाई देता है। 'रंग-भूमि', 'गोदान' आदि उपन्यासों में गांधीवाद की छाप स्पष्ट अंकित है। राजनीतिक क्षेत्र में जो कार्य गांधी जी ने किया, साहित्यिक क्षेत्र में वही काम प्रेमचन्द ने कर दिखाया ।

(३) महात्मा गाँधी ने एक बार कहा था कि 'राजनीतिक दासता ही सामाजिक पतन का कारण है, इस लिए आपने धन कमाने की अपेक्षा क्रांतिकारी साहित्य लिख कर 'स्वराज्य' 'प्राप्ति' में सहयोग देने का दृढ़ निश्चय किया और आजीवन निर्धनता के बोझ से दब कर कष्टमय जीवन बिताया । ''भारतवर्ष गांवों में बसता है' इस धारणा के अनुसार आपने भारतीय ग्रामों का अध्ययन किया और उपन्यासों में उसका वास्तविक चित्रण भी किया । आपकी लेखनी ने 'होरी' जैसे किसानों का चित्र जिस कुशलता से खींचा है उसे देखते हुए कुछ आलोचक यहां तक कह देते हैं कि 'गोदान' का होरी साक्षात् प्रेमचन्द है ।

(४) ग्रामज ीवन साथ २ नागरिक जीवन का तुलनात्मक चित्रण भी प्रेमचन्द ने बड़ा अच्छा किया है । साहूकार, सेठ, रायसाहब, मिल मालिक, दारोगा साहब, पटवारी, आदि पूंजीपतितों का नंगा चित्र आपने उपस्थित किया। 'गोदान' की मालती प्रेमचन्द की अद्भुत कल्पना का ही परिणाम है। महाजनों के ऋण-विषयक हथकंडे जहां नागरिक जीवन में मुख्य अंग समझे जाते हैं वहां प्रेमचंद ने ग्राम जीवन की अशिक्षा, विलास भावना, द्वेष, अविश्वास और बेईमानी को भी उन भोले भाले, सीधे-साधे किसानों के जीवन में दिखला कर निष्पक्ष आलोचना का कार्य पूरा किया है । आप बिलकुल यथार्थवादी बन गए हैं ।

(५) कर्मभूमि, प्रेमाश्रम, रंगभूमि आदि राजनीतिक उपन्यासों में कथा, स्थान, हिन्दु मुस्लिम एकता, अछूतोद्धार, स्त्रियों के समानाधिकार, स्वदेशी प्रेम चर्खा आदि की चर्चा करके सच्ची राष्ट्र-भक्ति का परिचय दिया है ।

(६) सामाजिक उपन्यासों में प्रेमचन्द के निर्मला, सेवासदन, गबन आदि लिए जा सकते हैं। सामाजिक उपन्यासों में अधिकतर बाल-विवाह अनमेल विवाह, विधवा विवाह आदि का ही वर्णन प्रधानतया मिलता है। निर्मला में वृद्ध विवाह पर व्यंग साहित्य की अमर निधि बन गया है। 'गबन' में आभूषण प्रियता पर करारी चोट की गई है।

(७) सामाजिक समस्याओं में प्रेमचन्द ने नारी के दो रूप अपनाये हैं—एक विधवा और दूसरी वेश्या का। इन्हीं के कारण ही भारत का गौरव नष्ट हुआ है। किन्तु प्रेमचन्द तब केवल समस्याओं को उपस्थित करना ही नहीं जानते, बल्कि उनका समाधान बतला कर आशीर्वाद स्थापित करते हैं। 'विधवा आश्रम' खोलने और वेश्या सुधार के कार्यक्रम उसके उदाहरण हैं।

(८) आपके उपन्यासों में घटना की अपेक्षा पात्र-चरित्र-चित्रण पर अधिक जोर दिया गया है। प्रेमचन्द के पात्र लेखक की कठपुतली न बनकर स्वयं चरित्र का विकास करते हैं और पाठकों के प्रेम या घृणा का पात्र बन जाते हैं।

(९) प्रेमचन्द की भाषा हिन्दुस्तानी अर्थात् सरल हिंदी है। उर्दू के प्रभाव से भाषा खूब लचकीली और मुहावरेदार बन गई है। कहीं-कहीं आलंकारिक शैली का प्रयोग भी मिलता है, जैसे—गाय मन मारे उदास बैठी थी, जैसे कोई वधू ससुराल आई हो।

(१०) आक्षेप—कुछ आलोचक प्रेमचन्द की भाषा पर आपत्ति करते हैं। प्रेमचन्द ने ग्रामीण लोगों से ग्रामीण भाषा बुलवाई है। उनके विचार में यह साहित्यिकता के विरुद्ध और हानिकारक है। परन्तु ऐसी भाषा का प्रयोग पात्रों के चरित्र-विकास में बड़ी सहायता पहुँचाता है अतः यह दोष निराधार है। उर्दू मिश्रित भाषा बोलने से एक मुसलमान पात्र का चरित्र स्वाभाविक बन जाता है।

हाँ ! एक समस्या को उपस्थित कर के जब वह अनेक कथाओं व उप-कथाओं में उलझ गए हैं तो चरित्र-चित्रण में कमी अवश्य आगई है। कहीं-कहीं लम्बे और अनावश्यक संवाद भी खटकते हैं। तथापि वह त्रुटि

उसकी महान् कला के महत्व को घटा नहीं सकती। उन्होंने जिस यथार्थ और आदर्शवाद के समन्वय से कला की साधना की है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

प्रश्न २६ :—मैथिलीशरण गुप्त आर्य-संस्कृति के कवि माने जाते हैं। इनकी रचनाओं के उदाहरण देकर उत्तर दो ?

अथवा

बाबू मैथिलीशरण गुप्त के ग्रन्थों तथा कवित्व की विशद आलोचना करो ? साथ ही यह भी बताओ कि उन्हें राष्ट्र कवि क्यों कहते हैं ?

उत्तर (१)—गुप्त जी वर्तमान समय के वैज्ञानिक युगनिर्माता और राष्ट्रकवि के रूप से हिंदी-साहित्य में विद्यमान हैं। गुप्त जी ने हिंदी को सब से अधिक साहित्य प्रदान किया है। महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रभाव से आपने खड़ी बोली को ही काव्य-भाषा बनाकर और उसके प्रतिनिधि-कवि स्वीकार किए गए। देवकीनन्दन खत्री की 'चंद्रकांता' ने यदि लाखों हिंदी पढ़ने वालों को पैदा किया तो गुप्त जी की 'भारत-भारती' से अनेक कवियों को खड़ीबोली में काव्य रचने की प्रेरणा मिली।

(२) गुप्त जी अतीत के प्रेमी हैं फिर भी राष्ट्र के प्रतिनिधि-कवि माने जाते हैं। कवि के लिए पतित भारतवर्ष की दुरदशा को देखते हुए उसमें नवजीवन संचार करने की आवश्यकता थी जिस की पूर्ति केवल अतीत भारत की उज्जवल सभ्यता ही कर सकती थी। दूसरे कवि का जन्म परम वैष्णव भक्त घराने में हुआ। तीसरे उस समय स्वामी दयानन्द सरस्वती का प्रचार पुरानी वैदिक संस्कृति को पुनर्जीवित करने में ही रहा था। इसके अतिरिक्त भारतेंदु और श्रीधर पाठक आदि पूर्वज कवियों ने भी तो प्राचीन भारत की गौरव-गाथा गाई थी—इन कारणों से मैथिलीशरण गुप्त को अतीत की ओर ही देखना पड़ा।

परन्तु गुप्त जी ने अतीत को वर्तमान की आँखों से ही देखा है और पुराने व्याख्यानों में ऐसे स्थल बरबस ढूँढ निकाले हैं जिनमें वर्तमान भारत को उद्बोधन, उत्साह और शिक्षा मिल सकती है। गांधीवाद से प्रभावित होने के कारण आप राष्ट्रप्रेमी तो थे ही; साथ में आपने,

साहित्यिक-क्षेत्र में भी उसी भावना को कार्यान्वित किया। जहाँ तहाँ हिंदू मुस्लिम एकता स्वदेशी-प्रेम मज़दूर किसान समस्या आदि की चर्चा करके वर्तमान भारत की समस्याओं का सुन्दर चित्रण किया। इसके अतिरिक्त भारत की सभी संप्रदायों और जातियों के लिए प्रतिनिधि रचनाएँ लिख कर भी समूचे राष्ट्र के कवि बन गए। सिक्खों के लिए 'गुरुकुल' और मुसलमानों के लिए 'काबा और कबेला' आदि अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें बौद्धों का अहिंसावाद, कृष्णभक्ति, रामपूजा, राजपूती आन आदि विषय सरल रूप से प्रदर्शित किए गए हैं।

(३) रामभक्ति :—गुप्त जी को रामभक्ति अपने पिता जी द्वारा मिली थी। यद्यपि इनकी पहली रचनाओं में इनकी स्थिर विचारधारा के दर्शन नहीं मिलते और कलात्मकता का अभाव भी खटकता है परंतु 'साकेत' लिखने के साथ इनमें काफी परिवर्तन देखे जा सकते हैं जिन में एक राम की अनन्य उपासना भी है। वाल्मीकि और तुलसी की तरह इन्होंने राम को व्यक्तिगत या जातीय रूप में अंकित नहीं किया, बल्कि मानवता का रक्षक और विश्व का नेता बना दिया है। गुप्त के राम स्वयं कहते हैं—

"संदेश नहीं मैं यहाँ स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया॥"

इतना होने पर भी इनका राम ईश्वर का अवतार है। और गुप्त जी किसी मूल्य पर उसे मनुष्य मानने को तैयार नहीं हैं।

(४) 'साकेत' लिखने के पश्चात् गुप्त जी द्विवेदी-कालीन इति-वृत्तात्मकता (शुष्कता) से कलात्मकता की ओर आए। भावना और कल्पना की मात्रा अधिक होकर विशाल मानवता के रूप में प्रकट हुई। इनके अतिरिक्त अपेक्षित नारी पात्रों का (उर्मिला, यशोधरा आदि का) प्रधान रूप से चित्रण करने की विशेषता भी आपके काव्य में पर्याप्त महत्त्व रखती है।

(५) गुप्त जी कला का महत्त्व कला के लिए न मानकर जीवन के

लिए मानते हैं। उनके विचार में वह कला स्वार्थिनी है जिसमें आदर्श नहीं।

'केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिये।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिये।"

(६) साकेत :—गुप्त जी की सर्वश्रेष्ठ रचना है। 'साकेत' की रचना राम-गुण-गान करने के लिए नहीं, बल्कि उर्मिला के उपेक्षित चरित्र को उज्जवलता का रंग देने के लिए की गई। वह अयोध्या में ही रही थी अतः महाकाव्य का नाम भी 'साकेत' (अयोध्या) रखा गया। इस दृष्टि से रचना पूर्ण सफल है।

(क) उर्मिला का चरित्र इसमें सबसे अधिक आकर्षक है। वैवाहिक जीवन का प्रभात-काल तभी प्रारम्भ ही हुआ था कि वियोग की संध्या ने विपत्तियों की भयानक रात्रि के आने का सन्देश सुनाया। भावना से कर्तव्य को ऊँचा मान उर्मिला चुप हो रही, उफ् तक भी न कर सकी।

"कहा उर्मिला ने हे मन!
पति-पथ का तू विघ्न न बन।"

चौदह वर्षों तक अश्रु माला पिरोती हुई उर्मिला का त्याग और बलिदान सचमुच महान् है।

(ख) कैकेयी के निन्दित चरित्र को गुप्त जी ने बड़े ही कौशल से दया का पात्र बना डाला है। भरत-मिलाप मे ही उसके मुख से जब ये वचन निकलते हैं।

"युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी।
रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी॥"

भरत का चरित्र साकेत मे और ही अधिक मनमोहक और आदर्श रूप से दिखाई देता है। भरत समस्त भीषण कांड का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हुए घृणा से पुकार उठते हैं—

एक न मैं होता तो जगकी क्या असंख्यता घट जाती,
छाती नही फटी थी मेरी तो धरती फट जाती।

सचमुच भरत भ्रातृभावना की निर्मल मूर्ति ही थे। यशोधरा महा-

काव्य गुप्त जी की दूसरी अमर कृति है। इसमें भी सिद्धार्थ (महात्मा बुद्ध) की पत्नी यशोधरा का वर्णन है जिसे प्रायः कवियों की दूरदर्शिनी दृष्टि में पर्याप्त स्थान नहीं मिल सका। 'यशोधरा' में नारी हृदय का परमोत्कृष्ट चित्रण किया गया है। मुख पृष्ठ का यह पद्य—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी
आंचल में है दूध और आँखों में पानी।

वास्तव में नारी साहित्य का अनमोल रत्न हैं। उर्मिला के समान यशोधरा ने भी पति-वियोग देखा। किन्तु इसका विरह काल असीम था, तथापि राहुल (पुत्र) के साथ वह अपना मन बहला लेती थी। यशोधरा को गुप्त ने आत्म अभिमानिनी नारी का रूप दिया है। वह कहती है-

"सिद्धि हेतु स्वामी गए यह गौरव की बात।
पर चोरी चोरी गए यही बड़ा व्याघात।'

वह वीर क्षत्राणी है और ऐसे कार्यो के लिए तो वह स्वयं पति को वन भेजने के लिए तैयार हो जाती। किन्तु काश!

"सखि वे मुझ से कहकर जाते"

गुप्त जी ने महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, गीतिनाट्य आदि अनेक रचनाएँ लिखी हैं। भाषा भावव्यंजक और सरल है। आधुनिक कविता में आपका स्थान ऐसे है जैसे माला मे प्रथम मणि का या उद्यान में प्रथम पुष्प का।

भारतीय वाङ्मय के अमर-रत्न

प्रस्तुत पुस्तक श्री जयचन्द्र जी विद्यालंकार की लिखी हुई एक खोज-पूर्ण पुस्तक है। इसमें उन्होंने भारत के प्राचीन राज्य और सीमा का दर्शन उसके प्राचीन वाङ्मयों के द्वारा कराया है। वाङ्मय का तात्पर्य है प्राचीन साहित्य ग्रन्थों से इसमें उन्होंने बतलाया है कि भारत के सभी विषयों के वाङ्मय पूर्ण और अद्वितीय हैं, साथ ही साथ अत्यन्त प्राचीन हैं—जिनके पहिले संसार के अन्य किसी भी देश ने ऐसे अमूल्य वाङ्मयों की सृष्टि न की थी ।

भारतवर्ष एक अत्यन्त प्राचीन देश है—उसकी आत्मा आज भी वैसी ही है जैसी आज के एक हजार वर्ष पूर्व थी। भाँति २ की भाषाएँ भाँति २ के शासकों और भाँति २ के मत-मतान्तरों से चाहे आज बाहरी भिन्नता दिखाई देने लग गई हो किन्तु वास्तव में इनके मूल में एक अत्यन्त प्राचीन एकता का समावेश है । संस्कृत, प्राकृत, अरबी, फारसी, तामिल, तेलगू आदि अनेक भाषाएँ एक ही स्थान से एक ही ढंग से एक दूसरी से पूर्णतया सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार जैन और बौद्ध तथा अन्यान्य धर्मों में भी मूलरूप से एकता का ही समावेश है।

भारत की सभ्यता अत्यन्त प्राचीन होने के कारण—तिब्बत, चीन, जापान, कोरिया, हिन्देशिया, तुर्किस्तान—और फारस आदि सभी इसी सभ्यता से प्रभावान्वित हुए हैं—यहाँ तक कि यह भारतवर्ष की सीमा भी हो सकती है। क्योंकि उनमें आज की भारतीय प्राचीन भाषाओं में लिखे हुए ग्रंथ उपलब्ध हो रहे हैं। इसलिए उनके मूल में कितनी एकता है ।

भारतीय वाङ्मय के अमर रत्नों में सभी विषयों का पूर्णतया समावेश—प्राचीन साहित्य में ऐसा एक भी विषय नहीं छूटा जिसके ऊपर संसार की अद्वितीय विचारधारा में कोई महत्वपूर्ण ग्रंथ न

मिलता हो। नीति, दर्शन, व्याकरण, आयुर्वेद, इतिहास, गणित, ज्योतिष तथा ललित कला से सम्बन्धित सभी विषयों के पूर्ण ग्रंथ प्राप्य हैं—हाँ इतना अवश्य है कि सभी प्राचीन वाङ्मयों को असली प्रतियाँ चाहे न मिली हों परन्तु कुछेक की असली प्रतियाँ—कुछेक के अन्य सम्बन्धित भाषाओं में अनुवाद और कुछ साहित्य का अंश ताम्र-पत्र—शिलालेख आदि से मिला है।

इन वाङ्मयों की प्राप्ति समय समय पर खोज करने से होती रही है—और श्रोति २ के ग्रंथों से उस समय की संस्कृति और सभ्यता का पता चलता रहा है। अब हम आगे 'वाङ्मय के अमर-रत्नों' के आधार पर ही उन रत्नों का संक्षिप्त परिचय दे देते हैं जिनसे पाठको (परीक्षार्थियों) को समझने में कुछ आसानी हो सके।

वेद—संसार के अत्यन्त प्राचीन वाङ्मयों में 'वेद' की गिनती है। इसकी उत्पत्ति का समय ठीक नहीं बताया जा सकता—वैदिक वाङ्मय का नाम 'त्रयी' है—क्योंकि इसमें तीन वेदों का समावेश है। यजुर्वेद, ऋग्वेद तथा सामवेद। ये तीन वेद किसी एक लेखक विशेष के भी लिखे हुए नहीं हैं परन्तु अत्यन्त प्राचीन काल में जो ऋषि जंगलों में रहते थे, उन्होंने—उनके शिष्यों और फिर उनके शिष्यों ने (इसी प्रकार अनेक शिष्यों की पीढ़ियों में होता हुआ) उसे ऋचाओं के रूप में तैयार किया था। वे तो शिष्य-परम्परा में बनते ही जाते थे परन्तु उनको विभिन्न विषयानुसार छाँटकर अभी तक किसी ने नहीं जमाया था। यह कार्य वेदव्यास जी ने किया।

इसी से वेदव्यास जी का नाम भी त्रयी है। क्योंकि उन्होंने उन ऋचाओं को तीन भागों में बाँटकर तीन वेद बनाए। यजुर्वेद में गद्य की रचनाएँ संग्रहीत कीं—तो ऋग्वेद में पद्य की और सामवेद में गीत-गायन आदि की रचनाएँ थीं।

इसके पश्चात् अथर्वा नामक एक ऋषि ने तीनों वेदों से कुछ २ सामग्री लेकर और अपनी ओर से कुछ सामग्री मिलाकर एक अथर्व वेद बना दिया। इस प्रकार वेद चार हो गए। इन वेदों में भी सभी

विषयों की सामग्री पर्याप्त रूप से प्राप्य है। यहीं से भारतीय वाङ्मयों का विकास आरम्भ होता है।

उपनिषदादि—इसके पश्चात् इतिहास का उत्तर वैदिक काल आता है। इस समय के सभी ऋषि आदि यज्ञ किया करते थे और उन यज्ञों में साम की रचनाएँ गाई जाती थीं। धीरे २ समयानुसार यज्ञ करना एक आवश्यक कर्म की गणना में आ गया और उससे सम्बंधित साहित्य 'कर्मकाण्ड' बन गया। ये कर्मकाण्ड (साम की रचनाएँ-भजन-विधि आदि) 'ब्राह्मण' ग्रंथों के नाम से प्रसिद्ध हुए। उस समय के मूल-तत्व-चिन्तक ऋषियों को यह बात बुरी लगी और उन्होंने संसार के मूल-तत्व की विवेचना करने के लिए अपना साहित्य तैयार किया। वे वनों में रहते थे—इसलिए उन्होंने 'आरण्यकों' एवं उपनिषदों का निर्माण किया। इन उपनिषदों में आर्यों के तत्व-चिंतन एवं ज्ञान का वर्णन है।

वेदांग—इसी समय जब साम आदि की रचनाएँ बहुत बार गाई जाने लगीं तो लोगों का ध्यान उन छंदों की बनावट-स्वर-ताल एवं छंद से सम्बन्धित ज्ञान की ओर गया। उनके बारे में शास्त्रादि बनने लगे। छंद:शास्त्र, वर्णमाला, व्याकरण आदि का निर्माण हुआ। व्याकरण के साथ ही साथ 'निरुक्त' नामक विज्ञान की सृष्टि हुई। इस प्रकार – शिक्षा, छंद, व्याकरण और निरुक्त नामक चार वेदांगों की सृष्टि हुई। उसी समय ज्योतिष और कल्प नामक वाङ्मयों की सृष्टि हुई—जिनको इन्हीं वेदांगों से मिलकर गिनने से कुल छः वेदांग होते हैं। कल्प में आर्यों के व्यक्तिगत एवं पारिवारिक जीवन की झाँकियाँ हैं—जिनमें श्रोत, गृह्य और धर्म आदि विषयों का समावेश था। (वास्तव में ये विषय कर्मकाण्डी ब्राह्मणों के ही तो साहित्य का अंश था—जिनका समावेश कल्प कर दिया गया।) इन वेदांगों से एक नई शैली का निर्माण हुआ। थोड़े ही शब्दों में अधिक बातों को भर देना—वेदांगों की प्रमुख शैली है। इसे सूत्र शैली कहते हैं। यह शैली बड़ी मनोरंजक है। ये वेदांग शिष्य-परम्परा में परिवर्धित और

संशोधित होते रहे—आज तक तो उनका एक निश्चित रूप भी तैयार हो पाया है। ये वदांग और उपनिषद् ब्राह्मण और आरण्यक उत्तर वैदिक काल के अमूल्य वाङ्मय हैं ।

पुराण-इतिहास—वेद्व्यास जी के पश्चात् अठारह पुराण और अठारह उपपुराण मिलते हैं। ये सब वेद्व्यास जी के बनाये गए नहीं हैं किन्तु उनके बाद में होने वाले पंडितों ने भी उसमें योग दिया है। इन पुराणों में इतिहास—शिष्य-परंपरा का विवरण और आर्यों के पारिवारिक जीवन के विवेचन के साथ ही साथ विभिन्न गल्प-कहानियाँ, गाथाएँ—आख्यायिकाएँ आदि हैं। पुराण से अभिप्राय भी पुरानी कहानियों से ही है। परन्तु इन पुराणों में विभिन्न समय में लिखी गई बातों का विवेचन होने के कारण भिन्नता बहुत पाई जाती है। इसके अतिरिक्त इनमें जादू-टोने और अन्यान्य विश्वासों का भी समावेश है। यह सामग्री अथर्ववेद में भी मिलती है।

बाद में मिलाये गये गद्य-पद्य आदि भी वेद्व्यास जी के ही मुँह से कहलाये गए हैं ताकि उनका अधिक से अधिक संख्या में समाज में आदर हो सके—परंतु इस प्रकार के ये सभी ग्रंथ प्रक्षेप से पूर्ण हैं। ऐसा मालूम होता है कि वेद्व्यास जी भविष्य की बातें कह रहे हों। क्योंकि वेद्व्यास जी के ही मुँह से ऐसी वाते कहलाई गई हैं जो भविष्य में होने वाले ऋषियों के समकालीन गाथाओं के रूप में विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त इन पुराणों एवं उपपुराणों में संसार भर की सच्ची-झूठी बातें भरी पड़ी हैं—जिस किसी के भी अपने विचारों को साधारण जनता के सामने प्रस्तुत करने की मन में आई—उसी समय उसको पुराणों में वेद्व्यास जी के नाम से जोड़ दिया। इस तरह पुराणों के साथ कुछ मज़ाक भी उड़ाया गया है। उसमें व्यर्थ के उपदेशादि और धर्म के आडंबर आदि भी भर दिए हैं। कतिपय अंग्रेज और जर्मन विद्वानों ने इन ग्रन्थों की खोज-पूर्ण आलोचना की है।

उधर रामायण और महाभारत आदि भी पुराण-इतिहास वाङ्मय के ही अंश हैं जिनकी उत्पत्ति का समय लगभग पाँचवी शताब्दी ई० से

पूर्व का ही मानते हैं। ये भी भारतीय वाङ्मय के काव्यमय अमर रत्न हैं। इस प्रकार इतिहास-पुराण में गुप्त-साम्राज्य तक के विभिन्न ऐतिहासिक स्थलों का विवरण और रामायण और महाभारत के ऐतिहासिक स्थलों का विवरण आ गया है।

संस्कृत-वाङ्मय—वेदांगों का विवेचन करते समय हमने यह बताया कि छंदःशास्त्र—वर्णशास्त्र आदि की पुस्तकें लिखी गईं—परन्तु उस समय कोई प्रधान-वाङ्मय का उदय नहीं हुआ था। पाणिनि ने संस्कृत का व्याकरण बनाया—वह वेदांगों में नहीं है। उसकी उत्पत्ति भी पाँचवीं शताब्दी–ई० पू० ही के लगभग है। इधर इसी समय बोधायन की रेखागणित की नींव भी है।

उधर ऐतिहासिक परिस्थितियों ने रुख बदला। आर्यों ने आर्थिक—राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था में अन्तर आया। वे पहले तो कुटुंब आदि बाँध के रहते थे—फिर जनपद राज्य होने लगे—और उसके बाद महाजनपद राज्य। फिर मगध-साम्राज्य का उदय हुआ। इस समय तक वे कुछ सामाजिक उन्नति में भी अधिक रुचि रखने लगे थे। भाँति २ की सभा-समितियाँ भी कायम हो चुकी थीं। इस प्रकार आर्थिक और राजनैतिक जीवन में भी सुधार हुआ। व्यवस्था को कायम रखने के लिए 'कानून' बनें—कर्तव्य बताए गए। इन सभी को मिला कर धर्मशास्त्र बना दिया गया। राजा और प्रजा के सभी धर्मों (कर्तव्यों एवं नियमों) का जिसमें उल्लेख रहता था। इसी प्रकार अर्थशास्त्र की सृष्टि हुई। इसके पहले ललितकला विषयक नाट्य-शास्त्र और कामशास्त्र की भी उत्पत्ति हो चुकी थी—जिसका विवेचन हम आगे यथासमय करेंगे।

इधर आन्वीक्षिकी नाम से वाङ्मय की उत्पत्ति हुई। इसमें आरम्भ का दर्शनशास्त्र रहता था। सांख्य, योग और लोकायत नाम से तीन ही दर्शन ग्रंथों की उत्पत्ति हुई थी—अधिक नहीं। भारतीय दार्शनिक विचारधारा का अनुपम ग्रंथ-रत्न 'गीता' (भगवद्गीता) भी लगभग ७५ ई० पू० में उत्पन्न हुआ मानते हैं। इसी प्रकार वाल्मीकि रामायण भी अनुपम ग्रंथ-रत्न सिद्ध हुआ। पाली वाङ्मय की अनुपम रचनाएँ

भी उसी समय विकसित हुईं। वैदिक वाङ्मय और संस्कृत वाङ्मय की संधि में पाणिनि की अष्टाध्यायी, भगवद्गीता तथा कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र आदि साहित्य-रत्न मिलते हैं।

भगवद्गीता के महत्व को समाख्या करना व्यर्थ है। उसके विषय में कौन नहीं जानता ? वह प्राचीन आर्यो के त्याग के आदर्शों को हमारे सम्मुख रखती है—उधर कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी व्यावहारिक ज्ञान से विज्ञ करा देता है। इस युग में अमर अमर अनेक प्रकार के रत्नों की उत्पत्ति हुई। उस समय कौशल, मगध, काशी और विदेह के अनेक छात्र तक्षशिला में विद्या अध्ययन के लिए भी जाया करते थे। आचार्य पाणिनि उसी तक्षशिला में रहते थे।

पालि-तिपिटक—तक्षशिला के उस अनन्त प्रकाश के युग में ही भगवान बुद्ध का जन्म हुआ। उनके महाभिनिष्क्रमण के पश्चात् मगध की राजधानी के राजगृह में ५०० बौद्ध भिक्षुक एकत्रित हुए और उन्होंने साम की ऋचाओं का पाठ किया। यह उन बौद्ध-भिक्षुओं की पहली संगीति थी। इस संगीति में साम-गान के साथ उनकी शिक्षाओं का भी गान किया। इसके १०० वर्ष बाद वैशाली में दूसरी संगीति अशोक के समय में हुई। उन्हीं संगीतियों के आधार पर बौद्धों का वाङ्मय तैयार हुआ। प्रथम संगीति के वाङ्मय के दो अंश हुए—विनय और धम्म। विनय में आचरण-सम्बन्धी नियम और धम्म में धर्म-विषयक उपदेश सम्मिलित हैं। ये उपदेश भगवान बुद्ध के ही दिए हुए हैं।

पहले तो ये वाङ्मय द्विपिटक के रूप में ही था परन्तु अशोक के समय में तिपिटक के रूप में आ गया। विनय-पिटक और धम्म-पिटक के अतिरिक्त सुत्त-पिटक का और आविर्भाव हुआ। इन्हीं पिटकों पर बौद्ध-दर्शन खड़ा हुआ है—इनमें संसार और माया के आवरण उलट कर ब्रह्म से साक्षात्कार कराने के विभिन्न मार्ग-दर्शन कराये गये हैं। सुत्त—सुक्त आदि सूत्र ही के रूप हैं। इनके शिलालेख भी बहुत पाये जाते हैं। तिपिटकों में बुद्ध के जीवन का भी वृत्तान्त मिलता है। इन तिपिटकों की कहानियाँ और आख्यायिकाएँ बच्चों, बूढ़ों और ज्ञानियों

आदि के लिए एक-सा ही मनोरंजन कराती हैं। इनको पढ़ने से मनोरंजन के साथ ही साथ आत्मोद्धार का भी उपाय बताया गया है। तिपिटक बौद्धों के अमर वाङ्मय हैं।

संस्कृत प्राकृत वाङ्मय का यौवन काल

भारत के इतिहास में आर्यों के पश्चात्—नंदमौर्य साम्राज्य का युग आया, वह साम्राज्य ५वीं से ३री शताब्दी पूर्व (ई०) तक रहा। मौर्य युग में जैन और बौद्ध धर्मों का बड़ा प्रचार हुआ। इसी युग में संस्कृत वाङ्मय का विकास हुआ। उत्तर वैदिक काल से चली आ रही सभी विषयों की धाराएँ अनेकमुखी होकर इस युग में बहीं—वह संस्कृत और प्राकृत का वाङ्मय बना। अब हम उसको भिन्न २ रूप से विद्यार्थियों के सम्मुख प्रगट करते हैं।

दर्शन :—उपनिषदों में तो तत्व-चिन्तनादि की प्रारभिक बातें हैं—परन्तु इस काल के दर्शनों में तत्व-चिन्तन शृंखलाबद्ध मिलता है। सांख्य और योग में संसार के विकास का विवरण है—वैशेषिक और न्याय तर्कना-शक्ति को विकसित करने वाले हैं। इनके अतिरिक्त वेदांत, मीमांसा आदि अनेक ग्रन्थों का और उदय हुआ। सांख्य के प्रवर्तक कपिल मुनि थे, ये दर्शन के पहिले विद्वान् थे। योग-दर्शन पातञ्जलि का लिखा हुआ है और उसका भाष्य है वेदव्यास का। इसमें 'दस गुणोत्तर संख्या' अंत्तर के आगे शून्य रख देने से दस गुणी संख्या हो जाने वाला सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त ३री शताब्दी ई० से पहिले नहीं था। न्यायदर्शन चरक का है—उसके भाष्यकार हैं वात्स्यायन। न्याय के सूत्रकार गौतम हैं और वैशेषिक दर्शन के कणाद मुनि।

न्याय और वैशेषिक दर्शन नागार्जुन के चलाये गए बौद्ध शून्यवाद के बाद की वस्तु मानते हैं। इनकी उत्पत्ति का समय २०० व ४०० ई० के बीच का मानते हैं।

मीमांसा के कर्त्ता जैमिनी हैं। और वेदान्त के बनाने वाले हैं व्यास बादरायण। ये दोनों ग्रन्थ भी वेदों की तरह एक ही आचार्य की कृति

नहीं परन्तु उसी तरह शिष्य-परम्परा में बनते और मंजते चले हैं। इस प्रकार षट्दर्शन (योग, न्याय, सांख्य वैशेषिक, मीमांसा और वेदांत) प्रगट होते हैं।

वेदान्त के विषय में शंकर और बादरायण के मतों में विभिन्नता है, एक ब्रह्म को सृष्टि का उपादान कारण मानता है तो दूसरा सृष्टि को ब्रह्म की काल्पनिक परिणति मानता है। इनके पश्चात् नागार्जुन, आसंग, वसुबंधु तथा धर्म-रक्षित आदि अनेक बौद्ध दार्शनिक पैदा हुए और उन्होंने अमूल्य ग्रन्थ-रत्नों की रचना की। वसुबंधु भारतीय दर्शन के अद्वितीय विद्वान् थे—उन्होंने 'त्रिंशिका' लिखा। इसके अतिरिक्त अभिधर्म कोशकारिका आदि की भी सही मूल प्रतियाँ अभी तिब्बत के मठों में मिली हैं। धर्म-कीर्ति ने न्याय वार्तिक का उत्तर अपनी प्रमाण वार्तिक से दिया। उनको वाचस्पति ने तात्पर्यटीका लिखकर उत्तर दिया। इस प्रकार दर्शन ग्रन्थों की परम्परा सी हमारे यहाँ चल पड़ी थी। और इसमें वसुबंधु का ही हाथ अधिक रहा—उन्हीं की विचारावली के अनुसार शंकर का वेदांत निकला और भारतीय दर्शन हजारों वर्षों के लिए सही रास्ता पा गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन के वाङ्मय अनेकानेक ग्रन्थों ने रूप में हमारे सम्मुख आये, और संसार ने उन सभी ग्रंथों एवं ग्रन्थकारों के सम्मुख सिर झुकाया नागार्जुन, वसुबंधु, धर्मकीर्ति, शांतरक्षित एवं शंकर आदि की दार्शनिक विचारधाराएँ संसार का कल्याण करने में समर्थ हो सकीं।

व्याकरण और कोश :—वैसे तो भाषा आदि लिखने के समय जिस शैली एवं जिन नियमों का पालन किया गया, वही व्याकरण बनी परन्तु फिर भी नियम में बाँध देने वाला ग्रन्थ पाणिनि ने ही सबसे पहिले पहल तैयार किया। जिस सुगम व्याकरण की आवश्यकता लोगों को उस समय प्रतीत हुई (उन लोगों के लिए विशेष रूप से जो प्राकृत से संस्कृत का अध्ययन करना चाहते हों) उसकी पूर्तिकेलिए यह यथेष्ट सामग्री प्रदान करती है—इसके अतिरिक्त पालिव्याकरण (पालि भाषा में) तथा तोल्क-

ण्पियम् (तामिल भाषा में) लिखे गए। पाँचवीं शताब्दी में चन्द्रगौमी ने चान्द्र-व्याकरण लिखी जो बौद्धों के साहित्य की अद्वितीय वस्तु—ठहरी। ग्यारहवीं शताब्दी में हेमचन्द्र जैन ने शब्दानुशासन नाम की एक प्रसिद्ध व्याकरण लिखी। इसी प्रकार संस्कृत का कोष-वाङ्मय भी 'अमरकोश' जैसी रचनाओं से पूर्ण एवं भरपूर है।

गणित और ज्योतिष :—सात वाहन-युग में गर्ग नाम के एक प्रसिद्ध ज्योतिषी हुए—जिन्होंने गार्गी-संहिता, एक ज्योतिष की पुस्तक लिखी। यह पुस्तक पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हो पाई है। इसके आगे सिद्धान्त-ग्रंथ लिखे गए और उनमें यूनान और रूस के सिद्धान्तों का भी समावेश किया गया। अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित एवं ज्योतिष के सिद्धान्तों की तुलना में उस समय संसार का कोई भी देश भारत का मुकाबला नहीं कर पाता था। 'दस गुणोत्तर संख्या' भारत का अत्यन्त प्राचीन एवं विख्यात सिद्धान्त है—जिसके ऊपर सब देशों की गणित खड़ी है। हमारे यहाँ की गणना-शैली भी अत्यन्त प्राचीन एवं सरल थी स। अन्य देशों की गणना-शैली के मुकाबले में बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। हमारे वाङ्मय में इस पद्धति का सबसे पहिले आविर्भाव पातंजल-योग सूत्र पर व्यास के भाष्य में दिखाई पड़ता है। अभिलेखों ताम्रपत्रों आदि में यह पद्धति छठी शताब्दी ईस्वी से मिलने लगती है। आठवीं शताब्दी में यह पद्धति अरबों ने सीखी और बारहवीं शताब्दी में यूरोप वालों ने। इसके अतिरिक्त अन्य विधियाँ भी भारत में अत्यन्त प्राचीन हैं। बारहवीं शताब्दी तक तो भारत अपनी गणित विद्या में इतना प्रौढ़ हो चुका था कि यूरोप वाले उन सिद्धान्तों को अठारहवीं शताब्दी में सीख सके।

आर्यभट प्रसिद्ध ज्योतिषी एवं गणितज्ञ हो गए। उन्होंने २३ वर्ष की अवस्था में आर्यभट्टीय लिखा। उसने सूर्य और तारों, पृथ्वी के आकर्षण आदि के सम्बन्ध में इस छोटी सी अवस्था में ही महत्वपूर्ण खोज की और पुस्तकें लिखीं। रोमक, वाशिष्ठ, पैतामह और पौलिश नामक सिद्धान्त यहाँ पहिले ही हो गये थे—जिनमें रोमक तो रोम से लिया गया

था। शेष यहीं के थे। आर्यभटीय का अरबी अनुवाद आठवीं शताब्दी में हुआ—जिससे उसकी ख्याति प्रसिद्ध हो गई।

आर्यभट के पश्चात् वराहमिहिर हुए जिन्होंने पंचसिद्धान्तिका लिखी। फिर सातवीं शताब्दी में ब्रह्म गुप्त और लल्ल ज्योतिषी हुए—उन्होंने आर्यभट के 'पृथ्वी के घूमने का सिद्धान्त' गलत बताया, परन्तु इसके पश्चात् भास्कर ने सिद्धान्त-शिरोमणि में इसको फिर सही बता दिया।

इसके पश्चात् प्रगति रुक गई—परन्तु कास फिर भी चलता रहा। अठारहवीं शताब्दी में जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह ने ज्योतिषियों को प्रोत्साहन दिया—वे स्वयं भी ज्योतिषी थे। उन्होंने 'जन्तर-मंतर' बनवाये और काशी, उज्जैन दिल्ली और जयपुर आदि स्थानों में ज्योतिष के यंत्र मंदिर बनवाये। बनवाने से पहिले यूरोप के ज्योतिषियों से भी परामर्श किया गया। इसीसे ऐसा मालूम होता है कि ज्ञान का आदान-प्रदान करने की प्रवृत्ति भारतीयों में सदा से रही है। अपनी ही वस्तु का गर्व हमें कभी भी नहीं रहा। इसी प्रकार गणित के विषय में भी हम यही बात कह सकते हैं। यद्यपि दशगुणोत्तर संख्या हमारी अपनी वस्तु है—फिर भी उसीके समक्ष दशमलव सिद्धान्त यूरोप में १५ वीं या १६ वीं शताब्दी में निकला—किन्तु उसको भी १६ वीं शताब्दी में भारतीयों ने अपना समझ कर ही अपना लिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतवर्ष में ज्योतिष और गणित के वाङ्मय भी काफी मात्राओं पाये जाते हैं।

स्मृति और नीति-ग्रंथ—धर्म-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र के बाद स्मृति और नीति-ग्रंथों का विकास हुआ—इनमें सब से पहिले शुङ्ग-युग में मनुस्मृति की रचना हुई। फिर याज्ञवल्क्य-स्मृति और महाभारत शांतिपर्व का राज-धर्म आदि। नारद-स्मृति और कामन्द-नीति भी सम्मुख आये। इसके पश्चात् मध्यकाल में नई स्मृतियाँ नहीं रची गईं परन्तु यत्र-तत्र निबंधादि लिखे गए। इस प्रकार वाङ्मय का क्रम तो १६ वीं शताब्दी तक चलता ही रहा। इनके बारे में यूरोप के आलोचकों ने इन ग्रंथों की अत्यन्त प्रशंसा की कि मनुस्मृति आदि के समान

बाइबिल भी नहीं है। इस प्रकार भारतीय स्मृति वाङ्मय ने भी संसार में एक धूम मचा दी।

वैद्यक रसायन आदि :— आरम्भ में यह जादू-टोनों, झाड़ों-झपाड़ों के रूप में ही विद्यमान था—परन्तु धीरे २ औषधियाँ आदि दी जाने लगीं। उन्हीं जादू-टोनों के कारण इसका उद्गम स्थान अथर्ववेद है। पूर्व नन्द-युग में तक्षशिला गुरुकुल में आयुर्वेद शास्त्र ने बहुत उन्नति की। इसका अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ चरक-संहिता और सुश्रुत-संहिता मिलते हैं—इसके अतिरिक्त मेत्य-संहिता और काश्यप-संहिताएँ भी प्रकाशित हुई हैं। ये संहिताएँ भी गुरु शिष्य-परम्पराओं में ही बनी और सँजो हैं। चरक को कनिष्क के समकालीन मानते हैं। कृष्ण आत्रेय और भिक्षु आत्रेय नामक दो आयुर्वेदाचार्य पहिले भी हो गए हैं।

जीवक चीर फाड़ करने का पहिले पहल काम सीखकर तक्षशिला से आया था। वह बच्चों की चिकित्सा का विशेषज्ञ (Specialist) था। इन्होंने भारत में सबसे पहले चीर फाड़ करके आंतों को निकालकर उसके निरीक्षण करने का कार्य (Experememt) किया।

सुश्रुत धन्वंतरी के शिष्य थे। धन्वंतरी को काशी का राजा मानते हैं—जिनके वंशज दिवोदास के भी वैद्यक के आचार्य होने की ख्याति है।

चीनी तुर्किस्तान के कूचा नगर के एक मठ में संस्कृत की सात पोथियाँ मिली हैं—जिनमें से तीन आयुर्वेद की ही हैं। इसके अतिरिक्त मेत्य, पराशर, काश्यप आदि वैद्यक के अन्य पुराने आचार्य हो गए हैं। पशुओं की चिकित्सा में भी ये वैद्य अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। शालिहोत्र और पालकाप्य आदि वैद्य घोड़ों और हाथियों की चिकित्सा में प्रवीण थे।

नागार्जुन ने भी रासायनिक क्रियाओं द्वारा लोहे को सोना बनाने के रहस्यपूर्ण प्रयोग किये थे। यह वही दार्शनिक नागार्जुन है। इसके

अतिरिक्त पातञ्जलि ने भी लोहशास्त्र लिखा है। ये पातञ्जलि भी व्याकरण के महाभाष्यकार ही हैं।

चरक और सुश्रुत संहिताओं के बाद वाग्भट का अष्टाङ्गहृदय आता है। यह छटी शताब्दी के अंत की कृति है। आयुर्वेद के अतिरिक्त शरीर रचना-शास्त्र (Anotomy) शरीरक्रिया-शास्त्र (Physiology) आदि अनेक विज्ञानों की सृष्टि हुई। एक बात थी पुराने वैद्य, आचार्य ज्ञान तंतुओं का सम्बन्ध हृदय से ही बतलाया करते थे—इसमें वे गलती करते थे—बाद के आचार्यों ने यह भूल सुधार ली और उनका सम्बन्ध मस्तिष्क से बतलाकर सही रास्ता बतलाया।

यों इस प्रकार आयुर्वेदादि की उन्नति चरक, सुश्रुत, नागार्जुन, पातञ्जलि और वाग्भट के बाद भी उसी गति से होती रही। वैज्ञानिक खोज का जो आरम्भ उन्होंने किया वह आशाजनक और बहुत ही उत्कृष्ट कोटि का था।

इसी से मिलता जुलता काम-शास्त्र का विषय है। जिस पर सबसे पहिले श्वेतकेतु मुनि ने लेखिनी उठाई थी। उसने विवाह-प्रथा को सुव्यवस्थित किया और 'काम-शास्त्र' के विषय में पूरी जानकारी दी। इसी प्रकार वात्स्यायन का कामसूत्र भी तीसरी शताब्दी ई० में हुआ। लोदी-शासकों के समय दिल्ली से अनंगरंग नाम का ग्रन्थ लिखा गया जो इस विषय की पूरी जानकारी देता है। इस प्रकार आयुर्वेद के साथ २ कामशास्त्र के भी वाङ्मय बहुत ही पल्लवित और पुष्पित हुए।

ललितकला :—इसमें नाट्य शास्त्र आदि की उत्पत्ति का विवरण रहता है। सातवाहन युग में भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र लिखा गया। गुफाओं आदि में चित्रकला का भी प्रादुर्भाव हो चुका था। अजन्ता आदि की गुफाओं में तथा दक्षिणी भारत के मन्दिरों में चित्र-कला साकार होकर आज भी नाच रही है। इन कलाओं की अंतिम परिणति मध्यकाल में हुई। मानसार और राजमंडन आदि इस समय के ग्रंथ उपलब्ध हैं।

काव्य-साहित्य :—पुराण इतिहास वाङ्मय के आधार पर ही हम वाल्मीकि को आदिकवि मानते हैं—उन्होंने रामचंद्र की गाथाओं का वर्णन रामायण नामक ग्रन्थ-काव्य में किया। महाभारत और रामायण को पूर्ण काव्यमय रूप तो ५०० ई० पू० ही में दे दिया था—अतः काव्य के आदिग्रन्थ ये ही हैं। इनके बाद दृश्य और श्रव्य काव्यों की धारा बह निकली। भास संस्कृत के प्रथम नाटककार हैं। परन्तु उनका समय निश्चित नहीं हो पाया है—अतः कुछ विद्वान् अश्वघोष को प्रथम नाटककार और शारिपुत्र-प्रकरण को प्रथम नाटक मानते हैं और बुद्ध-चरित प्राचीनता में तीसरे नंबर का काव्य।

शूद्रक ने मृच्छकटिक, विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस विष्णुशर्मा, ने पंचतंत्र आदि दृश्य और श्रव्य काव्यों की उत्तम रचनाएँ की। इसके पश्चात् कालिदास का युग आया और शकुन्तला और रघुवंश ने उस महाकवि की प्रतिभा को संसार के सामने उज्ज्वलतम बना दिया। भारतीय सभ्यता के प्रतीकों के रूप में ये रत्न अमर हैं। इसके पश्चात् भवभूति के समय तक संस्कृत साहित्य की वही सजीवता बनी रही। इसके अति-रिक्त प्राकृत भाषा में भी इस साहित्य की श्री वृद्धि होती रही। हाल की गाथा सप्तशती और गुणाढ्य की बृहत्कथा भी अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। परन्तु वह मूल प्राकृत भाषा में अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। हाँ संस्कृत और तामिल के अनुवाद अवश्य ही मिले हैं।

इतिहास-ग्रन्थ :—यह हम पहिले ही कह चुके हैं कि गुप्तकाल तक तो पुराणों में ही इतिहास को भर देने की परिपाटी चली—इसके पश्चात् वह प्रथा आगे न चल सकी—लोग स्वतंत्र ऐतिहासिक लेख लिखने लगे। बाण ने हर्षचरित—विल्हण ने विक्रमांक चरित और संध्याकर नंदी ने राम चरित आदि ग्रन्थ लिखे। परन्तु सबसे श्रेष्ठ कल्हण का राजतंरगिणी रहा। छोटे २ साधारण ऐतिहासिक लेखों का संग्रह प्रबन्ध-कोष, प्रबन्ध-चिन्तामणि आदि ग्रन्थों के नाम से हुआ।

अभिलेख :—पत्थरों और ताम्रपत्रों आदि पर लिखे गए लेख जो धर्म प्रचार आदि के उद्देश्य से लिखे गए थे—एक साहित्य और वाङ्मय की सृष्टि करते हैं। इन लेखों में गद्य और पद्य की अद्भुत रचनाएँ होती हैं इसीलिए इन्हें साहित्य या वाङ्मय कह सकते हैं। रुद्रदामा का गिरनार चट्टान का लेख और चन्द्रगुप्त का महरोली की लोहे की कीलों पर के लेख अच्छी संस्कृत के गद्य-पद्य की रचनाओं प्रमाण में काफी हैं। इन अभिलेखों का आरम्भ अशोक के समय से होता है। सभी अभिलेख पालि या प्राकृत भाषा में हैं। मदुरा अरखुती से उड़ीसा तक चट्टानों, मूर्तियों, स्तम्भों और सिक्कों के रूप में ४०० वर्षों के अभिलेख मिले हैं। प्राकृत उस समय की राष्ट्रभाषा थी—इसलिए सारे काम उसी भाषा में होते थे। इसके अतिरिक्त हिन्दचीन (Indochina) चीनी तुर्किस्तान और अन्यान्य आस-पास के स्थानों में भी भारतीय भाषाओं मे लिखे हुए ये अभिलेख पाये गए हैं। मध्य-काल में तो इन अभिलेखों को संख्या और भी बढ़ी। अभी भी नये २ अभिलेख रात दिन मिल रहे हैं ये अभिलेख भारतीय वाङ्मय में अमर सहयोग देते हैं।

पिछला बौद्ध वाङ्मय :—यह तीन भागों में विभक्त है एक तो पालि वाङ्मय, दूसरा सर्वास्तिवाद और महायान के ग्रंथ तीसरा वज्रयान और तंत्र वाङ्मय। अब हम इनको एक एक करके समझाते हैं।

१. तिपिटक के पश्चात् भी पालि वाङ्मय की परम्परा चालू रही। मिलिन्दपञ्हो नामक ग्रन्थ में बौद्ध शिक्षाएं दी गई हैं—इसमें यूनानी राजा मेनेन्द्र और थरेनागसेन के प्रश्नोत्तर हैं। अशोक ने बौद्धधर्म का बहुत प्रचार किया—सिंहल (लंका) की तो पत्रिम मातृभाषा ही प्राकृत हो गई। दीपवंश और महावंश नामक दो प्रसिद्ध पालि ग्रन्थ वहीं लिखे गये। इन ग्रन्थों में बुद्ध के उपदेशादि हैं।

२. पालि में बौद्धधर्म का प्रारंभिक रूप थेरनागसेन के नाम पर ही थेरवाद कहलाता है। पीछे अन्य वाद भी प्रचलित हुए। मथुरा प्रदेश में आर्य सर्वास्तिवाद प्रचलित हुआ। अशोकावदान उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ रहा। कनिष्क ने बौद्धों की चौथी संगीति की, जिसमें महाविभाषा नामक तिपिटक का एक भाष्य तैयार हुआ। वैभाषिक सम्प्रदाय से नागार्जुन ने महायान निकाला। रत्नकूट सूत्र, ललित-विस्तर (जिसमें बुद्ध का जीवन-चरित है) सद्धर्मपुण्डरीक, प्रज्ञापारमिता सूत्र, सुखावती व्यूह आदि पिछले बौद्ध वाङ्मय के अंग हैं।

३. धीरे २ महायान ही वज्रयान में परिणत हो गया। वह बौद्धों का वाममार्ग कहलाया। इनके आरंभिक आचार्यों ने संस्कृत में ही ग्रन्थ लिखे, उनमें पद्मवज्रकृत गुह्य सिद्धि और अनंगवज्रकृत प्रज्ञोपाय तिनिश्चयसिद्धि आदि दो ग्रन्थ और इन्द्रभूतकृत ज्ञानसिद्धि प्राप्त हुए हैं। इनमें चौरासी सिद्ध हुए हैं। गोरखनाथ जी भी इन्हीं सिद्धों में से एक थे। यह पंथ तिब्बत, जापान, कोरिया, पूर्वी द्वीप-समूहों में सर्वत्र फैल गया।

जैन वाङ्मय—जैन अपने धार्मिक वाङ्मय में ११ अंग, १२ पांग, ५–६ छंद ग्रंथ और ४ मूलग्रन्थ मानते हैं। श्वेताम्बर पंथी ११ पयन्ना ग्रंथों की भी इन्हीं में गणना करते हैं। निर्युक्ति और विविध मिलाकर उनके ८४ प्रमाणग्रंथ माने जाते हैं। दिगम्बरपंथी चार अनुयोग मानते हैं। जैन वाङ्मय का उदयकाल पूर्वनंद युग के आस-पास ठहरता है।

स्वयंभव ने दशवैकालिक नामक मूलग्रंथ रचा। भद्रबाहु ने भी धर्म-ग्रन्थों का भाष्य लिखा। आजकल आचारांग सूत्र, समवायांग सूत्र, भगवती, उपासकदशांक, प्रश्नव्याकरण आदि ११ ग्रंथ मिलते हैं। अशोक के पोते सम्प्रति ने जैन-धर्म के प्रचार में बहुत ही सहायता दी। इसी प्रकार खारवेल भी जैन-धर्म का उपासक था। प्रारंभिक जैन वाङ्मय प्राकृत में था जो इस अवधी भाषा का पूर्व रूप था। पिछली

रचनाएँ महाराष्ट्री प्राकृत और संस्कृत में हैं। मध्यकाल में तो जैनों के अनेक पुराण भी लिखे गए।

तमिल वाङ्मय :—यह भाषा दक्षिणी भारत की है। द्रविड़ों की भाषा का आर्यों ने जो परिमार्जन किया उसी को तमिल कहते हैं। उसका अलग व्याकरण बना। अगस्त्य मुनि ने उसका व्याकरण बनाया। इसके पश्चात् मामूलनार, परणर, तिरुवल्लुवर आदि साहित्यिकों का जन्म हुआ। तमिल व्याकरण तोलूप्पियम् और बृहत्कथा का अनुवाद आया। मणि मेखलै, शीलप्पतिकारम् आदि अमर काव्य उसी युग की उपज हैं। तिरुपल्लुवर का 'कुरल' तो अमर काव्य है जो संसार-प्रसिद्ध रचना है। ये सब रत्न संघम् युग में उत्पन्न हुए हैं। मध्य काल में इनमें दो धाराएँ उठीं। एक तो वैष्णव भक्तों की और दूसरी शैव भक्तों की। इन्होंने ने भी अपने २ दृष्टिकोण से प्रचारार्थ विभिन्न ग्रन्थ लिखे लिखाए। इस प्रकार तमिल भाषा का वाङ्मय भी एक महत्वपूर्ण वस्तु है।

सिंहली वाङ्मय :—सिंहल में भारतीय भाषा का प्रचार बौद्ध-धर्म के द्वारा हो चुका था—यह बात हम पहिले ही बतला चुके हैं। अशोक का भाई या बेटा महेन्द्र और उसकी बहिन संघमित्रा सिंहल (लंका) में बौद्ध-धर्म का संदेश पहिले पहल ले गए थे। महेन्द्र ने पालि धम-ग्रंथों का सिंहली भाषा में अनुवाद किया। रेवत के कहने से बुद्धघोष सिंहल गया था और उन्हीं अठ्ठकथाओं का सिंहली से फिर पालि अनुवाद कराया। इसमें धम्मपाल ने भी सहयोग दिया। इस प्रकार भारतीय भाषा से सम्बधित सिंहल का वाङ्मय भी अपना महत्व रखता है।

बृहत्तर भारत का वाङ्मय :—१ तुखारी, खोतनदेशी, सुग्धी और प्राचीन तुर्की वाङ्मय—

वर्तमान सिम-वियांग (चीनी तुर्किस्तान) में ईसा से ८०० वर्ष पूर्व शक, तुखार, आदि अनेक जातियाँ रहती थीं जो वास्तव में आर्य थीं

तारीम नदी के उत्तर-प्रदेश को जब तुर्कों ने जीत लिया तो उसको भाषा का नाम तुखारी रख दिया। इसी प्रकार तारीम नदी के दक्षिण प्रदेश की भाषा के भी बहुत से नाम हैं परन्तु वह खोतन प्रदेश होने से खोतन देशी नाम ही अधिक उपयुक्त है। ये तुखारी और खोतनदेशी दोनों ही आर्य भाषाएँ थी। इन भाषाओं का वाङ्मय विषयों और शैली आदि की दृष्टि से शुद्ध भारतीय ही सिद्ध होते हैं। यहाँ तक कि इनके शब्द भी संस्कृत के शब्दों से मिलते हैं। धर्म-ग्रन्थों के अतिरिक्त ज्योतिष वैद्यक आदि अन्यान्य विषयों पर भी उनके ग्रन्थ हैं। तुखारी के छंद सब संस्कृत के ही तो हैं। पर उनके नाम अवश्य नये हैं—मदन भारत, स्त्री विलाप आदि।

पूर्वी ईरान की भाषा सुग्घी है। भारतीय ग्रन्थों के अनुवाद भी इन भाषाओं में हुए हैं। सुग्घी भाषा का आत्मा शुद्ध भारतीय है। इसी तरह पाँचवी शताब्दी में उत्तरी-पूर्वी एशिया से आए हुए हूण कुछ संख्या में तुर्क कहलाए। उन्ही से मध्य एशिया तुर्किस्तान बना। उन स्थानों की खोज करने से संस्कृत रचनाएँ तुर्की अनुवाद सहित पाई गई हैं। इस प्रकार से अन्य भाषाओं से जो आजकल भारतीय नही मानी जाती हैं—संस्कृत आदि का कितना सम्बन्ध है। यह हमें उन साहित्य रत्नों को देखने से पता चल जाता है।

तिब्बती-वाङ्मय—तिब्बत में भी बौद्ध धर्म का प्रचार होने के कारण उसके वाङ्मय में कंज्यूर और तंज्यूर दो मुख्य अंश हैं। कंज्यूर में तो अपने महायान और वज्रयान के ग्रन्थों का अनुवाद है और तंज्यूर में उन अनुवादकों के वृत्तान्त और व्याख्या। उस वाङ्मय में ऐतिहासिक ग्रन्थ भी मिलते हैं। गोश्रृंग-व्याकरण आदि मुख्य ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार मंगोलिया में भी बौद्ध धर्म की जड़ जमी और वहाँ भी कई ग्रन्थ लिखे गए। वहाँ की भाषा भारतीय भाषा के समान ही सी थी।

चीनी-वाङ्मय—चीनी वाङ्मय में भी बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण ही कुछ अंश में भारतीयता विद्यमान है। चीन से भारत के बहुत

पुराने सम्बन्ध हैं। चीनी यात्रियों के भारत में आने के कारण कई वाङ्मय तैयार हुए जिनमें भारतीय विचारधारा ही प्रतिपादित है। चीन से जापान, कोरिया आदि स्थानों पर भी हमारी संस्कृति के ये प्रतीक पहुँचे। कोरिया की अपनी वर्णमाला भी अब तक भारतीय ही है।

फारसी और अरबी-वाङ्मय—फारसी और अरबी वाङ्मयों पर भी प्रभाव भारत का ही पड़ा। प्राचीन ईरान के पूर्वी भाग की भाषा सुग्घी थी। उसका वाङ्मय संस्कृत से अनूदित ही था। यह बात गुप्त-युग की है। १४४ ई० में लोकोत्तम नाम का एक बौद्ध भिक्षुक चीन में पहुँचा–वह ईरान का रहने वाला था। उसी के प्रयत्नों द्वारा ईरान में संस्कृत के ग्रन्थ अनूदित हुए। पंचतंत्र का भी फ़ारसी अनुवाद हुआ और फारसी से अरबी। इसी प्रकार चरक-संहिता का भी फारसी और अरबी अनुवाद हुआ। वैद्यक, ज्योतिष, नीति, काव्य, इतिहास सभी विषयों के अरबी अनुवाद हुए। वहां के खलीफा हिन्दु विद्वानों को बगदाद बुलाते थे और उनका सम्मान करते थे। उनसे कई ग्रन्थों के संस्कृत से अरबी अनुवाद कराये। इस प्रकार के ग्रंथों में अलबुरूनी का ग्रन्थ भी बहुत प्रसिद्ध है।

हिन्द द्वीपों के वाङ्मय—जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों का नाम पहिले स्वर्णद्वीप था–इनमें भी भारतीय दर्शन और नीति तथा इतिहास की विचारावली घर कर गई थी। वहाँ की स्थानीय भाषाएँ आर्यभाषाओं में बदल दी गईं और उनके वाङ्मय सर्वथा भारतीय ढंग के ही लिखे गए। सारे ही वाङ्मय भारतीय आदर्शों से ही अनुप्राणित हैं। अर्जुन-विवाह, विराट् पर्व, स्मरदहन, भारत-युद्ध आदि तथा इतिहास ग्रन्थ नागर कृतागम् आदि अमर रत्न हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय वाङ्मय कितना व्यापक कितना विस्तृत और महत्वपूर्ण है। भारत के आस-पास वाले सभी देशों में उनका प्रभाव पड़े बिना न रह सका। अब हम आगे इन ग्रन्थों एवं लेखकों के मुख्य २ विवेचन एक तालिका में देते हैं।

अमर रत्नों की तालिका

ग्रन्थ	ग्रन्थकर्त्ता	समय	स्थान
वेद	गुरु-शिष्य परम्परा में—	अनादि	भारतवर्ष
ब्राह्मण	,,	लगभग १७ वीं	
आरण्यक	,,	शताब्दी (ई० पू०)	,,
उपनिषद्	,,		
पुराण—	वेदव्यास तथा अन्य ऋषि।	५ वीं शताब्दी (ई० पू०)	,,
आन्वीक्षिका—	....	२ री शताब्दी (ई० पू०)	–
अर्थशास्त्र	कौटिल्य	—	,,
सांख्य	कपिल—	महाभारत युद्ध	
योग	पातञ्जलि—वेदव्या	के पश्चात्	,,
न्याय	—वात्स्यायन		
वैशेषिक	कणाद—प्रशस्तपाद		
वेदान्त—	शंकर	,,	,,
व्याकरण	पाणिनि	–	,,
गार्गी-संहिता (ज्योतिष)	गर्ग मुनि	सातवाहन युग	,,
आर्यभटीय	आर्यभट	४९९ ई०	,,
मनुस्मृति	मनु	पूर्व नंद युग	,,
याज्ञवल्क्य स्मृति	याज्ञवल्क्य	,,	,,
चरक-संहिता	चरक	,,	,,
सुश्रुत-संहिता	सुश्रुत	,,	,,
वाल्मीकि रामायण	वाल्मीकि	५०० (ई० पू०)	,,
मिलिन्द पञ्हो	मेनेन्द और नागसेन	२ शताब्दी (ई० पू०)	–
गह्य सिद्धि	पद्मवज्र	—	–
दश वैकालिक	स्वयम्भव	नव नंदयुग	–
कुरल	तिरुवल्लुवर	संघम् युग	द० भारत
अट्ठ कथाएँ	महेन्द्र आदि के प्रयत्न से	५ वीं शताब्दी ई०	सिंहल
गोशृंग-व्याकरण	–	१६वीं शताब्दी ई०	खोतन प्रदेश
ब्रह्म सिद्धान्त और खण्ड खाद्यक		७५३-७४ ई०	अरब-फारस
अर्जुन विवाहादि	– –	१२ वीं शताब्दी	पूर्वी द्वीप-समूह

मुख्य २ प्रश्नों की तालिका

१. भारतीय वाङ्मयों की विशेषताएँ बतलाते हुए संसार के प्राचीन वाङ्मयों में उनका स्थान निर्धारित कीजिए।

२. संसार का प्रत्येक भाग भारत के ही प्रकाश से आलोकित रहा है–भारत ने सभी को कुछ-न-कुछ दिया है। इस कथन का विवेचन करते हुए उसकी देन का स्पष्टीकरण कीजिए।

३. प्राचीन काल में भारत, इतिहास, गणित, वैद्यक और दर्शनादि के जिन सिद्धान्तों पर जिस श्रेणी तक पहुँच गया था, पाश्चात्य देश वाले उसे आज भी नहीं पा सके है।' विवेचन कीजिए।

४. सिद्ध कीजिए कि अरबी फारसी, तुखारी, खोतन देश, तिब्बती और सिंहली तथा तमिल भाषाएँ एक ही आर्य भाषा और आर्य-संस्कृति से अनुप्राणित हुई हैं। उनके वाङ्मय भारतीय ही हैं।

५. वेद, स्मृति, ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषदों का विवेचन करते हुए–पुराणों का विवरण देते हुए--उस समय की आर्य व्यवस्था का दिग्दर्शन कराइये और बतलाइये कि उन वाङ्मयों में उनके दैनिक जीवन की झांकी कहाँ तक मिलती है।

६. जैन और बौद्ध वाङ्मयों का विवेचन करते हुए उनके त्याग और धर्म प्रचार पर एक निबन्ध लिखिए।

७. सिद्ध कीजिए कि दो-हजार वर्ष पूर्व का भारत भी आज के भारत से किसी भी दशा में कम न था।

८. संस्कृत, पालि और तमिल के मूल की एकता बतलाते हुए उनके वाङ्मयों पर प्रकाश डालिए।

९. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये–
वेदांग, आन्वीक्षिका, पालितिपिटक, संगिति, षट्दर्शन, दशगुणोत्तर संख्या, स्मृति, संहिताएँ, पातञ्जलि, ललितकला, अभिलेख, प्राकृत-भाषा, वज्रयान और महायान, अंगोपांग, कुरल हूण और शक, खोतन देशी, तुखारी, कंज्यूर---तंज्यूर, अलबरूनी लोकायत, जनपद युग, ऋचाएँ, धर्मशास्त्र आदि।

हिन्दी भाषा और लिपि

संसार की समस्त भाषाओं का उद्‌गम एक ही विशेष भाषा से बताया जाता है परन्तु अभी तक यह निर्णय नहीं हो सका है कि वह कौन सी भाषा थी जिससे संसार की अनेक भाषाएँ निकलीं। इन भाषाओं को कुलों में विभाजित किया गया है। समस्त भाषाओं के श्री धीरेन्द्र वर्मा ने १२ कुल माने हैं। जिनका विवेचन हम करते हैं। भारत-युरोपीय कुल सब से प्रमुख और विशेष है। इस कुल की सभी आर्य भाषाएँ–अफगानिस्तान, ईरान और समस्त योरुप में बोली जाने वाली भाषाओं का समावेश है। संस्कृत, प्राकृत, पालि, ग्रीक, लैटिन, अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, हिन्दी और हिन्दुस्तान की समस्त प्रान्तीय भाषाएँ इसमें सम्मिलित हैं। यह कुल सबसे बड़ा और प्राचीन है। प्राचीन अरबी और प्राचीन हिब्रू भाषाएँ सेमिटिक कुल से सम्बन्धित हैं। उत्तरी अफ्रीका में हेमिटिक कुल की भाषाएँ बोली जाती हैं। तिब्बती चीनी कुल की भाषाएँ चीन, जापान, तिब्बत वर्मा, स्याम आदि प्रदेशों में बोली जाती हैं। इसी प्रकार मंगोलिया, मंचूरिया, साइबेरिया, तुर्की और तातारी भाषाएँ यूरल अलटाइक कुल से सम्बन्धित हैं।

तामिल, तेलगू, मलयालम और कन्नड जो दक्षिणी भारत की भाषाएँ हैं या थीं वे सब द्राविड़ कुल से सम्बन्धित हैं। मैलेपालीनेशियन कुल में पूर्वी द्वीप-समूह-मेडागास्कर-न्यूजीलैण्ड आदि की भाषाएँ हैं। बंटुकुल में दक्षिणी अफ्रीका की भाषाएँ हैं। हेमिटिक और बंटु कुल के बीच में मध्य अफ्रीका कुल की भाषाएँ बोली जाती हैं। अमेरिका की भाषाओं का कुल भिन्न ही है। इनमें बहुत सी तरह की बोलियों का समावेश है। आस्ट्रेलिया तथा प्रशान्त महासागर की भाषाओं के कुल में आस्ट्रेलिया और टस्मानियाँ आदि की भाषाएँ आती हैं। प्रशान्त महासागर के द्वीपों

में भी यही भाषाएँ (इन्हीं से सम्बन्धित) बोली जाती हैं। शेष भाषाओं में विभक्तिकरण करना कठिन है। कई देशों की ऐसी भाषाएँ हैं जिनको किसी भी कुल में रक्खा नहीं जा सकता इसलिए वे सब विविध भाषाओं के कुल में गिनी जा सकती हैं।

ये नाम लेखक महोदय (धीरेन्द्र वर्मा) उनसे सम्बन्धित प्रांतों या निवासियों के आधार पर दिये हैं जिससे उन्हें याद रखने में कोई कठिनाई न आवे। अब हम भारत-यूरोपीय कुल की भाषाओं पर दृष्टि-पात करते हैं जिनसे हमारा विशेष सम्बन्ध है। इस कुल की भाषाओं के बारे में पहिले बताया जा चुका है। इस कुल में भाषाओं के आठ उपकुल निकलते हैं।—

आर्य भारत ईरानी—मे आय और ईरानी भाषाओं का ही समावेश है। दरद या पैशाची भाषाएँ भी इसी उपकुल में गिनी जाती हैं आरमेनियम—में यूरोप और एशिया के बीच की भाषाओ का समन्वय है। बाल्टी-स्लेवोनिक – रूस, स्लोवेन, पोलेण्ड, आदि की भाषाएं इस उपकुल के अन्तर्गत आती है। अलबेनियन में आरमेनियन के निकट की भाषाएँ आती हैं। ग्रीक पश्चिम की प्रसिद्ध भाषा है। यूनान में यही भाषा है। होमर, सुकरात और अरस्तु के प्रसिद्ध ग्रंथ इसो भाषा में हैं। इटैलिक उपकुल में इटली, फ्रांस, स्पेन, रूमानियां, पुर्तगाल आदि की आधुनिक भाषाएं निकली हैं। केल्टिक के दो रूप क्रमशः आयलैंड और ग्रेट-ब्रिटेन में मिलते हैं। जर्मनिक उपकुल में स्वीडेन, नार्वे, डेन-मार्क, आइसलैंट आदि प्रदेशों की भाषाओं का समावेश है। इस प्रकार भारत यूरोपीय कुल के आठ उपकुल निकलते हैं।

अब हमें फिर आर्य भारत ईरानी उपकुल में से आर्य भाषा छांटनी चाहिए। ईरानी, आर्यभाषा और दरद नाम से इसकी तीन शाखाएं हैं।

ईरानी— की एक शाखा का रूप ऋग्वेद से मिलता जुलता है।

माध्यमिक ईरानी ने काफी उन्नति की और नई ईरानी से तो ताजीकी पश्तो और वलूची आदि अनेक भाषाएं निकली हैं।

दरद—यह मध्य एशिया की भाषाओं की एक शाखा है। आर्य जब मध्य एशिया से होते हुए भारत में आये तब सम्पूर्ण ही भारत में न आ सकें। कुछ पर्वतों आदि के उत्तरी प्रदेशों में भी रह गए थे—वहीं असंस्कृत भाषा दरद या पिशाची हैं। इनमें साहित्य नहीं मिलता।

आर्य भाषा—आर्य भाषा भी तीन भागों में विभक्त की जाती है। प्राचीन आर्य भाषा, मध्यकालीन आर्यभाषा और आधुनिक आर्य भापा। प्राचीन आर्यभाषा में तो ऋग्वेद के प्राचीन अंश हैं। मध्यकालीन भापा में पालि, साहित्यिक प्राकृत, अशोक की धर्मलिपियों की भाषा और अपभ्रंश भाषाएं गिनी जाती हैं। आधुनिक आर्यभाषाओं में हिन्दी, वंगला, गुजराती, मठारी आदि प्रांतीय भाषाएं हैं।

हिन्दी का स्थान देखिये—

भारत-यूरोपीय कुल

१ | २ | ३ | आर्य वा भारत ईरानी - उपकुल | ७ | ८

ईरानी | आर्यभाषा | दरद

प्राचीन आर्यभाषा | मध्यकालीन आर्यभाषा | आधुनिक आर्यभाषा

हिन्दी, गुजराती, बंगाली, मराठी आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी कितनी अनेक सीढ़ियों से होती हुई हमारे सामने आई है। भारत यूरोपीय कुल आठ भागों में विभक्त हुआ। उनमें भी आर्य भारत ईरानी उपकुल तीन भागों में फिर स्वयं आर्यभाषा भी तीन श्रेणियों में और आधुनिक आर्य भाषाओं में हिन्दी प्रकट हुई—अपने भाई बहनों के साथ।

आर्यों का मूल स्थान और भारत प्रवेश

आर्य लोग भारत के ही रहने वाले थे या मध्य एशिया या ईरान आदि देशों से आये—इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ तो आर्यों की उत्पत्ति भारत में मानते हैं और कुछ तिब्बत में—कहते हैं वहीं से मानव जाति की उत्पत्ति और विकास आरंभ होते हैं। आर्य लोग मध्य एशिया से आये थे, ऐसा अनुमान तो वहाँ के वाङ्मय और उस समय के शिलालेखों आदि से प्रगट होता है। वहाँ की भाषा भी आर्यभाषाओं से ही सम्बन्धित है। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि आर्य जाति मध्य एशिया से आई। किन्तु अभी तक कोई निर्णय पर नहीं पहुँच पाया है।

आर्य एक बार ही आये या दो बार? किस रास्ते से आये? इनके बारे में भी विभिन्न मत हैं। परन्तु भाषा की विभिन्नता आदि से यही अनुमान सत्य के अधिक निकट है कि आर्य दो बार होकर भारत में आए। एक दल पहिले आया और एक दल उसके बहुत वर्षों बाद में। ये हिंदू कुश की घाटियों में से होकर आये और काबुल आदि स्थानों से होते हुए भी। इस प्रकार किसी न किसी तरह इस निश्चय पर पहुँचना ही पड़ता है कि आर्य मध्य एशिया, ईरान आदि स्थानों से दो बार हिंदू-कुश आदि की घाटियों में से होते हुए भारतवर्ष में आए।

प्राचीन आर्यो और नवीन आर्यों की भाषाएँ एवं रहन-सहन आदि में भी कुछ वर्षों तक अन्तर रहा होगा और उसके पश्चात् किस तरह उनका समन्वय हुआ सो जानना कठिन है। अब हम आगे उन आर्यों की भाषाओं के तीनों कालों का वर्णन करते हैं जिनके बारे में पहिले भी बतला दिया गया है—जिससे यह मालूम हो सके कि हिंदी किस प्रकार किन २ रूपों में बदलती हुई हमारे सामने आर्यभाषाओं से निकली। आधुनिक आर्यभाषा काल के पहिले यह भी आवश्यक हो जाता है कि हम प्राचीन आर्यभाषा काल और मध्यकालीन आर्यभाषा काल का भी साथ ही साथ दिग्दर्शन करा दें।

१. प्राचीन आर्यभाषा-काल :—वैसे तो इस काल का सन्-संवतों में पूरा अन्दाज नहीं लगाया जा सकता है परन्तु यह काल १५०० (ई०पू०) से ५०० ई० पू० तक लगभग एक हजार वर्षों तक रहा। इस काल की मुख्य उपज जो उस समय की भाषा का नमूना बताती हो एक ऋग्वेद है। इसके अतिरिक्त कोई ऐसी ग्रन्थ-रचना नहीं जो उस काल की विशेषता को हमारे सामने रख दे। परन्तु इससे भी उस समय की भाषा का बहुत पता चलता है। इनमें शुद्ध साहित्यिक भाषा व्यवहृत हुई है। इसका रचना-काल ईसा से १००० वर्ष पूर्व से भी अधिक माना जाता है। उस भाषा के कुछ नमूने ब्राह्मण ग्रन्थों और सूत्र-ग्रन्थों में भी मिलते हैं। आर्यों की यही साहित्यिक भाषा संस्कृत के नाम से प्रसिद्ध हुई। (साहित्यिक इसलिये कहा गया है कि उस समय भी उनकी बोल-चाल की भाषा दूसरी ही थी) पाणिनि जैसे वैयाकरणों ने नये २ नियमों द्वारा बाद में ऐसा कस दिया कि उसका विकास (परिवर्तन) रुक गया। परन्तु यह सब हुआ बाद में ही—उस समय की विशेषता को जानने के लिये तो केवल ऋग्वेद के अतिरिक्त कोई भी दूसरा ग्रन्थ नही मिलता है। इसलिये हम उसी के आधार पर कह सकते हैं कि प्राचीन आर्य-भाषा काल का साहित्यिक रूप संस्कृत में परिष्कृत हुआ और उसकी बोलचाल की भाषा दूसरी ही बनी रही।

२. मध्यकालीन आर्य-भाषा काल :—इसके काल का भी अनुमान ५०० ई० पूर्व से १००० ईस्वी तक लगाते हैं। इस समय तक आर्यों की बोली भी दो शाखाएँ बना चुकी थी। पूर्व प्रदेश में तो पहिले आए हुए आर्यों की बोली और पश्चिमी भाग में नवागत आर्यों की बोलियों की प्रधानता रही। इसी नवागत आर्यों की बोली का साहित्यिक रूप आर्य ग्रन्थ ऋग्वेद में मिलता है। इसके अतिरिक्त मध्यकालीन आर्यभाषाएँ भी दो-तीन रूपों में सम्मुख आईं—जिनका विवेचन हम आगे करते हैं।

पाली तथा अशोक की धर्म लिपियाँ :—इस समय में बोलियों

की विभिन्नता स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ने लगती है। अशोक के शिला-लेखों एवं स्तम्भों आदि से पता चलता है कि उस समय की भाषा में भी विभिन्नता थी—पूर्वी, पश्चिमी आदि अनेक रूपों में भाषा बँटी हुई थी—इस काल की साहित्यिक भाषा पाली थी जो शौरसेनी के प्राचीन रूपों के आधार पर खड़ी हुई थी।

साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ :—उन्हीं धर्मलिपियों की भाषाएँ प्राकृत नाम से प्रसिद्ध हो गईं और संस्कृत के साथ साथ प्राकृत का भी व्यवहार होने लगा। धार्मिक पुस्तकें और काव्यादि भी लिखे गए। उस प्राकृत के भी दो रूप हुए—पश्चिमी भाग का शौरसेनी प्राकृत और पूर्वी भाग में मागधी प्राकृत प्रसिद्ध हुई। बीच के भाग की अर्धमागधी कहलाती थी। महाराष्ट्र की ओर इसका नाम महाराष्ट्री प्राकृत पड़ा।

अपभ्रंश भाषाएँ :—व्याकरण शुद्ध प्राकृत के अतिरिक्त जो बोलचाल की प्राकृत थी उसे साहित्यिकों ने अपभ्रंश कहा अर्थात् बिगड़ी हुई भाषा। कुछ इसको 'विकसित भाषा' भी कहने लगे। साहित्यिक प्राकृत के मर जाने के पश्चात अपभ्रंश भी काव्य की भाषा हो गई। इसने भी ख्याति प्राप्त की। प्रत्येक प्राकृत की एक अपभ्रंश थी। शौरसेनी अपभ्रंश, मागधी अपभ्रंश और महाराष्ट्री अपभ्रंश उन्हीं प्राकृतों के आधार पर निकले—परन्तु साहित्यिकों ने उन्हें दूसरे ही नाम दिए। उनकी दृष्टि में तीन ही अपभ्रंश साहित्यिक रूप के अन्तर्गत आते हैं—नागर, व्राचड और उपनागर। इसमें भी नागर अपभ्रंश मुख्य थी। यह गुजरात के ब्राह्मणों (नागरों) के नाम से ही प्रख्यात हुई। इसी के आधार पर नागरी (हिन्दी) की उत्पत्ति हुई। नागर, शौरसेनी अपभ्रंश का ही दूसरा नाम था। इसी प्रकार व्राचड़ और उपनागर भी अपभ्रंशों से ही निकलीं।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाकाल :—यह तो प्रगट हो ही गया कि आधुनिक आर्यभाषाओं की उत्पत्ति प्राकृत से न होकर उनके अपभ्रंशों (नागर आदि) से हुई थी। शौरसेनी अपभ्रंश (नागर) से

नागरी अर्थात् हिन्दी, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती आदि भाषाएँ निकलीं। मागधी अपभ्रंश से बँगला, आसामी, उड़िया आदि भाषाएँ निकलीं। सिन्धी आदि का सम्बन्ध व्राचड़ अपभ्रंश से है। इन आर्य-भाषाओं का साहित्य में प्रयोग लगभग १३ वी शताब्दी ई० के आरंभ से ही होने लगा था। परन्तु हिन्दी का जन्म काल १० वीं शताब्दी ई० के लगभग ही मानना चाहिए।

देखिये-चार्ट
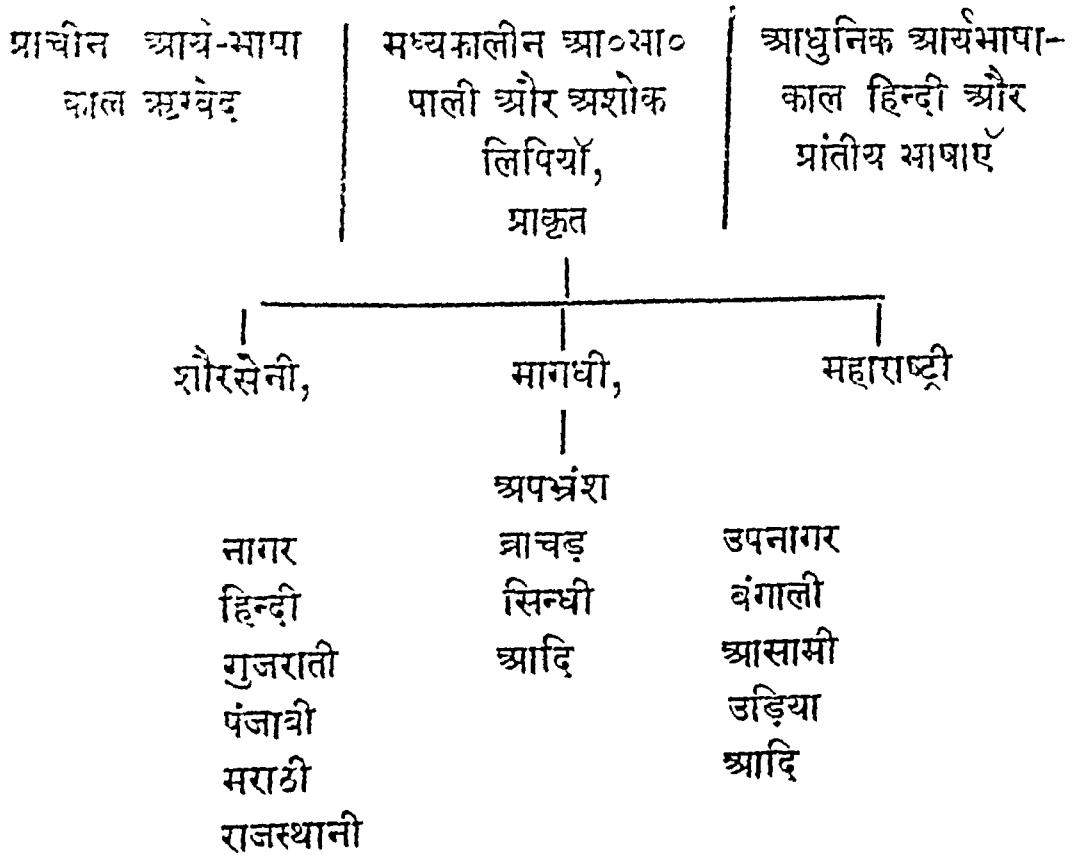
आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ :— भारतीय भाषाओं में हिन्दी, (पूर्वी हिन्दी और पश्चिमी हिन्दी) बंगाली, बिहारी, उड़िया, मराठी, पंजाबी, गुजराती और राजस्थानी आदि भाषाएँ अधिक प्रसिद्ध हैं और ये ही करोड़ों की संख्या में बोली जाती हैं। इनमें भी सब से अधिक प्रसिद्ध हिन्दी है जो लगभग ७ करोड़ व्यक्तियों की भाषा है।

दूसरा नंबर बंगाली का है जो ५ करोड़ व्यक्तियों द्वारा बोली जाती है—फिर बिहारी, गुजराती, पंजाबी और राजस्थानी बोलियों का नम्बर आता है।

इनके अतिरिक्त लहदा, सिन्धी, आसामी, भीली खानदेशी और पहाड़ी भाषाओं का भी प्रभाव हिन्दुस्तान के लाखों मनुष्यों पर पड़ा है। इनमे से प्रत्येक भाषा लाखों नर-नारियों द्वारा आज भी बोली जाती हैं। इनका विवरण देते हैं।

इन विभिन्न भाषाओं के बाहरी व्याकरण में भिन्नता दिखलाई पड़ती है परन्तु इसके मूल में एक ही एकता है जो इन भाषाओं का आपसी सम्बन्ध स्पष्ट कर देती है।

सिन्धी :—यह ब्राचड़ से संबन्धित है। सिंधु नदी के प्रदेश में बोली जाती है। अधिकांश बोलने वाले मुसलमान ही हैं परन्तु हिन्दू भी कम नहीं हैं। इसमें उर्दू और फारसी के शब्द भी बहुत पाये जाते हैं। गुरुमुखी में प्रायः लिखी जाती है। लिपि उर्दू की भी काम दे सकती है।

लहंदा :—यह पश्चिमी पंजाब की भाषा है। इस पर प्राचीन दरद या पिशाच भाषाओं का प्रभाव है। लहंदा का अर्थ भी पश्चिम से ही है। लहंदा का व्याकरण पंजाबी से भिन्न है। इसकी भिन्न लिपि 'लंडा' भी है परन्तु उसे आजकल फारसी में ही लिखते हैं।

पंजाबी :—इसका भूमि भाग पंजाब ही है। यह लहंदा से भी बहुत मिली हुई है। शब्दकोश भी बहुत मिला हुआ है। इसकी भी लिपि 'लंडा' है जो महाजनी और शारदा लिपियों से मिलती है। लंडा का सुधार करके गुरुमुखी लिपि निकाली गई है। इसका शुद्ध रूप अमृतसर के निकट बोला जाता है। जय जम्मू राज्य में भी बोली जाती है।

गुजराती :—गुजरात, बड़ौदा और अन्य देशी राज्यों के समीप बोली जाती है। पश्चिमी भारत का तो व्यापार-व्यवसाय इसी भाषा में

होता है। गुजराती का साहित्य भी है। यह पहले देवनागरी लिपि में लिखी जाती थी परन्तु अब इस की एक भिन्न लिपि है।

राजस्थानी :—राजस्थान की भाषा है। अलवर और गुड़गांव के समीप मेवाती-अहीरवाटी बोली जाती है। मालवा और जयपुर में जयपुरी। जयपुर कोटा-बूँदी आदि में जयपुरी हाड़ौती और जोधपुर बीकानेर, जैसलमेर तथा उदयपुर राज्यों में मारवाड़ी-मेवाड़ी बोली जाती है-इस प्रकार इसके चार रूप हो गए हैं। इन प्रदेशों की साहित्यिक भाषा हिन्दी ही है। महाजनी लिपि भी है। परन्तु देवनागरी ही छपाई मे आती है। राजस्थानी का वैसे साहित्य भी बहुत बड़ा और बहुत ही महत्वपूर्ण है।

पश्चिमी हिन्दी—मेरठ और बिजनौर के निकट कहलाती है। ब्रज और साहित्यिक हिन्दी की इसमे संधि सी होती है।

पूर्वी हिन्दी—यह क्षेत्र उसके पूर्व में पड़ता है। अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी आदि बोलियों का इसमें समावेश है। यह भारत में खूब प्रचलित है और अधिक से अधिक जनों द्वारा बोली जाती है। यू० पी० बिहार आदि इसके प्रमुख स्थान हैं।

बिहारी—यह बंगाली के समान ही है। बिहार में बोली जाती है। हिन्दी से भी इसका बहुत सम्बन्ध है क्योंकि यू० पी० और बिहार में अधिक फासला नहीं है। मैथिली, मगही और भोजपुरी तीन रूप इसके हैं जो बिहार के विभिन्न स्थानों में प्रगटित है। मैथिली और मगधी तो एकसी ही हैं। लिपि छपाई में तो देवनागरी ही काम में आती है परन्तु वैसे भी यह बिहारी तीन लिपियों में लिखी जाती है। राजस्थानी प्रदेश की तरह साहित्यिक भाषा हिन्दी ही है।

उड़िया—यह उड़ीसा प्रान्त की बोली है। इसके शब्द तेरहवीं शताब्दी के शिलालेखों में पाये गए हैं। इसकी लिपि बहुत कठिन है। इसका कारण बंगाली के व्यारण से मिलता जुलता है। शब्दकोश में तेलगू और मराठी के शब्द पाये जाते हैं।

बंगाली——बंगाल की यह प्रसिद्ध भाषा है। गांवों और नगरों की बंगाली में अन्तर है। साहित्यिक भाषा में संस्कृत का मेल है। अब तो पश्चिमी बंगाली ही साहित्यिक भाषा का एक रूप हो गई है इसकी लिपि भी अधिक कठिन तो नहीं पर कठिन अवश्य है। यह हिन्दुस्तान के सबसे अधिक मनुष्यों द्वारा बोली जाती है।

आसामी——यह आसाम प्रदेश में बोली जाती है। इसका व्याकरण भी बंगाली के व्याकरण से मिलता जुलता ही है। आसामी भाषा में साहित्यिक ग्रन्थों की बहुतायत है। इसको लिपि बंगाली ही है। यद्यपि इसमें अभी काफी सुधार की आवश्यकता है क्योंकि ऐतिहासिक ग्रन्थों अतिरिक्त इसमें अन्य साहित्य नहीं है।

मराठी——यह बम्बई और पूना, बरार और मध्यप्रांत के दक्षिण में बोली जाती है। इसके दक्षिण में द्राविड़ भाषाएं हैं। पूना के निकट की मराठी साहित्यिक भाषा है। उनकी लिपि मोडो है। मराठी का साहित्य, विस्तृत लोकप्रिय और प्रभावशाली है।

पहाड़ी भाषाएं——नेपाल आदि स्थानों में पहाड़ी भाषाएँ बोली जाती हैं। इसका विशुद्ध रूप काठमण्डू के पास बोलाजाता है। वैसे राज-दरबार और साहित्य में हिन्दी का ही स्थान है परन्तु बोल-चाल की भाषा पहाड़ी ही है। इनमें भी भिन्न २ के रूप हैं। उत्तरी पहाड़ी साध्यम पहाड़ी और पश्चिमी पहाड़ी आदि बोलियाँ जिनमें विशेष रूप से बोली जाती हैं।

भाषा तथा बोलियां-हिन्दी——हिन्दी का अर्थ हिन्द में बोले जाने वाली भाषा से ही है। जो अधिकांश हिन्दुस्तानियों के मुंह से बोली जाय—या जिसका सम्बन्ध 'हिन्द' से हो वह 'हिन्दवी' या हिन्दी। परन्तु इस अर्थ में आजकल नहीं सोचना चाहिए—आज तो उसका अभिप्राय है—भारत के उत्तर प्रदेश में बोले जाने वाली भाषा से। उत्तर के अतिरिक्त पश्चिमी कोने को छूती हुई बंगाल की सीमा को

छू देती है। और उत्तरी पर्वतीय प्रदेशों से लेकर मध्य भारत तक आसन जमाये बैठी है। इन भागों में हिन्दी के पत्र-पत्रिकाएँ खूब प्रचलित हो रही हैं। मारवाड़ी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी, मैथिली आदि के साहित्यिक रूप में भी हिन्दी ही है। परन्तु सभी स्थानों पर हिन्दी बोली व समझी जाती है। वैसे इसके बोलने वालों की संख्या का अनुमान आजकल लगभग ८ करोड़ के लगाया जाता है। इसके अतिरिक्त राष्ट भाषा होने के कारण इसे अधिक महत्व मिल गया है। अब तो प्रत्येक प्रान्त के पढ़े लिखे युवक इसे बोलने के लिखने का अभ्यास कर रहे हैं। यह भी इसके लिए गौरव की ही बात है।

उर्दू :—यह भारतवासियों के मुसलमानों की भाषा है। इसका हिन्दी से बहुत सम्बन्ध है। यह भी हिन्दी ही की बहिन दूसरी साहित्यिक भाषा है। दोनों भाषाओं का मूलाधार एक ही है परन्तु मुसलमानों में 'मजहबी' भाव प्रधान होने के कारण उससे सम्बन्धित साहित्य ईरान और अरब की सभ्यता के आधार पर ही होता है। खड़ीबोली उर्दू, खड़ीबोली हिन्दी से पूर्व की वस्तु भारतीय ही है।

मुसलमान शासकों ने दिल्ली के समीप की भाषा सीखी और उसमें अरबी फारसी आदि के शब्द मिलाने आरम्भ कर दिए। वहीं उर्दू की सृष्टि हुई। उर्दू का अर्थ है—"लश्कर"—खिचड़ी। इस मिलावट से शासकों और जनता के विचारों का आदान-प्रदान आसानी से हो सकता था। परन्तु धीरे २ तो उत्तर भारत के सभी मुसलमान उर्दू बोलने और लिखने लगे। हिन्दी के पूरे वाक्य में एक आध शब्द उर्दू का (प्रस्तुत अरबी या फारसी का) घुसेड़ कर बोल दिया करते थे। धीरे २ उसका एक अलग साहित्य हो गया।

एक अंग्रेज विद्वान् के कथनानुसार उसकी उत्पत्ति पंजाब मे है। परन्तु यह विचार निराधार सा ही प्रतीत होता है। उर्दू का साहित्य सूफी मुसलमान कवियों से ही आरंभ होता है। उस समय दिल्ली और आगरे की साहित्यिक भाषा फारसी ही थी। (क्योंकि शासक मुसलमान थे) इसलिए उससे सरल, व्यवहारिक भाषा लोगों के सम्मुख उर्दू रख

दी गई—उन्हें अपनानी पड़ी। छापेखानों ने इसमें और भी योग दिया—नौकरी करने वालों को उर्दू पढ़नी आवश्यक हो गई। इसकी लिपि अरबी और फारसी के सहयोग से निकली। उधर पंजाबी का कोई साहित्य न था इसलिए उन्होंने अपनी साहित्यिक भाषा ही उर्दू को मान लिया। इस प्रकार उर्दू का प्रचार अधिकाधिक बढ़ता गया। आज हिन्दी भाषा क्षेत्र में उसका कोई विशेष आदर नहीं है।

हिन्दुस्तानी :—यह नाम यूरोप वालों ने दिया है। बोल-चाल की हिन्दी-मिश्रित उर्दू का नाम हिन्दुस्तानी है। इसकी उत्पत्ति का आधार भी खड़ीबोली ही है। फारसी शब्दों का इसमें आधिक्य नहीं रहता। दक्षिण भारत को छोड़कर अन्य प्रदेशों में इस बोली को समझ लिया जाता है। एक छूट है—हिन्दुस्तानी की लिपि अधिकतर हिन्दी लिपि (देवनागरी) ही है। दिल्ली और लखनऊ तो हिन्दुस्तानी भाषा के केन्द्र स्थान हैं।

इसका प्रयोग साधारण श्रेणी के लोग अधिकतर किया करते हैं जिन्हें साधारण हिन्दी और बोलचाल के अरबी फारसी आदि शब्द आते हैं। हिन्दी और उर्दू भाषाएँ यदि साहित्यिक रूपों के अन्तर्गत आती हैं तो खड़ीबोली की हिन्दुस्तानी बोल-चाल की सुन्दर भाषा है।

एक बात और रह जाती है। हिन्दी और उर्दू के झगड़ों को सल्टाने के लिए भी हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग ठीक हो सकता है। इसलिए इसका एक राष्ट्रीय महत्व भी है।

हिन्दी की ग्रामीण बोलियाँ :—यह हम बता चुके हैं कि अधिक हिन्दुस्तानियों द्वारा बोली जाने वाली भाषा हिन्दी के नाम से प्रसिद्ध हुई। इनमें खड़ीबोली, बाँगरू, ब्रज, कन्नौज तथा बुन्देली भाषाओं को तो पश्चिमी हिन्दी के नाम से पहिले ही सम्बोधित कर दिया गया है। इसी प्रकार अवधि, बघेली और छत्तीसगढ़ी को पूर्वी हिन्दी कह दिया गया है। इसके अतिरिक्त बनारस और गोरखपुर के समीप की भाषा भोजपुरी है। इस प्रकार ९ भाषाएँ हिन्दी की ग्रामीण बोलियों के अन्तर्गत आती हैं—इनका विवेचन हम करेंगे।

खड़ीबोली :—रुहेलखण्ड और गंगा के आस-पास की बोली है। ग्रामीण खड़ीबोली में फारसी आदि शब्दों का अधिक प्रभाव है। रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, सहारनपुर, देहरादून, अम्बाला। इस बोली के बोलने वालों की संख्या लगभग ५३–५४ लाख के समीप है।

बांगरू :—यह जाटू या हरियाना नाम से प्रसिद्ध है। इसमें पंजाबी और राजस्थानी का मिश्रण है। दिल्ली, रोहतक, हिसार, नाभा और पटियाला के आस-पास इसका बहुत प्रचार है। इनके बोलने वालों की संख्या लगभग २२ लाख है।

ब्रजभाषा :—इसकी गिनती साहित्यिक भाषा में भी है। मथुरा, आगरा, अलीगढ़ और धौलपुर के आस-पास की है। ब्रजभाषा-भाषियों की संख्या लगभग ८० लाख है। ब्रजभाषा का कृष्ण-साहित्य बहुत बड़ा और प्राचीन है।

कन्नौजी :—इसका क्षेत्र ब्रज और अवधी के बीच में है—यह कन्नौज राज्य की बोली है। हरदोई, शाहजहाँपुर, इटावा और कानपुर के समीप बोली जाती है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ४५ लाख है। इसका साहित्य नहीं के बराबर है।

बुन्देली :—यह बुन्देलखण्ड की बोली है, झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, सागर और नृसिंहपुर आदि के समीप बोली जाती है। इनके बोलने वालों की संख्या ७० लाख के लगभग है। बुन्देली कवियों ने भी ब्रज में ही रचना की है।

अवधी :—अवध, लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, फैजाबाद, प्रतापगढ़ और बाराबंकी आदि स्थानों में यह बोली जाती है। बिहार के मुसलमान भी अवधी ही बोलते हैं। इनके बोलने वालों की संख्या लगभग डेढ़ करोड़ है। पद्मावत, रामचरित मानस और कृष्णायन अवधी के प्रसिद्ध ग्रंथों में से है।

बघेली :—अवध के दक्षिण में बघेली बोली जाती है। जबलपुर,

रीवां, मांडला, बालघाट जिलों तक बघेली ही बोली जाती है। यह बघेली भाषा अवधी का ही दक्षिण रूप है इसलिए बघेली की साहित्यिक भाषा अवधि ही है।

छत्तीसगढ़ी :—रायपुर, बिलासपुर जिलों में नंदगाँव, खैरगढ़ रायगढ़, सरगुजा, जयपुर तथा उदयपुर मे भी यह भाषा बोली जाती है। इसके बोलने की संख्या लगभग ३८ लाख है।

भोजपुरी—यह प्राचीन काशी जनपद की भाषा है। भोजपुर बिहार में एक कस्बा है। यह बनारस, मिर्जापुर, जौनपुर, गाजीपुर, बलिया, गोरखपुर बस्ती, आजमगढ़, शाहाबाद, चंपारन, सारन आदि स्थानों में बोली जाती है। इसके बोलने वालों की संख्या पूरे २ करोड़ के लगभग है। परन्तु इसमें साहित्य कुछ भी नहीं है। यह आधुनिक खड़ी बोली से बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

इस प्रकार युक्त-प्रांत में खड़ीबोली, ब्रज, अवधी और भोजपुरी भाषाएँ बोली जाती हैं। इस प्रकार हिन्दी का विस्तार पश्चिम राजस्थान और पूर्व में बिहार तक है। राजस्थानी और बिहारी बोलियाँ भी इसके समीप ही हैं।

हिन्दी शब्द-समूह——किसी भी भाषा के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि उसका शब्द-कोश शुद्ध रूप से उसी भाषा का है। प्रत्येक भाषा मे दूसरी भाषा के शब्दों का मिलना अत्यन्त ही आवश्यक है क्योंकि आरंभ से कोई भी भाषा पूर्ण नही होती और आपसी बातचीत से उसी भाषा के शब्दों को तुरन्त लेने से ही कार्य हो सकता है—विचारों का आदान प्रदान हो सकता है—इसलिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक भाषा में दूसरी (अधिक सम्पर्क में आई हुई) भाषा के शब्द काफी मात्रा में मिलेंगे। यही बात हिन्दी पर लागू होती है। हिन्दी के सम्पर्क में आर्य भाषाएँ (अन्य भारतीय आर्य भाषाएँ) आईं। अनार्य भाषाएँ आईं और विदेशीय भाषाएँ (फारसी, अरबी, तुर्की, पश्तो और अंग्रेजी आदि) आईं—इसलिए हमारी हिन्दी भाषा पर भी उन सभी का

प्रभाव पड़ा और सभी भाषाओं के शब्दादि अवसरानुसार लिये गए। इस प्रकार हिन्दी में अन्य ३ प्रकार के प्रभाव हैं—

भारतीय आर्य भाषाओं के शब्द समूह—इनमें अधिकतर उन शब्दों के समूह हैं जो मध्यकालीन आर्य भाषा से चलते हुए आ रहे थे। ये संस्कृत से उत्पन्न हुए थे। इनको 'तद्भव' कहते हैं। जनता की बोलियों में इन तद्भव शब्दों की बहुत प्रबलता है। साहित्यिक हिन्दी में इनकी संख्या कम होती जा रही है। इसके अतिरिक्त संस्कृत के तत्सम शब्दों की भी अधिकता रही है। जो संस्कृत शब्द आधुनिक काल में विकृत हुए उनको अर्ध तत्सम कहने लगे। आधुनिक हिन्दी (व्यवहारिक बोलचाल की भाषा) में प्राचीन संस्कृत के और उस संस्कृत के विकृत रूपों से बने हुए शब्दों का ढेर है। हिन्दी से उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। यहां तक कि यह पता चलना भी कठिन सा ही हो गया है कि यह शब्द कहाँ से उड़ कर आया है। आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं से हिन्दी में बहुत ही कम शब्द आये हैं—हां उलटे हिन्दी के शब्द अन्यप्रान्तीय भाषाओं (गुजराती, वंगाली, मराठी, आदि) में अधिक घुसे।

भारतीय अनार्य भाषाओं से आए हुए शब्द—हिन्दी में ऐसे शब्द भी विद्यमान हैं जो अनार्य भाषाओं से आर्य भाषाओं में ले लिए गए थे। हिन्दी के लिए तो ये आर्य भाषाओं के ही समान हैं क्योंकि एक पीढ़ी ऊपर से शुद्ध-व्यवहृत जो होते आये हैं। उन्हें 'देशी' शब्द कहते हैं। तामिल, तेलगू, द्राविड़, मुंडा या कौल आदि अन्य अनार्य भाषाओं से तो बहुत ही कम शब्द आए हैं। द्राविड़ आदि भाषाओं के शब्द तो हिन्दी भी दूसरे ही अर्थ रखते हैं। द्राविड़ का पिल्ला (पुत्र) और हिन्दी का पिल्ला (कुत्ते का बच्चा) अधिक अन्तर रखते हैं। कौल भाषा से २०-२० गिनने की प्रथा आई। कोड़ी शब्द भी कोल भाषा का ही है। इसके अतिरिक्त थोड़े बहुत तामिल-तेलगू आदि के भी शब्द आए।

विदेशी भाषाओं के शब्द—इन शब्द समूहों की भरमार हिन्

में बहुत देखी जाती है। ये दो भागों में बांटे जा सकते हैं। एक तो मुसलमानों की भाषाओं के प्रभाव—दूसरा अंग्रेजों आदि का प्रभाव। हजारों वर्षों की गुलामी में भारत रहा—इस कारण उसकी भाषा में इन शासकों की भाषा से कुछ शब्द मिलने ही चाहिये थे। मिले—हजारों लाखों की संख्या में—

१. फ़ारसी, अरबी, तुर्की तथा पश्तो शब्द—पहले फारसी बोलने वाले तुर्कों ने ही पंजाब पर अधिकार जमाया था—इनके प्रभाव से हिन्दी में फारसी और तुर्की के शब्द आए। सूर और तुलसी की रचनाएँ भी विशुद्ध नहीं—उनमें भी फारसी आदि के शब्द स्थान २ पर आये हैं। हिन्दी में विदेशी शब्दों की संख्या सबसे अधिक फारसी ही की है—क्योंकि मुसलमान शासकों ने यही राजभाषा, और साहित्य भाषा बना दी थी। आका, कुली, उजबक, कची, काबू, लाश, बहादुर, गलीचा आदि अनेक शब्द अब तो ऐसे मिल गए हैं जो निकाले भी नहीं जा सकते।

२. यूरोपीय भाषाओं के शब्द—अंग्रेज शासकों के ही आरम्भ से हिन्दी में अंग्रेजी आदि के शब्द घुस गए। 'अधिक पढ़े लिखे' तो 'फ्रेंच और लेटिन' तक के शब्द, हिन्दी वाक्य में मिला देते हैं परन्तु साधारण पढ़े लिखे भी स्टेशन, सिगनल, लालटेन, कलक्टर, कमिश्नर, गार्ड, गजट, मशीन, मनिआर्डर, डायरी, ड्रामा, वोट, फ़ार्म आदि धड़ाधड़ बोलते हैं। आजकल कतिपय साहित्यिकों के सहयोग से प्रत्येक विदेशी भाषा के स्थान पर शुद्ध हिन्दी आदि का शब्द गढ़ने का प्रयत्न कर रहे हैं किन्तु हमारे विचार से जो शब्द बहुत ज्यादा व्यापक हो गए हैं उन्हें हटाकर नई गढ़न्त करना भी व्यर्थ है। इससे हिन्दी की हँसी ही उड़ाई जा रही है। उदाहरण के लिए गाड़ी—रेल के लिए "लोहपथगामिनी" और स्टेशन के लिए "वाष्पगामिनीगमना-गमन-विश्राम-स्थल" गढ़े गए हैं। क्या यह उपहास नहीं है। जो शब्द प्रचलित हो गए हैं उन्हें रहने ही देना चाहिए)।

देवनागरी लिपि और अंक—हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश में

जितना प्रचार नागरी लिपि का है—उतना और किसी लिपि का नहीं। यद्यपि उर्दू, रोमन, कैथी, मुड़िया, मैथिली आदि अनेक लिपियाँ और भी विद्यमान हैं परन्तु इन सबमें नागरी लिपि का ही प्रचार अधिक है। इसका कारण यह है कि यह लिपि पूर्ण, सुन्दर और वैज्ञानिक है। साथ ही साथ सरल भी बहुत है।

यह लिपि कैसे कहाँ से चली—इसका इतिहास तो यों बतलाया जाता है कि यहां पहिले भारतवर्ष में ब्राह्मी लिपि का ही अधिक प्रचार था। यह लिपि आर्यों ने अपने आविष्कार के रूप में स्वयं ही उत्पन्न की थी। अशोक के शिलालेख आदि भी इसी लिपि में मिलते हैं। इस लिपि का प्रचार लगभग ३५० ई० तक रहा।

इसके पश्चात् गुप्त-साम्राज्य में गुप्त लिपि का विकास हुआ और उसी के विकसित रूप को 'कुटिल लिपि' कहने लगे। इसी कुटिल लिपि से नागरी लिपि की उत्पत्ति बनाई जाती है। इसी नागरी से गुजराती, कैथी, महाजनी आदि अनेक लिपियाँ सम्बन्धित हैं।

इस लिपि का प्रयोग उत्तर भारत में १० वीं शताब्दी के आरम्भ से मिलता है। ११ वीं शताब्दी में इसके अक्षरों और अंकों का और भी सुधार कर लिखा जाने लगा था। इस प्रकार यह लिपि समय-समय पर सुधरती-मंजती हुई परिष्कृत हो पाई है।

अंकों की यह शैली कब से चली—इसका पता नहीं चलता। अशोक के समय के भी शिलालेखों में कुछ अंकों के चिन्ह मिलते हैं विभिन्न विद्वानों के इस विषय में विभिन्न मत हैं। कुछ तो इसको पश्चिम आदि से लिये हुए बतलाते हैं और कुछ आर्यों के ही द्वारा आविष्कृत। कुछ भी अंक-अंकपद्धति और गणना-पद्धति है अत्यन्त प्राचीन क्योंकि भारतीय वाङ्मय के अमर रत्नों का विवेचन करते हुए भी हमने 'दश-गुणोत्तर संख्या' को अत्यन्त प्राचीन बतलाया है। शून्य का निर्माण भी अत्यन्त प्राचीन है।

इसलिये नागरी अंक और अक्षर अत्यन्त प्राचीन, वैज्ञानिक-सरल

और पूर्ण हैं और हिन्दी भाषा-भाषी इसी लिपि को अधिक उपयोगी समझते हैं।

मुख्य २ प्रश्नों की तालिका

१. संसार के सभी भाषा-विषयक कुलों की विवेचना करते हुए-आर्य भाषाओं एवं हिन्दी का स्थान बतलाइये।

२. आर्यों का ऐतिहासिक विवरण देते हुए आर्य भाषाओं की विभिन्न अवस्थाओं पर प्रकाश डालिए और बतलाइये कि प्राकृत से हिन्दी होने के लिए कितना समय लगा?

३. आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में कौन २ सी भाषाएँ मुख्य हैं? क्या उनमें से कोई सी दो भाषाएँ सम्बन्धित सी भी जान पड़ती हैं? विवेचन कीजिए।

४. हिन्दी भाषा तथा बोलियों पर विचार प्रगट करते हुए हिन्दी और उर्दू तथा हिन्दुस्तानी की समस्या पर प्रकाश डालिये? क्या हिन्दुस्तानी राष्ट्र भाषा हो सकती है?

५. हिन्दी की ग्रामीण-बोलियों में व्रज, अवधी और भोजपुरी भाषा पर प्रकाश डालिए और बतलाइये कि साहित्य-रचना के लिए कौन सी भाषा अधिक उपयुक्त होगी?

६. हिन्दी भाषा में जो बाहरी शब्द आये हैं उनकी एक विस्तृत तालिका बनाइये। साथ ही यह भी बतलाइये कि किस प्रकार के शब्द अब हिन्दी में खप सकते हैं? उन्हें हटाने से क्या लाभ या हानि संभव है?

७. हिन्दी भाषा के विकास का इतिहास लिखिये और प्रत्येक काल की प्रमुख रचना का विवरण दीजिए।

८. नागरी लिपि और उसकी विशेषताओं का इतिहास बतलाते हुए एक निबन्ध लिखिये।

९. निम्नांकित पर संक्षिप्त नोट लिखिये—
ब्राचड़, नागर, अवधी, लहंदा, पश्तो, बांगरू, बघेली, बुन्देली, पहाड़ी, हिन्दुस्तानी, दरद, सेमिटिक कुल और अनार्य भाषा।

नागरी अंक और अक्षर

प्रश्न–सिद्ध कीजिए कि नागरी लिपि संसार की सर्वोत्कृष्ट वैज्ञानिक लिपि ही नहीं है प्रत्युत सब से पूर्ण एवं सरल है।

उत्तर–प्राचीन आर्य भाषाओं के इतिहास में अन्य भारतीय भाषाओं का उद्गम ब्राह्मी भाषा से ही माना जाता है। यह भाषा भारत में तीसरी शताब्दी ईसवी में प्रचलित थी। इसका प्रचार चौथी शताब्दी के अंत तक रहा। इससे अन्य भाषाएँ (तामिल तेलगू–जो आजकल दक्षिण-भारत की भाषाएँ हैं।) निकलीं। ब्राह्मी के उत्तर की प्रचलित शैली का नाम फिर गुप्त लिपि प्रचलित हुआ—इसके विकास होते २ उसका नाम 'कुटिल' लिपि रख दिया गया। इसी कुटिल लिपि से नागरी लिपि की उत्पत्ति बतलाई जाती है। इस लिपि का प्रयोग उत्तरी भारत के ग्रन्थों में लगभग १० वी शताब्दी में पाया जाता है। यह तो हुआ इसके विकास का एक इतिहास।

अब हमें यहाँ तीन बातों का विवेचन करना है। एक तो यह कि यह लिपि संसार की सर्वोत्कृष्ट-वैज्ञानिक भाषा है। दूसरे यह पूर्ण और तीसरे यह सरल है। इन तीनों बातों की हम भिन्न २ मीमांसा करते हैं। सब से पहिले तो इसे सर्वोत्कृष्ट वैज्ञानिक भाषा ही सिद्ध करना है—

विज्ञान का अर्थ है जिसमें ज्ञान का आभास हो – जिसमें ज्ञान का समन्वय हो। विज्ञान कभी झूठा नही होता और कभी अपूर्ण भी नहीं होता (यह अवश्य है कि जानने वाला चाहे उसे पूरा न जान सके परन्तु विज्ञान स्वयं अपूर्ण नहीं है) नागरी में ३२ अक्षर हैं। अंग्रेजी में २६ और उर्दू में लगभग ३० हैं। प्रत्येक अक्षर का निकास हमारे मुँह के प्रत्येक भाग से एक विशेष ध्वनि के साथ होता है। साथ ही साथ यह ध्वनि-परिवर्तन, स्थान (जिह्वा, दाँत या तालु आदि) के परिवर्तन हो जाने पर वैसा ही नहीं रह पाता। हमारे यहाँ नागरी अक्षरों के उच्चारण

के विषय में मुँह में ५-६ स्थान निर्धारित हैं। (ओष्ठ, दाँत, जीभ, तालुका और कंठ आदि) इन स्थानों में जो भी शब्द 'अ' ध्वनि में बन कर लिपट कर निकल सकते हों–उतने ही निकले। ध्वनि के साथ केवल 'अ-य-ङ-ञ-न' का ही सहयोग रहा।

उदाहरण के लिए ओठों से--प–फ–ब–भ–म आदि पाँच अक्षर प्+अ, फ्+अ, ब्+अ, भ्+अ, म्+अ के सहयोग और समन्वय से निकले। अब ओठो से इन पाँच अक्षरों के अतिरिक्त और कोई भी छठा शब्द नहीं निकल सकता। इसी प्रकार दाँतों से त–थ--द--ध--न के अतिरिक्त और आठवां शब्द नही निकल सकता है। इसी तरह सभी अक्षर जो 'अ' की ध्वनि के सहयोग से निकाले जा सकते थे--निकाल लिए गए।

परन्तु अन्य भाषाओं मे यह बात नहीं है। ए-कण्ठ से बी-ओठों से सी-तालुका से डी और ई जीभ से उच्चरित होते हैं। इस प्रकार कई अक्षर तो एक ही स्थान विशेष से अधिक बोले जाते हैं और कई अक्षरों का उद्गम स्थान शून्य ही पड़ा रहता है। यही बात उर्दू में है। इसमें भी 'अलिफ' (जो तीन अक्षरों का एक अक्षर है—जिसके उच्चारण का स्थान भी आसानी से मालूम नहीं किया जा सकता) फ के जोर से ओठों से ही उत्पन्न मान लेते हैं तो बे-पे भी उन्हीं ओठों से---इसी प्रकार "दाल--डाल--जीम" में भी संगति सी नहीं मालूम पड़ती।

दूसरी दो मुख्य बात है वह यह है कि उर्दू और अंग्रेजी आदि लिपियों में ध्वनि के साथ कहीं अ जुड़ा हुआ है तो कहीं 'ए' तो कहीं 'ई'---इ और 'उ'---यहाँ तक कि कहीं २ तीन २ अक्षरों का भी एक साथ आ जाना संभव हुआ है---जैसे "अलिफ" "डबल्यू" "एक्स" आदि। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि उस लिपि का कोई नियम नहीं है। उसमें चाहे जिस ध्वनि के आगे— अ-आ-इ-ई-उ-ऊ...ही नहीं लगा रहता प्रत्युत चाहे जैसे दो अक्षर भी और जुड़े हुए रहते हैं--परन्तु हिन्दी की नागरी लिपि में ऐसा एक भी अक्षर नहीं है जिसके उच्चारण में समय की भिन्नता हो। एक से ही समय में क से लेकर ज तक बोल जाइये यह नहीं कि कहीं 'ए' और कहीं डबल्यू' हों या कहीं 'बे'--और

'अलिफ' इसलिए यह बात हम निसंकोच कह सकते हैं कि नागरी-लिपि संसार की सर्वोत्कृष्ट वैज्ञानिक लिपि है।

दूसरे यह पूर्ण है। इस बात का हम पहिले भी कुछ आंशिक विवेचन कर चुके हैं कि इसमें उच्चारण-स्थानों से जो कुछ खींचा जा सकता था--उस सभी को खींच लिया। एक स्थान विशेष से इनके अतिरिक्त और कुछ बचा ही नहीं। इसका कारण है ध्वनि में अ का योग। ध्वनि में बहुत प्रकार के अक्षरों या मात्राओं के योग से लिपि की अपूर्णता बढ़ती ही जायेगी। नागरी अंकों और अक्षरों में यदि 'क' है तो 'ख' भी है और 'न' भी है। परन्तु अंग्रेजी में यदि 'ए' है तो उसी के अनुसार 'खे' नहीं है--'ने' नहीं है। डबल्यू' है तो फबल्यू या गबल्यू नहीं है। इसी प्रकार उर्दू में अलिफ तो है परन्तु 'जलिफ' कहाँ है ? आप यह कह सकते हैं कि अंग्रेजी में 'न' प्रस्तुत एन (N) से बनाया जा सकता और गबल्यू प्रस्तुत (G) जी से। ठीक है एक तो 'ज' से 'ग' का सम्बन्ध ही क्या जो 'G जी से ग' बने ? क्या यह उस लिपि की वैज्ञानिकता का दिवाला नहीं है ? दूसरे यदि बन भी जाय तो 'खे' और 'फबल्यू' कहाँ से आवेंगे। अक्षरों को मिलाना पड़ेगा या नहीं ? Kha = ख या खा—Pha फ या फा ? देखा कितना कष्ट करना पड़ता है खे और और फबल्यू बनाने के लिए ? इसी प्रकार उर्दू में भी कई अक्षरों के सहयोग से ही बहुत से अक्षर बनते हैं। 'लोहा' लिखने के लिये 'लाम' लिखा जायगा। अक्षरों के मिलाप करने में तो इन भाषाओं में बड़ी ही कठिनाई आती है। ए—ई—आइ—ओ और यू--पाँच स्वर (Vowel) पाँच प्रकार के हैं। फिर क्यों न कठिनाई का सामना करना पड़े।

परन्तु हिन्दी नागरी में तो यह आपत्ति कभी भी नहीं आती। किसी भी ध्वनि में 'अ' को जोड़ दीजिए—अक्षर बन जायेगा। अक्षर—हाँ पूर्ण वैज्ञानिक—सरल और पूर्ण, विना अन्य अक्षरों के सहयोग के।

दूसरे इसमें मात्राओं के नियम भी ऐसे हैं जो एक ही और निश्चित संकेत कर देते हैं। क+ओ = को ही बोला जायेगा—और कुछ भी नहीं। इसी प्रकार पो—सो—हो—रो—धो—नो—खो कुछ भी क्रमशः प, स, ह,

र, घ, न और ख में 'ओ' जोड़कर बना लीजिए। परन्तु अंग्रेजी आदि के स्वर तो इस योग्य भी नहीं हैं कि वे एक निश्चित उच्चारण का दावा कर सकते हों। But बट हो जायगा—यहाँ पर प्रस्तुत 'U' 'अ' के ही रूप में आता है—परन्तु Put पुट। यहाँ 'U' 'उ' के रूप में। इसी तरह 'इ' बनाने के लिए कहीं आई I और कहीं E ई–काम में लेने पड़ते हैं। उनका कोई नियम नहीं है।

इसी से उस लिपि की अपूर्णता भी सिद्ध होती है और जटिलता भी। जहाँ एक निश्चित उच्चारण की ओर संकेत न हो—उस लिपि की सबसे बड़ी जटिलता समझनी चाहिए। नागरी के ३२ अक्षर और १२ मात्राएँ पढ़ लेने के पश्चात् कोई भी साधारण व्यक्ति उसे बहुत ही आसानी से पढ़ तो सकेगा ही (चाहे अर्थ समझ में आवे या ना आवे) परन्तु अंग्रेजी के २६ ही अक्षर नहीं–B. A. Pass कर लेने के पश्चात् भी कोई यह दावे के साथ नहीं कह सकता कि अब वह अंग्रेजी आसानी के साथ पढ़ सकता है। उसे भी उच्चारण आदि में कहीं न कहीं गलती करनी ही पड़ेगी।

दूसरी एक कठिनाई आती है। वह है Silent अक्षरों की। Catch में केच ही बोला जायगा—केट्च नहीं। इससे भी उस लिपि की जटिलता तो प्रगट होती है। जो अक्षर लिखा हुआ है वह बोला क्यों नहीं जाता? यदि यह नहीं बोलने का है तो लिखा ही क्यों गया—क्या Cach केच नहीं हो सकता था?

इसी प्रकार की अनेकानेक जटिलताएँ—अंग्रेजी और उर्दू की लिपियों में भरी पड़ी हैं–जिनको गिनाते २ काफी समय बीत सकता है। उर्दू में भी स–श का उच्चारण करने के लिए से, सीन,–शीन, सुवाद आदि छत्तीस 'ससे' भरे पड़े हैं—कहते हैं—उनमें बहुत बारीक अन्तर है। परन्तु यह बारीक अन्तर अकेले 'स' के साथ क्यों लागू होता है? त–न–प और च के साथ क्यों नहीं लागू होता? से के स्थान पर ते तो अवश्य है परंतु तोन-तीन तुवाद तो आये नहीं। इनकी बारीकी क्यों नहीं बताई गई। किसी-किसी का तो उच्चारण भी नहीं (जैसे त्र–ज्ञ आदि अक्षर

उर्दू और अंग्रेजी दोनों ही लिपियों में अन्य अक्षरों के सहयोग से ही बनते हैं—स्वतंत्र नहीं) और कहीं २ एक एक के ४-४ इसी कारण उन लिपियों में जटिलता आ गई।

सिनेमा 'C' से आरंभ होगा और सिक (Sisk) 'S' से। एक ही 'स' है परन्तु दो अक्षरों से आरंभ होता है। इससे उनकी अपूर्णता या जटिलता या मनोवैज्ञानिकता का दिवाला एक ही साथ प्रगट होता है। इससे हम कह सकते हैं कि नागरी लिपि संसार की सर्वोत्कृष्ट लिपि ही नहीं है प्रत्युत सर्वथा पूर्ण और सरल है। सरल इसलिए कि एक निश्चित उच्चारण की ओर शीघ्र ही संकेत कर देती है।

देवनागरी लिपि का विकास

यह हम इस लिपि का इतिहास बतलाते हुए पहिले ही प्रथम की ५-४ पंक्तियों में कह आये हैं कि नागरी लिपि—कई भाषाओं में से होकर ब्राह्मी में से निकली है। इसलिए यह भी आवश्यक ही है कि उसका रूप विभिन्न भाषाओं के समय विभिन्न ही रहा हो। एक साथ ही तो उसकी लिपि—जैसी आज है—नहीं निकल पड़ी पहिले यह दूसरे ही रूपों में हमारे सामने थी—आज दूसरे ही रूप में है।

ये रूप लगभग १००० वर्ष पूर्व कैसे ही थे—आज कैसे ही हो गए हैं और इस काल के बीच में कैसे ही रहे। इन रूपों से पता—इतिहास के गवेषकों (गौरीशंकर हीराचंद ओझा—धीरेन्द्र आदि) को उस समय के शिला-लेख—ताम्रपत्र—सिक्के आदि देखने से चला है। स्थान स्थान पर मिले हुए ग्रंथों (प्राचीन-ग्रंथों का अनुसंधान जो मठों, मन्दिरों या गुफाओं आदि में मिले हैं) के पृष्ठ उलटने—उनका अध्ययन करने और समझने से वे जिस सार पर पहुँच पाये हैं। और उन्होंने जैसी अपनी रचनाओं (ग्रन्थों) में उन रूपों का उल्लेख किया है उसे हम ज्यों का त्यों पाठकों के सम्मुख रख देते हैं। इससे नागरी के अंकों और अक्षरों के विकास का क्रम और रूप तो मालूम हो ही जायेगा—साथ ही साथ उससे संबन्धित इतिहास पढ़ने की भी जिज्ञासा उत्पन्न होगी कि इन रूपों का विवरण कहाँ कैसे किसप्रकार प्राप्त हुआ।

चतुर्थ प्रश्न-पत्र

परीक्षोपयोगी दृष्टिकोण

पाठ्य क्रम

प्रस्तुत प्रश्न-पत्र का प्रमुख विषय 'निबन्ध-लेखन' है। इसके लिए निम्नाङ्कित सहायक पुस्तकें सम्मेलन से निर्वाचित हुई हैं।

१. लेखन-कला (दमयन्ती गर्ग एम. ए.)
२. निबन्ध-कला (राजेन्द्रसिंह गौड़)
३. रचनादर्श (द्वारकाप्रसाद शर्मा)
४. अच्छी हिन्दी (रामचन्द्र वर्मा)
५. भाषा की शक्ति (सम्पूर्णानन्द)
६. साहित्य-सुषमा (नन्ददुलारे बाजपेयी)
७. विचार-वैभव (प्रभुनारायण शर्मा)
८. प्रबन्ध-प्रभाकर (गुलाबराय)

उपरोक्त पुस्तकों में से प्रथम चार पुस्तकें लेखन-कला के ऊपर तथा शेष चार पुस्तकें आदर्श-निबन्धों के रूप में लिखी गई हैं।

पुस्तकों की उपयोगिता

परीक्षोपयोगी दृष्टि-कोण से हम उपरोक्त पुस्तकों में से १—लेखन-कला २—अच्छी हिन्दी ३—प्रबन्ध-प्रभाकर को उच्च स्थान देते हैं। परन्तु परीक्षार्थियों के समयाभाव का भी हमें पूर्ण ध्यान है। हम जानते हैं कि किन किन परिस्थितियों में परीक्षार्थियों को चलना पड़ता है तथा उनके पास कितना समय रहता है। अतः प्रस्तुत प्रदर्शक में हम ने यह प्रयास किया है कि इसका एक भी शब्द व्यर्थ न हो तथा परिक्षार्थियों को उत्तम अङ्क भी प्राप्त हो सकें।

इसी दृष्टिकोण से हमने उपरोक्त समस्त पुस्तकों के आधार पर प्रश्नोत्तरों का उत्तमोत्तम निर्वाचन किया है और प्रयत्न यह किया गया है कि परीक्षोपयोगी प्रश्नोत्तर ही इस प्रदर्शक का कलेवर सम्पन्न करें।

विषय और अंकों का क्रम

प्रस्तुत प्रश्न-पत्र के प्रमुख दो विषय होंगे :— १—निबन्ध लिखना। २—निबन्ध लिखने की कला तथा सामायिक-साहित्य। इसके अङ्कों का क्रम निम्न प्रकार रहता है :—

(अ)	निबन्ध-लेखन	६० अङ्क
(ब)	सामायिक-साहित्य......	२० ,,
(स)	लेखन-कला...............	२० ,,
	योग	१०० ,,

(अ) भाग में प्राश्निक प्राय: पाँच विषय निर्धारित करके किसी एक विषय पर लगभग १०० पंक्तियों का लेख लिखने के लिए प्रश्न करेगा।

प्रतिवर्ष प्राय: लेखों के विषय तीन प्रमुख दिशाओं से चुने जाते हैं :—

(अ) साहित्यिक।
(ब) राष्ट्रीय अथवा राजनैतिक या सामाजिक।
(स) सांस्कृतिक अथवा धार्मिक।

साहित्यिक लेखों में निम्न प्रकार के लेख रखे जाते हैं :—

१—छायावाद-रहस्यवाद २—आदर्शवाद-यथार्थवाद।
३—हिन्दी मे प्रगतिशील-साहित्य अथवा प्रगतिवाद।
४—काव्य में प्राकृतिक-चित्रण ५—प्रतिभा और पाण्डित्य।
६—आधुनिक प्रतिनिधि कवि।

राष्ट्रीय, राजनैतिक एवं सामाजिक लेखों के अनेक विषय हैं यथा :—

१—स्वतंत्र भारतीयों के कर्त्तव्य २—भारतीय स्वतंत्र्य का ए

प्रमुख आन्दोलन ३—सामन्तशाही शासन, समाजवाद एवं साम्य-वाद तथा मार्क्सवाद ४—प्रान्तीय-स्वायत्त शासन अथवा प्रस्तावित विधान में राष्ट्रपति के अधिकार ५—स्त्रीशिक्षा ३—सहशिक्षा इत्यादि।

सांस्कृतिक एवं धार्मिक निबन्धों में निम्न प्रकार के लेखों का समा-वेश होता है :—

१—साहित्य और समाज २—राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक एकता की आधारशिला हिन्दी ३—भारतीय-साहित्य में नारी का स्थान ४—हिन्दू-कोड बिल।

सामाजिक-साहित्य और लेखन-कला, जो कुल मिलाकर ४० अङ्क के आते हैं; उनमें परीक्षक किसी साहित्य-निर्माता की साहित्य-सेवाओं तथा किसी कलाकार या नाटककार की कृतियों एवं उसकी कला के विषय पर प्रश्न करता है। लेखन-कला में प्रस्ताव, पत्रों का वर्गीकरण एवं मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक आदि पत्रों की रूप-रेखा आदि पर प्रश्न आया करते हैं।

प्रस्तुत प्रदर्शक में उपरोक्त परीक्षोपयोगी निबन्धों एवं सामाजिक-साहित्य तथा लेखन-कला पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। परीक्षार्थियों चाहिए कि सर्वप्रथम दिये गए निबन्धों को सम्यग् प्रकार से अध्ययन तथा स्वयं उसी प्रणाली से लिखने का प्रयास करें। तत्पश्चात् साम-[य]िक-साहित्य एवं लेखन-कला का मनन करें। परीक्षा के दिनों में एक सम्यग् दृष्टि दोनों भागों पर डालनी अपेक्षित है।

प्रश्न-पत्र की रूप-रेखा

प्रस्तुत प्रश्न-पत्र में प्रायः ५ प्रश्न आया करते हैं। जिनमें पहला प्रश्न निबन्ध लिखने के लिए होता है। शेष चार प्रश्न सामयिक-साहित्य तथा निबन्ध कला पर होता है। प्रथम प्रश्न ६० अङ्क का तथा शेष सभी प्रश्न २०, २० अङ्कों के होते हैं। प्रथम प्रश्न अनिवार्य होता

है और शेष ४ प्रश्नों में से किन्हीं दो का ही उत्तर अपेक्षित है
अतः परीक्षा-भवन में प्रश्न-पत्र पाने पर सर्वप्रथम यह ध्यान
चाहिए कि परीक्षक किन किन प्रश्नों का उत्तर चाहता है। तत्पश्चा
पत्र के प्रश्नों को तीन चार बार पढ़ना चाहिए और फिर जो
सरल एवं संक्षिप्त उत्तर वाले हों; उन पर चिन्ह लगाकर उत्तर
प्रारम्भ कर देना चाहिए। विशेष नियमों के लिए प्रथम प्रश्न-
आमुख देखये।

निबन्ध

प्रबन्ध लिखने के लिये कुछ आवश्यक बातें

किसी भी भाव को, जो हमारे मस्तिष्क में है, जमाकर ठीक-ठीक
व्यक्त कर देने को प्रबन्ध कहते हैं—आप 'जमाकर' शब्द पर फिर ध्यान
दीजिए—इससे हमारा अभिप्राय है 'क्रमबद्ध' कहने या लिखने से। मैंने
एक बार देखा था कि एक मेरे साथी को जो पत्र मिला—उस पर इस
प्रकार से पता हो रहा था —

मु० झुंझनूँ, जिला जयपुर
मि० रामदीन जी
जोशियों का मुहल्ला !

इसमें वास्तव में वही पता है जो रामदीन जी का है किन्तु यह पता
क्रमबद्ध न होने के कारण कितना बुरा लग रहा है। यही बात होती है
निबन्ध लिखने में। हमें लिखते समय इस बात का पूरा ध्यान रखना
चाहिये कि कौन-सी बात पहिले आवे और कौनसी बाद में। कुछ बातें
ऐसी भी होती हैं जो एक बार पहिले आकर फिर बाद में आना चाहती
हैं, परन्तु सभी बातें ऐसी नहीं। इसका हमें प्रसंगानुसार ध्यान रखना
चाहिए।

वैसे तो प्रबन्धों का आधार शिक्षा और अभ्यास है जिनका हम
आगे विवेचन करेंगे परन्तु इनके अतिरिक्त लिखते समय ध्यान की
आवश्यकता भी बहुत होती है। आँखों का काम होता है देखना, हम
शिक्षा में वे पूर्ण हैं यदि दोनों आँखें साबूत हैं—देखने का अभ्यास भी
उनको बहुत है—परन्तु यदि उनका भी ध्यान न हो तो सामने पड़ी हुई
वस्तु भी अनदेखी हो जाती है—यही होता है लेखकों से भी। कभी २
उनकी शिक्षा और अभ्यास की पूर्णता होते हुए भी, ध्यान न रहने

के कारण प्रबन्ध कुछ बिगड़ जाता है—उसमें वे बातें न भी आ सकती हैं जो आनी चाहिए और सम्मुख हैं—और वे भी बातें आ सकती हैं जो वास्तव में नहीं ही आनी चाहिए।

हम लिखने बैठते हैं--किसी भी विषय पर। समझ लीजिए हम "मस्तिष्क" पर एक प्रबन्धमय लेख लिखना चाहते हैं--ठीक है: परन्तु साधारण-शिक्षा के साथ हमें उस विषय की तो कम से कम पूरी ही जानकारी करनी पड़ेगी-जब तक हमें शारीरिक ढांचे में मस्तिष्क(brain) का स्थान-विशेष, उसमें आने जाने वाली रक्तनाड़ियां और उनका कार्य--ज्ञानतन्तु तथा प्रेरणातन्तु तथा मनुष्य की जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्तावस्था में उसकी गतिविधि का पूरा परिचय न होगा--तब तक यह प्रबन्ध अधूरा ही नहीं अर्थ-हीन-अभास होगा--इसलिए प्रबन्ध लिखने में बहुत ही आवश्यकता होती है विषय--ज्ञान की। आप कहेंगे यह ऊंची बात है। पर छोटी से छोटी बात में भी इस विषय- ज्ञान की आवश्यकता तो होती ही है। 'पर्वत' पर लेख लिखते समय यदि पर्वतों की उत्पत्ति का भौगोलिक कारण लिखना उचित न समझें तो आस-पास की पथरीली भूमि में बहते हुए जलस्रोत—उसपर उगने वाले पेड़-पौधों के कुछ स्वाभाविक नाम और जड़ी-बूटियों का वास्तविक स्वरूप सामने न रख दिया तो क्या लिखा?

कुछ लोग अभ्यास को बहुत महत्व देते हैं -पाँच-सात प्रबन्ध लिखकर सोचते हैं अब हमें निबन्ध भी अच्छी तरह से लिखने आ गए हैं। किन्तु है यह उनकी मिथ्या धारणा ही—हमारा अपना मत तो यह है कि पूरे अभ्यास से तो उल्टा प्रबन्ध बिगड़ता है, सुधरता नहीं। यदि अभ्यास हो तो केवल वहीं तक कि उस विषय पर सोच सके और मस्तिष्क में ही उसे क्रमबद्ध कर ले। बस अभ्यास का कर्तव्य पूरा हुआ। आगे तो प्रत्येक निबन्ध में नई शैली--नया चमत्कार-पूर्ण ढंग और विषयानुसार भाषा से सजा हुआ नया कलेवर ही हमारे प्रबन्ध लिखने की शक्ति को विकसित करते हैं। और अच्छी तरह समझ लीजिए--गाय, घोड़े और हाथी तथा तालाब; पर्वत और यमुना

पर प्रबन्ध लिखने में वही भाषा, वही शैली और ज्यों के त्यों वाक्य-विन्यास, यदि आपने रख दिए तो पढ़ने वाले को क्या आनन्द आवेगा ? लिखने का मजा तभी आता है जब प्रत्येक प्रबन्धों में उत्तरोत्तर विकास होता चला जाय और अभ्यास तथा विकास में विरोध है।

प्रबन्ध में भाषा का बहुत महत्व होता है। उसका सीधा सम्बन्ध विषय और वातावरण से होता है। साधारण विषय पर लेख लिखते समय क्लिष्ट वाक्य-विन्यास और व्यर्थ का शब्दाडम्बर बहुत बुरा लगता है और गंभीर, उच्चकोटि के लेख में साधारण शब्दावली का प्रयोग भी प्रबन्ध को बहुत नीचे के स्तर पर गिरा देता है। हमेशा भाषा भावों को अनुरूप होनी चाहिए। एक बुढ़िया को फूलों से लदी देखकर-हंसी के सिवाय और आ भी क्या सकता है—हाँ यदि यही फूलों की वर्षा एक किशोरी पर हो तो चित्ताकर्षण दूना हो जावेगा। ऐसा ही सम्बन्ध भाषा का है—भावों से। प्रत्येक प्रबन्ध में भाषा का ही तो आनन्द प्रधान होता है--अतः इस पर बहुत ध्यान रखना चाहिए। साधारण प्रबन्धों में चलती हुई व्यवहारिक भाषा, जो इधर उधर कुछ मुहाविरों की छटा बिखेरती चलती हो, का प्रयोग होना चाहिए। हास्य की साधारण फुट उसे और भी परिष्कृत कर देती है—गंभीर और विवेचनात्मक प्रबन्धों के लिए भाषा कुछ उठी हुई होनी चाहिए। साधारण मुहावरेदार भाषा उसका मजा किरकिरा कर देगी। उच्चकोटि के लेखों में उन विषयों की पारिभाषिक पदावली का होना श्रेयन्कर है। ये प्रबन्ध-लेखक की अच्छी शैली के परिचायक हैं।

शैली, लिखने के ढंग को ही कहते हैं। पूर्ण विषय-ज्ञान को मस्तिष्क मे क्रमबद्ध करके उसका वैसे का वैसा ढाँचा कागज पर उतार देना-भावों के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग करना—सफल लेखक की शैली है—हमे लिखते समय यह ध्यान रहे कि हमे लेखक बनना है—यह नहीं कि परीक्षा देनी है। हम एक विषय पर उठने वाले भावों को एकत्रित करते चले जावे—उनका मनन करते जायें जब तक कि हम उन्हें प्रबन्धमय रूप न देदें। यह कार्य मस्तिष्क मे ही होना चाहिए

क्योंकि बार बार मनन (retrospection) करने से स्मृति बढ़ती है। भावों को डायरी में कैद करने के पक्ष में हम नहीं हैं क्योंकि स्मृति के अतिरिक्त उन्हें फिर से प्रबन्धमय रूप देने में कुछ उत्साह फीका भी होगा। हाँ प्रबन्ध को लिखकर आप उसे चाहे हजार बार पढ़ें और संशोधित करें इससे हानि नहीं होगी।

कुछ लोग कहते हैं कि गद्य में निबन्ध ही एक ऐसी शाखा (side) है अन्य sides जैसे कहानी, नाटक व उपन्यासादि, से शुष्क है। पर हमारे मत में ऐसी धारणाएं उन्हीं लोगों की होती हैं जिन्हें प्रबन्ध लिखना नहीं आता—श्री यज्ञनारायण चतुर्वेदी लिखते हैं कि "यदि गद्य-लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है क्योंकि गद्य-विकास में शैली-विन्यास, भाव-निरूपण और भाषा-वैचित्र्य आदि का जितना अधिक क्षेत्र है, हमें निबन्धों में ही उपलब्ध होता है, बात है भी बिलकुल ठीक। किन्तु जो लेखक अपने भावों का सही सही निर्वहण प्रबन्धों में नहीं कर सकते वे इसे शुष्क-विषय कहकर इस तरह से छोड़ देते हैं जैसे लोमड़ी अंगूरों को खट्टा बतला कर।

निबन्ध तीन प्रकार के होते हैं—कुछ विद्वान् इस श्रेणी-विभाजन में भी आपत्तियां उठाते हैं। वे निबन्धों की चार श्रेणियां बतलाते हैं—

(१) वर्णनात्मक (Descriptive) (२) विवरणात्मक (Narrative) तथा विवेचनात्मक व भावात्मक (Reflective)। इसी अंतिम प्रकार वाले को ही भिन्न २ नामों से भी कहते हैं।

(१) वर्णनात्मक प्रबन्धों में किसी एक दृष्ट विषय पर लेख लिखा जाता है—जैसे पर्वत, नदी या शारदीय सुषमा आदि। इस प्रकार के प्रबन्धों के लिए भूगोल विषय का ज्ञान अत्यन्त ही आवश्यक है। लेखक के लिए ऐसे विषय में उपलब्ध-आनन्द का अनुभव भी आवश्यक है—वर्षा ऋतु पर यदि प्रबन्ध लिखना है तो वास्तव में वर्षा ऋतु में ही लिखने से ही स्वाभाविक आनन्द की सृष्टि होगी अन्यथा कृत्रिमता आ जाना संभव है।

(२) विवरणात्मक प्रबन्धों में किसी समय (काल) की राज्य-व्यवस्था, पिकनिक, देशाटन या तीर्थ-यात्रा अथवा सभा-सम्मेलनों का विवरण रहता है—चूंकि इसके घटना-क्रम संवत् या तारीखों में दिए जाने श्रेयस्कर होते हैं—इसीलिए इस प्रकार के प्रबन्धों के लिए इतिहास का अच्छा ज्ञान होना अत्यन्त ही आवश्यक है।

लेखक यदि स्वयं भ्रमण-प्रिय (Tourist) है और देश-विदेश के ऐतिहासिक स्थानों, समय-समय के सिक्के और लड़ाइयों के पार्ट आदि अपनी आंखों से देखें है तो सोने में सुगन्ध।

(३) तीसरे होते हैं विचारात्मक या विवर्णात्मक। भावात्मक भी इस से अधिक भिन्न नहीं। इसके लिये मनुष्य को संसार के सभी विषयों में से जितना भी ज्ञान सम्भव हो सके, उतना ही ठीक है—इस प्रकार के प्रबन्धों में—आलोचनाएं, विभिन्न सिद्धान्तों में खण्डन-मंडन और विभिन्न विषयों का पक्ष-विपक्ष आदि होता है।

ये प्रबन्ध गंभीर लेखकों के लिये होते हैं जो अपनी बुद्धि व विवेक पर काबू रख सकें।

इनके अतिरिक्त अन्य सैकड़ों प्रकार के प्रबन्ध हो सकते हैं - परन्तु मुख्य ३ ये ही हैं।

कुछ मुख्य-मुख्य प्रबन्धों की विस्तृत-रूपरेखाएं

वर्षा ऋतु में प्रातः कालीन दृश्य

भूमिका—

१. परिवर्तन, प्रकृति का नियम। उससे मनुष्य को सुख व संतोष।

२. समय का विभक्ति—करण।

३. उसमें भौगोलिक—सिद्धान्तों का समावेश।

४. छः ऋतुओं में एक वर्षा भी।

शरीर—

१. वर्षा होने का समय। रूप और वातावरण।

२. विशेषताओं का दिग्दर्शन एवं ढंग।

३. साधारण और भारी वर्षा की गतियों का अंतर।

४. बालकों, युवकों तथा वृद्धों के भिन्न २ व्यापार-विचार।

५. उसी व्यापार-विचार के सहारे उनके कृत्य; बच्चों का प्रसन्न-चित्त से वर्षा का देखना। बाग में फैली हुई लाल-चीटियों को उठाकर लाना-देखना आदि, युवकों का साथियों सहित घूमने जाना और भाँति २ के आनन्दोत्सव की तैयारियां करना-आदि तथा वृद्धों का अपने कपड़े संभाल के खोंसना आदि।

६. गली, बाग हाट मकान आदि का वर्णन।

७. पेड़ पौधों की हरियाली का और उनपर उड़ते हुए तथा यह चहाते हुए पक्षियों की कर्ण-प्रिय ध्वनि का शब्द—चित्र।

८. सम्बन्धित अन्य विशेष दृश्य।

उपसंहार—

१. अधिक या साधारण वर्षा, मनोरंजन में बाधा या साधन।

२. लाभ-हानि का पूरा—विचार-पूर्वक विवरण।

३. स्वयं के आनन्द और उत्साह की सीमा का निर्धारण।

४. सामयिक प्रभाव आदि।

५. अन्य विशेष।

नौका-विहार

भूमिका—१-मनुष्य के जीवन में आनन्द की प्रधानता। दैनिक-नियमित काय-क्रमों में कुछ उदासीनता का समावेश हो जाने के कारण कुछ परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव।

२. मनोविनोद से जीवन में उल्लास और शाँति का दिग्दर्शन।

३. उसकी श्रेणियों एवं स्तरानुसार उपयोग।

४. नौका-विहार का प्राथमिक वृत्ताँत।

शरीर—१. समय, साथी एवं प्रारंभिक-परिचय सहित वर्णन।

२. नाव की आनन्द-हिलोरें और मुख-मुद्राएं।

३. मल्लाहों के गीत और साहित्य की अभिव्यक्ति।

४. किनारे पर खड़े हुए लोगों की आँखे।

५. नदी का उतार-चढ़ाव; पानी की गहराई और आगे तथा पीछे के पुलों पर से आने जाने वाली मोटरों आदि का साहित्यिक वर्णन।

६. सूर्य की रश्मियाँ और कोई उपमा आदि।

७. भावुक हृदयों की कल्पनाओं का समन्वय।

८. सामान्य आनन्द की प्राप्ति।

उपसंहार—१. आवश्यकता और महत्व का सिंहावलोकन।

२. स्वास्थ्य आदि पर प्रभाव—उसका विवेचन।

३. कतिपय हानियाँ—बाढ़ आदि के समय भय एवं जल-जन्तुओं का भय—उनसे बचने के उपायों का वर्णन।

४. हानि-लाभ की तुलना में—लाभ का पलड़ा बहुत भारी।

५. व्यक्तिगत विचारावली में सर्वत्र लाभ ही लाभ।

६. अन्य विशेष।

प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान—हरिद्वार

भूमिका—१. भारत का सर्वाङ्गीण दिग्दर्शन करने के हेतु प्रसिद्ध २ स्थानों को, जिनके दृश्य अतीव लुभावने हैं—धर्म के अन्तर्गत रख देना। जिससे कि 'पर्व' और 'तीर्थ' समझ कर सब भारत के चारों कोनों में तो भ्रमण कर सकें।

२. इसी कारण चार धामों एवं कई प्रसिद्ध तीर्थों का चारों दिशाओं एवं देश की प्रसिद्ध सीमा या विशेष भूमि में होने का कारण।

३. तीर्थों का महत्व और कुछ तीर्थों की नामावली।

४. हरिद्वार का प्रारंभिक परिचय।

शरीर—१. स्थिति, सीमा तथा जनसंख्या।

२. प्राकृतिक दृश्यों में गंगा एवं पर्वतमालाओं के वर्णन।

३. गंगा के किनारे ऋषियों के आश्रम आदि।

४. उनके उपदेश एवं प्रार्थनाएँ।

५. आरती, स्थान, भजन एवं पूजा आदि का धार्मिक एवं साधारण दार्शनिक विवेचन करते हुए उनका महत्त्व।

६. शरीर एवं आत्मा की शुद्धि तथा प्रकाश।

७. निर्मल जल में निर्मल-आत्मा का प्रतिबिम्ब एवं आत्म-साक्षात्कार का प्रथम प्रयास—तीर्थों का स्नान।

८. अन्य आनंद।

उपसंहार—१. अन्य तीर्थों की अपेक्षा हरिद्वार की कुछ विशेषताएं।

२. तीर्थों का आधुनिक उपयोग।

३. आजकल उनके विषय में सोचने के विभिन्न दृष्टि-कोण।

४. सच्चा व सही रास्ता तथा दृष्टि-कोण।

५. लौकिक व अलौकिक दोनों लाभ।

६. अन्य विशेष।

श्मशान-भूमि

भूमिका—१. जीवन और रेलगाड़ी दोनों का उदाहरण। यों ही रुक २ कर चलने में विकास का संकेत।

२. कर्म का योग और योग का कर्म—पर विश्राम की आवश्यकता—निरन्तर जीवन में मृत्यु एक विश्राम का बिन्दु।

३. जीवन की प्रयोजनवत्ता एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्तों की समीक्षा के साथ जीवन-रहस्य का स्पष्टीकरण कर देना।

४. श्मशान प्रत्येक प्राणी का निश्चित निवास-स्थान।

शरीर—१. श्मशान का भौतिक-वर्णन।

२. धू धू जलती हुई चिताओं एवं लाशों का वर्णन—ऐसी साहित्यिक

भाषा में मानो वीभत्स साकार होकर नाच रहा हो। कहीं कहीं रोने-पीटने से करुणा की भी उत्पत्ति।

३. स्थान की अन्य प्राकृतिक छटाएँ।

४. उस समय मानव-हृदय की भावुक-कल्पनाएँ।

५. मानव-जीवन की असारता—संसार की क्षणभंगुरता एवं अपने कर्त्तव्य की ओर मुड़ने को प्रेरणा देने वाला स्थान।

६. एक जीवन की समाप्ति की सूचना।

७. इस स्थान में निरंतर चिन्तन करते रहने से मनुष्य के आन्तरिक भावों में बहुत ही परिवर्तन की संभावना। बुरे २ विचारों का श्मशान में जाकर सोचने से अंत।

उपसंहार—१. सिंहावलोकन।

२. श्मशान कर्त्तव्याकर्त्तव्य की सूचना देकर पथ-प्रदर्शन करने में एक बहुत बड़ा सहायक। क्षणभंगुरता चिन्तन से आत्मोद्धार संभव।

३. अन्य शिक्षाएँ।

एक अत्यन्त प्रिय पुस्तक

भूमिका—१. मनुष्य की अपनी रुचि का एक भिन्न महत्व।

२. किसी भी वस्तु को अन्य वस्तुओं की अपेक्षा श्रेष्ठतम या निम्न-तर समझने में उसके मस्तिष्क का व्यापार और उसकी निजी शक्ति का उपयोग और प्रयोग।

३. आलोचना से इस रुचि का साहित्यिक-सम्बन्ध।

४. मस्तिष्क के विकास में यह लाभदायक।

५. पुस्तक-परिचय।

शरीर—१. परिचय का विशेष महत्व।

२. उसका विषय और उससे सम्बन्धित ज्ञान की उपलब्धि।

३. उसी विषय की अन्य पुस्तकों से उसका तुलनात्मक-विवेचन और उसमें उसी का क्यों विशेष महत्व है? इस बात का पूर्ण तर्क-युक्त उत्तर।

४. विषय की रोचकता और उसके उदाहरण।

५. रस एवं भावों का विवेचन।

६. पुस्तक के मार्मिक स्थलों की व्याख्या।

७. उसकी व्यापकता पर विचार एंव विभिन्न अन्यान्य साहित्यिकों का उस पर टीका-टिप्पणी सम्बन्धी बातों का अपनी राय जोड़ते हुए विवेचन।

८. अन्य विवरण।

उपसंहार—१. सामान्य लाभ एवं ज्ञान का पुनः वर्णन।

२. उसके सम्बन्ध में अन्य विचारों का दिग्दर्शन।

३. व्यक्तिगत ज्ञान के विकास में कहां तक सहायक हुई।

४. साथियों को सुझाव।

५. अन्य विशेष।

देखा हुआ कवि सम्मेलन

भूमिका—१. काव्य की व्याख्या।

२. श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य। पढ़ी हुई कविताओं की अपेक्षा-सुनी हुई कविताओं का अधिक स्थाई प्रभाव।

३. इसीलिए कवि-सम्मेलनों की आवश्यकता और उनके महत्व में अत्यधिक स्नेह।

४. कवि-सम्मेलन का प्रारम्भिक परिचय।

शरीर—१. कवि-सम्मेलन का स्थान, समय और वातावरण पर एक दृष्टिपात।

२. प्रकाश एवं हवा के सुव्यवस्थित प्रबन्ध के कारण उस वातावरण में जान पड़ना और मंच की सजावट के कारण चित्ताकर्षित होना।

३. विभिन्न कवियों का परिचय।

४. उनकी कविताओं की विवेचना। शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र एवं वीर की रचनाओं की अधिकता और उनके सुनने से लोगों की उत्सुकता का अंदाज।

५. श्रोताओं की रुचि और उनके अनुसार कविताए ।

६. हृदय में चमत्कार उत्पन्न कर देने वाली रचनाएँ ओज-प्रधान रचनाएँ—मार्मिक स्पर्श । उनकी विशेषताएँ ।

७. कवियों और श्रोताओं की मनोदशा का मनोवैज्ञानिक वर्णन और उसके साथ—सम्मेलन की सफलता ।

उपसंहार—१. आवश्यकता एंव महत्व का सिंहावलोकन ।

२. लाभ-हानि । रूढ़िवादियों की मनोदशा ।

३. आधुनिक युग में कृत्रिमता अधिक—व्यर्थ प्रदर्शन में अधिक व्यय की सम्भावना ।

४. अन्ततः लाभ अधिक ।

५. अन्य विशेष ।

पर्यटन

भूमिका—१. एक स्थान पर बैठे २ मानवी प्रकृति में कुछ औचाट की संभावना । उससे निरसता आ जाना—इसी लिए पर्यटन की आवश्यकता ।

२. विचारों के परिवर्तनों के लिए भी पर्यटन लाभप्रद ।

३. अन्य स्थानों (नये स्थानों) को देखने से एक बार शरीर मे कुछ नवीन स्फूर्ति एवं नवीन प्रकाश की उत्पत्ति ।

४. पर्यटन के कुछ प्रमुख स्थान ।

शरीर—१. पर्यटन—दो प्रकार का, स्थानीय और बाहरी । साधारण स्थानीय स्थानों से कोई अधिक आनन्द नहीं—बाग—जंगल—नदी पहाड़ प्रतिदिन देखते रहने से क्या नूतनता आजाने की संभावना है ? हाँ चित्तौड़, आदि ऐतिहासिक स्थानों एवं हरिद्वार आदि धार्मिक स्थानों का पर्यटन अवश्य ही सभी दृष्टि-कोणों से लाभ प्रद ।

२. स्वास्थ्य और विचारों पर उसका प्रभाव ।

३. रास्ते का मनोविनोदिक वर्णन और उससे सम्बंधित शिक्षा का एक निश्चित—निर्देश।

४. देख गए स्थान की ऐतिहासिक, धार्मिक या भौगोलिक विशेषता के साथ ही साथ उसके नूतन दृश्यों पर प्रकाश।

उपसंहार—१. आवश्यकता एवं महत्व का पुनः विवेचन

२. लाभ और हानि।

३. अधिक आर्थिक व्यय, आधुनिक पर्यटन की विशेषता—आस-पास के स्थानादि को पैदल घूम कर देखने का अधिक महत्व।

४. सामान्य लाभ का फिर विवेचन।

दशहरा

भूमिका—१. भारतीय-संस्कृत में त्यौहार परम्परा का महत्व।

२. वही आनन्द और उत्सव से जीवन को वार वार में माँजने एवं पुराने मनोमालिन्य की गंदगी साफ करने के निमित्त उनका जन्म और मान्यता।

३. समय २ पर इन्ही उत्सवों का विभिन्न स्वरूप।

४. चार बड़े त्यौहारों में दशहरा भी एक।

शरीर—१. दशहरे का समय और उसके पीछे ऐतिहासिक तत्थों का दिगदर्शन।

२. बंगाल में दुर्गापूजा का उत्सव और उसकी धूमधाम।

३. राजपूती वीरता का यह एकमात्र प्रतीक--हथियारों की पूजा और उनकी विशेषताएं।

४. पशुवलि और आधुनिक विचारधारा।

५. खेल-तमाशे और अन्यान्य-प्रदर्शन।

६. तोपों से राजकीय अधिकारियों का स्वागत और नई प्रेरणाएं—नई विचारावली का जागृत उदाहरण।

७. दर्शकों एवं भाषण-श्रोताओं के मन में स्फूर्ति का संचार और

एक निश्चय योजन को कार्यान्वित करने के लिए कटिबद्ध होने की आवश्यकता एवं संभावना।

उपसंहार—१. आवश्यकता एवं महत्व का दिग्दर्शन—

२. प्रेरणाएं।

३. हानि-लाभ। उत्साह के साथ २ बलि-प्रधानता से जीव हत्या का पाप। सुधार की आवश्यकता है।

४. व्यक्तिगत विचारावली में परिवर्तन या जड़ता किस रुख की ओर?

५. सामान्य शिक्षाएं।

किसी प्रसिद्ध मेले का वर्णन

भूमिका—१. उसी आनन्दोत्सव की तैयारियों में मेलों आदि का महत्व।

२. त्यौहार और मेलों का अन्तर-स्पष्टीकरण।

३. विभिन्न प्रकार के मेलों का उद्देश्य—प्रत्येक साथी से मिलने का अवसर प्राप्त हो सकने का ही उद्देश्य-उसी प्रकार आनन्द का जीवन बनाने के लिए।

४. मेले-आधुनिक दृष्टिकोण।

शरीर—१. स्थानीय या बाहरी का वर्णन। स्थान, समय, ऋतु, और वातावरण का स्पष्टीकरण।

२. उसका कोई ऐतिहासिक महत्व, यदि कोई हो तो।

३. मेले का विषय, देवता, समाधि या अन्यान्य।

४. वर्णन-संख्या, दर्शकों की एवं दूकानों आदि पर प्रकाश। मिठाइयों की सजावट, खिलौनों की दूकाने, मनोविनोद के अन्यान्य साधन।

५. बालकों की उत्सुकता और पैसे पाने के लिए हट।

६. अन्य खेल तमाशे आदि।
७. और कोई वस्तु जो वहां देखने योग्य हो।

उपसंहार—१. आवश्यकता और महत्व का पुनः विवेचन।

२. लाभ और हानि। लाभ में मनोविनोद और आनन्द की प्राप्ति। हानियों में पैसे का अपव्यय एंव आज-कल के मेलों में अपहरण, व्यभिचार आदि दुष्कर्मो की ओर संकेत। उनमें सुधार आदि की संभावना और आवश्यकता।

३. व्यक्तिगत सम्मति।

४. अन्य-विशेष।

शरणार्थी-समस्या

भूमिका—

१. मानवी अधिकारों की समीक्षा के साथ २ खाना-रहना और जीवन बिताना आदि नैतिक-अधिकारों मे।
२. परन्तु भारत की राजनैतिक परिस्थितियों में—और पिछले २५ वर्षों के इतिहास में नई-नई दल-बंदियों की विवशता के कारण पाकिस्तान का निर्माण।
३. निर्माण के साथ २ मानवता का नाश-नैतिक अधिकारों का अपहरण और अशांति।

शरीर—१. राजनैतिक-आपत्तियों के साथ २ मनुष्य के विचारों में परिवर्तन और अराजकता।

२. विवश हिन्दुओं का अपने २ घर-बार छोड़कर भागना और भारत मे प्रवेश करना।
३. सब कुछ खोकर भी धर्म और स्वाभिमान की रक्षा।
४. अचानक लाखों-करोड़ों मनुष्यों का इधर से उधर भागना और और व्यवस्था में खलबली उत्पन्न करना।

५. खाद्य पदार्थ की समस्या—निवास स्थान की समस्या तथा उनको व्यवसाय पर लगाने की समस्या ।

६. निराकरण ।

उपसंहार—१. विभिन्न विचारकों एवं राजनीतिज्ञों के मत ।

२. अपनी स्वयं की राय में उनकी व्यवस्था को सुधारने की कोई तरकीबें । जिससे उन्हें ऐसा न मालूम हो कि वे आपत्ति-ग्रस्त हैं ।

३. गरीबी और भुखमरी का सही हल ।

४. अन्य राजनीतिज्ञों से अपने मत की तुलना और अपने विचारों की व्यापकता का विवेचन ।

ग्राम-सुधार

भूमिका—१. सुख और चैन पाने की मानवी प्रकृति ।

२. दल बाँध कर रहने की परिपाटी—उसका उद्देश्य और उससे लाभ-हानि । क्या सभी मनुष्य एक स्थान पर रह सकते हैं ? नगर और गाँवों की उत्पत्ति का विवेचन ।

३. नगर और गाँव की पारिभाषिक व्याख्या ।

शरीर—१. आबादी एवं रहन-सहन पर विचार ।

२. बच्चों की शिक्षा का प्रश्न और उनके घरेलू कार्यों से उनका सम्बन्ध । क्या खेत का काम करता हुआ बालक शिक्षा में उतनी ही अभिरुचि प्रगट कर सकता है ।

३. गाँवों की आर्थिक व सामाजिक हालत ।

४. गाँवों के शिक्षालय, सार्वजनिक संस्थाओं आदि के अभाव के कारण वहाँ की जनता की उदासीन प्रवृत्तियों का विवरण ।

५. सुधार की आवश्यकता ।

६. सुधार की संभावना की सफलता या नहीं ?

७. मूल-प्रश्नों का सिंहावलोकन ।

८. राज्य-शासकों का कर्तव्य।

९. ग्राम पंचायतें और म्युनिसिपेल्टियाँ।

उपसंहार——१. ग्राम-सुधार के ऐसे उपाय जो तुरन्त लागू हो सकते हों और उनका अच्छा फल मिल सकने की पूरी २ संभावना के साथ साथ कार्यारूढ़ करने की ओर संकेत हो।

२. अपनी राय में उसकी आवश्यकता।

३. गावों का महत्व बतलाते हुए अधिकांश जनता का उपकार करने की प्रवृत्ति में लोगों का सहयोग किस रूप में आवश्यक और संभव।

४. अन्य विशेष उपायों का दिग्दर्शन।

पतिव्रत धर्म

भूमिका——१. स्त्री और पुरुष प्राकृतिक युग्म।

२. भारतीय-विवाह प्रथा और उसका उद्देश्य।

३. स्त्री और पुरुष का जीवन-साथ। सहयोग से जीवन का रहस्य प्रगट। मनोविनोद आदि।

४. भारतीय दृष्टि से विवाह का सम्बन्ध और पति-पत्नी का कर्तव्य। विवाह के समय की प्रतिज्ञाए।

शरीर——१. पतिव्रत धर्म का गौरव और महत्व।

२. अनैतिक और अन्याय आदि का भी लोप और प्रेम से अन्य बाधाओं का दूर हो जाना?

३. एक दूसरे पर पूर्ण विश्वास और विश्वास के कारण संसार की जटिलतम समस्याओं का नाश।

४. कुछ आदर्श-युग्मों का विवेचन।

५. राम और सीता के प्रेम में, सावित्री और सत्यवान के प्रेम में, तथा जनश्रुतियों के आधार पर अन्यान्य युग्मों के प्रेम में एक ही पतिव्रत और पत्नीव्रत धर्म का मूलकारण।

६. आदर्श प्रेम में इसी व्रत का सहयोग।

७. नारी जीवन के लौकिक व अलौकिक उत्थान में पतिव्रत धर्म का ही हाथ । कतिपय उदाहरण ।

उपसंहार—१. आज का समय और उस व्रत की अवस्था ।

२. सुधार की आवश्यकता और महत्व का पुनः विवेचन करते हुए उसके उपायों का दिग्दर्शन ।

३. अपनी राय में इससे लाभ-हानि । स्त्रियों का जीवन एक प्रकार से बन्धन में—किंतु यह बंधन हानि का कारण या लाभकारक ? इस पर पूरा विचार ।

४. अन्य विशेष ।

साहित्य में महिलाएं

भूमिका—१. प्रकृति और पुरुष का अनादि सहवास ।

२. नारीजाति का भी प्रत्येक कार्य में सहयोग और उस सहयोग की आवश्यकता और महत्व ।

३. भारतीय नारी और सहयोग की वृ ।

४. प्रत्येक कार्य में आगे रहना ।

शरीर—१. वेदों में नारी-जाति का सहयोग ।

२. भक्ति-काल में सहयोग और साहित्य-निर्माण मे मीरा की अभिव्यक्ति । उसका साहित्य एवं विषय ।

३. बौद्धों के मठों में नारी जाति और साहित्य-निर्माण ।

४. आधुनिक युग में नारी जीवन और उसकी निश्चल धारा का स्पष्टीकरण करते हुए सर्वोन्मुखी प्रतिभा की ओर संकेत मात्र ।

५. काव्य-निर्माण में महादेवी, चौहान, रामेश्वरी चकोरी, शशिकला, दिनेशनंदिनी, तारा पाण्डेय, और त्रिपुरी की रचनाएं—सहयोग ।

६. उनके साहित्य पर आलोचनात्मक दृष्टि ।

७. शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव करते हुए अन्य प्रकार के साहित्य में उनकी कमी ।

उपसंहार—१. नाटक, कहानी, उपन्यास आदि में शिवरानी के अतिरिक्त कौन ? आवश्यकता का महत्व।

२. शिक्षा से इस कमी की भी दूर हो जाने की संभावना। नयी २ लेखिकाओं के उदाहरण।

३. अन्य सम्बन्धित।

शिक्षा का उद्देश्य

भूमिका—१. शिक्षा का अर्थ। ज्ञानोपार्जन।

२. आवश्यकता और महत्व वतलाते हुए विवेचना कि शिक्षा के विना मनुष्य कैसा रहता है।

३. प्राचीन-शिक्षा के ढंग औ प्राचीन विद्यार्थी।

४. प्राचीन-शिक्षक और उनका ज्ञान। आधुनिक शिक्षक, शिक्षार्थी एवं शिक्षा-स्थानों से प्राचीन शिक्षकों, शिक्षार्थियों एवं शिक्षा-स्थानों की तुलना।

शरीर—१. शिक्षा का उद्देश्य--प्राचीन और अर्वाचीन।

२. वाहरी अंतर होने से आंतरिक अंतर।

३. उद्देश्य परिवर्तन से संसार-परिवर्तन।

४. केवल पढ़ना—डिग्री प्राप्त करना और नाम पैदा करना शेष। पहिले ज्ञान का भण्डार भरना ही उद्देश्य।

५. पढ़ने अ पश्चात् ? (दोनों)

६. शिक्षा की कीमत—उन्नति या अवनति।

७. जीवन का उपयोग या दुरुपयोग ? हम क्या सीखते हैं ? ज्ञान तो वहुत दूर रह जाता है। हम सत्य से भी वहुत पीछे रह जाते हैं।

८. शिक्षा का अंतिम उद्देश्य—आत्मोद्धार।

९. उसकी सफलता और असफलता पर विचार।

उरसंहार—१. आधुनिक शिक्षा में सुधार की आवश्यकता।

२. वह सुधार किस प्रकार संभव हो सकता है जब शिक्षकों तक की आत्माएं—विदेशीय और रोटियों पर बिकी हुई हैं ? भूल का सुधार कैसे संभव ? उसके उपाय।

३. आजकल की शिक्षा से लाभ-हानि। प्राचीन से उसका तुलनात्मक विवेचन करते हुए पूर्ण विवरण।

४. अन्य विशेष।

युग-पुरुष—गांधी

भूमिका—१. दुर्दशा-ग्रस्त भारत का उद्धार करने के लिये समय २ पर महापुरुषों के जन्म। गीता के दो श्लोक।

२. तुलसीदास, राम, कृष्ण और बुद्ध के समय से पूर्व भारत की आपत्तियों का शब्द-चित्र।

३. इसी प्रकार गाँधी के समय से पूर्व भारत की राजनैतिक अवस्था और आपत्तियों के विवरण।

४. अंग्रेजों की कूटनीति से भारत का रक्त-शोषण।

५. गांधी जी का जन्म। शिक्षा।

शरीर—१. जीवन-चरित्र-प्रारंभिक-झाँकियां।

२. विलायत-यात्रा। सहयोगियों के साथ कार्य।

३. अफ्रीका—नमक आंदोलन आदि से ख्याति।

४. प्रारम्भ से कर्मशील एवं भारत-उद्धार का विचार।

५. गोल-मेज कांग्रेस और गांधी जी।

६. जीवन में उनकी सफलता के शस्त्रादि—अहिंसा सत्य, धर्म-परायणता, त्याग और बलिदान तथा सहिष्णुता एवं सच्चरित्रता।

७. इन्हीं अस्त्रों के बल पर बिना रक्तपात के राज्य-परिवर्तन।

८. राजनैतिकता से अधिक दृढ़ आध्यात्मिक बल।

९. विजय, यश और उद्धार।

उपसंहार—१. उनका चरित्र अनुकरणीय।
२. भारतीय दृष्टिकोण से उनके चरित्र का मूल्यांकन।
३. अन्य सहयोगियों के लिये पथ-प्रदर्शन।
४. भविष्य की योजना में उनका हाथ।
५. मृत्यु के पश्चात् उनके साहित्य से सहायता।

भारतीय—विधान और नारी

भूमिका—१. देश की व्यवस्था को स्थायी एवं सुदृढ़ करने के निमित्त शासकों के कर्तव्य।
२. रक्षा एवं दंड-विधान के साथ २ व्यवस्था विधान। उसमें कानून का समावेश। कानून ही विधान—विधान ही कानून। उससे व्यवस्थित रूप आने की पूर्ण-संभावना।
३. स्वतंत्रता के पश्चात्, भारत के नव-विधान का निर्माण। अनेक आवश्यक विषयों को उसमें भारतीय और अभारतीय मिश्रण।
४. नारी का विशेष विषय।

शरीर—१. विधान निर्माण के समय भारतीय नारी की अवस्था-पर प्रकाश और विवेचन।
२. विधान में नारी जीवन से सम्बन्धित अनेक विषयों पर विचार विमर्श। उनका स्पष्टीकरण।
३. पिता की संपत्ति में अधिकार, विवाह, परित्याग (Divorce) आदि अनेक प्रकार के कानून का स्पष्टीकरण।
४. कुछ भारतीय और कुछ अभारतीय बातों का समन्वय। आवश्यकता या निरर्थक? इस पर विचार।
५. नारी जाति की उन्नति में साधक या बाधक?

उपसंहार—१. स्त्रियोचित उत्थान की रूपरेखा।
२. विधान का सहयोग या असहयोग?

३. लाभ हानि। नारी की सफलता—उत्थान परन्तु निरंकुश जीवन-बिताने की भी संभावना। जिससे मर्यादा का नाश। आधुनिक दृष्टिकोण से समानाधिकार का प्रश्न।
४. सामान्य सम्बंधित विचारावली।

सहशिक्षा

भूमिका—१. शिक्षा का अर्थ—सीखना—ज्ञानोपार्जन।
२. विद्यार्थी—जीवन उसकी निश्चिंतता में ही ज्ञान का उपार्जन संभव।
३. प्राचीन भारतीय विद्यार्थी और शिक्षा में ढंग गुरुओं के आश्रम और वृक्षों के नीचे बैठकर विद्याध्ययन।
४. युग की प्रगति के साथ २ शिक्षा के ढंग एवं दृष्टिकोण में भी परिवर्तन। स्कूल और कालेजों का निर्माण।
५. सह-शिक्षा की व्याख्या।

शरीर—१. सह-शिक्षा का स्पष्टीकरण और भारतीय दृष्टिकोण से उसकी उपयोगिता पर विचार—
२. छात्र एवं छात्राओं के चरित्र-विकास में सह-शिक्षा का सहयोग या असहयोग ?
३. भारतीय शिक्षालयों में सहशिक्षा की संभावना होना, भलाई या बुराई का सूचक ? युगानुसार नारी जाति के उत्थान में भलाई और संभवतः चरित्र की दृष्टि से घातक।
४. प्रेम सत्य पर वासना घातक। पर यह भी संभव।
५. छात्रों को लज्जावश अधिक प्रयत्न करने की आशा।
६. अध्ययन काल में जीवन-साथी का चुनाव। अच्छा या बुरा उसका दोनों पक्षों में पूरा विवेचन।

उपसंहार—१. सभ्यता के विकाश के साथ २ सह-शिक्षा आवश्यक

अंग। नारी-जीवन की गति-विधियों में भी शताब्दियों के बाद यह अंतर आवश्यक।

२. अपनी सम्मति के साथ २ अन्यान्य विद्वानों की सम्पति से उसका तुलनात्मक विवेचन।

३. अन्य सम्बंधित विषय—वार्ता।

मुसलमानों की हिन्दी सेवा

भूमिका—१. हिंदी साहित्य के आविर्भाव के समय भारत में विजातियों की संख्या और उनका दृष्टिकोण।

२. भारतीय साहित्य का उनपर प्रभाव और उसी रंग में रंगकर उनकी भी वाणी का उसी दृष्टिकोण से प्रस्फुटित होना।

३. ईसाइयों के हिंदी प्रचार का उद्देश्य। खुसरो का प्रेम।

शरीर—१. कबीर और जायसी पर भारतीय विचार धाराओं एवं दार्शनिक चिंतनों का प्रभाव और इन्हीं के अनुसार उनकी भक्ति की कविताएँ।

२. अब्दुर्रहीम खान-खाना के दोहों में भारतीय नीति, दर्शन और इतिहास का दर्शन।

३. कुतुब आदि का साहित्य।

४. रसखान का प्रेम-साहित्य, भक्ति की चरम सीमा।

५. गद्य विकास में इंशाअल्लाखाँ आदि का सहयोग।

६. अन्य साधारण कवियों की हिंदी सेवा।

उपसंहार—१. भारतीय एकता के दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए 'हिंदी और मुसलमानों का प्रश्न।

२. इस प्रयास का महत्व।

३. अन्य मुसलमान कवियों एवं लेखकों के लिए अनुकरण की वस्तु भेदभाव का मटिया-मेट।

४. इसी प्रकार हिंदी लेखकों, (हिंदुओं) ने भी उर्दू साहित्य के निर्माण में सहयोग दिया है।

५. राष्ट्र-निर्माण में इस सहयोग का महत्व।
६. अन्य विशेष।

कोई भक्त कवि और उसकी रचना

भूमिका—१. राजनैतिक आपत्तियों के कारण भक्ति की धारा का प्रवाह—आवश्यक।
२. भक्ति का उद्गम स्थान—हृदय, उसका विषय श्रद्धा।
३. भक्ति की परंपरा। दृष्टि-कोणों में विभिन्नता।
४. राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के प्रमुख कवि।
५. तुलसीदास—अपने युग के प्रतिनिधि।

शरीर—१. बचपन और यौवन की आख्यायिका।
२. भक्ति सम्बन्धी रचनाएँ—ग्रंथ।
३. राम के उपासक।
४. भाषा, शैली एवं शब्दों के सम्बंध में।
५. अर्थ वैचित्र्य एवं विषय।
६. व्यापकता, जीवन के विभिन्न पहलुओं पर विचार।
७. लौकिक बातों पर सभी का दिग्दर्शन।
८. भावात्मक एवं व्यवहारात्मक दोनों ही शैलियों का सम्मिश्रण—काव्य सौष्टव एवं चमत्कार।
९. जीवन से सम्बंध रखने वाली सभी बातों का पूरा विचार—मातृप्रेम, पतिप्रेम, अछूतोद्धार आदि सभी का वर्णन।
१० राम से अपना सम्बंध। आत्म साक्षात्कार या अन्य रूप में।

उपसंहार—१. भक्ति की कविता से आत्मा की शुद्धि।
२ तुलसी भक्त या उद्धारक ?
३. उसके पीछे का युग और अनुकरण।
४. अन्य लोगों की रचनाओं में उसके विचारों का दिग्दर्शन—व्यापकता का नमूना।
५. अपनी सम्मति।
६. अन्य विशेष।

राष्ट्र भाषा का प्रश्न

भूमिका—१. राष्ट्र से व्यक्तियों का सम्बंध।

२. भाषा प्रत्येक राष्ट्र के संचालन में एक सहयोगी के रूप में।

३. राष्ट्र के लिए भाषा का महत्व और उसका विवेचन।

४. भारत की गुलामी और उसके देशवासियों की विवशता। उनके जीवन को पलट देने का अंग्रेजों द्वारा प्रयत्न।

५. साथ ही मुसलमानों की आबादी।

शरीर—१. इतिहास की रूपरेखा देते हुए—पहले उर्दू और फिर अंग्रेजी भाषाओं का विवेचन।

२. भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् भी कतिपय प्रांतों में उर्दू और अंग्रेजी का बोलबाला। उसी विदेशीय दृष्टि-कोण को ध्यान में रखना।

३. भारतीय जनता की व्यापक भाषा (जो अधिक से अधिक लोगों द्वारा बोली व समझी जाती हो) हिन्दी ही है। इसलिए वही राष्ट्र भाषा होने की अधिकारिणी।

४. हिन्दी की व्यापकता और प्रचार—साहित्य में देशवासियों के सहयोग द्वारा उसकी महत्ता।

५. हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा।

उपसंहार—१. अन्त विदेशीय भाषाओं के साथ हिन्दी का समन्वय। अन्य प्रांतीय भाषाओं को इसको सहयोग।

२. हिन्दी राष्ट्रभाषा होने से भारतीय जनता का कल्याण।

३. उसके प्रचार एवं प्रसार के अन्यान्य साधन।

४. लेखकों एवं कवियों का सहयोग।

५. "राष्ट्रभाषा" को सार्थक करने वाली—हिन्दी ही।

६. अन्य सम्बंधित विषय—विवेचन।

समाज पर साहित्य का प्रभाव

भूमिका—१. समाज से साहित्य का सम्बंध।

२. विभिन्न रुचि का प्रदर्शन—उस समय का साहित्य बतला देता है—अतः साहित्य समाज का दर्पण है।

३. प्रत्येक देश का इतिहास उस समय की सामाजिक व्यवस्था राजनैतिक दशा—आर्थिक दशा आदि का जीता जागता प्रमाण होता है। उस समय के साहित्य में उस समय की सारी ही बाते देख लीजिए।

४. हिन्दी साहित्य के इतिहास का उदाहरण।

शरीर—१. वीर गाथाओं की सामग्री तभी तैयार हुई जब राजाओं को भाट व चारण लोग वीर-रस की कविताएँ सुनाना—और उनको उत्साह दिलाना अपना उद्देश्य समझा करते थे।

२. युग के साथ २ राजनैतिक उथल-पुथले हुई और भारत की शासन-व्यवस्था मुसलमानों के हाथ में चली गई—लोगों को बलात् धर्म-परिवर्तन करना पड़ता था। उस समय भक्ति का सहारा लेकर—आततायियों के हृदय को शांति का उपदेश दिया जाना ही श्रेयस्कर था—फलतः भक्ति-काव्य का निर्माण होने लगा।

३. राज कवियों ने राजा और महाराजाओं को प्रसन्न करने के लिए शृंगार रस का साहित्य रचा और धीरे २ वह भी एक ढ़ेि में डूब गया। इस प्रकार ११००—१२०० वर्षों का इतिहास बदलता गया।

उपसंहार—१ भविष्य में भी समाज के आधार पर ही साहित्य का निर्माण होता चला जायगा, ऐसा अनुमान ही नही निश्चित है। युग के अनुसार साहित्य की रूपरेखा बदलती जाती है।

२. इस परिवर्तन में लाभ ही है; क्रांति है और विकास की राह है। इससे नूतन साहित्य का निर्माण होता है और सब प्रकार की रचनाओं से हमें परिचित करा देता है।

हिन्दी और शृंगार रस

भूमिका—१. वैसे तो शृंगार की उत्पत्ति मानव हृदय और कामशास्त्र की उत्पत्ति के समय से ही—परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो हिन्दी कविता में शृंगार का आविर्भाव रीतिकाल के पूर्व ही से हो जाता है। केवल भक्ति-काल में भक्ति की ही रचनाएँ न थी। उस समय शृंगार भी था। केशव भक्ति काल में ही रीति का कवि था।

२. केशव की कविताओं से आरम्भ। सूर और तुलसी का शृंगार।

शरीर—१. राजाओं को प्रसन्न करने के प्रयासों में शृंगार की ही कविताओं की अधिक सृष्टि।

२. देव और विहारी का नायिका भेद।

३. सेनापति और आनंद घन का शृंगार।

४. प्रत्येक भक्ति भाव की कविता में शृंगार की पुट।

५. सूर और तुलसी का शृंगार मर्यादित परन्तु इन रीतिकाल के कवियों का शृंगार मर्यादा से वाहर।

६. नायिका—भेद या कामशास्त्र के सूत्र।

७. आधुनिक हिन्दी कविता में शृंगार।

८. पंत, निराला, बच्चन और महादेवी का शृंगार छायावाद और रहस्यवाद की ओट में।

उपसंहार—१. शृंगार का साहित्यिक महत्व किन्तु उपयोग?

२. प्राचीन प्रथा के साथ क्या रसों का अन्त भी संभव हो सकता है? शृंगार से लाभ—हानि।

३. वालकों पर इस साहित्य का प्रभाव।

४. आधुनिक शृंगार एवं प्राचीन शृंगार का मूल अन्तर और विशेषताएं।

५. अपनी सम्मति के अनुसार उसका उपयोग।

६. अन्य सम्बन्धित विषय विचार।

वर्तमान हिन्दी कविता

भूमिका—१. हिंदी कविता का विकास-क्रम और आज दिन उसका निश्चिय रूप।

२. खड़ीबोली कविता-साहित्य का प्रतिनिधित्व करती है।

३. आज के प्रमुख कवि और उनकी विशेपताएँ।

४. विभिन्न वाद एवं प्रगतियाँ।

शरीर----१. आज के कलाकारों का उद्देश्य।

२. छायावाद और पंत—महादेवी, बच्चन, प्रसाद।

३. रहस्यवाद और पंत, निराला, बच्चन, महादेवी मैथिलीशरण गुप्त और प्रवर्तक प्रसाद।

४. प्रगतिवाद—पंत, निराला, भगवतीचरण वर्मा आदि।

५. प्रतीकवाद,—प्रसाद एवं निराला--पंत।

६. इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय कविताओं की भी-एक प्रवृत्ति सी हो गई। इनमें गुप्त जी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, दिनकर, एक भारतीय आत्मा, तथा अन्य सामयिक कवियों की रचनाएँ हैं।

७. भक्ति-सम्बन्धी भी रचनाएँ होती हैं। जो कल्याण आदि प्रमुख पत्रों में प्रकाशित होती है।

८. हास्य रस की कविताओं की भी अधिकता है। गोपालप्रसाद व्यास का पत्नीवाद--हास्यरस का ही एक अंग है।

९. इसके अतिरिक्त विभिन्न फुटकल कविताएँ होती हैं।

उपसंहार—१. युग की आवश्यकता के लिए कौन सी प्रवृत्ति अधिक मान्य और उपयुक्त सिद्ध होगी।

२. विभिन्न साहित्यिकों की पति से अपने मत की तुलना करते हुए—पूर्ण-विवेचन।

३. समन्वय की भी संभावना—उपयोगी होगी।

४. विषय से सम्बंधित अन्य विवेचन।

काव्य में अलंकारों का स्थान

भूमिका—१. काव्य की व्याख्या करते हुए मानव-हृदय से उसका संबंध उसे सुसज्जित करने के साधन।

२. अलंकार—आभूषण—काव्य को सजाने के लिए।

३. काव्य के गुणों से अलंकारों की तुलना। काव्य के गुण शरीर की आत्मा के धर्मों के समान है—और अलंकार शरीर के धर्मों की भांति बाह्य।

४. आवश्यकता और महत्व का विवेचन।

शरीर—१. विभिन्न प्रकार के अलंकार। अर्थालंकार, शब्दालंकार तथा उभयालंकार के भेदादि।

२. अलंकारों के प्रकार।

३. सुंदरता के लिए अर्थालंकार अच्छे रहते हैं या शब्दालंकार? क्या कोई विशेष अलंकार अधिक अच्छा लगता है?

४. कुछ अलंकारों की विशेषता के उदाहरण।

५. अन्य अलंकारों से भिन्नता का स्पष्टिकरण।

६. अधिक अलंकारों का होना—उसी प्रकार जिस प्रकार अधिक आभूषणों से सजी हुई नवोढ़ा। अधिक अलंकार—भाषा के लिए भार स्वरूप होकर दोष के रूप में।

७. अलंकारों का सही उपयोग। समयानुसार।

उपसंहार—१. अलकारों के महत्व का पुनः विवेचन।

२. अपनी अनुमति में अलंकारों से भाषा की कहां तक सुंदरता बढ़ती है? क्या अलंकार दोष नहीं हो जाते?

३. अलंकार प्रधान कवि की कविता का प्रभाव बतलाते हुए केशव के काव्य की समीक्षा।

४. गुणदोषों का पुनः विवेचन।

आधुनिक कुछ सामयिक प्रश्न

७—हिन्दी-कविता में राष्ट्रीयता

कहता है इतिहास हमारा फिर भी धरा हिलाने वाले समय-समय पर कभी क्रांतिकर, हैं भूकम्प मचाने वालों के अनुसार हमारे हिंदी-साहित्य-सेवियों ने समय-समय पर अपनी लेखिनी द्वारा अपने राष्ट्रीय विचारों को हमारे सामने रक्खा है और बड़े पौरुष के साथ साहित्य-गगन में हुंकार की है! कतिपय साहित्य-सेवी तो राष्ट्रीयता से भरी हुई (ओत प्रोत) ही रचनाएं करते हैं इन्होंने कभी मुर्दों में प्राण फूके हैं तो कहीं आहत को उकसाया है।

राष्ट्रीय भावों से भरे हुए गीतों, कविताओं आदि का महत्व और उसकी उपयोगिता, अवसर ही झांकता है। अत्यन्त दुःख तथा शासक के अत्याचारों को सहते २ एक दिन ऐसा आता है। जब उन रचनाओं को सुनते ही हृदय में रोमांच हो आता हैं—कहते है फ्रांस की राज्य-क्रांति का उत्तरदायित्व एक कवि पर था—जिसकी कविता से प्रभावित होकर उस समय के क्रांतिकारी कुछ आगे बढ़ गए। जरा ध्यान से समझने का प्रयत्न कीजिए राष्ट्रीयता से अभिप्राय क्रांति से नहीं है किंतु राष्ट्र के कल्याण के लिए क्रांति तक की नौबत आ सकती है— इसे आगे सुलझाएंगे। पिछले हजार वर्षों मे भारत की राजनैतिक परिस्थितियां—तथा सामाजिक व्यवस्था बहुत ही खराब रही—भारत गुलाम रहा और उसके निवासियों को गुलामों की ही भांति कई कष्टों का सामना करना पड़ा—फल स्वरूप, कवियों ने भी अपनी लेखिनी द्वारा चमत्कार पूर्ण ढंग से राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति की। इस अभिव्यक्ति में भी माखनलाल चतुर्वेदी, गुप्तजी, सुभाद्राकुमारी चौहान तथा रामधारीसिंह 'दिनकर' का हाथ अधिक रहा—'नवीन' जी उदयशंकर भट्ट रामेश्वर 'अंचल' तथा श्री नरेन्द्र की रचनाओं मे भी राष्ट्रीयता का समामेश बहुत ही स्पष्ट है—श्री माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर और नवीनजी के जीवन का सम्बंध राजनैतिक से अधिक होने के कारण—इनकी रचनाओं में राष्ट्रीयता प्रौढ़ रूप से विद्यमान है—अब हम इनकी रचनाओं के उदाहरण के साथ-साथ इनकी राष्ट्रीयता दिखलाने का प्रयत्न करेंगे—

यह हम कह आए हैं कि श्री गुप्त जी आज के प्रतिनिधि कवि हैं और उन्होंने भी बहुत सी राष्ट्रीय रचनाएं की हैं—"भारत-भारतीय" में अत्यधिक राष्ट्रीयता भरी पड़ी है—

अंग्रेजों के प्रति उनकी यह फटकार शुद्ध राष्ट्रीय है—

राजा प्रजा का पात्र है।
वह लोक प्रतिनिधि मात्र है।
यदि वह ऐसा नहीं तो त्याज्य है,
क्यों, असल में प्रजा का ही राज्य है।

हम दूसरा राजा चुनें—
जो सब तरह अपनी सुने।

गुप्त जी ने इन छः पंक्तियों में यह स्पष्ट रूप से दिखला दिया है, कि निरंकुश विचारों का शासक हमें नहीं चाहिए—राजा तो प्रजा का प्रतिनिधि होता है—यदि वह दुष्ट है तो हमें चाहिए कि उसका कान पकड़ कर गद्दी से उतार दें और दूसरा राजा बैठा दें। क्योंकि, हम अत्याचार सहने के लिए ही तो नहीं बने हैं। माखनलाल चतुर्वेदी ने भी, कैद में से कोकिला को कहा है—

क्या गाती हो, क्यों रह-रह जाती हो? कोकिल, बोलो तो?
क्या लाती हो, संदेशा किसका है? कोकिल, बोलो तो?
ऊँची काली दीवारों के घेरे में
डाकू चोरों बटमारों के डेरे में—
जीने को देते नहीं पेटभर खाना,
मरने भी देते नहीं—तड़फ रह जाना,
जीवन पर अब दिन रात कड़ा पहरा है।
शासन है या तम का प्रभाव गहरा है।

\+ \+

काली तू रजनी भी काली
शासक की करनी भी काली
काली लहर कल्पना काली
मेरी काल-कोठरी काली
टोपी काली, कमली काली
मेरी लोह-शृंखला काली।

यही कवि अब अत्याचारों के आघातों से पीड़ित होकर जवानी से कहता है—

टूटता जुड़ता समय, भूगोल आया
गोद में मणियाँ समेट, खगोल आया
क्या जले बारूद? हिम के प्राण पाये।

क्या मिला ? जो प्रलय के सामने न आए।
धरा ? यह तरबूज है। दो फांक करदे।
चढ़ा दे स्वतंत्र-प्रभु पर अमरपानी।
विश्व माने, तू जवानी है जवानी।

\+ +

तथा एक फूल का माली से अनुरोध—
मुझे तोड़ लेना हे माली उस पथ पर देना फेंक
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक।
आदि भी आप ही के उद्धार हैं।

इनके उपरांत राष्ट्रीय कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान का नाम विशेष उल्लेखनीय है—"झांसी की रानी" हज़ारों बच्चों को जबानी याद होगी। इस कविता में राष्ट्रीय भाव भरे पड़े हैं—देखिए—

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी—
बूढ़े भारत में भी आई, फिर से नई जवानी थी !
गुमी हुई आजादी को कीमत सबने पहिचानी थी—
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी !
चमक उठी सन् सत्तावन में, वह तलवार पुरानी थी—
बुन्देले हरबोलो के मुँह हमने सुनी कहानी थी !
'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी !"

× × ×

महलों ने दी आग झोंपड़ी ने ज्वाला सुलगाई थी
यह स्वतन्त्रता की चिनगारी अंतरतम से आई थी !

× × ×

इस स्वतंत्रता महायज्ञ में कई वीरवर आए काम
नाना धुन्धुपंत, तांतिया चतुर अजीमुल्ला सरनाम
अहमदशाह मौलवी ठाकुर, कुँवरसिंह सैनिक अभिमान
भारत के इतिहास-गगन में अमर रहेंगे जिनके नाम—

लेकिन आज जुर्म कहलाती उनकी जो कुर्बानी थी
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी !

ये कहती हैं—

वीरों का कैसा हो वसन्त
गलबाहें हों, या हों कृपाण !
चलचितवन हों, या धनुषबाण
हो रस-विलास या दलित-त्राण
अब यही समस्या है दुरन्त
वीरों का कैसा हो वसन्त !

इनके पश्चात् हम प्रसिद्ध राष्ट्रीय-कवि श्री दिनकर को देखते हैं ! जो 'हुकारते' ही आते हैं—

'हटो पथ से मेघ, तुम्हारा स्वर्ग लूटने हम जाते हैं !
वत्स वत्स औ वत्स ! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं !

उन्हे दुःख है कि भारत के अर्धनग्नद—लाखों भिखारी भूखे रहते हैं तथा शासकों और पूँजीपतियों के कुत्ते तक मौज करते हैं।

श्वानों का मिलना दूध, वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं
माँ की हड्डी से चिपक-ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती के लज्जा-वसन बेच, जब व्याज चुकाने जाते हैं
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी सा हाथ बहाते हैं।
पापी-महलों का अहंकार देता मुझको तब आमंत्रण।

हिमालय के प्रति कवि के ये शब्द उनकी राष्ट्रीयता का कितना परिचय दे रहे हैं—

मेरे नगपति ! मेरे विशाल
साकार दिव्य, गौरव विराट
पौरुष में पुंजीभूत ज्वाल !
मेरी जननी के हिम-किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल !
मेरे नगपति मेरे विशाल !

× × ×

पूछे, सिकताकण से हिमपति, तेरा वह राजस्थान कहाँ ?
बन बन, स्वतंत्रता-दीप लिए, फिरने वाला बलवान कहाँ ?
तू पूछ अवध से राम कहाँ, वृन्दा ! बोलो घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध ! कहां मेरे अशोक ? वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?

उदयशंकर भट्ट कहते हैं—

आज नई आई होली है !
महाकाल में अंग अंग में आग लगी, धरती डोली है !

× × ×

क्योंकि, आज का जीवन यही है आज की है यही वाणी !
आज उठ अंगार से श्रृंगार कर मेरी जवानी !

× × ×

चाहता हूँ मै न यौवन का सतत अधिकार मीठा
चाहता हूँ मैं न यौवन का अधर-उपहार मीठा !
बल्कि, चाहता हूँ मैं जगत की जलन का उपचार मीठा,
यह कि यौवन-सा दुखद संसार का संसार मीठा !

इसी प्रकार बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी जलन का मीठा उपचार देख रहे थे-दुःख है उन्हें पराजय मिली, इस पराजय पर वे कहते हैं—

एक सहस्र वर्ष की माला मै हूँ उलटी फेर रहा,
उन गत-युग के गुंफित-मनकों को मैं फिर २ टेर रहा !
घूम गया जो चक्र, उसी की ओर देखता जाता हूँ ।

× × ×

रग रग में ठंडा पानी है अरे उष्णता चली गई
नस नस में टीसें उठती हैं विजय दूरतम टली सही

× × ×

अरे पराजित ओ रणचंडी के कपूत ! हट जा हट जा !
अभी समय है कहदे मां, मेदिनी जरा फट जा फट जा !

दिनकर की ही भाँति श्री नरेन्द्र शर्मा की एक बार भारत का रुद्र-रूप देखना चाहते हैं—

भारत, अधिनायक, गणनायक, जागे फिर शंकर, प्रलयंकर
जितना तनिक पार्श्व-परिवर्तन था विहार भूकम्प-भयंकर,
जिनके रोओं के हिलने से नगर गिरे था थर भय कातर
जिनकी श्वासों के कम्पन में –
एक साथ हिल उठे निमिप में, दिग्दिगंत भू सातों सागर !

अचल जी भी परिस्थितियों को देखकर कवि को सचेत कर देना चाहते हैं—

आज कवि का मूक क्यों स्वर ?
(जव) जल रही सुख-शांति—संयम से मनुज का व्याप्त जीवन आ गया
जब नाश सम्मुख ले मरण के नग्न-बन्धन !

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक हिन्दी पद्य राष्ट्रीय-भावनाओं से भरा पड़ा है। किसी भी प्रतिष्ठित कवि को ले लीजिए—उसकी एक आध रचना राष्ट्रीयता की पोपक अवश्य ही होगी – पंत—'प्रसाद' तथा रामकुमार वर्मा ने भी राष्ट्रीय रचनाएँ की हैं।

२. आधुनिक प्रतिनिधि कवि

देश की राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों का सही अवलोकन करता हुआ, आवश्यक परिवर्तनों के साथ, जो भी कवि, जनता की माँग को पूरा करने का दावा करता होगा, वही प्रतिनिधि कवि है। उसकी लेखिनी में इतना बल होना चाहिए कि वह आवश्यकता-नुसार प्रायः सभी विषयों पर कागज काले कर सके तथा जनता के सामने सच्चा चित्र व वास्तविक परिवर्तन भर सकने की क्षमता रख सके प्राकृतिक वर्णनों के साथ ही साथ उसकी लेखिनी में इतना बल अवश्य होना चाहिए कि अवसर आने पर वह एक नोक के सहारे, सारे संसार को हिला देने की शक्ति रखता हो—कवि की व्याख्या करते समय शेक्सपियर ने लिखा है:-

We are the mugic makers,
We are the dreamers of dreams,

Wandering by lone Sea breakers
Sitting by desolate Stıeams
yet we are the movers and Shakers.
Of the world, for ever Seems

(Shakespere)

कहने का तात्पर्य यही है कि उसका प्रत्येक क्षण राष्ट्र-चितंन में बीते ! समस्त सामाजिक कुरीतियों को उखाड़ फेंकने की शक्ति रक्खें। राजनैतिक उथल-पुथलों का सामना करता हुआ वह स्वयं तटस्थ अवश्य रहे, फिर भी उसे भले-बुरे का ज्ञान हो--जिसके आधार पर वह एक सिद्धान्त-विशेष का खंडन-मंडन करने में समर्थ हो सके।

प्रतिनिधि-कवि भी जितना बड़ा उत्तरदायित्व उससे भी बड़े रूप में उसकी प्रतिभा की आवश्यकता है जिससे उसे इस प्रतिनिधित्व के मुंह की न खानी पड़े—साहित्य—सृजन की दृष्टि से प्रतिनिधि कवि घाटे में अवश्य रह जाता है परन्तु उसकी लेखनी में चमत्कार भरा हुआ रहता है। जिससे जिधर भीं उसके पैर पड़ेगे, वह उधर ही अपनी छटा बिखेर देगी—प्रतिनिधि कवि के लिए अत्यन्त—उत्साह; गृद्ध-दृष्टि तथा पक्षपात-रहित विचारों की आवश्यकता है—यदि, किसी कवि में ये गुण विद्यमान नहीं हैं तो उसकी प्रतिभा को कीमत का एक पैसा भी अधिक होगा—वह युग का प्रतिनिधित्व भरने में असमर्थ है। आधुनिक प्रतिनिधि कवि के पद के लिए हम बाबू मैथिलीशरण जी गुप्त का नाम ले सकते हैं। पचास वर्ष की साहित्य-सेवा करते करते राष्ट्र को वास्तविक स्थिति का आभास उन्हें हो गया। वे जान गए हैं कि कवि युग की मांग को किस प्रकार पूर्ण किया करते हैं—राष्ट्र-विकास में कवियों का हाथ किस प्रकार से है—वे इस बात को जानते हैं—यही कारण है कि उन्होंने समय समय पर उचित, सामयिक रचनाओं से राष्ट्र का कल्याण करने का प्रयास किया। समाज की प्रत्येक कुरीति पर उनका ध्यान बराबर गया और उन्होंने फटकार लगाई।

हिन्दू-विधवा, ग्राम सुधार, अछूतोद्धार, सच्चा चरित्र-विकास,

वर्ण-व्यवस्था तथा राष्ट्रीयता सभी पर उनकी लेखनी उत्तरोत्तर उठी और सफलता के साथ।

सामाजिक दुर्व्यवस्था तथा राजनीतिक आपत्तियों के समय "भारत-भारती" जैसा काव्य लिखकर आपने बहुत यश पाया।

हम कौन थे क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी
आवो, विचारें आज मिलकर, ये समस्याएँ सभी !

केवल दो पंक्तियों के पढ़ने ही से चित्त में रोमांच हो आता है। पंचवटी आदि खंड-काव्यों में नारी का अस्तित्व तथा अछूतोद्धार की समस्याएँ स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती है।

—तो क्या अबलाएँ सदैव हैं अवलाएं ही वेचारी

तथा—

इन्हे समाज नीच कहता है पर हैं ये भी तो प्राणी
इनमें भी मन और भाव हैं, किन्तु नही वैसी वाणी !

भारत में यदि हिन्दू अधिक हैं तो क्या; मुसलमान भी तो यहाँ रहते हैं—यदि हिन्दुओं के हित में उन्होंने "हिन्दू" लिखा तो मुसलमानों के लिए भी उन्होंने कावा औ कर्बला लिखा।

फिर पहिले से भी अभिराम
खड़ा हुआ गिरि कावाधाम !

'उसमें वह 'असवद' पापाण—जिसके चुम्बन में कल्याण।'

इससे यह वात नही प्रतीत हो सकती कि गुप्त जी कोई सांप्रदायिक कवि हैं—उनकी राष्ट्रीयता के नमूने और भी दिखलाई पड़ते हैं—अंग्रेज शासकों ने हमारे देश को चूस डाला और इस सोने की चिड़िया की मिट्टी भी न छोड़ी—उन्होंने ये शब्द उस समय पुकार कर कहे—जिससे राज-द्रोही वनकर जेल जाने का अवसर तक आ सकता था-देखिए, एक एक शब्द एक २ हथौडे की चोट की भाँति किस प्रकार हृदय को वेधता हुआ चलता है।

नीचता का भी भला कुछ पार है।
क्या तुम्हारे ही लिये संसार है।

तुम हमारे देश को लूटा करो।
और रहना भी हमारा, भार है॥

अंग्रेजों के दुष्टतापूर्ण व्यवहार पर कवि की कितनी सुंदर फटकार है-ये पंक्तियाँ कवि के राष्ट्रीय-विचारों की पोषक हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्त जी की लेखनी, सामाजिक कुरीतियों, राजनीतिक परिस्थितियों, ऐतिहासिक कथानकों तथा धार्मिक विचार-धाराओं आदि सभी विषयों पर बड़ी सफलता के साथ, काम कर गई है और इसी कारण हम गुप्त जी को आज के युग के प्रतिनिधि कवि कह सकते हैं।

युग की मांग—और नूतन साहित्य

किसी भी देश या समाज की व्यवस्था ले लीजिये-उससे सम्बन्धित सामूहिक उत्थान-पतन, राजनैतिक हलचलों, धार्मिक मत-मतान्तरों, आर्थिक उथल-पुथल एवं व्यक्तिगत विचारधाराओं का सीधा और सही प्रभाव उस समय के साहित्य पर पड़े बिना न रह सका होगा—इतनी बातों का विस्तृत विवेचन न करने के अभिप्राय से हमारे साहित्यिक यों कहने लगे कि 'साहित्य समाज का दर्पण है।' बात वही है जो पहिले कह दी गई है—जिस प्रकार दर्पण में हम अपना मुख देख कर पूर्ण रूप से यह विश्वास कर लेते हैं कि यह सच्चा (Real) मुँह ऐसा ही है जैसा इस दर्पण में दिखलाई पड़ रहा है- इसी प्रकार उस समाज की प्रतिच्छाया को उस समय के साहित्य रूपी दर्पण में देखकर हम यह निश्चय कर सकते हैं कि उस समय की सामाजिक अवस्था कैसी होगी।

परिवर्तन, प्रकृति का नियम है, फिर एक समाज विशेष की व्यवस्था ही इसका अपवाद कैसे बनी रह सकती थी। भिन्न २ देशों के समाज में भिन्न २ प्रकार की राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक क्रांतियां समय २ पर हुई और उन्हीं के साथ ही साथ साहित्य का स्वरूप भी बदलता गया। ऐसा कोई देश या समाज न बच सका जिसके व्यक्तियों

की विचारधारा आज भी वही बनी हो जो आज के सौ वर्ष पूर्व थी—किसी देश का ऐसा साहित्य नहीं जो उसी विचारधारा का प्रतिपादन आज भी कर रहा हो-जिसका आज के सौ वर्ष पूर्व कर रहा था। इसी परिवर्तन के चक्र में संसार के विभिन्न समाजों की व्यवस्थाएँ घूमती जारही हैं और उनके पीछे २ साहित्य इसी प्रकार लटका जा रहा है जैसे दौड़ते हुए घोड़े के साथ सवार का दुपट्टा।

भारतवर्ष को ही ले लीजिए—आज के हजार वर्ष पहिले-देश की शासन-व्यवस्था छोटे २ राजाओं के हाथ में थी—जो एक भूमि के निश्चित क्षेत्र में राज्य किया करते थे—बलहीन राजा को बलवान का दबाना-डराना और अवसर आने पर लड़ाई छेड़ कर उसके राज्य को भी अपने अधीन करना आदि, सब मौके-बे-मौके होता रहता था. अपने शौर्य और वीरता का प्रदर्शन उनका प्रथम और मुख्य उद्देश्य रहा करता था—

"सुखिनः क्षत्रिया पार्थ! लभन्ते युद्धमीदृशम्" वाली कृष्ण जी की उक्ति उन राजा महाराजाओं के मस्तिष्क में सदा घूमती रहा करती थी। उनके दरबार में चारण (कवि) रहा करते थे जो अत्यन्त उत्साह के साथ वीर रस की कविताओं से राजाओं के शौर्य और वीरता का वर्णन किया करते थे—इस प्रकार अनेक चारणों द्वारा परोक्ष रूप में एक 'वीर रस' के साहित्य का निर्माण होने लगा। उन 'वीर-गाथाओं' के कारण ही उस साहित्य युग (१०५०—१३५०) को वीर गाथा-काल कहने लगे।

पर वैसी ही परम्परा आगे न चल सकी—भारतवर्ष में राजनैतिक क्रांतियां आरम्भ हुईं और विदेशी (पड़ौसी) मुसलमानों के आक्रमण होने लगे-धीरे २ समूचे भारत में मुसलमानों का राज्य छा गया। उस समय 'वीर गाथाएँ' इस प्रकार लोप हो गईं जैसे बिल्ली को देखकर चूहा भाग जाता है। उस समय सर्वत्र अराजकता ही अराजकता दिखलाई पड़ने लगी। देश के निवासी सुखी न थे। निरंकुश राजाओं का कोई

मुकावला भी कैसे करे ? शक्ति ? हाँ शक्ति कहाँ ? भगवान पर भरोसा रखते वाले पुजारियों ने अपनी दुर्बलता का नग्नचित्र आक्रमणकारियों के सामने पहिले ही रख दिया था । उस समय महाकवि सूर और तुलसी द्वारा भक्ति की धारा प्रवाहित हुई । इस बार के भगवान अकर्मण्य वनाने वाले थे—वह एक चाल थी जिसके बल पर आततायी मुसलमानों का हृदय कुछ दयालु वनाया जा सके, और अत्याचार कम हों तथा प्रजा सुखी रहे । हो सकता है उस चाल में उनके सच्चे हृदय की पवित्र धारा उन विचारों में घुल कर मिल गई हो जिससे आगे आने वाली संतान उसी तन्मयता में डूबी रहे—पर पहिले पहल तो उस भक्ति का उद्देश्य वही रहा होगा जिससे कि वे अत्याचारी शासकों के कठोर हृदय को कुछ द्रवीभूत कर सके । फलतः लगभग ३५० वर्षों तक परोक्ष रूप में (Iudirectly) उस भक्ति साहित्य का निर्माण होता रहा और वहुत ही सुंदर व परिष्कृत रूप में विकसित हुआ ।

अत्याचार कम हुए या नहीं—यह वात दूसरी है किन्तु मुसलमान वादशाह यहाँ की कवित्व-शक्ति और प्रतिभा से बहुत ही प्रभावित हुए, और उन्होंने भी अपने २ दरवारों में राजकवि रखने पसन्द कर लिए । अपनी जातीय प्रकृति के अनुसार उन्हे वीर और भारतीय-भक्ति पसन्द न आती थी, अपने दरबारी ठाठ, शान-शौकत और ऐश्वर्य के अनुरूप ही वे कविता सुनना अधिक पसन्द करते थे शृंगार-साहित्य की सृष्टि होने लगी—नग्न शृंगार और नायिका-भेद की कविताएं लाखों-मुखों द्वारा पुरष्कृत होने लगी । फिर क्या था ? बहुत बड़ी आर्थिक सहायता पाने से लोक के तत्कालीन कवियों ने अपना दृष्टिकोण बदलने में तनिक भी हिचकिचाहट न की और दरबार में शृंगार-रस को पूरा प्रोत्साहन मिलने लगा ऐसी वात नहीं है, वीरगाथा काल, भक्ति-काल और रीति-काल में अन्य प्रकार की रचनाए होती ही न थी, होती अवश्य थी किन्तु उस काल में लगभग वैसी ही रचनाओं का अधिक्य रहा । यत्र-तत्र काल-विपरीत रचनाएँ भी होती थीं किन्तु नहीं के बराबर । इसी प्रकार मुसल-मान शासकों के समय भी अन्यान्य विचारधारा का साहित्य प्रवाहित

अवश्य ही हुआ है। मुसलमान शासकों के अधीन रहने वाले कवि-समाज को प्रताप जैसे पराक्रमी राजाओं (राजपूतों) के आधीन में रहने वाले कवियों) ने बार २ फटकारा है-और उनके पौरुष को धिक्कारा है और इस प्रकार एक स्वतंत्र जीवन विताने की प्रेरणा भी दी है।

अंग्रेजों के राज्य के पश्चात् तुरन्त ही साहित्य में राजनीति की पुट न आ सकी, पर धीरे २ इस गतिक्रम में वे भी कहाँ टिकने वाले थे. नौ अगस्त, दिल्ली चलो तथा नेताजी का जीवनक्रम साहित्य के इतिहास में उतरने लगा, अंग्रेजों के प्रपञ्चों से आहत होकर भारतीय जन कवियों ने एक ही साथ प्रवल पौरुष के साथ साहित्य-गगन में हुँकार की और उनकी चमचमाती हुई वाणी की विजली निर्दयी शासकों पर टूट पड़ी।

पूंजीपति और मजदूर वर्ग में निरंतर संघर्ष-चलता आ रहा है। स्वायत्त शासन में अधिकारों को समझाने वाले जन-कवियों ने उस उदासीन और चिरदुखी वर्ग की ओर आँख फेरी है। उनके मस्तिष्क संसार के समान प्राणियों में भेदभाव और वर्ग-विभाग देखकर क्षुब्ध हो उठे हैं—उन्हें जीवन और प्राणों की चिन्ता नहीं—चिन्ता है इस संघर्ष का अन्त कर देने की। और जनतंत्र का कानून काम कर रहा है दूसरी ओर प्रजा की आवाज है। संसार-मंडल में कहीं भी आंखें उठाकर देख लीजिए-शासक और सत्ता की आवाज कहीं भी एक नहीं दिखलाई पड़ती है-यही संघर्ष है-और इसीके द्वारा एक निश्चित साहित्य की रूपरेखा तैयार होती जा रही है।

हलचल और विकास का केन्द्र-विन्दु मानव-जीवन ही है—इस संसार के चक्र में वह भाँति २ के रंग अपने ही हाथों से भरता है और देखता भी जाता है कि चित्र क्या से क्या होता जा रहा है। एक वर्ग दूसरे को अपना नहीं समझ रहा है—वे अपना प्रचार करते हैं—हम अपना प्रचार। ज्यों-ज्यों मानव का मस्तिष्क एक विकास की ओर वढ़ा त्यों-त्यों उसके विचारों के अनुसार दृष्टिकोणों की विषमता भी वढ़ती गई—धर्म, अर्थ, समाज, राजनीति आदि अनेकानेक विषयों के साथ-ही-साथ, उस पर-विचार करने के दृष्टिकोण भी अनेकानेक होते गए—

कहना न होगा कि इन्हीं दृष्टिकोणों के भीतर एक-एक विचार धारा का साहित्य—साहित्य की झाँकी अपना मुँह सवार रही है।

भूख और जीवित रहने की समस्या आज इतनी व्यापक हो गई है कि पद-लोलुप सरकारी नौकर की भी दृष्टि देश के लाखों भूखों-लंगड़ों और बेघरबारियों के ऊपर पड़े बिना न रह सकी, शरणार्थी-समस्या भारत के लिए एक अभूतपूर्व समस्या है जिसको सुलझाने के लिए देश के हजारों मस्तिष्क प्रयत्न कर रहे हैं—ऐसे ही दीन-दुखियों की अवस्था पर सही प्रकाश (Focus) डालने के लिए नवजात कलाकारों से लेकर वयोवृद्ध राष्ट्र कवियों तक की लेखनियाँ उठी हैं—किसी-किसी की लेखनी ने तो—इसने ओज के साथ क्रांति का प्रस्ताव रख दिया है कि उसके लिए तनिक भी विलम्ब—घातक हो जायगा। युग की माँग, युग का नारा पुकार-पुकार कर हमारी आँखों के सम्मुख वह चित्र रख देना चाहता है, जिसको देखकर, यदि कुछ रक्त की बूँदें शरीर में शेष हैं तो, उफान सा आता है—

महलों में रानियों को रिझाए जाने वाले गीत अब लुप्त-प्राय: हो रहे है। जन-जन गायकों की मानवता समस्त ऐश्वर्य को लात मारकर एक ऐसा रूप, एक ऐसी अवस्था सीमित करती है—या कर रही है जिसके सम्पर्क में भारत की ६० प्रतिशत जनता रह रही है

विद्युत छोड़ दीप साजूँगी, महल छोड़ तृण कुटी प्रवेश
तुम कुटिया के बनो भिखारी, मैं भिखारिणी का लूँ भेष।

जैसे गीत जो एक आध्यात्मिक सत्य की ओर भी झुकाते जा रहे हैं—आज के युग के साहित्य की भित्ति हैं जिसके बल पर वर्ग-विहीन समाज का युग की माँग का एक बहुत बड़ा साहित्य खड़ा होने वाला है। युग की माँग का यज्ञ सदा ही नूतन साहित्य की आहुति चाहा करता है। साहित्य के बिना युग का यज्ञ अधूरा ही नहीं, निष्प्राण है।

आज के लगभग सवा सौ वर्ष पहिले—भारतवर्ष के कुछ मुख्य २ शहरों में जब छापेखाने आ गये थे—तो कुछ साहित्यिक क्रांति चाहने वालों ने और कुछ एक शहर की खबर को अन्य २ स्थानों पर पहुंचाने की इच्छा रखने वालों ने समाचारपत्र निकालने आरंभ किये थे—

कहना न होगा कि इस प्रकार के समाचारपत्र पहिले वंग भाषा में ही निकला करते थे और कलकत्ते जैसे प्रसिद्ध शहरों में इनके पढ़ने वाले भी आसानी से तैयार हो गये थे—इस समय तक हिन्दी में कोई भी अखबार न निकला था।

वंग भाषा में इस प्रकार की व्यवस्था देखकर हिन्दी वाले चुप तो नहीं रह सकते थे। कानपुर के एक साहित्यिक-धनी ने सबसे पहिले हिन्दी में "उदंत मार्तण्ड" नाम से संवत् १८८३ में पहिला समाचार पत्र निकाला जो दुर्भाग्यवश एक ही वर्ष चलकर बंद हो गया—इसमें शहरी समाचार ही अधिक छपते थे—और लेख, कविता आदि से यह मुक्त था।

१९०२ में शिवप्रसाद सितारे-हिंद ने 'बनारस अखबार' के नाम से समाचारपत्र निकाला। यद्यपि उसकी लिपि देवनागरी ही थी परन्तु शब्दों का सागर उर्दू-ही-उर्दू का था—इसलिए उसकी होड़ (Competetion)में काशी से 'सुधारक' नामक समाचार पत्र निकला। इसी तरह आगरे से 'बुद्धि प्रकाश' चला जो विशुद्ध हिन्दी में समाचार छापते थे। इससे ऊपर उनका कोई अन्य दृष्टिकोण न था।

भारतेन्दु का युग आया—साथ ही लिखने वालों की बाढ़ आई, तदनन्तर पत्र-पत्रिकाओं का जोर पकड़ना कुछ स्वाभाविक ही हो गया। संवत् १९२८ से लेकर १९४१ तक तो तीसों अखबार भारत के मुख्य २ शहरों से धड़ाधड़ छपने लगे। इनमें उन युग के सभी साहित्यिक रुके हुए थे।

इनमें कुछ तो थोड़े २ दिनों चलकर ही बंद हो गये—और कुछ कई वर्षों तक साहित्य-सेवा करते रहे—इन समाचार-पत्रों में तत्कालीन लेखकों और अनुवादकों की ही छटा दिखाई पड़ती थी—उनमें कुछ तो मौलिकता थी, शेष अनुवाद वह भी साधारण विषय-ज्ञान के साथ।

संवत् १९६० में हिन्दी-साहित्य में एक नवीन परिष्कृत उद्देश्य लिए हुए 'सरस्वती' नाम की मासिक पत्रिका निकली—जिसके सम्पादक थे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी। अन्य पत्र-पत्रिकाओं के दृष्टिकोण के

विपरीत उन्होंने आलोचना का दृष्टिकोण सम्मुख रक्खा और उसी के द्वारा साहित्य में अनावश्यक बाढ़ को रोकने के लिए स्थान २ पर बाँध बाँधने आरंभ किये—जो नवसिखिये जिन्हें न अच्छी तरह से बंगला ही आती थी और हिन्दी ही वे भी बंग भाषा के नाटकों और उपन्यासों का अनुवाद करने पर उतारू हो रहे थे—जिनसे भाषा का और भावों का सत्यानाश ही संभव था—उनको द्विवेदी फटकार लगाते थे और व्याकरण का ज्ञान देकर उन्हें सब प्रकार से समझाने का प्रयत्न करते थे—इस प्रकार हम देखते हैं कि इतने वर्षों मे यदि कोई पत्र-पत्रिका उपयोगी सिद्ध हुई तो वह थी 'सरस्वती'—जिसका दृष्टिकोण साहित्य-निर्माण था परन्तु शुद्ध साहित्य न कि बच्चों का सा खिलवाड़—इसी लिए हिंदी साहित्य में इस पत्रिका का एक बहुत बड़ा स्थान है—हम यों भी कह सकते हैं कि यदि हिंदी की सर्वप्रथम पत्रिका ही इसे कहें तो क्या अत्युक्ति है ?

तब से लेकर आज तक के इतिहास में हजारों पत्र-पत्रिकाओं का विकास हुआ। कुछ एक पत्र-पत्रिका निरंतर बंद भी होते रहते हैं—परंतु बहुत से ऐसे भी हैं जो पचासों वर्षों से उसी प्रकार हिंदी की सेवा करते चले आ रहे हैं—स्थान २ से आज तो न मालूम कितने पत्र-पत्रिका आदि निकलते होंगे—अकेले इलाहाबाद में ही सौ से ऊपर पत्र-पत्रिकायें छपती होंगी।

पहिले २ तो हिंदी भाषा का प्रचार एवं प्रसारमात्र ही इन पत्र-पत्रिकाओं का उद्देश्य रहा होगा किन्तु धीरे २ आज तक पहुँचने में उन सभी का दृष्टि कोण बदल गया है—मनुष्य का बुद्धिवाद, व्यक्तिगत स्वातंत्र्य, के साथ उसके आधिक्य और औचित्य के साथ लिपटा हुआ है कि कोई भी पढ़ा लिखा राजनीति, से अलग रह ही नहीं सकता—हमारे दैनिक जीवन का वातावरण राजनीति के महासागर में गोते लगा-लगाकर हमें अपने ही अनुरूप करता चला जा रहा है—इसमें भिन्न विचारावाली—भिन्न २ दलबंदियां और स्वार्थ-सिद्धि या परमार्थ के भिन्न उपाय के अतिरिक्त कुछ भी तो दिखलाई नहीं पड़ता।

ऐसे समय में हिंदी पत्र-पत्रिकाएं—जो प्रचार के एकमात्र साधन ऐसे साधन जो जन-साधारण को उपलब्ध हो सकते हैं, बने हुए हैं अपना वही पुराना दृष्टिकोण बनाये रक्खे—ऐसा संभव नहीं हो सकता था। यत्र-तत्र सर्वत्र अधिकतर उसी राजनीति से लिपटे हुए समाचार पत्र और पत्रिकाएँ हमारे सामने आते हैं—जीवन में राजनीति के व्यापक दृष्टिकोण के अतिरिक्त कहीं २ साहित्य-सेवा, धार्मिकत, आध्यात्मिकता, स्वास्थ्य और विज्ञान, तथा कलात्मक अनुभूतियों की झलक भी दिखलाई पड़ती है—जिन का हम यथा समय वर्णन करेंगे।

राजनैतिक

राजनीतिक दृष्टिकोण सामने रखने वाली पत्र-पत्रिकाओं ने एक प्रकार की पार्टी-बंदी सी कर रक्खी है—सैकड़ों पत्र-पत्रिकाएं, दैनिक साप्ताहिक व मासिक रूप से देश के भिन्न २ भागों से एक विचार धारा विशेष का प्रतिपादन करते हुए धड़ाधड़ निकल रहे हैं। गांधीवाद का समर्थन करने वालों में जीवन साहित्य (दिल्ली), युगधारा (काशी) हरिजन सेवक (अहमदाबाद), विजय (मुरादाबाद) आदि तो बहुत ही पुराने और प्रायः बीसों वर्षों से निरंतर गति से चलने वाले हैं जो सत्य और अहिंसा जैसी गाँधी-नीति के प्रचारक हैं।

समाजवादी विचारधारा का प्रचार करने के हेतु काशी से लगभग १२ वर्ष पूर्व से ही समाज (जिसका पहिले 'आज' नाम था) निकलना आरम्भ हो गया था—अब तो स्थान से लोकमत (बीकानेर) संघर्ष (लखनऊ) निर्भीक (कोटा) नयायुग (फर्रुखाबाद) जनता और प्रभात (जयपुर) तथा जयहिंद (कोटा) जैसे सैकड़ों पत्र (मासिक) निकलने लग गये हैं, जिनको जनता अधिक चाव से पढ़ना चाहती है।

पिछले कई वर्षों से राष्ट्रीय-स्वयं-सेवक संघ के भी समाचार पत्र और पत्रिकाएं प्रकाशित होने आरम्भ हो गए हैं आकाशवाणी (जालंधर) पांचजन्य (लखनऊ) युगधर्म (नागपुर) शंखनाद (गोहाटी), उनमें हिंदुत्व से परिपूर्ण समाग्री देते हैं। हिंदू (हरद्वार) और अरुणोदय

(इटावा) लगभग १५ वर्षों से हिंदु संस्कृति के विषक लेख और कविताएं छापते रहे हैं।

विप्लव (लखनऊ) नवशक्ति (पटना) जनयुग (बंबई) तथा कल की दुनियों (जोधपुर) आदि पत्र (मासिक व साप्ताहिक) साम्यवादी या उग्र समाजवादी विचारधारा के पोपक हैं। जनता (जयपुर और पटना) भी साम्यवाद का संदेश देती है।

इन्ही पत्रों की विचारधारा के अनुसार ही दैनिक पत्र भी लिपटे हुए हैं। विभिन्न प्रकार के दैनिक, हिन्दुस्तान, अर्जुन, विश्वमित्र (दिल्ली) लोकवाणी आदि दैनिक पत्र काँग्रेस या सरकार के हामी हैं।

साहित्यिक

पिछले दिनों से आज तक जिस पत्रिका ने उन्नति की है वह है 'सरस्वती' (प्रयाग)। यह ५० वर्ष पूर्व से आज तक उसी गति से प्रकाशित होता आ रहा है, और शुद्ध साहित्यिक सामग्री देता है। लगभग ३० वर्षों से लखनऊ से माधुरी प्रकाशित होती रही है और सामयिक रचनाएँ इसमें अधिक रहती हैं। कलकत्ते का 'विशाल-भारत' और इन्दौर की 'वीणा' भी २२-२३ वर्षों से साहित्य की निरन्तर सेवा करते आरहे हैं। कलकत्ते का विश्वमित्र (मासिक) भी अधिक नया नहीं। उसने भी १८ वर्षों तक बङ्गाल को हिन्दी सिखलाई है और हिन्दी पढ़ने वालों की संख्या का निर्माण भी किया है। 'हँस' और चाँद भी २०-२५ वर्षों तक चले। माया (प्रयाग) आदि की कहानियों ने हिन्दी पढ़ने वालों को एक प्रेरणा दी। जिस के परिणाम-स्वरूप आज स्थान २ से आँधी (काशी) सरिता (दिल्ली) प्रतीक (प्रयाग) अतीत (हाथरस) सुकवि (कानपुर) साहित्य संदेश (आगरा) जैसे अनेकानेक पत्रिकाएँ बाढ़ में आगई।

इनमें 'साहित्य-संदेश' का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जो पिछले दस-बारह वर्षों से आलोचनात्मक लेखों का संग्रह सा होकर निकलता

है। इसका प्रत्येक अङ्क ही परीक्षांक समझिये। ठोस साहित्यिक सामग्री से यह सदा ही ओत-प्रोत रहता है

दूसरे अन्य पत्रिकाओं ने समय-समय पर अपना दृष्टिकोण बदल भी लिया है। माधुरी, विशाल भारत और सरस्वती जैसी शुद्ध-साहित्यिक पत्रिकाओं में राजनैतिक लेखादि बराबर छपते रहते हैं। किन्तु यह 'साहित्य संदेश' इस दोष से मुक्त है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्यिक पत्रिकाएँ समूचे भारत के कोने २ से निकल रही हैं।

अन्याय दृष्टि-कोण

धर्म, दर्शन, इतिहास, भूगोल, वाणिज्य, समाज, अर्थशास्त्र तथा बालोपयोगी अनेकानेक विषयों पर स्थान २ से बहुत से पत्र-पत्रिकाए निकलते हैं। यह हर्ष की बात है कि इलाहाबाद, कलकत्ता तथा दिल्ली आदि प्रमुख स्थानों ने इस कार्य में अत्यन्त सहयोग दिया है। अकेले इलाहाबाद से ही सौ से ऊपर पत्र-पत्रिकाएँ निकलते होंगे। बालोपयोगी खिलौना, चमचम, बालक, बानर, बालसखा, तितली, बालबोध, लल्ला, शिशु, शेर बच्चा, दीदी आदि अनेक पत्र-पत्रिकाएँ इलाहाबाद से ही निकलती हैं। यानी वहां के प्रकाशन में जितनी ठोस साहित्यिक सामग्री है, उतनी ही बालकों के लिए मनोविनोद भी इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतवर्ष में हिन्दी के हजारों पत्र-पत्रिकाओं ने हमारे यहां के साहित्य को भर दिया है और भरते जा रहे हैं; भरते जायेंगे भी।

इति